



हिंदी आलोचना के विकास में नामवर सिंह संपादित 'आलोचना' पत्रिका का योगदान

अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय के हिंदी विभाग से
पी-एच.डी. की उपाधि हेतु प्रस्तावित

शोध-प्रबंध-सार

2014

THESIS

निर्देशक

डॉ. प्रदीप कुमार सक्सेना

प्रोफेसर, हिंदी विभाग

अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय, अलीगढ़

शोधार्थी

जावेद आलम

हिंदी विभाग, कला संकाय
अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय, अलीगढ़ (उ०प्र०) 202002 (भारत)

शोध-प्रबंध-सार

जिस समय से हिंदी साहित्य के आधुनिक काल का आविर्भाव माना जाता है, ठीक वही समय हिंदी की पत्रकारिता की शुरूआत का भी है। दूसरे शब्दों में कहें तो, हिंदी साहित्य में आधुनिक चेतना के आविर्भाव और हिंदी पत्रकारिता का आरंभ एक साथ एवं एकदूसरे के समानांतर ही हुआ है। यदि ध्यान दिया जाए तो स्पष्ट होगा कि, आधुनिक जीवन-मूल्य और उसकी चेतना को तीव्रतर करने तथा उसे विस्तृत फलक देने में पत्र-पत्रिकाओं के प्रकाशन की अत्यंत महत्वपूर्ण भूमिका रही है। इसीलिए हिंदी साहित्य के इतिहास में आधुनिक काल की शुरूआत की जब कभी भी पड़ताल की जाती है, उसमें पत्र-पत्रिकाओं के अवदान को अवश्य ही रेखांकित किया जाता है।

पत्र-पत्रिकाओं के प्रकाशन के साहित्य के विकास में जो सबसे क्रांतिकारी परिवर्तन किया, वह है साहित्य को कुलीनतावादी और सामंतवादी कटघरे से बाहर निकालना। इस प्रकार, पत्र-पत्रिकाओं के प्रकाशन ने साहित्य के पाठक-वर्ग को ही बदल देने का कार्य किया। अब साहित्य किसी एकांत साधना अथवा राजदरबार के शिष्ट समुदाय तक सीमित रहनेवाली कोई चीज नहीं था, बल्कि उसका संबंध व्यापक जनसमुदाय से हो गया। पत्र-पत्रिकाओं ने साहित्य को अगणित जनता के समक्ष प्रस्तुत करने का कार्य किया। अब आधुनिक काल में आकर साहित्य का सवाल जनसाधारण का सवाल बनकर उभरा। कहने की आवश्यकता नहीं कि साहित्य को कुलीनतावादी एवं सामंतवाद के संकीर्ण दायरे से बाहर निकालने की प्रक्रिया स्वयं आधुनिक चेतना और उसके परिवर्तनकारी मूल्यों की प्रतीति कराता है। ठीक इसी प्रकार पत्र-पत्रिकाओं के माध्यम से साहित्य को व्यापक जनसमूह से जोड़ने की प्रक्रिया और उसे जनमानस की अभिव्यक्ति का माध्यम बनाना लोकतांत्रिक मूल्यों की अवस्थिति का ही बोध कराता है। साहित्य के व्यापक जनसमुदाय से जुड़ते

ही उसके लक्ष्य, उसके निहितार्थ एवं उसके सीमा-विस्तार में तुरंत ही बदलाव परिलक्षित किया जा सकता है। साहित्य का रूप भी वही नहीं रह जाता, जो कभी पूर्व में था। वहाँ भी साहित्य-रूपों में नवीनता का आग्रह स्पष्ट लक्षित किया जा सकता है। व्यापक जनसमूह जब अपनी विचार-अनुभूतियों को अभिव्यक्ति का माध्यम बनाता है तो वहाँ साहित्य-रूपों में न केवल बदलाव परिलक्षित किया जा सकता है, बल्कि अभिव्यक्ति के नवीन-रूपों का आविर्भाव भी देखने को मिलता है। यही कारण है कि हिंदी साहित्य के विकास के आधुनिक काल में अभिव्यक्ति के वैविध्यपूर्ण रूप और नवीन-से-नवीन विधाओं को परिलक्षित किया जा सकता है। साहित्य के इन वैविध्यपूर्ण रूप और नवीन-से-नवीन विधाओं को जन्म देने और किसी विधा को विकसित करने में पत्र-पत्रिकाओं की अत्यंत उल्लेखनीय और निर्णायक भूमिका रही है। आधुनिक चेतना और उसकी वाहक पत्र-पत्रिकाओं ने यह बोध कराया कि हम अपनी अभिव्यक्ति किसी निश्चित नियमों से बद्ध साहित्य-रूप अथवा विधा में ही करने के लिए बाध्य नहीं हैं; हमें जीवन के व्यापक पक्ष को स्पष्ट करने के लिए सदैव 'महाकाव्य' की सर्गबद्ध ढाँचे की ज़रूरत नहीं है, हम उसे किसी 'उपन्यास' का रूप दे सकते हैं, उसे किसी 'लंबी कहानी' अथवा किसी 'कहानी' के संश्लिष्ट रूप में भी अभिव्यक्ति दे सकते हैं। हम अपनी बात सिर्फ 'पद्य' में ही नहीं, अपितु 'गद्य' में भी कह सकते हैं। वस्तुतः यह हमारी चेतना का आधुनिकीकरण और जनतंत्रीकरण की प्रक्रिया से होकर गुजरना है।

स्पष्ट है कि, साहित्य की विभिन्न विधाओं और अभिव्यक्ति के विविध रूपों के उद्भव और विकास में पत्र-पत्रिकाओं का अन्यतम योगदान है। हिंदी में प्रकाशित 'कविवचन सुधा', 'हरिश्चंद्र चंद्रिका', 'ब्राह्मण', 'हिंदी प्रदीप', 'सरस्वती', 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका', 'हंस', 'प्रभा', 'मतवाला', 'नया साहित्य', 'कल्पना', 'धर्मयुग', 'आलोचना', 'सारिका', 'पूर्वग्रह', 'समालोचक' आदि जैसी पत्र-पत्रिकाओं का हिंदी साहित्य की विभिन्न विधाओं के आविर्भाव और उनके विकास में अन्यतम

योगदान है।

कहने की आवश्यकता नहीं कि आधुनिक हिंदी गद्य की विविध विधाओं जैसे 'कहानी', 'निबंध', 'जीवनी' तथा साहित्य की अन्य विधाओं की भाँति हिंदी में आलोचना का प्रारंभ भी पहले-पहल पत्र-पत्रिकाओं के माध्यम से ही हुआ। आधुनिक चेतना एवं लोकतंत्रीकरण की प्रक्रिया की यदि कोई सर्वोत्तम देन है तो वह आलोचना जैसा साहित्यिक गद्य रूप ही है। वास्तव में, आलोचना जैसे गद्य रूप का उद्भव लोकतंत्रीकरण की प्रक्रिया के साथ होता है, और उसका विकास हिंदी भाषी समाज में विकसित हो रहे लोकतंत्र की सांस्कृतिक प्रक्रिया के समानांतर भी रखकर देखा जा सकता है। क्योंकि वस्तुतः आलोचना स्वयं एक लोकतांत्रिक प्रक्रिया है।

गौरतलब है कि हिंदी की साहित्यिक पत्रकारिता के क्षेत्र में रचनात्मक साहित्य और उसकी विविध विधाओं पर केंद्रित पत्रिकाएँ तो बहुत रही हैं, किंतु शुद्ध आलोचना के क्षेत्र की पत्रिकाओं का प्रायः अभाव रहा है। यह अभाव हमें 1950 ई. तक की हिंदी की साहित्यिक पत्रकारिता के क्षेत्र में दिखाई पड़ता है। सन् 1951 ई. से 'आलोचना' त्रैमासिक के प्रकाशन से पूर्व हिंदी की साहित्यिक पत्रकारिता के क्षेत्र में विशुद्ध आलोचना की कोई पत्रिका ही नहीं थी। यही कारण है कि हिंदी की साहित्यिक पत्रकारिता के क्षेत्र में, विशेषकर हिंदी आलोचना के क्षेत्र में 'आलोचना' पत्रिका के संपादन-प्रकाशन का ऐतिहासिक महत्त्व है। हिंदी की साहित्यिक पत्रकारिता के क्षेत्र में 'आलोचना' पत्रिका के प्रकाशन को छोटाराम कुम्हार 'एक युगांतरकारी घटना' के रूप में देखते हैं।

'आलोचना' पत्रिका 'राजकमल प्रकाशन-नई दिल्ली' जैसे प्रकाशन संस्थान से प्रकाशित होती रही है। 'आलोचना' पत्रिका का प्रवेशांक श्री शिवदान सिंह चौहान के संपादन में अक्टूबर, 1951 ई. में प्रकाशित हुआ। इस प्रकार शिवदान सिंह चौहान इस पत्रिका के संस्थापक-संपादक हुए। शिवदान सिंह चौहान के उपरांत इसके संपादन का दायित्व कई संपादकों के हाथों में आया।

शिवदान सिंह चौहान के बाद अप्रैल, 1953ई. से धर्मवीर भारती, रघुवंश, ब्रजेश्वर वर्मा और विजयदेवनारायण साही ने संयुक्त रूप से एक संपादक-मंडल के रूपमें इसका संपादन किया। इसकी संपादन-व्यवस्था में अप्रैल, 1956 ई0 में फेरबदल किया गया, अब 'आलोचना' का संपादन आचार्य नंददुलारे वाजपेयी के हाथों में आया। इसी तरह 'आलोचना' का संपादन-दायित्व में पुनः फेरबदल हुआ और शिवदान सिंह चौहान 'आलोचना' के फिर से संपादक बनाए गए। इस बीच 'आलोचना' का प्रकाशन कई बार बाधित हुआ, और वह बाधित होकर भी प्रकाशित होती रही। सन् 1967 ई0 से 'आलोचना' पत्रिका का संपादन-दायित्व नामवर सिंह के हाथों में आया। इस प्रकार, 'आलोचना' पत्रिका अपने प्रकाशन से नामवर सिंह के हाथों में आने तक कई संपादकीय विवेकों से होकर गुजरी, कई संपादकीय जगत के उलटफेर उसने देखे, कई बार बीच-बीच में उसका प्रकाशन बाधित हुआ।

'आलोचना' का संपादन-दायित्व जब से नामवर सिंह के हाथों में आया इस संपादकीय उलटफेर से उसे मुक्ति मिली। यानी नामवर सिंह के संपादन में 'आलोचना' सन् 1967 से सन् 1990 ई0 तक की दीर्घ-अवधि तक संपादित-प्रकाशित होती रही। उसे प्रकाशन की बाधा से भी मुक्ति मिली। 'आलोचना' जैसी साहित्यिक विधा पर केंद्रित एक पत्रिका का लगभग चौबीस वर्षों तक निरंतर एक संपादक द्वारा संपादन, हिंदी की साहित्यिक पत्रकारिता के क्षेत्र में वास्तव में युगांतरकारी घटना है। इसका निरंतर प्रकाशन ही महत्त्वपूर्ण घटना नहीं है, बल्कि इस दीर्घ अवधि में हिंदी के साहित्यिक पटल पर उसकी सक्रिय उपस्थिति रही है। नामवर सिंह स्वयं हिंदी आलोचना के प्रमुख स्तंभ हैं, उनके संपादन में इतने वर्षों तक 'आलोचना' के प्रकाशन ने हिंदी आलोचना के क्षेत्र में अवश्य ही कुछ महत्त्वपूर्ण कार्य किए होंगे, जिससे हिंदी आलोचना की दिशा को परिवर्तित करने का सुयोग बना होगा; ज़रूर ही उसने कुछ ऐसे कार्य भी किए होंगे, जिससे हिंदी आलोचना

के भविष्य का निर्धारण हो सकेगा। यदि उसने चौबीस वर्षों तक के अपने प्रकाशन की निरंतरता में ऐसा कुछ भी नहीं किया है, तो उसके प्रकाशन का कोई औचित्य नहीं ठहरता। किंतु ऐसा नहीं है। नामवर सिंह के संपादन में 'आलोचना' पत्रिका की चौबीस वर्षों तक सक्रिय उपस्थिति ही यह स्पष्ट कर देती है कि उसका हिंदी आलोचना में कुछ विशेष उल्लेखनीय योगदान है। नामवर सिंह संपादित 'आलोचना' पत्रिका का हिंदी आलोचना में वह विशेष उल्लेखनीय अवदान क्या है, एक गंभीर शोध-कार्य का विषय है। 'हिंदी आलोचना के विकास में नामवर सिंह संपादित 'आलोचना' पत्रिका का योगदान' क्या रहा है, इस विषय पर एक शोधपूर्ण अध्ययन की आवश्यकता अनुभव की गई। अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय, अलीगढ़ (भारत) से शोध-उपाधि की प्राप्ति हेतु 'हिंदी आलोचना के विकास में नामवर सिंह संपादित 'आलोचना' पत्रिका का योगदान' विषय पर हिंदी विभाग में शोध-कार्य की रूपरेखा प्रस्तावित की गई, और यह शोध-कार्य उसी आवश्यकता का परिणाम है, जो 'शोध-प्रबंध' के रूप में अपना आकार ग्रहण कर सका है।

इस अध्ययन में यह बताने का प्रयास किया गया है कि नामवर सिंह के संपादन में 'आलोचना' पत्रिका ने हिंदी आलोचना के स्वरूप को परिवर्तित करने में किस भूमिका का निर्वाह किया है। उसके पूर्व हिंदी आलोचना का रूप कैसा था? नामवर सिंह ने अपने संपादकीय विवेक के माध्यम से ऐसा क्या परिवर्तन किया, जिसका हिंदी आलोचना के विकास में अन्यतम महत्त्व है। इसके अतिरिक्त हिंदी आलोचना की नवीन प्रवृत्तियाँ क्या रही हैं जिससे हिंदी आलोचना अपने स्वरूप का विकास कर सकी, नामवर सिंह ने 'आलोचना' का संपादन करते हुए उन्हें किस रूप में ग्रहण किया और उन्हें 'आलोचना' में किस प्रकार से प्रस्तुत किया गया, जो हिंदी आलोचना को कहीं बहुत गहरे प्रभावित करती रहीं और उन्हीं से उसके विकास की धाराएँ निकल कर आईं। नामवर सिंह संपादित 'आलोचना' अपने पूर्ववर्ती संपादकों से किस प्रकार भिन्न रही, तथा

‘आलोचना’ पत्रिका की वह वैचारिक पृष्ठभूमि क्या रही है, जिसके कारण नामवर सिंह चौबीस वर्ष तक इसका संपादन करते रहे, और हिंदी जगत में गूढ़ सामग्री युक्त पत्रिका की सक्रिय उपस्थिति बनी रही?? वस्तुतः हिंदी आलोचना के विकास में नामवर सिंह संपादित ‘आलोचना’ त्रैमासिक का योगदान किस रूप में रहा है, यही इस शोध कार्य में दिखलाने का प्रयास किया गया है। इसलिए यह कहना अनुचित न होगा कि, प्रस्तुत शोध-कार्य अपनी अध्ययन की पद्धति और विषय की प्रकृति में पहला और मौलिक कार्य है। नामवर सिंह के प्रधान संपादकत्व में निकलने वाली ‘आलोचना’ सहस्राब्दी के अंक इस शोध-कार्य की सीमा के अंतर्गत नहीं आते हैं, इसलिए उनका उपयोग इस शोध-कार्य में नहीं किया गया है।

प्रस्तुत विषय पर शोध-कार्य करने हेतु इस अध्ययन को सात अध्यायों में विभक्त किया गया है। यह विभाजन केवल अध्ययन की सुविधा के लिए ही नहीं है, बल्कि यह विभाजन शोध-कार्य की प्रकृति और आवश्यकता के अनुरूप भी है। आवश्यकतावश इन अध्यायों को उपशीर्षकों में बाँट कर भी देखा गया है।

इस शोध-कार्य के अध्याय एक नामवर सिंह संपादित ‘आलोचना’ में प्रस्तुत प्रमुख साहित्यिक बहसों और मुद्दों, में यह स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है कि साहित्यिक बहसों की साहित्य के विकास में क्या भूमिका होती है? साहित्यिक बहसों को चलाने में पत्र-पत्रिकाओं की किस प्रकार की निर्णायक भूमिका होती है। इस पर प्रकाश डालते हुए यह स्पष्ट किया गया है, उन साहित्यिक बहसों से ‘आलोचना’ का विकास किस रूप में होता है। इन्हीं संदर्भों में ‘आलोचना’ पत्रिका की प्रमुख साहित्यिक बहसों को ही इस अध्याय में प्रस्तुत किया गया है। अन्य अवांतर साहित्यिक बहसों जो ‘आलोचना’ पत्रिका में बहुत दूर तक नहीं चली हैं उन्हें विस्तार भय से शोध-प्रबंध की सीमा के कारण उनका संकेत भर किया गया है। इस अध्याय से स्पष्ट होगा कि

THESIS

साहित्यिक बहसों का हिंदी आलोचना के विकास में कितना अन्यतम योगदान है और नामवर सिंह ने अपने संपादकीय विवेक से उसे कितनी सतर्कता और सजग होकर प्रस्तुत कर सकें हैं।

द्वितीय अध्याय जिसका शीर्षक 'मार्क्सवादी आलोचना की नई बहसें और 'आलोचना' पत्रिका', है। इस अध्याय में नामवर सिंह के संपादन में मार्क्सवादी आलोचना की नवीन बहसों को किस प्रकार प्रस्तुत किया है, और उन नई बहसों की तत्कालीन साहित्यिक परिवेश में क्या आवश्यकता रही है? और हिंदी आलोचना के विकास में उनका क्या महत्त्व रहा है इन्हीं प्रश्नों के उत्तर देने का प्रयास किया गया है।

'परंपरा का मूल्यांकन और 'आलोचना' पत्रिका' इस शोध प्रबंध में तृतीय अध्याय के रूप में प्रस्तुत किया गया है। परंपरा का मूल्यांकन हिंदी आलोचना की महत्त्वपूर्ण प्रवृत्तियों में से एक है। हिंदी आलोचना में परंपरा के मूल्यांकन के कई रूप देखने को मिलते हैं। नामवर सिंह के लिए परंपरा का मूल्यांकन का क्या अर्थ है, उन्होंने उसे 'आलोचना' पत्रिका में किस प्रकार समायोजित किया है, इसे स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है। परंपरा के मूल्यांकन की प्रवृत्ति के उस रूप से हिंदी आलोचना को क्या दिशा मिली है, इसे भी यहाँ देखा जा सकता है। परंपरा के मूल्यांकन के संदर्भ में ही 'दूसरी परंपरा की खोज' के प्रश्न, और साहित्य की परंपरा में कैनन निर्माण के सवाल को स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है।

चतुर्थ अध्याय यहाँ 'समकालीन रचनाशीलता और 'आलोचना' पत्रिका' शीर्षक से देखा जा सकता है। समकालीन रचनाशीलता से टकराहट और उससे सक्रिय संवाद ही आलोचना को आलोचना बनाता है। इस अध्याय में आलोचना की इस प्रवृत्ति को स्पष्ट लक्षित किया जा सकता है। 'आलोचना' के माध्यम से नामवर सिंह समकालीन रचनाशीलता से किस प्रकार सक्रिय संवाद करते रहे? आलोचना के प्रकाशन के समानांतर चलनेवाली समकालीन कविता, कहानी, उपन्यास,

नाटक, आलोचना आदि की स्थिति क्या रही है, और 'आलोचना' पत्रिका में उसे किस रूप में प्रस्तुत किया गया है इस अध्याय में विस्तार से विवेचित विश्लेषित करने का प्रयास किया गया है।

इस शोध-कार्य के पाँचवें अध्याय 'आलोचना के विशेषांक: महत्त्व और वैशिष्ट्य' में नामवर सिंह ने किन रचनाकारों, विषयों और विधाओं पर विशेषांक आयोजित किए हैं, अथवा किस रचनाकारों पर स्मृति अंक, विशेष सामग्री आदि का प्रकाशन किया और उनका हिंदी आलोचना में क्या महत्त्व है? इन्हीं प्रश्नों पर केंद्रित होकर इस अध्याय में विचार प्रस्तुत किया गया है।

'नामवर सिंह का संपादकीय विवेक और 'आलोचना' का संपादन' शीर्षक छठे अध्याय में नामवर सिंह के संपादकीय विवेक की महत्ता की पड़ताल की गई है, और उससे 'आलोचना' पत्रिका किस रूप में अपना आकार ग्रहण करती रही एवं उसका हिंदी आलोचना में क्या महत्त्व है, इसे स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है।

सातवाँ अध्याय जो कि इस शोध-कार्य का ही शीर्षक है, यानी 'हिंदी आलोचना के विकास में नामवर सिंह संपादित 'आलोचना' पत्रिका का योगदान' में हिंदी आलोचना में नामवर सिंह संपादित 'आलोचना' के संपूर्ण अवदान को स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है। छः अध्यायों में तो अवदान को विस्तार से उल्लेख किया गया है। इस अध्याय में छः अध्यायों में आए महत्त्वपूर्ण मुद्दों के अतिरिक्त उन तथ्यों को प्रस्तुत करने का कार्य किया गया है, जो इन अध्यायों में नहीं आ सके हैं, किंतु वे तथ्य 'आलोचना' पत्रिका के हिंदी आलोचना में अन्यतम योगदान को स्पष्ट कर सके हैं, इसी लिए इस अध्याय में उसे समग्रता से स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है।

'उपसंहार' इस प्रबंध में उपसंहार के रूप में ही है यानी शोध-कार्य की समाप्ति पर अपने निष्कर्षों को स्पष्ट किया गया है। उपसंहार निष्कर्ष के रूप में ही प्रस्तुत हैं, इसलिए इसमें पूर्व की कही हुई बातों का दुहराव भी देखा जा सकता है। अंत में, संदर्भ ग्रंथ की सूची भी प्रस्तुत की गई।

जिससे शोध-कार्य की वस्तुनिष्ठता और आवश्यकता की पूर्ति की जा सके।

इस शोध-कार्य में कुछ पक्षों पर ध्यान नहीं दिया जा सका है, जिसे इस अध्ययन की सीमा के रूप में ही देखा जाना चाहिए। इस अध्ययन में नामवर सिंह से पूर्व 'आलोचना' के संपादकों की संपादन-कला आदि पर अलग से व्यवस्थित कोई अध्याय नहीं है, बल्कि आवश्यकतानुरूप अलग-अलग अध्यायों में उनकी चर्चा तभी आई है, जब नामवर सिंह की संपादन-कला से उनमें संपादकों में भिन्नता स्पष्ट करना ध्येय रहा है।

इसके अतिरिक्त, यहाँ सूचित करना अत्यावश्यक है कि नामवर सिंह ने 'आलोचना' का संपादन करते हुए तीन सहयोगियों की सहायता ली थी। जिनमें विष्णु खरेजिनका नाम पत्रिका पर सह-संपादक के रूप में प्रकाशित नहीं हुआ था। दो अन्य सहयोगियों के रूप में 'नंदकिशोर नवल' और परमानंद श्रीवास्तव का नाम 'आलोचना' के पृष्ठों पर 'सह-संपादक' के रूप में प्रकाशित होता था। यह सह-संपादक अलग-अलग समय में 'आलोचना' के संपादन से जुड़े। इनकी 'आलोचना' पत्रिका के संपादन में उल्लेखनीय भूमिका रही है। किंतु इस शोध-कार्य में इन सह-संपादकों की क्या भूमिका रही है, और योगदान रहा है, इस पर विचार नहीं किया गया है।

इसी प्रकार से राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली में प्रबंधकीय अथवा व्यवस्थापकीय फेरबदल पर, या व्यवस्थापक और संपादक के बीच के निजी प्रसंगों और आपसी कलह पर प्रायः ध्यान नहीं दिया गया है। यहाँ 'आलोचना' पत्रिका और संपादकीय विवेक का हिंदी आलोचना के विकास में क्या अवदान है। मूल सामग्री और तथ्यों के धरातल पर ही कोई बात कहने का प्रयत्न किया गया है।

इस शोध-कार्य की एक सीमा और रही है, वह यह कि 'आलोचना' में प्रकाशित 'पुस्तक-समीक्षाओं' पर प्रायः सर्वेक्षणात्मक या मोटी बातों को ही स्पष्ट किया गया है। इस पर

अत्यंत गंभीरता से विचार नहीं किया गया है। जबकि इस पर अलग से कार्य करने की संभावना बनी हुई है। हिंदी 'आलोचना' में पुस्तक-समीक्षाओं की अत्यंत महत्वपूर्ण भूमिका रही है, किंतु इस पर विशेष ध्यान नहीं दिया जाता है। 'आलोचना' पत्रिका का अत्यंत महत्वपूर्ण हिस्सा पुस्तक समीक्षाओं का है, इसलिए इस पर एक लघु शोध-कार्य की आवश्यकता बनी हुई है। इसके अतिरिक्त, हिंदी कविता के विकास में 'आलोचना' पत्रिका में प्रकाशित कविताओं की भी अत्यंत महत्वपूर्ण भूमिका है, इस विषय पर भी शोध-कार्य करने की आवश्यकता बनी हुई है। इसके अतिरिक्त, 'आलोचना' संपादन में सहयोगी की भूमिका का निर्वाह कर रहे विद्वानों का उसके संपादन में क्या महत्वपूर्ण अवदान रहा है इस पर भी शोध-कार्य किया जा सकता है।

इस शोध-कार्य में शोध की कई अध्ययन पद्धतियों का आवश्यकतानुरूप प्रयोग किया गया है। यहाँ ऐतिहासिक, तुलनात्मक के साथ निगमनात्मक और आगमनात्मक पद्धति का प्रयोग भी किया गया है। तथ्यों के आधार पर इस शोध-प्रबंध में ही कोई निष्कर्ष निकाला गया है संदर्भ-सूचनाओं की मानक प्रस्तुति के लिए 'एम. एल. ए. हैंडबुकस फॉर राइटर्स ऑफ रिसर्च पेपर (सातवाँ संस्करण)' भारतीय शोधार्थियों वाला, नई दिल्ली, के दिशा-निर्देश को ही आधार रूप में स्वीकार किया गया है, जहाँ कुछ भिन्नता अपनाई गई। उसकी जानकारी संक्षेप और संकेत-चिह्न सूची तथा अन्य सूचनाएँ शीर्षक पृष्ठ पर उल्लिखित हैं।

इस संदर्भ में रेखांकित करने योग्य तथ्य यह है कि नामवर सिंह के संपादन के पूर्व 'आलोचना' के संपादकों का संपादन का काल सबसे अस्थिर, उठापटक और अल्पायुवाला था, वस्तुतः इसे आलोचना के प्रकाशन का प्रथम चरण कहा जाना ही समीचीन है और इसकी अवधि 1951-1967 ई. तक मानी जानी चाहिए। इसके उपरान्त नामवर सिंह के संपादन में 'आलोचना' 1967-1990 ई. तक संपादित होती रही है, इसलिए इस दीर्घ अवधि को 'दूसरा चरण' कहना चाहिए। इस दीर्घ अवधि तक 'आलोचना' की पत्रिका का संपादन करना स्वयं उस संपादक के

संपादकीय विवेक की महत्ता को प्रकट करता है। यद्यपि नामवर सिंह के संपादन से पूर्व, पहले चरण के संपादकों ने 'आलोचना' को हिंदी आलोचना की एक महत्वपूर्ण पत्रिका के रूप में स्थापित किया था, किंतु नामवर सिंह ने उसका संपादन करते हुए उसके महत्त्व को ऐतिहासिक एवं चिरस्थायी बना दिया। उसे हिंदी आलोचना की सर्वोत्कृष्ट पत्रिका के रूप में स्थापित किया। नामवर सिंह संपादित 'आलोचना' पत्रिका को लेकर इस अध्ययन में मेरी सीमा यह रही है कि उनसे 'पूर्व संपादकों' पर अलग से किसी अध्याय के रूप में व्यवस्थित ढंग से विचार नहीं किया गया है, बल्कि आवश्यकतानुरूप अलग-अलग अध्यायों में नामवर सिंह की संपादन-कला से भिन्नता को स्पष्ट करने में उनका विवेचन-विश्लेषण किया गया है।

नामवर सिंह के संपादन में 'आलोचना' पत्रिका के आते ही जो सबसे बड़ा काम पत्रिका के पक्ष में रहा, वह उसके दीर्घ अवधि तक एक संपादक द्वारा संपादन के रूप में स्थिरता प्राप्त करना था। नामवर सिंह के संपादन से पूर्व 'आलोचना' कई संपादकीय विवेकों से गुजर चुकी थी, प्रकाशन भी बीच-बीच में बाधित हुआ था। इस प्रकार नामवर सिंह के संपादन से पूर्व का काल यानी पहला चरण अस्थिरतायुक्त कई तरह से व्यवधानवाला एवं 'संपादकीय फेरबदल' वाला था। नामवर सिंह के संपादन में आते ही 'आलोचना' को इस प्रकार की अस्थिरता से मुक्ति मिली और वह बिना किसी बाधा के संपादित प्रकाशित हो सकी, जिसके कारण ही हिंदी आलोचना को विकसित करने में वह अपनी निर्णायक भूमिका का निर्वाह कर सकी। छठे अध्याय में इन्हीं सूत्रों को समझने का प्रयास किया गया है।

नामवर सिंह संपादित 'आलोचना' पत्रिका का वैचारिक आधार मार्क्सवादी-साहित्य-कला चिंतन रहा है, उसने साहित्य की आधुनिकतावादी, कलावादी और व्यक्तिवादी प्रवृत्तियों की नकारात्मक प्रवृत्तियों से सीधे संघर्ष किया है। इसका सीधा टकराव 'पूर्वग्रह' पत्रिका की या उस

जैसी विचारधारा की पोषक पत्र-पत्रिका से रहा है। नामवर सिंह ने अपने संपादन में 'आलोचना' को सिर्फ कलावादी या व्यक्तिवादी आदि प्रवृत्तियों के ही विरोध का माध्यम नहीं बनाया है, बल्कि साहित्य के प्रति किसी तरह के उग्रवामपंथी रुझान और स्थूल समाजशास्त्रीयता का भी विरोध उन्होंने 'आलोचना' के माध्यम से किया है।

नामवर सिंह ने अपने संपादन में 'आलोचना' के माध्यम से मार्क्सवादी साहित्य और कला-चिंतन के वैचारिक आधार को हिंदी आलोचना में और सुदृढ़ करते हैं। किंतु उनका मार्क्सवादी साहित्य-चिंतन चौथे-पाँचवे दशक के शिवदान सिंह चौहान और रामविलास शर्मा वाला मार्क्सवादी चिंतन नहीं है, और न ही चौथे-पाँचवे दशक के स्तालिनकालीन पश्चिमी मार्क्सवादी साहित्य चिंतन है, जो उस दौर के प्रमुख मार्क्सवादी चिंतक 'हेनरी बारबूस', 'राल्फ फाक्स' आदि के यहाँ दिखाई पड़ता है। इस चौथे-पाँचवें दशक का मार्क्सवादी साहित्य चिंतन अधिकांश पार्टीबद्ध चिंतन था, इस समय का मार्क्सवादी साहित्य-चिंतन और आलोचना में मार्क्सवादी अवधारणाओं को फिट करने का हरसंभव प्रयास किया जा रहा था। जो उस सिद्धांत के चौखटे में फिट नहीं बैठ रहा था, वह प्रतिक्रियावादी सिद्ध किया जा रहा था। वहाँ मार्क्सवादी अध्ययन पद्धति का प्रयोग नहीं किया जा रहा था। इस प्रकार एक 'यांत्रिक मार्क्सवादी' की रूढ़िबद्ध चिंतन-पद्धति मार्क्सवादी कला साहित्य-चिंतन के नाम पर चल रही थी, यह यांत्रिक मार्क्सवाद के कारण जहाँ पश्चिम में एफ. आर. लीविस की नई समीक्षा पद्धति की विजय हुई, वहीं हिंदी आलोचना में मार्क्सवाद के प्रवर्तक शिवदान सिंह चौहान के हाथ से 'आलोचना' का संपादन आधुनिकतावादी, अस्तित्ववादी चिंतकों धर्मवीर भारती आदि के 'संपादन-समूह' के हाथ में आ गई थी। यहाँ मार्क्सवादी आलोचना भी यहाँ अपने रूढ़िबद्ध रूप में ही विद्यमान थी। नामवर सिंह ने अपने आलोचनात्मक विवेक के माध्यम से मार्क्सवाद को यांत्रिक और रूढ़िबद्ध चौखटे से बाहर निकालने में महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह

किया। उसे सर्जनात्मक मार्क्सवादी चिंतन का रूप देने का कार्य किया। इस कार्य में उनके प्रेरणा-स्रोत पश्चिम में मार्क्सवाद की नई बहसों के प्रवर्तक 'जार्ज लूकाच', 'ब्रेख्त', 'बाल्टर बेंजामिन', 'रेमंड विलियम्स', 'अंतोनियो ग्राम्शी' आदि रहे हैं। नामवर सिंह ने मार्क्सवादी आलोचना और साहित्य-चिंतन की नई बहसों, नवीन प्रवृत्तियों से हिंदी आलोचना को परिचित कराने का काम 'आलोचना' पत्रिका का संपादन करते हुए किया। उन्होंने मार्क्सवादी साहित्य-चिंतन की 'दूसरी परंपरा' के चिंतन से हिंदी आलोचना के पाठकों का परिचय कराया। इस दूसरी परंपरा के मार्क्सवादी चिंतकों पर 'आलोचना' पत्रिका के विशेषांक निकाले, उनके लेखों, टिप्पणियों, साक्षात्कारों आदि का अनुवाद करवाकर उन्हें 'आलोचना' में प्रकाशित किया। उन पर संपादकीय टिप्पणियाँ लिखीं और उनके मन्तव्यों को स्पष्ट करने के लिए उनके अलग-अलग विषयों पर लिखे गए लेखों को 'आलोचना' में बार-बार प्रकाशित किया। उसे हिंदी पाठकों से परिचित कराया। हिंदी की मार्क्सवादी आलोचना को समृद्ध करने में अपना बहुमूल्य योगदान दिया। 'आलोचना' पत्रिका के माध्यम से मार्क्सवादी चिंतन की विरोधी उन सभी प्रवृत्तियों से निरंतर संघर्ष करने का कार्य किया। आज हिंदी की मार्क्सवादी आलोचना जिस रूप में दिखाई पड़ रही है, इसके विकास में नामवर सिंह संपादित 'आलोचना' पत्रिका का अन्यतम योगदान है। 'आलोचना' पत्रिका ही वह माध्यम है, जो इतनी दीर्घ-अवधि तक मार्क्सवादी साहित्य-चिंतन की वैचारिक पृष्ठभूमि पर खड़ी रही, और विभिन्न प्रवृत्तियों से हिंदी की मार्क्सवादी आलोचना का उन्नयन करने का कार्य करती रही। वस्तुतः नामवर सिंह संपादित 'आलोचना' पत्रिका के माध्यम से हिंदी की मार्क्सवादी साहित्य-चिंतन को विकसित करने का कार्य किया गया और मार्क्सवादी आलोचना को उसकी नई बहसों से जोड़ने का कार्य भी हुआ। इसका परिणाम यह हुआ कि हिंदी की मार्क्सवादी आलोचना हिंदी आलोचना की केंद्रीय धरा के रूप में हमारे सम्मुख उपस्थित है। ये तथ्य और मान्यताएँ ही

अपना स्वरूप किस प्रकार ग्रहण कर सकी हैं इन्हें इस प्रबंध के 'मार्क्सवादी आलोचना की नई बहसों' और 'आलोचना' शीर्षक द्वितीय अध्याय में प्रस्तुत किया गया है।

नामवर सिंह संपादित 'आलोचना' पत्रिका में हिंदी में होनेवाली अन्य साहित्यिक बहसों को भी स्थान मिला है। 'आलोचना' में विभिन्न साहित्यिक मुद्दों और प्रश्नों पर नामवर सिंह ने कई परिसंवाद आयोजित किए। जिनमें 'कविता और राजनीति', 'रोमांटिक बनाम आधुनिक', 'युवा लेखन पर एक बहस', 'आज के युग में प्रगतिशीलता', 'आलोचना की भाषा' आदि प्रमुख विषय हैं। इसके अतिरिक्त 'आलोचना' में 'साहित्य के समाजशास्त्रीय चिंतन' को प्रस्तावित करने का काम भी 'आलोचना' पत्रिका के ही माध्यम से किया गया है, जिसे इस शोध-प्रबंध में साहित्यिक बहस के रूप में प्रस्तुत किया गया है। 'हिंदी नवजागरण की संकल्पना पर बहस' शीर्षक अध्ययन में हिंदी नवजागरण की संकल्पना पर विचार प्रस्तुत किया गया है। भाषिक आलोचना व शैली विज्ञान जैसी प्रवृत्ति पर 'आलोचना' ने सबसे पहले अपना ध्यान केंद्रित किया और उसे हिंदी आलोचना में पहले-पहल प्रस्तुत करने का कार्य किया। उपर्युक्त साहित्यिक बहसों और विवेच्य सभी प्रवृत्तियों ने हिंदी आलोचना को किस प्रकार प्रभावित किया है, और हिंदी आलोचना को विकसित करने में उनका क्या योगदान है, इस विषय पर 'नामवर सिंह संपादित 'आलोचना' में प्रमुख साहित्यिक मुद्दे और बहसों' शीर्षक से प्रथम अध्याय में विस्तृत चर्चा की गई है।

हिंदी में आलोचना विधा की शुरुआत से ही आलोचना की जिन दो प्रवृत्तियों को स्पष्टतः लक्षित किया जा सकता है, उसमें एक प्रवृत्ति 'समकालीन रचनाशीलता से सक्रिय संवाद' की है; तथा दूसरी प्रवृत्ति अपनी परंपरा का अन्वेषण और उसके मूल्यांकन की रही है। हिंदी आलोचना का सर्वांश इन्हीं दो आधारों पर टिका हुआ है। आगे चलकर एक और प्रवृत्ति विकसित हुई वह है किसी 'आलोचक की आलोचना का सम्यक मूल्यांकन'। 'आलोचना' पत्रिका का इन क्षेत्रों में अन्यतम

योगदान है, जिससे हिंदी आलोचना अपना स्वरूप विकसित कर सकी है।

अपनी सांस्कृतिक विरासत अथवा परंपरा के मूल्यांकन के लिए कौन-सी दृष्टि अपनायी जाए इसे नामवर सिंह संपादित 'आलोचना' पत्रिका में स्पष्ट लक्षित किया जा सकता है। नामवर सिंह ने 'आलोचना' पत्रिका के माध्यम से परंपरा को श्रद्धाविगलित, अंधश्रद्धा, युक्त पूज्यभाव की प्रवृत्ति, और वर्तमान समस्या का हल अतीत में ढूँढनेवाली प्रवृत्ति, पारंपरिक मूल्यों को वर्तमान जीवन पर लागू करनेवाली प्रवृत्ति का जमकर विरोध किया। उन्होंने परंपरा की असंगतियों को त्यागकर उसे अत्यंत गौरवमयी बनाकर प्रस्तुत करनेवाली प्रवृत्ति का प्रतिकार किया है। नामवर सिंह ने 'आलोचना' पत्रिका के माध्यम से एक ऐसी दृष्टि विकसित करने का प्रयत्न किया जो अपने अतीत अथवा अपनी सांस्कृतिक विरासत को उसके सांस्कृतिक संदर्भों में, युगीन सीमाओं तथा उसके अंतर्विरोधों के बीच रखकर उसके मूल्यांकन का प्रयास करती है, जिससे अतीत की अतीतता को सुरक्षित रखते हुए उसकी 'विगत महत्ता और वर्तमान अर्थवत्ता' को स्पष्ट किया जा सके, जिससे परंपरा की सही छवि प्रस्तुत की जाए। नामवर सिंह संपादित 'आलोचना' पत्रिका ने भारतेन्दु हरिश्चंद्र, मैथिलीशरण गुप्त, आचार्य रामचंद्र शुक्ल, तथा हिंदी नवजागरण और उसके अग्रदूतों का जो मूल्यांकन प्रस्तुत करने का कार्य किया उसमें इसी आलोचनात्मक रुख का परिचय दिया गया है। 'आलोचना' पत्रिका ने अपनी परंपरा के मूल्यांकन के प्रति जिस आलोचनात्मक विवेक का परिचय दिया है, वह हिंदी नवजागरण और उसके अग्रदूतों एवं परंपरा का समग्रता में अध्ययन करने का मार्ग प्रशस्त करती है। इस प्रकार, नामवर सिंह द्वारा संपादित 'आलोचना' पत्रिका में परंपरा के मूल्यांकन के प्रति जिस दृष्टि को विकसित करने का प्रयत्न किया गया है, वह न केवल हिंदी आलोचना के क्षेत्र में बल्कि किसी भी संस्कृति, परंपरा और अतीत की जातीय चेतना के मूल्यांकन के क्षेत्र में अत्यंत ही मूल्यवान् देन है। 'आलोचना' पत्रिका ने परंपरा के मूल्यांकन के सवाल को

गंभीरता से ग्रहण किया। उसने न केवल अपनी मूल्यवान् सांस्कृतिक विरासत की सही छवि को बराबर आलोकित करने का प्रयास किया, बल्कि सांस्कृतिक विरासत की प्रतिगामी-प्रतिक्रियावादी ताकतों के संगठित अभियान से रक्षा भी करती रही है। परंपरा को उसके समग्र रूप में लेते हुए, उसके प्रति 'आलोचनात्मक रुख' अपनाते हुए, उसने गौरवशाली जीवंत-परंपरा को विकसित और पुष्ट करने के लिए कृत संकल्प रचनाकारों-विचारकों की जागरूक पीढ़ी को तैयार भी किया है। नामवर सिंह ने 'आलोचना' पत्रिका के माध्यम से जिस आलोचनात्मक विवेक को जाग्रत करने का प्रयास किया है उससे हिंदी आलोचना में जनतांत्रिक और प्रगतिशील चिंतन के एक स्वस्थ वातावरण को निर्मित करने का कार्य किया। परंपरा के मूल्यांकन के संदर्भ में बिना इस दृष्टि से टकराए आगे नहीं बढ़ा जा सकता है।

परंपरा के मूल्यांकन के संदर्भ में दूसरी परंपराओं के महत्त्व को भी स्वीकार करने का उद्यम 'आलोचना' पत्रिका के माध्यम से हुआ है। नामवर सिंह द्वारा संपादित 'आलोचना' पत्रिका में ही पहले-पहल 'दूसरी परंपरा की खोज' का प्रश्न उठाया गया। नामवर सिंह ने अपने संपादकीय और लेखों के माध्यम से यह संकल्पना प्रस्तुत की, कि प्रभुत्वशाली परंपरा की प्रधान प्रवृत्तियों के कारण अन्य लघुधाराएँ, व परंपराएँ दबा दी जाती हैं, या उन्हें हाशिए पर डाल दिया जाता है। 'आलोचना' पत्रिका उन अन्य दूसरी परंपराओं की खोज का माध्यम बनती हैं। इस प्रकार दूसरी परंपरा की खोज की संकल्पना 'आलोचना' पत्रिका की परंपरा के मूल्यांकन के संदर्भ में एक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है। इसके माध्यम से दूसरी परंपराओं की महत्ता को स्थापित किया जा सके। हाशिए पर पड़ी उन परंपराओं और धाराओं को पुनर्जीवन दिया जा सके। इस प्रकार, नामवर सिंह ने अपने संपादन के द्वारा 'दूसरी परंपरा की खोज' जैसी अवधारणा हिंदी आलोचना को दी, जिसके माध्यम से प्रभुत्वशाली परंपरा के साथ अन्यान्य धाराओं को समान महत्त्व देने की प्रवृत्ति को विकसित किया

जा सके। उसे नगण्य समझते हुए अनावश्यक न समझा जाए। इन्हीं दृष्टियों का विस्तृत-विवेचन तृतीय अध्याय के परंपरा का मूल्यांकन और 'आलोचना' शीर्षक अध्ययन में प्रस्तुत किया गया है।

'आलोचना' पत्रिका को नामवर सिंह ने वास्तव में समकालीन रचनाशीलता से सक्रिय संवाद करती हुई पत्रिका के रूप में विकसित किया। नामवर सिंह संपादित 'आलोचना' पत्रिका ने इस तथ्य को रेखांकित किया कि 'आलोचना' की सार्थकता अपनी समकालीन रचनाशीलता का मूल्यांकन प्रस्तुत करने में है। समकालीन रचनाशीलता से जुड़कर ही कोई आलोचना, आलोचना कहलाने की अधिकारी है। चतुर्थ अध्याय में समकालीन रचनाशीलता और आलोचना के क्षेत्र में 'आलोचना' पत्रिका का क्या योगदान रहा है। इसे विस्तार से स्पष्ट करने का कार्य किया गया है। नामवर सिंह संपादित 'आलोचना' पत्रिका की अन्यतम विशेषता समकालीन कवियों की काव्य रचनाओं के प्रकाशन के रूप में देखा जा सकता है। 'आलोचना' पत्रिका मूलतः आलोचना की पत्रिका रही है। किंतु इसके प्रत्येक अंक में अपने समय की युवा कवियों या प्रमुख-प्रतिनिधि कवियों की काव्य-रचनाएँ भी प्रकाशित होती थीं। इसके अंतर्गत सिर्फ हिंदी की काव्य-रचनाएँ ही प्रकाशित नहीं होती थीं, बल्कि अन्य भारतीय भाषाओं के अतिरिक्त रूसी, स्पेनिश, जर्मन आदि भाषा की प्रमुख रचनाओं का अनुवाद भी प्रकाशित किया जाता था। 'आलोचना' में प्रकाशित होनेवाले प्रमुख हिंदी कवियों के नाम यदि देखे जाएँ तो हमें 'धूमिल', शमशेर बहादुर सिंह, नागार्जुन, त्रिलोचन, केदारनाथ अग्रवाल, केदारनाथ सिंह, लीलाधर जगूड़ी, मंगलेश डबराल, देवी प्रसाद मिश्र, बोधिसत्त्व, सुल्तान अहमद, पंकज सिंह, कमलेश, विजयदेव नारायण साही, आदि की काव्य रचनाएँ प्रकाशित हैं।

नामवर सिंह ने 'आलोचना' का संपादन करते हुए समकालीन रचनाशीलता के संदर्भ में कई महत्वपूर्ण मूल्यांकन प्रस्तुत किए हैं। साठोत्तरी पीढ़ी की रचनाशीलता को स्पष्ट करने का प्रयास

THESIS

उनमें से एक महत्त्वपूर्ण कार्य है। 'युवा लेखन पर बहस' शीर्षक से परिसंवाद आयोजित कर साठोत्तरी पीढ़ी की मानसिक बुनावट और उनकी रचनाशीलता और उसकी पृष्ठभूमि को स्पष्ट करने का कार्य किया गया है। इसी प्रकार 'समकालीन कविता' यानी आपातकालोत्तर कविता के पक्ष-विपक्ष उसकी रचनाशीलता को स्पष्ट करने का प्रयास 'आलोचना' पत्रिका के कई अंकों में प्रकाशित लेखों के माध्यम से किया गया है। समकालीन कविता का संबंध नागार्जुन और त्रिलोचन की कविताओं से जोड़कर देखने का प्रयास भी 'आलोचना' के अंकों में किया गया है।

'आलोचना' पत्रिका ने समकालीन रचनाशीलता के कैनन में जो परिवर्तन किया उसने हिंदी आलोचना में स्थापित कवियों के कैनन में ही बदलाव प्रस्तुत किए। 'आलोचना' पत्रिका में गजानन माधव मुक्तिबोध पर विशेषांक आयोजित कर, मुक्तिबोध को नई कविता के केंद्र में स्थापित किया। 'धूमिल' की महत्ता को स्थापित करने का काम किया। नागार्जुन और त्रिलोचन पर विशेषांक आयोजित कर उनकी जनवादी चेतना और लोकधर्मी प्रकृति से हिंदी पाठकों को परिचित कराया। 'आलोचना' के विशेषांक से पूर्व हिंदी पाठक नागार्जुन और त्रिलोचन की काव्य-रचनाओं से परिचित थे किंतु सबसे पहले उन पर विशेषांक आयोजित कर उन्हें समकालीन कवियों की रचनाधर्मिता से जोड़ने का कार्य किया। 'आलोचना' के माध्यम से नामवर सिंह उन्हें दूसरी परंपरा की लोकधर्मी धारा से संबद्ध करके उनके महत्त्व को स्थापित किया। इसके अतिरिक्त नामवर सिंह निर्मल वर्मा की विचारधारा का जमकर खंडन करते हुए भी, उनके कथाकार रूप के वैशिष्ट्य उद्घाटन करने के लिए एक विशेषांक का आयोजन करते हैं।

नामवर सिंह संपादित 'आलोचना' पत्रिका ने हिंदी कथालोचना के विकास में अपना महत्त्वपूर्ण योगदान दिया। समकालीन उपन्यास पर 'आलोचना' का पूरा एक विशेषांक ही प्रकाशित किया गया है। हिंदी कथालोचना पर 'आलोचना' में जिनके सर्वाधिक लेख प्रकाशित हैं, उनमें विजय

मोहन सिंह, मधुरेश और गोपालराय उल्लेखनीय हैं। 'आलोचना' में कथालोचना को लेकर बार-बार प्रकाशित होने से हिंदी पाठकों के सम्मुख इनकी छवि कथालोचक की बनी। यह हिंदी आलोचना को 'आलोचना' पत्रिका की महत्वपूर्ण देन है।

इसी प्रकार हिंदी नाट्य-नाटक संबंधी अध्ययन पर मनोहर काले, नरनारायण राय, सत्येंद्र कुमार तनेजा जैसे विद्वानों के कई लेख 'आलोचना' में प्रकाशित हैं। इन विद्वानों के लेखों और शोधपूर्ण अध्ययनों से हिंदी पाठक नाटक संबंधी विविध परिदृश्य से परिचित हो सके। नाट्य-नाटक संबंधी अध्ययन के क्षेत्र में ये विद्वान व्यवस्थित रूप से 'आलोचना' पत्रिका के माध्यम से हिंदी पाठकों के समक्ष उपस्थित हुए।

समकालीन रचनाशीलता का पूरा परिचय उस समय की पुस्तक-समीक्षाओं से किस प्रकार ज्ञात हो, इस प्रवृत्ति का विकास 'आलोचना' पत्रिका के माध्यम से ही हुआ। नामवर सिंह ने 'आलोचना' पत्रिका में प्रकाशित पुस्तक-समीक्षाओं को 'पुस्तक परिचय' के रूढ़ स्वरूप से मुक्त कर वैचारिक संघर्ष की चेतना से युक्त किया। यहाँ पुस्तक-समीक्षा के माध्यम से वैचारिक संघर्ष की आधारशिला निर्मित करने का कार्य किया। यह बहस किसी पुस्तक की समीक्षा पर स्वयं पुस्तक लेखक और समीक्षक के बीच साहित्यिक बहस की विषय वस्तु बनती है, या कोई पाठक अपनी प्रतिक्रिया देते हुए देखा जा सकता है। इसके लिए नामवर सिंह ने अपने संपादकीय विवेक का परिचय देते हुए दो पद्धतियाँ विकसित की हैं एक पद्धति तो यह है कि एक साहित्यिक कृति पर दो-दो अथवा तीन-तीन समीक्षकों की समीक्षाएँ प्रस्तुत की गई हैं या एक ही समीक्षक से तीन-तीन, चार-चार पुस्तकों की समीक्षाएँ एक साथ प्रस्तुत की गई हैं, जिससे कृति अथवा समीक्षक की समस्त प्रतिभाओं और संभावनाओं को पाठकों के समक्ष रखा जा सके। इस प्रकार 'आलोचना' पत्रिका ने अपनी पुस्तक-समीक्षाओं को पुस्तक परिचय के रूढ़ अर्थ से मुक्तकर उसे वैचारिक संघर्ष की चेतना

के निर्माण के रूप में प्रस्तुत किया। यह हिंदी आलोचना को 'आलोचना' पत्रिका की महत्वपूर्ण देन कही जा सकती है। समकालीन रचनाशीलता और 'आलोचना' का क्या संबंध रहा है, इसे चतुर्थ अध्याय में विस्तार से विवेचित-विश्लेषित किया गया है।

हिंदी आलोचना में आलोचकों के कैनन में पहले आचार्य रामचंद्र शुक्ल, नंददुलारे वाजपेयी और डॉ० नगेंद्र आदि को ही रखा जाता था, किंतु नामवर सिंह ने आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी की षष्ठिपूर्ति पर एक परिसंवाद आयोजित किया, उन पर एक स्मृति अंक आयोजित कर उन्हें हिंदी आलोचना के कैनन में स्थापित किया। आचार्य रामचंद्र शुक्ल की जन्मशती पर दो-दो अंक संपादित किए और डॉ० रामविलास शर्मा के सत्तरवें जन्मदिवस के अवसर पर विशेषांक आयोजित कर यह स्पष्ट किया कि हिंदी आलोचना का वास्तविक कैनन इन महानुभावों से बनता है। हिंदी आलोचना आचार्य रामचंद्र शुक्ल, आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी और डॉ० रामविलास शर्मा के पद्धिस्तों पर चलकर विकास करेगी। इस कैनन से व्यवस्थित ढंग से बोध करवाने का काम नामवर सिंह ने ही 'आलोचना' पत्रिका के माध्यम से किया। यह हिंदी आलोचना के विकास में 'आलोचना' पत्रिका का अन्यतम योगदान है। इस प्रकार 'आलोचना' के विशेषांक किन रचनाकारों और आलोचकों पर आयोजित है और उनका महत्व क्या है, इसे पाँचवें अध्याय में देखा जा सकता है। नामवर सिंह ने 'आलोचना' पत्रिका के माध्यम से साहित्य अध्ययन की नवीनतम प्रवृत्तियों से हिंदी पाठकों को परिचित कराने का कार्य किया। 'आलोचना' पत्रिका में सबसे पहले 'शैलीविज्ञान' जैसी नवीनतम साहित्यिक अध्ययन प्रवृत्ति को प्रस्तुत किया गया है। वहीं 'साहित्य' का समाजशास्त्रीय चिंतन की प्रस्तावना को भी पहले-पहल 'आलोचना' पत्रिका के पटल पर ही देखा जा सकता है। उत्तर-आधुनिकता और संरचनावाद, आदि प्रवृत्तियों पर हिंदी में सबसे पहला लेख 'आलोचना' पत्रिका में ही प्रकाशित हुआ था। साहित्य का सौंदर्यशास्त्रीय अध्ययन किस प्रकार हो सकता है, उसकी विभिन्न प्रवृत्तियाँ

क्या हो सकती हैं इस विषय पर कई लेख 'आलोचना' में प्रकाशित हैं। हिंदी आलोचना की सबसे जीवंत और दीर्घ समय तक चलते रहले वाली बहस "हिंदी नवजागरण की संकल्पना" और 'दूसरी परंपरा की खोज' भी 'आलोचना' पत्रिका में प्रकाशित लेखों से ही शुरू हुई। इस बहस ने हिंदी आलोचना को एकदम नवीन दिशा देने का प्रयत्न किया।

नामवर सिंह ने 'आलोचना' पत्रिका के माध्यम से इस प्रवृत्ति की नींव कदाचित पहली बार डाली जिसमें आलोचनात्मक लेखों को धारावाहिक रूप में, अथवा क्रमानुसार प्रकाशित किया। जो आगे चलकर पुस्तक के रूप में प्रकाशित हुई। इसका अच्छा उदाहरण नंदकिशोर नवल की पुस्तक 'हिंदी आलोचना का विकास' का 'आलोचना' में धारावाहिक रूप से प्रकाशन है। इस प्रकार 'आलोचनात्मक लेखों को शृंखलाबद्ध तरीके से आलोचना में प्रकाशित करना स्वयं हिंदी की साहित्यिक पत्रकारिता के क्षेत्र में अत्यंत सार्थक अवदान के रूप में ग्रहण किया जाना चाहिए। इसी प्रकार के अन्य महत्त्वपूर्ण तथ्यों का परिचय हम 'नामवर सिंह का संपादकीय विवेक और 'आलोचना' का संपादन शीर्षक अध्याय में देख सकेंगे। हिंदी आलोचना के विकास में 'आलोचना' पत्रिका का क्या योगदान है, इसका सम्यक अध्ययन इस प्रबंध के सातवें अध्याय में प्रस्तुत किया गया है।

नामवर सिंह अपने संपादन में 'आलोचना' में उच्चस्तरीय शोध-पत्र, आलेख, निबंध आदि के साथ साक्षात्कार, गूढ़ और गंभीर पुस्तक-समीक्षाएँ, परिसंवादों और संपादकीय वक्तव्यों के प्रकाशन द्वारा हिंदी आलोचना को विस्तृत ज्ञानानुशासन से जोड़ने का काम करते हैं, जिससे हिंदी आलोचना का एक बौद्धिक वातावरण निर्मित हो सके। नामवर सिंह के मतानुसार आलोचना का तात्पर्य 'शुद्ध साहित्यिक आलोचना' नहीं है, बल्कि इनके नजदीक आलोचना एक व्यापक सांस्कृतिक प्रक्रिया है, जिसको कुछ सामाजिक सरोकार होते हैं, जिसे मुक्तिबोध 'सभ्यता समीक्षा'

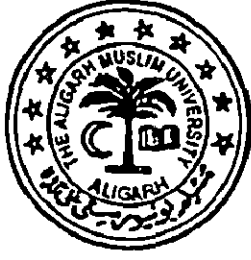
कहा करते थे। इस प्रकार नामवर सिंह अपने संपादन में विविध ज्ञानानुशासन युक्त सामग्री प्रस्तुत करते हुए हिंदी आलोचकों के समक्ष उसी प्रकार के गूढ़ गंभीर और विविध ज्ञानानुशासन युक्त उक्त आलोचनात्मक दृष्टि का आदर्श प्रस्तुत करने का कार्य किया। आलोचना के स्वरूप को विशुद्ध साहित्य के सीमित क्षेत्र से निकाल कर उसे सभ्यता समीक्षा की सांस्कृतिक प्रक्रिया से जोड़ने का काम किया। इसके लिए उनका आलोचनात्मक विवेक का महत्वपूर्ण अवदान है, जिसके कारण उनके संपादकीय विवेक को अत्यंत विस्तृत आधार मिला। इस प्रकार नामवर सिंह ने 'आलोचना' पत्रिका का संपादन करते हुए आलोचना के स्वरूप को ही बदल देने का काम किया। अब आलोचना में प्रवृत्त किसी आलोचक के लिए केवल साहित्य का ज्ञान अपेक्षित नहीं है, बल्कि सम्यक इतिहास-बोध, वैज्ञानिक दृष्टि, सांस्कृतिक चेतना संपन्न होने के साथ-साथ साहित्य की परंपराओं का ज्ञान और विविध ज्ञान के अनुशासनों की सम्यक जानकारी के साथ तीव्र अन्वीक्षण बुद्धि और रसग्रहिणी प्रज्ञा की अपेक्षा होगी। अतः नामवर सिंह के संपादन के माध्यम से 'आलोचना' पत्रिका की सामग्री ने इस प्रकार से हिंदी पाठकों और आलोचकों के आलोचनात्मक विवेक के निर्माण का कार्य किया है। इसके माध्यम से हिंदी आलोचना के लिए ऐसा बौद्धिक वातावरण निर्मित हुआ कि आगामी आलोचना का सर्वोत्तम उसी वातावरण की देन होगी।

'आलोचना' पत्रिका के माध्यम से हिंदी आलोचना में एक अत्यंत महत्वपूर्ण योगदान हिंदी की 'आलोचना की भाषा' का विकास के रूप में देखा जा सकता है। नामवर सिंह ने 'आलोचना' का संपादन करते हुए हिंदी की प्रगतिशील आलोचना के विकास के लिए जो लड़ाई लड़ी है, उसमें हिंदी की अपनी 'आलोचना की भाषा' का क्या रूप हो यह मुद्दा भी शुरू से जुड़ा रहा है। हमारी दृष्टि में 'आलोचना' पत्रिका ने हिंदी 'आलोचना' की भाषा के निर्माण में अपनी महती भूमिका का निर्वाह किया है। हिंदी आलोचना के सम्मुख 'आलोचना' पत्रिका में प्रयुक्त भाषा ही हिंदी आलोचना

की सही व जातीय भाषा हो सकती है।

इसके अतिरिक्त, 'आलोचना' पत्रिका में कई प्रतिभाओं को प्रकाशित कर प्रोत्साहित किया, वहीं कुछ आलोचकों और चिंतकों को बार-बार छाप कर उनकी प्रतिभा से हिंदी आलोचना जगत को परिचित कराया। आज हिंदी में जितने बड़े आलोचक-चिंतक दिखाई पड़ते हैं, उनका संबंध किसी-न-किसी रूप में 'आलोचना' पत्रिका से अवश्य रहा है। नामवर सिंह के संपादकीय विवेक का ही अवदान है, जिससे हिंदी आलोचना का वृहत्तर आयाम निर्मित हो सका। उन्होंने 'आलोचना' का संपादन करते हुए हिंदी आलोचना को विशुद्ध साहित्यिक क्षेत्र की सीमा से निकालकर उसे व्यापक सांस्कृतिक क्षेत्र में जोड़कर व्यापक आधार प्रदान करते हुए उसे 'सभ्यता-समीक्षा' का रूप दिया। कहना न होगा कि उन्होंने 'आलोचना' पत्रिका को गूढ़-गंभीर चिंतन युक्त सामग्री से ऐसे बौद्धिक वातावरण का निर्माण किया जो समस्त साहित्यिक-सांस्कृतिक गतिविधियों को आलोचनात्मक होकर देख सके। इस प्रकार यह नामवर सिंह का आलोचनात्मक विवेक और संपादक-व्यक्तित्व की ही महत्वपूर्ण देन है जिसने कितने ही आलोचकों-पाठकों का आलोचनात्मक विवेक निर्मित किया और 'आलोचना' को हिंदी की आलोचनात्मक विवेक की पत्रिका के रूप में स्थापित किया। वह न केवल हिंदी की महती पत्रिका बनी बल्कि भारतीय साहित्य की परीक्षा करनेवाली एक अप्रतिम पत्रिका भी सिद्ध हुई। उसका स्थान इतिहास के हृदय में सुरक्षित है।

जावेद आलम
10-01-2014
(जावेद आलम)



हिंदी आलोचना के विकास में नामवर सिंह संपादित 'आलोचना' पत्रिका का योगदान

अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय के हिंदी विभाग से
पी-एच.डी. की उपाधि हेतु प्रस्तावित

शोध-प्रबंध

2014

निर्देशक

डॉ. प्रदीप कुमार सक्सेना

प्रोफेसर, हिंदी विभाग

अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय, अलीगढ़

शोधार्थी

जावेद आलम

हिंदी विभाग, कला संकाय

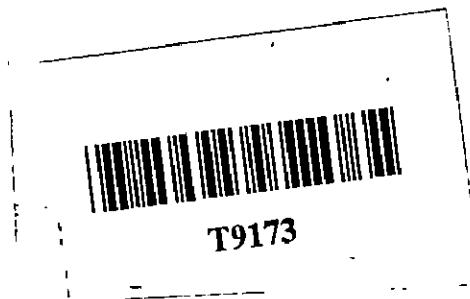
अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय, अलीगढ़ (उ०प्र०) 202002 (भारत)

THESIS



20 NOV 2014

10/11/14



CERTIFICATE

It is certified that Mr. Javed Alam, En. No. GA-2040, a candidate admitted to Ph.D. course in the Department of Hindi, AMU, Aligarh on January 12, 2009 has completed two years residency period with required percentage of attendance upto January 11, 2011. He has submitted his thesis for the Degree of Doctor of Philosophy in Hindi under the supervision of Prof. Pradeep Kumar Saxena, Professor, Department of Hindi, A.M.U. Aligarh on 12-01.2014.

Arif Nazir
(Prof. Arif Nazir)
Chairman
Department of Hindi
Aligarh Muslim University
ALIGARH
12/1/14

PROF. P.K. SAXENA
Professor (Hindi)



DEPARTMENT OF HINDI
ALIGARH MUSLIM UNIVERSITY
ALIGARH-202002 (INDIA)

Telex : 564- 230 AMU IN
Phones : Off. 2700920 Ext.
2700921 1460
2700922 1461
Res. (0571) 2740041

CERTIFICATE

This is to certify that this thesis entitled “हिंदी आलोचना के विकास में नामवर सिंह संपादित ‘आलोचना’ पत्रिका का योगदान” (Contribution of Namwar Singh edited ‘Aalochna’ in the development of Hindi criticism) submitted for the award of Doctor of Philosophy in Hindi, is a bonafide record of research work carried out by **Mr. Javed Alam** under my supervision this is the original work of the candidate and suitable for submission for the award of Ph.D. (Hindi) Degree.

(Prof. P.K. Saxena)
Supervisor

विषय - अनुक्रम

| | पृ. सं. |
|---|---------|
| संक्षेप और संकेत-चिह्न सूची और अन्य सूचनाएँ | A-C |
| प्रस्तावना | i-xiv |
| अध्याय : एक | |
| नामवर सिंह संपादित 'आलोचना' में प्रस्तुत प्रमुख साहित्यिक बहसों और मुद्दे | 1-114 |
| 1.1 'आलोचना' में प्रस्तुत साहित्यिक बहसों और मुद्दों का स्वरूप निर्धारण | |
| 1.2 कविता और राजनीति | |
| 1.3 साहित्य के समाजशास्त्रीय चिंतन की प्रस्तावना | |
| 1.3.1 साहित्य के समाजशास्त्रीय चिंतन संबंधी महत्वपूर्ण बिंदु | |
| 1.3.2 साहित्य के समाजशास्त्र की अध्ययन पद्धतियाँ | |
| 1.3.3 'आलोचना' पत्रिका में साहित्य के समाजशास्त्रीय चिंतन का स्वरूप | |
| 1.4 हिंदी नवजागरण की संकल्पना पर बहस | |
| 1.5 रोमांटिक बनाम आधुनिक. | |
| 1.6 आलोचना की भाषा | |
| 1.7 भाषिक आलोचना और 'आलोचना' पत्रिका | |
| अध्याय : दो | |
| मार्क्सवादी आलोचना की नई बहसों और 'आलोचना' पत्रिका | 115-172 |
| 2.1. पश्चिमी मार्क्सवादी-चिंतन की नई धारा : मुद्दे और मान्यताएँ | |
| 2.1.1 साहित्य और समाज का संबंध | |
| 2.1.2 आधार और अधिरचना का संबंध एवं उसकी सार्थकता. | |
| 2.1.3 कला और क्रांति | |
| 2.1.4 कला और विचारधारा. | |
| 2.1.5 वस्तु और रूप | |
| 2.2. हिंदी की मार्क्सवादी आलोचना की नई बहसों और मुद्दे | |

अध्याय : तीन

परंपरा का मूल्यांकन और 'आलोचना' पत्रिका

173-214

- 3.1. परंपरा के मूल्यांकन संबंधी अध्ययन की दशा और दिशा
- 3.2. परंपरा के मूल्यांकन में 'आलोचना' पत्रिका की भूमिका
 - 3.2.1 साहित्य की परंपरा अथवा सांस्कृतिक विरासत से परिचय तथा उसके नवीन आयाम
 - 3.2.2 परंपरा का सही चेहरा : विगत महत्ता और वर्तमान अर्थवत्ता
 - 3.2.3 दूसरी परंपरा की खोज का प्रश्न
 - 3.2.4 साहित्य की परंपरा और कैननाइजेशन का पुनर्निर्माण

अध्याय : चार

समकालीन रचनाशीलता और 'आलोचना' पत्रिका

215-269

- 4.1 समसामयिक साहित्यिक-संदर्भ और पत्र-पत्रिकाएँ
- 4.2 समकालीन रचनाशीलता और 'आलोचना' पत्रिका : अध्ययन का स्वरूप और दिशाएँ
- 4.3 'आलोचना' पत्रिका में प्रकाशित प्रमुख कविताएँ.
- 4.4 समकालीन राजनीतिक-सांस्कृतिक प्रश्न और 'आलोचना' पत्रिका
- 4.5 'आलोचना' पत्रिका और समकालीन काव्य संबंधी चिंतन और आलोचना की दशा और दिशा
- 4.6 'आलोचना' पत्रिका और समकालीन 'कथालोचना'.
 - 4.6.1 'आलोचना' पत्रिका में 'उपन्यास' संबंधी चिंतन एवं अध्ययन का स्वरूप
 - 4.6.2 'आलोचना' पत्रिका में 'कहानी' संबंधी चिंतन और अध्ययन का स्वरूप
- 4.7. 'आलोचना' पत्रिका में समकालीन नाट्य-रचना संबंधी चिंतन अध्ययन की स्थिति : एक आकलन
- 4.8 'आलोचना' पत्रिका और समकालीन आलोचना की आलोचना
 - 4.8.1 पुस्तक समीक्षाएँ
 - 4.8.2 'आलोचना' पत्रिका में समकालीन आलोचना की वस्तु स्थिति

अध्याय : पाँच

‘आलोचना’ के विशेषांक : महत्त्व और वैशिष्ट्य 270-311

5.1 ‘आलोचना’ पत्रिका के प्रमुख विशेषांक

5.2 ‘आलोचना’ पत्रिका के महत्त्वपूर्ण आयोजन

5.2.1 स्मृति अंक और रचनाकारों-आलोचकों पर विशेष आयोजन

5.2.2 ‘संवाद’ अथवा किसी विषय पर विशेष सामग्री

अध्याय : छः

नामवर सिंह का संपादकीय विवेक और ‘आलोचना’ का संपादन 312-342

अध्याय : सात

हिंदी आलोचना के विकास में ‘आलोचना’ पत्रिका का योगदान 343-365

उपसंहार 366-381

सहायक-ग्रंथ-सूची 382-402

संक्षेप और संकेत-चिह्न सूची और अन्य सूचनाएँ

| | |
|---------------|------------------------------|
| अनु. | अनुवाद/ अनुवादक |
| अ. ति. | अनुपलब्ध तिथि |
| अ. मु. वि. | अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय |
| ई. | ईस्वी |
| ई. पू. | ईसा पूर्व |
| पृ. सं. | पृष्ठ संख्या |
| संपा. | संपादक/ संपादन |
| संक. | संकलन |
| संर. | संरक्षक |
| सह-संपा. | सह-संपादक |
| द्वि. | द्वितीय |
| तृ. | तृतीय |
| परि. | परिवर्द्धित/ परिष्कृत |
| वि. सं. | विक्रमी संवत् |
| जन. | जनवरी |
| सित. | सितंबर |
| अक्टू/ अक्तू. | अक्टूबर |
| नव. | नवंबर |
| दिसं. | दिसंबर |

| | |
|-------------|----------------------|
| जन-मार्च | जनवरी-फरवरी-मार्च |
| अप्रैल-जून | अप्रैल-मई-जून |
| जुलाई-सितं. | जुलाई-अगस्त-सितंबर |
| अक्टू-दिसं. | अक्टूबर-नवंबर-दिसंबर |

अन्य सूचनाएँ

1. संदर्भों में 'नवांक' शब्द बार-बार उल्लिखित हुआ है, यहाँ 'नवांक' शब्द का अर्थ नामवर सिंह संपादित 'आलोचना' पत्रिका के अंकों के लिए प्रयुक्त किया गया है। ध्यातव्य है कि 'आलोचना' पत्रिका के विषयानुक्रम पृष्ठ पर 'नवांक' शब्द के साथ-साथ 'पूर्णांक' शब्द भी प्रकाशित होता था, किंतु इस शोध प्रबंध में 'नवांक' शब्द का प्रयोग ही किया गया है। पूर्णांक का तात्पर्य 1951 से 1966 ई. तक नामवर सिंह के संपादन से पूर्व प्रकाशित होनेवाले अंक के रूप में ग्रहण किया गया है।
2. संदर्भ सूची आदि के लिए एम.एल.ए. हैंडबुक के दिशा निर्देशों का ही पालन किया गया है, किंतु एम. एल. ए. के दिशा-निर्देश मूलतः अंग्रेज़ी भाषा में काम करने वालों के लिए ही तैयार किया गया है। उसके कई दिशा-निर्देश हिंदी भाषा और देवनागरी लिपि की प्रकृति के अनुकूल ठीक नहीं बैठता है, उदाहरण के लिए एम. एल. ए. हैंडबुक कई संदर्भों में रोमन लिपि के 'कैपिटल लेटर्स' के प्रयोग की बात करता है, किंतु हिंदी में कैपिटल या स्माल लेटर्स में लिखने की अलग-अलग कोटियाँ नहीं हैं, इसलिए संदर्भों को प्रस्तुत करने के लिए उसके कई दिशा-निर्देश को कई स्थलों पर हिंदी भाषा और देवनागरी लिपि की प्रकृति के अनुसार बनाकर प्रस्तुत किया गया है।
3. हिंदी की पत्रिका पर काम करते हुए उसमें अंकों की संख्या की सूचना देना आवश्यक प्रतीत हो रहा था, इसलिए, संदर्भों में उन्हें उल्लिखित कर दिया गया है।

4. पत्र-पत्रिकाओं में एक ही शीर्षक से कई अंकों में विभिन्न लेखकों के विविध लेख; निबंध, शोधकार्य आदि प्रकाशित होते रहते हैं। संदर्भों में विभिन्न लेखों, शोधपरक आलेख, निबंध आदि का बार-बार उल्लेख किया गया है, भ्रम की स्थिति न बने, इसके लिए प्रयः संदर्भ की पूरी-जारीकारी दे दी गई है।
5. 'आलोचना' पत्रिका के अतिरिक्त अन्य पत्रिकाओं के संदर्भ में संपादक और अंकों की सूचना देना ज़्यादा ज़रूरी समझकर प्रस्तुत किया गया है।
6. समान संदर्भ उल्लिखित करने के लिए 'वही' शब्द का ही प्रयोग किया गया है। एम. एल. ए. हैंडबुक की अंग्रेज़ी भाषा में काम करनेवाली तकनीकी प्रयोगों का इस परिप्रेक्ष्य में प्रयोग नहीं किया गया है।
7. पत्रिका के नाम को 'एकल उद्धरण' (' ') चिह्न में दिया गया है। जैसे 'आलोचना'। यह पुस्तक अथवा अन्य संपादित ग्रंथ से पत्रिका का अंतर स्पष्ट करने के लिए ऐसा किया गया है। कैपिटल और स्माल लेटर्स की अव्यावहारिक कठिनाई से मुक्ति पाने के लिए ऐसा किया गया है।
8. शोध-प्रबंध में जहाँ वर्ष के साथ ईस्वी आदि का प्रयोग नहीं किया गया है, वहाँ ईस्वी सन् के रूप में देखा जाए। विक्रमी संवत् आदि की सूचनाएँ यथास्थान उल्लिखित हैं।

प्रस्तावना

जिस समय से हिंदी साहित्य के आधुनिक काल का आविर्भाव माना जाता है, ठीक वही समय हिंदी की पत्रकारिता की शुरूआत का भी है। दूसरे शब्दों में कहें तो, हिंदी साहित्य में आधुनिक चेतना के आविर्भाव और हिंदी पत्रकारिता का आरंभ एक साथ एवं एकदूसरे के समानांतर ही हुआ है। यदि ध्यान दिया जाए तो स्पष्ट होगा कि, आधुनिक जीवन-मूल्य और उसकी चेतना को तीव्रतर करने तथा उसे विस्तृत फलक देने में पत्र-पत्रिकाओं के प्रकाशन की अत्यंत महत्वपूर्ण भूमिका रही है। इसीलिए हिंदी साहित्य के इतिहास में आधुनिक काल की शुरूआत की जब कभी भी पड़ताल की जाती है, उसमें पत्र-पत्रिकाओं के अवदान को अवश्य ही रेखांकित किया जाता है।

पत्र-पत्रिकाओं के प्रकाशन के साहित्य के विकास में जो सबसे क्रांतिकारी परिवर्तन किया, वह है साहित्य को कुलीनतावादी और सामंतवादी कटघरे से बाहर निकालना। इस प्रकार, पत्र-पत्रिकाओं के प्रकाशन ने साहित्य के पाठक-वर्ग को ही बदल देने का कार्य किया। अब साहित्य किसी एकांत साधना अथवा राजदरबार के शिष्ट समुदाय तक सीमित रहनेवाली कोई चीज नहीं था, बल्कि उसका संबंध व्यापक जनसमुदाय से हो गया। पत्र-पत्रिकाओं ने साहित्य को अगणित जनता के समक्ष प्रस्तुत करने का कार्य किया। अब आधुनिक काल में आकर साहित्य का सवाल जनसाधारण का सवाल बनकर उभरा। कहने की आवश्यकता नहीं कि साहित्य को कुलीनतावादी एवं सामंतवाद के संकीर्ण दायरे से बाहर निकालने की प्रक्रिया स्वयं आधुनिक चेतना और उसके परिवर्तनकारी मूल्यों की प्रतीति कराता है। ठीक इसी प्रकार पत्र-पत्रिकाओं के माध्यम से साहित्य को व्यापक जनसमूह से जोड़ने की प्रक्रिया और उसे जनमानस की अभिव्यक्ति का माध्यम बनाना लोकतांत्रिक मूल्यों की अवस्थिति का ही बोध कराता है। साहित्य के व्यापक जनसमुदाय से जुड़ते ही उसके लक्ष्य, उसके निहितार्थ एवं उसके सीमा-विस्तार में तुरंत ही बदलाव परिलक्षित किया जा

सकता है। साहित्य का रूप भी वही नहीं रह जाता, जो कभी पूर्व में था। वहाँ भी साहित्य-रूपों में नवीनता का आग्रह स्पष्ट लक्षित किया जा सकता है। व्यापक जनसमूह जब अपनी विचार-अनुभूतियों को अभिव्यक्ति का माध्यम बनाता है तो वहाँ साहित्य-रूपों में न केवल बदलाव परिलक्षित किया जा सकता है, बल्कि अभिव्यक्ति के नवीन-रूपों का आविर्भाव भी देखने को मिलता है। यही कारण है कि हिंदी साहित्य के विकास के आधुनिक काल में अभिव्यक्ति के वैविध्यपूर्ण रूप और नवीन-से-नवीन विधाओं को परिलक्षित किया जा सकता है। साहित्य के इन वैविध्यपूर्ण रूप और नवीन-से-नवीन विधाओं को जन्म देने और किसी विधा को विकसित करने में पत्र-पत्रिकाओं की अत्यंत उल्लेखनीय और निर्णायक भूमिका रही है। आधुनिक चेतना और उसकी वाहक पत्र-पत्रिकाओं ने यह बोध कराया कि हम अपनी अभिव्यक्ति किसी निश्चित नियमों से बद्ध साहित्य-रूप अथवा विधा में ही करने के लिए बाध्य नहीं हैं; हमें जीवन के व्यापक पक्ष को स्पष्ट करने के लिए सदैव 'महाकाव्य' की सर्गबद्ध ढाँचे की ज़रूरत नहीं है, हम उसे किसी 'उपन्यास' का रूप दे सकते हैं, उसे किसी 'लंबी कहानी' अथवा किसी 'कहानी' के संश्लिष्ट रूप में भी अभिव्यक्ति दे सकते हैं। हम अपनी बात सिर्फ 'पद्य' में ही नहीं, अपितु 'गद्य' में भी कह सकते हैं। वस्तुतः यह हमारी चेतना का आधुनिकीकरण और जनतंत्रीकरण की प्रक्रिया से होकर गुजरना है।

स्पष्ट है कि, साहित्य की विभिन्न विधाओं और अभिव्यक्ति के विविध रूपों के उद्भव और विकास में पत्र-पत्रिकाओं का अन्यतम योगदान है। हिंदी में प्रकाशित 'कविवचन सुधा', 'हरिश्चंद्र चंद्रिका', 'ब्राह्मण', 'हिंदी प्रदीप', 'सरस्वती', 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका', 'हंस', 'प्रभा', 'मतवाला', 'नया साहित्य', 'कल्पना', 'धर्मयुग', 'आलोचना', 'सारिका', 'पूर्वग्रह', 'समालोचक' आदि जैसी पत्र-पत्रिकाओं का हिंदी साहित्य की विभिन्न विधाओं के आविर्भाव और उनके विकास में अन्यतम योगदान है।

कहने की आवश्यकता नहीं कि आधुनिक हिंदी गद्य की विविध विधाओं जैसे 'कहानी',

‘निबंध’, ‘जीवनी’ तथा साहित्य की अन्य विधाओं की भाँति हिंदी में आलोचना का प्रारंभ भी पहले-पहल पत्र-पत्रिकाओं के माध्यम से ही हुआ। आधुनिक चेतना एवं लोकतंत्रीकरण की प्रक्रिया की यदि कोई सर्वोत्तम देन है तो वह आलोचना जैसा साहित्यिक गद्य रूप ही है। वास्तव में, आलोचना जैसे गद्य रूप का उद्भव लोकतंत्रीकरण की प्रक्रिया के साथ होता है, और उसका विकास हिंदी भाषी समाज में विकसित हो रहे लोकतंत्र की सांस्कृतिक प्रक्रिया के समानांतर भी रखकर देखा जा सकता है। क्योंकि वस्तुतः आलोचना स्वयं एक लोकतांत्रिक प्रक्रिया है।

गौरतलब है कि हिंदी की साहित्यिक पत्रकारिता के क्षेत्र में रचनात्मक साहित्य और उसकी विविध विधाओं पर केंद्रित पत्रिकाएँ तो बहुत रही हैं, किंतु शुद्ध आलोचना के क्षेत्र की पत्रिकाओं का प्रायः अभाव रहा है। यह अभाव हमें 1950 ई. तक की हिंदी की साहित्यिक पत्रकारिता के क्षेत्र में दिखाई पड़ता है। सन् 1951 ई. से ‘आलोचना’ त्रैमासिक के प्रकाशन से पूर्व हिंदी की साहित्यिक पत्रकारिता के क्षेत्र में विशुद्ध आलोचना की कोई पत्रिका ही नहीं थी। यही कारण है कि हिंदी की साहित्यिक पत्रकारिता के क्षेत्र में, विशेषकर हिंदी आलोचना के क्षेत्र में ‘आलोचना’ पत्रिका के संपादन-प्रकाशन का ऐतिहासिक महत्त्व है। हिंदी की साहित्यिक पत्रकारिता के क्षेत्र में ‘आलोचना’ पत्रिका के प्रकाशन को छोटाराम कुम्हार ‘एक युगांतरकारी घटना’ के रूप में देखते हैं।

‘आलोचना’ पत्रिका ‘राजकमल प्रकाशन-नई दिल्ली’ जैसे प्रकाशन संस्थान से प्रकाशित होती रही है। ‘आलोचना’ पत्रिका का प्रवेशांक श्री शिवदान सिंह चौहान के संपादन में अक्टूबर, 1951 ई. में प्रकाशित हुआ। इस प्रकार शिवदान सिंह चौहान इस पत्रिका के संस्थापक-संपादक हुए। शिवदान सिंह चौहान के उपरांत इसके संपादन का दायित्व कई संपादकों के हाथों में आया। शिवदान सिंह चौहान के बाद अप्रैल, 1953 ई. से धर्मवीर भारती, रघुवंश, ब्रजेश्वर वर्मा और विजयदेवनारायण साही ने संयुक्त रूप से एक संपादक-मंडल के रूप में इसका संपादन किया। इसकी संपादन-व्यवस्था में अप्रैल, 1956 ई० में फेरबदल किया गया, अब ‘आलोचना’ का संपादन

आचार्य नंददुलारे वाजपेयी के हाथों में आया। इसी तरह 'आलोचना' का संपादन-दायित्व में पुनः फेरबदल हुआ और शिवदान सिंह चौहान 'आलोचना' के फिर से संपादक बनाए गए। इस बीच 'आलोचना' का प्रकाशन कई बार बाधित हुआ, और वह बाधित होकर भी प्रकाशित होती रही। सन् 1967 ई० से 'आलोचना' पत्रिका का संपादन-दायित्व नामवर सिंह के हाथों में आया। इस प्रकार, 'आलोचना' पत्रिका अपने प्रकाशन से नामवर सिंह के हाथों में आने तक कई संपादकीय विवेकों से होकर गुजरी, कई संपादकीय जगत के उलटफेर उसने देखे, कई बार बीच-बीच में उसका प्रकाशन बाधित हुआ।

'आलोचना' का संपादन-दायित्व जब से नामवर सिंह के हाथों में आया इस संपादकीय उलटफेर से उसे मुक्ति मिली। यानी नामवर सिंह के संपादन में 'आलोचना' सन् 1967 से सन् 1990 ई० तक की दीर्घ-अवधि तक संपादित-प्रकाशित होती रही। उसे प्रकाशन की बाधा से भी मुक्ति मिली। 'आलोचना' जैसी साहित्यिक विधा पर केंद्रित एक पत्रिका का लगभग चौबीस वर्षों तक निरंतर एक संपादक द्वारा संपादन, हिंदी की साहित्यिक पत्रकारिता के क्षेत्र में वास्तव में युगांतरकारी घटना है। इसका निरंतर प्रकाशन ही महत्त्वपूर्ण घटना नहीं है, बल्कि इस दीर्घ अवधि में हिंदी के साहित्यिक पटल पर उसकी सक्रिय उपस्थिति रही है। नामवर सिंह स्वयं हिंदी आलोचना के प्रमुख स्तंभ हैं, उनके संपादन में इतने वर्षों तक 'आलोचना' के प्रकाशन ने हिंदी आलोचना के क्षेत्र में अवश्य ही कुछ महत्त्वपूर्ण कार्य किए होंगे, जिससे हिंदी आलोचना की दिशा को परिवर्तित करने का सुयोग बना होगा; ज़रूर ही उसने कुछ ऐसे कार्य भी किए होंगे, जिससे हिंदी आलोचना के भविष्य का निर्धारण हो सकेगा। यदि उसने चौबीस वर्षों तक के अपने प्रकाशन की निरंतरता में ऐसा कुछ भी नहीं किया है, तो उसके प्रकाशन का कोई औचित्य नहीं ठहरता। किंतु ऐसा नहीं है। नामवर सिंह के संपादन में 'आलोचना' पत्रिका की चौबीस वर्षों तक सक्रिय उपस्थिति ही यह स्पष्ट कर देती है कि उसका हिंदी आलोचना में कुछ विशेष उल्लेखनीय योगदान है। नामवर सिंह

संपादित 'आलोचना' पत्रिका का हिंदी आलोचना में वह विशेष उल्लेखनीय अवदान क्या है, एक गंभीर शोध-कार्य का विषय है। 'हिंदी आलोचना के विकास में नामवर सिंह संपादित 'आलोचना' पत्रिका का योगदान' क्या रहा है, इस विषय पर एक शोधपूर्ण अध्ययन की आवश्यकता अनुभव की गई। अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय, अलीगढ़ (भारत) से शोध-उपाधि की प्राप्ति हेतु 'हिंदी आलोचना के विकास में नामवर सिंह संपादित 'आलोचना' पत्रिका का योगदान' विषय पर हिंदी विभाग में शोध-कार्य की रूपरेखा प्रस्तावित की गई, और यह शोध-कार्य उसी आवश्यकता का परिणाम है, जो 'शोध-प्रबंध' के रूप में अपना आकार ग्रहण कर सका है।

मेरी सीमित जानकारी में 'आलोचना' पत्रिका पर दो शोध-कार्य हुए हैं, जो यहाँ उल्लेखनीय हैं। एक शोध-कार्य हिंदी विभाग, अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय, अलीगढ़ से स्नातकोत्तर 1990-91 ई० (एम. ए.) हिंदी साहित्य की उपाधि हेतु 'नवें दशक की 'आलोचना' पत्रिका और हिंदी समीक्षा' विषय पर 'हुमा परवीन' द्वारा लघु शोध-प्रबंध के रूप में प्रस्तुत किया गया है। यह लघु-शोध प्रबंध डॉ० रमेशचंद्र शर्मा के निर्देशन में प्रस्तुत किया गया है। इस शोध-कार्य का शीर्षक ही इस विषय के सीमा-क्षेत्र को स्पष्ट कर देता है। शोध-कार्य में 1980 से 1990 ई० तक ही प्रकाशित 'आलोचना' पत्रिका के अंकों की विविध सामग्री का सर्वेक्षणात्मक अध्ययन प्रस्तुत करते हुए उसके लेखों के सार का संक्षेप में परिचय दिया गया है। यद्यपि बीच-बीच में उसका महत्त्व भी हिंदी समीक्षा के अंतर्गत स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है, फिर भी उसका अधिकांश रूप सर्वेक्षणात्मक और विवरणात्मक परिचय तक सीमित है। 'आलोचना' पत्रिका को लेकर दूसरा महत्त्वपूर्ण शोधकार्य छोटाराम कुम्हार ने 'जयनारायण व्यास विश्वविद्यालय, जोधपुर के माध्यम से विश्वविद्यालय अनुदान आयोग द्वारा प्रदत्त 'लघु शोध परियोजना' की अनुदान-राशि से सम्पन्न किया है। इन्होंने अपनी शोध परियोजना में सन् 1951 ई० से लेकर 1990 ई० के सभी संपादकों के संपादन में प्रकाशित संपूर्ण 'आलोचना' पत्रिका के अंकों के लेखों का सर्वेक्षण करते हुए

‘आलोचना-कोश’ प्रस्तुत किया है। उनके इस शोध-कार्य का लक्ष्य ‘आलोचना’ पत्रिका के संपादक और अंकों का लेखा-जोखा बताना है। इसके उपरान्त उसका सर्वेक्षणात्मक अध्ययन प्रस्तुत करते हुए ‘आलोचना’ पत्रिका के संपूर्ण अंकों के लेख आदि का एक कोश-निर्माण करना है। उनके इस शोध-कार्य का लक्ष्य हिंदी आलोचना के विकास में नामवर सिंह संपादित ‘आलोचना’ पत्रिका का क्या योगदान है, यह बताना नहीं है बल्कि उनका शोधकार्य ‘आलोचना’ पत्रिका का सर्वेक्षण और मूल्यांकन’ विषय पर केंद्रित है। जो ‘आलोचना-संदर्भ कोश’ (1995 ई०) शीर्षक से पुस्तक रूप में राजस्थानी ग्रंथागार जोधपुर से प्रकाशित है। स्पष्ट है कि मेरे द्वारा प्रस्तुत शोध-कार्य में नामवर सिंह संपादित ‘आलोचना’ पत्रिका का हिंदी आलोचना के विकास में दिए गए योगदान को स्पष्ट करना रहा है। छोटाराम कुम्हार जी की पुस्तक में ‘आलोचना’ के संपादकों के संपादन काल को विभिन्न चरणों में बाँट कर देखा गया है। यहाँ उन्हीं विभिन्न चरणों को ही अध्ययन की सुविधा के लिए स्वीकार किया गया है। ‘आलोचना’ पत्रिका पर हुए उपर्युक्त शोध-कार्यों के अतिरिक्त कोई अन्य शोध-कार्य मेरी सीमित जानकारी में देखने में नहीं आया है। इन शोध-कार्यों की प्रकृति भी मेरे शोध-कार्य की प्रकृति से भिन्न है। इस अध्ययन में यह बताने का प्रयास किया गया है कि नामवर सिंह के संपादन में ‘आलोचना’ पत्रिका ने हिंदी आलोचना के स्वरूप को परिवर्तित करने में किस भूमिका का निर्वाह किया है। उसके पूर्व हिंदी आलोचना का रूप कैसा था? नामवर सिंह ने अपने संपादकीय विवेक के माध्यम से ऐसा क्या परिवर्तन किया, जिसका हिंदी आलोचना के विकास में अन्यतम महत्त्व है। इसके अतिरिक्त हिंदी आलोचना की नवीन प्रवृत्तियाँ क्या रही हैं जिससे हिंदी आलोचना अपने स्वरूप का विकास कर सकी, नामवर सिंह ने ‘आलोचना’ का संपादन करते हुए उन्हें किस रूप में ग्रहण किया और उन्हें ‘आलोचना’ में किस प्रकार से प्रस्तुत किया गया, जो हिंदी आलोचना को कहीं बहुत गहरे प्रभावित करती रहीं और उन्हीं से उसके विकास की धाराएँ निकल कर आईं। नामवर सिंह संपादित ‘आलोचना’ अपने पूर्ववर्ती संपादकों से किस प्रकार भिन्न रही,

तथा 'आलोचना' पत्रिका की वह वैचारिक पृष्ठभूमि क्या रही है, जिसके कारण नामवर सिंह चौबीस वर्ष तक इसका संपादन करते रहे, और हिंदी जगत में गूढ़ सामग्री युक्त पत्रिका की सक्रिय उपस्थिति बनी रही?? वस्तुतः हिंदी आलोचना के विकास में नामवर सिंह संपादित 'आलोचना' त्रैमासिक का योगदान किस रूप में रहा है, यही इस शोध कार्य में दिखलाने का प्रयास किया गया है। इसलिए यह कहना अनुचित न होगा कि, प्रस्तुत शोध-कार्य अपनी अध्ययन की पद्धति और विषय की प्रकृति में पहला और मौलिक कार्य है। नामवर सिंह के प्रधान संपादकत्व में निकलने वाली 'आलोचना' सहस्राब्दी के अंक इस शोध-कार्य की सीमा के अंतर्गत नहीं आते हैं, इसलिए उनका उपयोग इस शोध-कार्य में नहीं किया गया है।

प्रस्तुत विषय पर शोध-कार्य करने हेतु इस अध्ययन को सात अध्यायों में विभक्त किया गया है। यह विभाजन केवल अध्ययन की सुविधा के लिए ही नहीं है, बल्कि यह विभाजन शोध-कार्य की प्रकृति और आवश्यकता के अनुरूप भी है। आवश्यकतावश इन अध्यायों को उपशीर्षकों में बाँट कर भी देखा गया है।

इस शोध-कार्य के अध्याय एक 'नामवर सिंह संपादित 'आलोचना' में प्रस्तुत प्रमुख साहित्यिक बहसों और मुद्दों', में यह स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है कि साहित्यिक बहसों की साहित्य के विकास में क्या भूमिका होती है? साहित्यिक बहसों को चलाने में पत्र-पत्रिकाओं की किस प्रकार की निर्णायक भूमिका होती है। इस पर प्रकाश डालते हुए यह स्पष्ट किया गया है, उन साहित्यिक बहसों से 'आलोचना' का विकास किस रूप में होता है। इन्हीं संदर्भों में 'आलोचना' पत्रिका की प्रमुख साहित्यिक बहसों को ही इस अध्याय में प्रस्तुत किया गया है। अन्य अवांतर साहित्यिक बहसों जो 'आलोचना' पत्रिका में बहुत दूर तक नहीं चली हैं उन्हें विस्तार भय से शोध-प्रबंध की सीमा के कारण उनका संकेत भर किया गया है। इस अध्याय से स्पष्ट होगा कि साहित्यिक बहसों का हिंदी आलोचना के विकास में कितना अन्यतम योगदान है और नामवर सिंह

ने अपने संपादकीय विवेक से उसे कितनी सतर्कता और सजग होकर प्रस्तुत कर सकें हैं।

द्वितीय अध्याय जिसका शीर्षक 'मार्क्सवादी आलोचना की नई बहसें और 'आलोचना' पत्रिका', है। इस अध्याय में नामवर सिंह के संपादन में मार्क्सवादी आलोचना की नवीन बहसों को किस प्रकार प्रस्तुत किया है, और उन नई बहसों की तत्कालीन साहित्यिक परिवेश में क्या आवश्यकता रही है? और हिंदी आलोचना के विकास में उनका क्या महत्त्व रहा है इन्हीं प्रश्नों के उत्तर देने का प्रयास किया गया है।

'परंपरा का मूल्यांकन और 'आलोचना' पत्रिका' इस शोध प्रबंध में तृतीय अध्याय के रूप में प्रस्तुत किया गया है। परंपरा का मूल्यांकन हिंदी आलोचना की महत्त्वपूर्ण प्रवृत्तियों में से एक है। हिंदी आलोचना में परंपरा के मूल्यांकन के कई रूप देखने को मिलते हैं। नामवर सिंह के लिए परंपरा का मूल्यांकन का क्या अर्थ है, उन्होंने उसे 'आलोचना' पत्रिका में किस प्रकार समायोजित किया है, इसे स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है। परंपरा के मूल्यांकन की प्रवृत्ति के उस रूप से हिंदी आलोचना को क्या दिशा मिली है, इसे भी यहाँ देखा जा सकता है। परंपरा के मूल्यांकन के संदर्भ में ही 'दूसरी परंपरा की खोज' के प्रश्न, और साहित्य की परंपरा में कैनन निर्माण के सवाल को स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है।

चतुर्थ अध्याय यहाँ 'समकालीन रचनाशीलता और 'आलोचना' पत्रिका शीर्षक से देखा जा सकता है। समकालीन रचनाशीलता से टकराहट और उससे सक्रिय संवाद ही आलोचना को आलोचना बनाता है। इस अध्याय में आलोचना की इस प्रवृत्ति को स्पष्ट लक्षित किया जा सकता है। 'आलोचना' के माध्यम से नामवर सिंह समकालीन रचनाशीलता से किस प्रकार सक्रिय संवाद करते रहे? आलोचना के प्रकाशन के समानांतर चलनेवाली समकालीन कविता, कहानी, उपन्यास, नाटक, आलोचना आदि की स्थिति क्या रही है, और 'आलोचना' पत्रिका में उसे किस रूप में प्रस्तुत किया गया है इस अध्याय में विस्तार से विवेचित विश्लेषित करने का प्रयास किया गया है।

इस शोध-कार्य के पाँचवें अध्याय 'आलोचना के विशेषांक: महत्त्व और वैशिष्ट्य' में नामवर सिंह ने किन रचनाकारों, विषयों और विधाओं पर विशेषांक आयोजित किए हैं, अथवा किस रचनाकारों पर स्मृति अंक, विशेष सामग्री आदि का प्रकाशन किया और उनका हिंदी आलोचना में क्या महत्त्व है? इन्हीं प्रश्नों पर केंद्रित होकर इस अध्याय में विचार प्रस्तुत किया गया है।

'नामवर सिंह का संपादकीय विवेक और 'आलोचना' का संपादन' शीर्षक छठे अध्याय में नामवर सिंह के संपादकीय विवेक की महत्ता की पड़ताल की गई है, और उससे 'आलोचना' पत्रिका किस रूप में अपना आकार ग्रहण करती रही एवं उसका हिंदी आलोचना में क्या महत्त्व है, इसे स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है।

सातवाँ अध्याय जो कि इस शोध-कार्य का ही शीर्षक है, यानी 'हिंदी आलोचना के विकास में नामवर सिंह संपादित 'आलोचना' पत्रिका का योगदान' में हिंदी आलोचना में नामवर सिंह संपादित 'आलोचना' के संपूर्ण अवदान को स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है। छः अध्यायों में तो अवदान को विस्तार से उल्लेख किया गया है। इस अध्याय में छः अध्यायों में आए महत्त्वपूर्ण मुद्दों के अतिरिक्त उन तथ्यों को प्रस्तुत करने का कार्य किया गया है, जो इन अध्यायों में नहीं आ सके हैं, किंतु वे तथ्य 'आलोचना' पत्रिका के हिंदी आलोचना में अन्यतम योगदान को स्पष्ट कर सके हैं, इसी लिए इस अध्याय में उसे समग्रता से स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है।

'उपसंहार' इस प्रबंध में उपसंहार के रूप में ही है यानी शोध-कार्य की समाप्ति पर अपने निष्कर्षों को स्पष्ट किया गया है। उपसंहार निष्कर्ष के रूप में ही प्रस्तुत हैं, इसलिए इसमें पूर्व की कही हुई बातों का दुहराव भी देखा जा सकता है। अंत में, संदर्भ ग्रंथ की सूची भी प्रस्तुत की गई। जिससे शोध-कार्य की वस्तुनिष्ठता और आवश्यकता की पूर्ति की जा सके।

इस शोध-कार्य में कुछ पक्षों पर ध्यान नहीं दिया जा सका है, जिसे इस अध्ययन की सीमा के रूप में ही देखा जाना चाहिए। इस अध्ययन में नामवर सिंह से पूर्व 'आलोचना' के संपादकों

की संपादन-कला आदि पर अलग से व्यवस्थित कोई अध्याय नहीं है, बल्कि आवश्यकतानुरूप अलग-अलग अध्यायों में उनकी चर्चा तभी आई है, जब नामवर सिंह की संपादन-कला से उनमें संपादकों में भिन्नता स्पष्ट करना ध्येय रहा है।

इसके अतिरिक्त, यहाँ सूचित करना अत्यावश्यक है कि नामवर सिंह ने 'आलोचना' का संपादन करते हुए तीन सहयोगियों की सहायता ली थी। जिनमें विष्णु खरेजिनका नाम पत्रिका पर सह-संपादक के रूप में प्रकाशित नहीं हुआ था। दो अन्य सहयोगियों के रूप में 'नंदकिशोर नवल' और परमानंद श्रीवास्तव का नाम 'आलोचना' के पृष्ठों पर 'सह-संपादक' के रूप में प्रकाशित होता था। यह सह-संपादक अलग-अलग समय में 'आलोचना' के संपादन से जुड़े। इनकी 'आलोचना' पत्रिका के संपादन में उल्लेखनीय भूमिका रही है। किंतु इस शोध-कार्य में इन सह-संपादकों की क्या भूमिका रही है, और योगदान रहा है, इस पर विचार नहीं किया गया है।

इसी प्रकार से राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली में प्रबंधकीय अथवा व्यवस्थापकीय फेरबदल पर, या व्यवस्थापक और संपादक के बीच के निजी प्रसंगों और आपसी कलह पर प्रायः ध्यान नहीं दिया गया है। यहाँ 'आलोचना' पत्रिका और संपादकीय विवेक का हिंदी आलोचना के विकास में क्या अवदान है। मूल सामग्री और तथ्यों के धरातल पर ही कोई बात कहने का प्रयत्न किया गया है।

इस शोध-कार्य की एक सीमा और रही है, वह यह कि 'आलोचना' में प्रकाशित 'पुस्तक-समीक्षाओं' पर प्रायः सर्वेक्षणात्मक या मोटी बातों को ही स्पष्ट किया गया है। इस पर अत्यंत गंभीरता से विचार नहीं किया गया है। जबकि इस पर अलग से कार्य करने की संभावना बनी हुई है। हिंदी 'आलोचना' में पुस्तक-समीक्षाओं की अत्यंत महत्वपूर्ण भूमिका रही है, किंतु इस पर विशेष ध्यान नहीं दिया जाता है। 'आलोचना' पत्रिका का अत्यंत महत्वपूर्ण हिस्सा पुस्तक समीक्षाओं का है, इसलिए इस पर एक लघु शोध-कार्य की आवश्यकता बनी हुई है। इसके

अतिरिक्त, हिंदी कविता के विकास में 'आलोचना' पत्रिका में प्रकाशित कविताओं की भी अत्यंत महत्त्वपूर्ण भूमिका है, इस विषय पर भी शोध-कार्य करने की आवश्यकता बनी हुई है। इसके अतिरिक्त, 'आलोचना' संपादन में सहयोगी की भूमिका का निर्वाह कर रहे विद्वानों का उसके संपादन में क्या महत्त्वपूर्ण अवदान रहा है इस पर भी शोध-कार्य किया जा सकता है।

इस शोध-कार्य में शोध की कई अध्ययन पद्धतियों का आवश्यकतानुसार प्रयोग किया गया है। यहाँ ऐतिहासिक, तुलनात्मक के साथ निगमनात्मक और आगमनात्मक पद्धति का प्रयोग भी किया गया है। तथ्यों के आधार पर इस शोध-प्रबंध में ही कोई निष्कर्ष निकाला गया है संदर्भ-सूचनाओं की मानक प्रस्तुति के लिए 'एम. एल. ए. हैंडबुक फॉर राइटर्स ऑफ रिसर्च पेपर (सातवाँ संस्करण)' भारतीय शोधार्थियों वाला, नई दिल्ली, के दिशा-निर्देश को ही आधार रूप में स्वीकार किया गया है, जहाँ कुछ भिन्नता अपनाई गई। उसकी जानकारी संक्षेप और संकेत-चिह्न सूची तथा अन्य सूचनाएँ शीर्षक पृष्ठ पर उल्लिखित हैं।

इस शोध-कार्य में सबसे अधिक कठिनाई का सामना 'आलोचना' पत्रिका के संपूर्ण अंकों को प्राप्त करने में ही हुआ। यह विडंबना ही है, कि राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली जहाँ से 'आलोचना' पत्रिका प्रकाशित होती थी, तथा उसके वितरण और व्यवस्था आदि करने का पूरा दायित्व राजकमल प्रकाशन का था, उन्हीं के पास आज 'आलोचना' का कोई अंक उपलब्ध नहीं है। इसलिए 'आलोचना' पत्रिका की प्रतियाँ प्राप्त करने में सबसे अधिक कठिनाईयों का सामना करना पड़ा। 'आलोचना' की प्रतियाँ अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय के 'मौलाना आज़ाद लाइब्रेरी', बनारस हिंदू विश्वविद्यालय और हैदराबाद केंद्रीय विश्वविद्यालय की सेंट्रल लाइब्रेरी के साथ प्रो० प्रदीप सक्सेना (हिंदी विभाग, अ. मु. वि. अलीगढ़) डॉ० रमेश कुमार (हिंदी विभाग, वार्ष्णेय कॉलेज, अलीगढ़) की निजी पुस्तकालय से प्राप्त हुई हैं। इसके अतिरिक्त 'आलोचना' पत्रिका पर छोटाराम कुम्हार के शोधकार्य की प्रकाशित पुस्तक की प्रति प्रो. भरत सिंह (हिंदी विभाग, अ.मु.वि, अलीगढ़)

से प्राप्त हुई है। इस शोध-कार्य में अध्ययन सामग्री उपलब्ध कराने में मौलाना आज़ाद लाइब्रेरी की सर्वाधिक उल्लेखनीय भूमिका रही है। मौलाना आज़ाद लाइब्रेरी के बाद प्रो० प्रदीप सक्सेना सर की निजी पुस्तकालय से ढेर सारी अध्ययन-सामग्री प्राप्त हुई हैं। अतः मैं उपर्युक्त संस्थानों के पुस्तकालय और निजी पुस्तकालयों का, शोध-कार्य संबंधी सामग्री उपलब्ध कराने के लिए, उनका आभारी हूँ। मौलाना आज़ाद लाइब्रेरी के हिंदी सेक्शन के इंचार्ज पीर भाई, नदीम भाई और हिंदी सेमिनार पुस्तकालय के इंचार्ज सैयद मुहम्मद माज़ भाई ने शोध संबंधी पुस्तकें उपलब्ध कराने में उल्लेखनीय सहयोग दिया है, अतः आप सभी के प्रति आभार प्रकट करना चाहता हूँ। पीर भाई के बारे में प्रसिद्ध है कि हिंदी-संस्कृत की किसी भी पुस्तक का नाम बताइए और वह लाइब्रेरी में जहाँ कहीं भी होगी, वह आप को अवश्य मिलेगी, इसलिए वह यहाँ विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। पीर भाई जैसे समर्थ लोग ही किसी पुस्तक के ढेर को लाइब्रेरी का रूप देते हैं।

इस शोध-कार्य के लिए मुझे विश्वविद्यालय अनुदान आयोग, नई दिल्ली (भारत) द्वारा जूनियर रिसर्च फेलोशिप (जे.आर.एफ.) के रूप में आर्थिक सहायता मिली अतः मैं इस संस्था का भी आभार प्रकट करता हूँ, जिसके आर्थिक सहयोग से यह शोध कार्य बिना बाधा के सुचारु रूप से पूर्ण हो सका।

इस शोध-कार्य के दौरान मुझे मेरे स्वर्गीय दादा-दादी के संघर्षपूर्ण जीवन से बराबर प्रेरणा मिलती रही है, उन्हीं की प्रेरणा से शोध-कार्य करने का मन बना, इसलिए यह शोध-कार्य मेरे स्वर्गीय दादा-दादी को ही समर्पित है। मेरे अब्बा और अम्मी से तो मेरा अस्तित्व है। उनका वात्सल्य से परिपूर्ण भाव और त्याग, कई स्तरों पर साये की तरह निरंतर मेरी सहायता करता रहता है। बड़े-अबू-बड़ी अम्मी, नन्हें अबू-नन्हें अम्मी और छोटी फूफी का प्यार भी मुझे बराबर मिलता रहा है। इस शोध-कार्य के दौरान बड़े भाई अफरोज आलम, और बड़ी भाभी, आफरीन बाजी, इमदाद भाईजान, फिरोज भाई, छोटी भाभी, जुनैद और अज़हर के स्नेह ने मेरी हौसलाअफ़जाई की और ये

सभी प्रेम और आदर के पात्र हैं। छोटे भाई-बहनों के आत्मीय लगाव ने मुझे निरंतर आत्मबल प्रदान किया। इस शोध-कार्य के दौरान मुझे मेरे पुराने मित्रों, सहपाठियों और कुछ नए मित्रों का निरंतर सहयोग मिलता रहा, जिन्होंने मेरी हरसंभव मदद की, हर परेशानी में मेरे साथ खड़े रहे; सुख में कम दुख में ज्यादा रहे। मैं उनके प्रति आजीवन ऋणी रहूँगा और अपने को कृतज्ञ मानता हूँ। इस शोध-कार्य के दौरान हिंदी विभाग का और उसके आफिस-स्टाफपरवेज़ फातिमा बाजी, सलमान भाई और शकील भाई और वहाब भाई का निरंतर सहयोग मिलता रहा, मैं उनके प्रति आभारी हूँ।

मैं हिंदी विभागाध्यक्ष प्रो० आरिफ़ नज़ीर सर का विशेष रूप से आभार प्रकट करता हूँ, जिनके आशीर्वाद से ही इस शोध-प्रबंध को विभाग में प्रस्तुत किया जा सका है।

इस शोध-कार्य के दौरान प्रो० एम. ई. जुबेरी, प्रो० भरत सिंह, प्रो० अब्दुल अलीम, प्रो० रमेश रावत, प्रो० आशिक अली, श्री अजय बिसारिया, डॉ० राजीवलोचन नाथ शुक्ल, डॉ० वेद प्रकाश, डॉ० शंभुनाथ तिवारी, डॉ० इफ़्फ़त असगर, डॉ० तस्नीम सुहैल, डॉ० रेशमा बेग़म, डॉ० मेराज अहमद जैसे विद्वान गुरुजनों का सहयोग, प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप से, मिलता रहा है इनके प्रति मैं सदा ऋणी रहूँगा।

मैं डॉ० आशुतोष कुमार का विशेष रूप से कृतज्ञ हूँ, जिन्होंने विषय-चयन से लेकर अपने निर्देशन में इस कार्य से मुझे जोड़ा। उनके निर्देशन में इस विषय पर कार्य करने के लिए मैं जुड़ा ही था कि उनको दिल्ली विश्वविद्यालय ज्वाइन करना पड़ा। इस शोध-कार्य को वह स्वयं पूरा कराना चाहते थे, किंतु दिल्ली विश्वविद्यालय जाने के बाद यह संभव नहीं था। उनसे और वंदना भाभी से मुझे सदैव स्नेह मिला। शोध-निर्देशक की अनुपलब्धता के कारण मुझे कई विभागीय और प्रशासनिक कठिनाईयों का सामना करना पड़ा। विभागीय और प्रशासनिक और पारिवारिक कठिनाईयों के चलते लगभग एक वर्ष तक इस विषय पर मैं कुछ नहीं कर सका। प्रो० प्रदीप सक्सेना सर ने मुझे अपने निर्देशन में लेकर इस संकट से उबारा। इस विषय को विधिवत निर्बाध

गति दी। अपनी महत्तर गुरुता का परिचय देते हुए मुझे अपनाया; अपना बना लिया। उनके बहुविध ज्ञान और आलोचकीय प्रतिभा युक्त निर्देशन ने इस विषय को समझने में और मेरी पारिवारिक कठिनाईयों में भी हर संभव सहायता की। मेरी हर प्रकार से मदद की। हिंदी आलोचना की साहित्यिक बहसों से लेकर मार्क्सवादी आलोचना की नई पुरानी बहसों, साहित्य की परंपराएँ क्या होती हैं परंपरा के मूल्यांकन के प्रति क्या दृष्टिकोण हो, तथा समकालीन रचनाशीलता को किस प्रकार समझा जाए, फिर उसमें पत्रिका का संपादन और उसके संपादक का क्या महत्त्व है, इन सबके प्रति कौन-सी अध्ययन-पद्धति और कार्य-प्रणाली अपनाई जाए, इन सबकी जानकारी मुझे उन्हीं से प्राप्त हुई है, उन्हीं निर्देशों और पद्धतियों का उपयोग इस प्रबंध के प्रत्येक अध्याय में किया गया है। इस अध्ययन में जितनी भी त्रुटियाँ हैं, वह मेरी सीमाएँ हैं। इस अध्ययन में जो कुछ भी अच्छा है, उसका श्रेय मेरे शोध-निर्देशक को जाता है। उनके प्रति आभार, धन्यवाद आदि शब्द का प्रयोग कर उनकी 'महत्तर गुरुता' का अपमान नहीं कर सकता। अंत में यही कहूँगा कि, उनके अप्रतिम सहयोग के बिना यह शोध-कार्य मैं कभी पूरा नहीं कर पाता।

इस शोध-प्रबंध की टाइपिंग और कंपोजिंग में श्री बिसारत अली ने कष्ट-साध्य श्रम किया है। अतः हम उनके प्रति धन्यवाद ज्ञापित करते हैं।

जवाब आलम
10-01-2014.
(जवाब आलम)

अध्याय : एक

अध्याय : एक

नामवर सिंह संपादित 'आलोचना' में प्रस्तुत प्रमुख साहित्यिक बहसों और मुद्दे

किसी भी भाषा के साहित्य में होनेवाली साहित्यिक बहसों एवं विवाद उस भाषा के साहित्य की सर्जनशीलता और जीवंतता का ही बोध कराते हैं। रचनाकारों के मध्य अथवा आलोचकों के बीच या रचनाकारों और आलोचकों के बीच किसी मुद्दे पर होनेवाली बहसों न केवल साहित्य को समृद्ध करती हैं, बल्कि आलोचनात्मक विवेक का मार्ग भी प्रशस्त करती हैं। साहित्यिक विवादों या बहसों से वैचारिक संघर्षों का और सर्जनात्मकता का उद्घाटन भी होता है, साथ ही साहित्य के विकास में अवरोधक ह्रासशील रुझानों को पनपने पर रोक भी लग जाती है। यह ह्रासशील रुझान भी कई बार स्वयं साहित्यिक विवादों को उत्पन्न करने के महत्वपूर्ण कारक बन जाते हैं।

साहित्यिक विवादों को जन्म देने उन्हें गति देते हुए आगे बढ़ाने में पत्र-पत्रिकाओं की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। हिंदी आलोचना के संपूर्ण विकास को देखते हुए कहा जा सकता है कि हिंदी आलोचना का आविर्भाव एवं विकास, पत्र-पत्रिकाओं के माध्यम से ही हुआ है। “ ‘हिंदी प्रदीप’, ‘आनंदकांदबिनी’ और ‘ब्राह्मण’, जिनके संपादक क्रमशः भट्टजी, प्रेमघन और पं. प्रतापनारायण मिश्र थे, भारतेंदु युग के प्रमुख साहित्यिक पत्र थे: जिनमें पुस्तक समीक्षाएँ निकला करती थीं।”¹ कहने की आवश्यकता नहीं कि “हिंदी आलोचना के विकास में तत्कालीन पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित इन पुस्तक समीक्षाओं की ऐतिहासिक भूमिका थी।”² और ज्ञातव्य है कि “ भारतेंदु युग में आलोचना का आरंभ पुस्तक-समीक्षा के रूप में हुआ।”³

भारतेंदु युग से आविर्भाव में आई हिंदी आलोचना का विकास महावीरप्रसाद द्विवेदी तक आकर अपना नया रूप ग्रहण करता है। महावीर प्रसाद द्विवेदी ‘सरस्वती’ पत्रिका के संपादक थे। इस पत्रिका के विषय में रामविलास शर्मा की मान्यता है कि ‘वह हिंदी की जातीय पत्रिका’ है।

महावीर प्रसाद द्विवेदी और 'सरस्वती' न केवल एक दूसरे से अभिन्न हैं बल्कि, इसके संपादन का पूरा दौर ही 'हिंदी नवजागरण' का तीसरा चरण है। स्पष्ट है कि डॉ. रामविलास शर्मा के मत में 'सरस्वती' पत्रिका का हिंदी साहित्य के विकास में अविस्मरणीय योगदान है।⁴ प्रेमचंद द्वारा संपादित 'हंस' के साहित्यिक अवदान का विस्तृत अध्ययन डॉ. रत्नाकर पांडेय अपने शोधकार्य 'हिंदी पत्रकारिता : प्रेमचंद और हंस' में करते हुए इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि यदि प्रेमचंद 'हंस' के "विचारवादी पत्रकार और निर्भीक संपादक न बने होते तो उनकी कल्पनाएँ मनोरंजन का मेला जुटाकर चुक जातीं और युग-प्रवर्तक होने का श्रेय प्रेमचंद को न मिलता।"⁵

पत्र-पत्रिकाओं का प्रदेय हिंदी आलोचना के संदर्भ में ही नहीं संपूर्ण हिंदी साहित्य के विकास में मूल्यवान रहा है, किंतु इन पत्र-पत्रिकाओं का हिंदी साहित्य के विकास में कितनी युगांतरकारी भूमिका रही है इसपर कम ही कार्य हुए हैं। जैसाकि प्रख्यात आलोचक मैनेजर पांडेय कहते हैं कि "यूरोपीय उपन्यास के विकास में पत्र-पत्रिकाओं की भूमिका का गंभीर विश्लेषण हुआ है, लेकिन भारतीय उपन्यास या हिंदी उपन्यास के विकास में पत्र-पत्रिकाओं के योगदान का समुचित विवेचन अभी नहीं हुआ है। पत्र-पत्रिकाओं के माध्यम से उपन्यास के लिए आवश्यक गद्य का विकास हुआ। पत्रिकाओं में उपन्यासों के धारावाहिक प्रकाशन से वह समुदाय तैयार हुआ, जिसके अभाव में उपन्यास का अस्तित्व संकट में पड़ जाता है।"⁶ इस उद्धरण से स्पष्टतः पत्रिकाओं का महत्त्व प्रकट हो जाता है।

गौरतलब है कि इन्हीं पत्र-पत्रिकाओं ने अपने समय के साहित्यिक विवादों को न केवल जन्म दिया, बल्कि इन विवादों एवं बहसों ने 'साहित्य और आलोचना' के संबंध को जीवंत बनाया, इसके साथ ही पाठकों के सक्रिय सहयोग एवं हिस्सेदारी ने इसे लोकतांत्रिक रूप दिया। डॉ. रमेश कुमार इन पत्र-पत्रिकाओं में उठने वाले विवादों और उनसे विकसित हुई हिंदी आलोचना पर चर्चा करते हुए स्पष्ट करते हैं कि पत्र-पत्रिकाओं के माध्यम से "हिंदी साहित्य में पर्याप्त विवाद हुए हैं।

इन विवादों ने कहीं तो विधाओं का स्वरूप निर्मित करने में योगदान दिया है तो कहीं इनके माध्यम से आलोचना के नवीन मानदंडों की स्थापना भी हुई है।... विवादों से विकसित आलोचनात्मक मानदंड कृति के लिए भी और कृतिकार के लिए कसौटी का कार्य करते हैं। विवादों से रचनाकार आलोचक और पाठक के बीच एक जीवंत संवाद की प्रक्रिया संपन्न होती है... समकालीन संदर्भ में किसी रचनाकार की प्रासंगिकता का भी बोध होता है।” इस प्रकार आलोचना और विवादों से गहरा संबंध होता है “विवाद आलोचना को समकालीन संदर्भों से जोड़कर अधुनातन बनाता है।”⁸

स्वातंत्र्योत्तर हिंदी साहित्य के संबंध में मैनेजर पांडेय का मत है कि उसका “एक पक्ष विभिन्न साहित्यिक विवादों से जुड़ा हुआ है। साहित्यिक विवाद साहित्यिक आंदोलनों में चलनेवाले विचारधारात्मक संघर्षों से पैदा होते हैं और उनके माध्यम से संघर्षशील पक्षों की विचारधारा और कलादृष्टि को समझने में मदद मिलती है।... स्वातंत्र्योत्तर हिंदी साहित्य के इन विवादों को भुलाकर इतिहास लिखना असंभव होगा।”⁹

इसी क्रम में देखते हैं कि ‘आलोचना’ (त्रैमासिक) पत्रिका का प्रकाशन एवं संपादन स्वाधीनता के उपरांत ही आरंभ हुआ, और पुनर्नवा रूप में अभी भी जारी है। प्रकाशन स्थगित भी रहा है। यद्यपि बीच-बीच में संपादक भी कई बार बदले गए हैं और प्रत्येक संपादक का अपना एक ‘खास’ संपादकीय विवेक रहा है ‘आलोचना’ पत्रिका के संपादन से सबसे लंबा जुड़ाव नामवर सिंह का रहा है। मेरे शोधकार्य का निश्चित विषय-क्षेत्र नामवर सिंह संपादित ‘आलोचना’ पत्रिका पर केंद्रित होने के कारण हमें मूलरूप यह देखना है कि नामवर सिंह के संपादन में इस पत्रिका में कौन-सी साहित्यिक बहसें चलाई गईं, किन विवादों को स्थान मिला, और किनका प्रत्युत्तर दिया गया? उन बहसों के आविर्भाव की पृष्ठभूमि क्या रही? आज साहित्य एवं आलोचना के विकास में साहित्यिक बहसें किस रूप में हमारे सम्मुख आती हैं? उसे इस अध्याय में हम देख सकेंगे। हिंदी आलोचना ने उससे अपना कौन-सा रूप धारण किया है?? ये बहसें अपने प्रस्थान बिंदु से कितनी

दूर तक निकल आयी हैं और वर्तमान हिंदी आलोचना के स्वरूप निर्धारण में उनका क्या प्रदेय है, इस अध्याय में हम इसी विषय पर प्रकाश डालने का प्रयत्न करेंगे। 'आलोचना' पत्रिका पर विहंगम दृष्टि डालने पर स्पष्ट होगा कि इस पत्रिका ने लगभग 24 वर्षों की लंबी अवधि में हिंदी साहित्य की तत्कालीन रचनाधर्मिता एवं आलोचनात्मक संदर्भों से जुड़े रहने का प्रमाण दिया है। इस लंबे अंतराल में 'आलोचना' का कोई एक रैखिक विकास हमें नहीं दिखाई पड़ता और एक रैखिक विकास हो भी नहीं सकता था। विभिन्न अंतरालों में जैसे-जैसे 'आलोचना' का संपादकीय विवेक बदलता गया या राजनीतिक-सामाजिक परिप्रेक्ष्य में बदलाव आता गया वैसे-वैसे 'आलोचना' में भी वह परिवर्तन लक्षित किए जा सकते हैं। लेकिन नामवर सिंह द्वारा 'आलोचना' के संपादन में एक चीज में कभी परिवर्तन लक्षित नहीं किया जा सकता है, वह है उसकी 'मूलवर्ती केंद्रीय चिंतनधारा' अर्थात् मार्क्सवादी चिंतन एवं दर्शन। यहाँ किसी भी धरातल पर 'आलोचना' की इस केंद्रीय चिंतनधारा में बदलाव नहीं पाते हैं यह पूरे नामवर-संपादन-काल की केंद्रीय विषय-वस्तु है। यह बिल्कुल अलग बात है और इस पर शंका करना निराधार भी नहीं है कि 'कौन-सा मार्क्सवाद? कौन से स्वरूप और 'काल' वाला मार्क्सवाद ?? इस विषय पर प्रस्तुत शोध कार्य में पूरा एक अध्याय ही है जिस पर यथास्थान विस्तार से चर्चा की गई है। इस अध्याय में 'आलोचना' की प्रमुख साहित्यिक बहसों पर विस्तार से चर्चा करेंगे।

1.1 'आलोचना' में प्रस्तुत साहित्यिक बहसों और मुद्दों का स्वरूप निर्धारण

'आलोचना' पत्रिका के अंकों में 'साहित्य और विचारधारा' 'कलावाद बनाम समाजवाद', 'आलोचना और सौंदर्यशास्त्र', 'अस्तित्ववाद और मार्क्सवाद', 'यथार्थ और कल्पना', 'काव्य भाषा और जनभाषा' 'परंपराबोध और आधुनिकताबोध', 'विचारधारा और इतिहास-बोध' 'भाषिक आलोचना और समाजशास्त्रीय आलोचना', 'कविता और रचनाकार' आदि विषयों पर ढेर सारे शोध-पत्र, निबंध, लेख, शोधपरक लेख देखे जा सकते हैं किंतु 'आलोचना' ने जिन पर बहसें चलाई

हैं, और जिनपर प्रचुर संख्या में लेख निबंध, टिप्पणियाँ, साक्षात्कार, आदि प्रकाशित किए हैं और परिसंवादों का आयोजन किया है हमने उन्हीं को प्रमुख साहित्यिक बहसों के रूप में ग्रहण किया है। इसमें से प्रमुख बहसों को निम्न रूपों रेखांकित किया जा सकता है

1. कविता और राजनीति
2. रोमांटिक बनाम आधुनिक
3. आलोचना की भाषा
4. युवा लेखन पर बहस
5. हिंदी नवजागरण की संकल्पना पर बहस
6. दूसरी परंपरा की खोज
7. साहित्य के समाजशास्त्रीय चिंतन की प्रस्तावना
8. भारतीय उपन्यास का उदय
9. भाषिक आलोचना और उससे जुड़ी अन्य आलोचना पद्धतियाँ
10. आज के युग में प्रगतिशीलता

उपर्युक्त साहित्यिक बहसों पर प्रचुर सामग्री हो यही अपेक्षित था लेकिन यदि बहस पर सामग्री उस रूप में नहीं भी है तो उस पर इतनी सामग्री प्रकारांतर से उपलब्ध हैं कि उन्हें बहसों के रूप में रखकर देखना ही अधिक संगत प्रतीत हुआ। कहने की जरूरत नहीं उन अवांतर बहसों को कोई प्रासंगिक बहसों के रूप में देखने का पूरा अधिकार रखता है। किंतु ध्यान रखना होगा कि उन अवांतर बहसों पर बहुत सीमा तक नामवर सिंह के संपादन से पूर्व की 'आलोचना' का अन्यतम योगदान रहा है। और नामवर सिंह तक आते-आते साहित्यिक-सामाजिक-राजनैतिक परिवेश बिल्कुल वहीं नहीं रहा, जो पूर्व-संपादकों एवं उनके द्वारा चलाई गई बहसों का या विवादों का रहा। यहाँ तक कि साहित्य का कलावादी रुझान वही नहीं रहा जो धर्मवीर भारती-अज्ञेय के समय में रहा,

और न ही मार्क्सवादी सिद्धांत एवं चिंतन वहीं रहा जो शिवदान सिंह चौहान और डॉ. रामविलास शर्मा के आरंभिक समय में विद्यमान था। हिंदी साहित्य का इतिहास साक्षी है, कि इन पर विवाद हुए और वितंडावाद भी। यह समझना भूल होगी कि ये अवांतर मानी गई बहसों का प्रमुख बहसों से कोई संबंध नहीं है। गौरतलब है कि इन साहित्यिक बहसों ने ही वह सैद्धांतिकी निर्मित की है जिसके अभाव में इन बहसों को समझा नहीं जा सकता। उदाहरण के लिए, अस्तित्ववाद और कलावाद को बिना समझे 'प्रगतिशील चेतना' और 'साहित्य के समाजशास्त्रीय चिंतन' को और 'नई समीक्षा' को बिल्कुल ही नहीं समझा जा सकता है, ठीक इसी प्रकार 'साहित्य और विचारधारा के संबंध', 'व्यक्ति और राजनीति के संबंध' को जाने बिना 'कविता और राजनीति' को नहीं समझा जा सकता है। वस्तुतः 'आलोचना' पत्रिका में आए तमाम सैद्धांतिक एवं साहित्यिक मुद्दों को केवल अध्ययन की सुविधा और सामग्री की प्रचुर उपलब्धता पर विभाजित किया गया है, इससे उनका महत्त्व कम नहीं होता, बल्कि प्रकारांतर से उन सभी बहसों की आपस में आवाजाही बेरोक-टोक देखी जा सकती है।

इसके अतिरिक्त नामवर सिंह के संपादन में पत्रिका के आने से जो बहसें वैयक्तिक और अंतर्मुखी विषयों पर ही अधिक होती थीं जैसे अनुभूति, भावानुभूति, ईमानदारी, व्यक्तिगत कुंठा, पीड़ा, संत्रास आदि पर उनका स्थान बाह्य और ठोस धरातल पर समाजोन्मुख दृष्टियों एवं मुद्दों ने ले लिया। इन बहसों को उभारने एवं जन्म देने में तत्कालीन परिस्थितियाँ एवं परिप्रेक्ष्य के बदलते ही बहस के मुद्दों में ढेर सारे विचलन हमें देखने को मिलते हैं। इसके अतिरिक्त इसके पीछे नामवर सिंह की आलोचकीय दृष्टि एवं संपादकीय विवेक की भी महत्त्वपूर्ण भूमिका थी। ये उतार-चढ़ाव या विचलन परिस्थितिजन्य भी है विचारधारात्मक भी उन्हें बहसों का वैशिष्ट्य भी कह सकते हैं। साथ ही 'आलोचना' में एक बहस की समग्री की पूर्णतातक पहुँचाने के बजाए, तत्काल ही दूसरे बहस में उतर पड़ना यह नामवर सिंह संपादित 'आलोचना' पर समकालीनता का दबाव तो है ही

साथ ही नामवर सिंह की वाद-विवाद में उतरने में पीछे न रहने की आकांक्षा और तत्परता भी है। जो उनके जुझारू चिंतक की ही अभिव्यक्ति है। यहाँ स्पष्ट करना आवश्यक है कि 'युवा लेखन पर बहस' और 'भारतीय उपन्यास के उदय' संबंधी मुद्दे का चतुर्थ अध्याय में रखकर विवेचित विश्लेषित किया गया है। वहीं 'दूसरी परंपरा की खोज' जैसे साहित्यिक मुद्दे को तृतीय अध्याय-परंपरा के मूल्यांकन के अंतर्गत रखकर उसका अध्ययन प्रस्तुत किया गया है।

1.2 कविता और राजनीति

शिवदानसिंह चौहान के हाथ से निकलकर 'आलोचना' जब नामवर सिंह के हाथों में आई तो नामवर सिंह की दृष्टि सबसे पहले जिस पक्ष पर गई वह 'कविता और राजनीति' का संबंध था। ध्यातव्य है कि 1960 का दशक कई दृष्टियों से राजनीतिक संकटों का दशक था। इसी दशक में 1962 में भारत-चीन युद्ध, 1965 और 1972 ई. में भारत-पाक युद्ध, 1964 में नेहरू की मृत्यु, '1967 के चौथे आम चुनाव' जैसे राजनीतिक घटनाक्रम थे। कई राज्यों में कांग्रेस की हार हुई, इसी दशक में नक्सलबाड़ी आंदोलन भी अत्यंत सक्रिय रूप से उभरा : तेलंगाना में किसानों के विरुद्ध फौजी कार्रवाई एवं केरल में निर्वाचित कम्युनिस्ट सरकार की बर्खास्तगी जैसी घटनाएँ भी घटीं। वस्तुतः "साठ के बाद के भारत का सामाजिक राजनीतिक परिदृश्य देश में आज़ादी के साथ कायम हुई लोकतांत्रिक प्रणाली की सफलता और विफलता की एक जटिल कहानी है। लोकतंत्र ने विभिन्न वर्गों की अपेक्षाएँ बढ़ाईं। आर्थिक विकास के साथ-साथ सामाजिक-राजनैतिक सत्ता के बँटवारे की चाह भी बढ़ी। नियमित चुनावों से देश के वंचित और उत्पीड़ित वर्गों तक राजनीतिक चेतना का प्रसार हुआ। अधिकारों के बारे में जागरूकता बढ़ी।"¹⁰ इसके अतिरिक्त विश्वभर में 'शीतयुद्ध' का तनाव व नेहरू के गुटनिरपेक्षता के सिद्धांत वाली राजनीति थी; दूसरी तरफ़ सम्राज्यवादी शक्तियों का शासन-सत्ता से मेल-मिलाप भी चल रहा था। इस परिप्रेक्ष्य में भारतीय राजनीति का यह युग अपने समय के कई संकटों का समय था। किंतु हिंदी आलोचक इस राजनैतिक परिदृश्य से आँख

मूँदकर व्यक्तिगत पीड़ा, कुंठा, निराशा, व्यक्ति-मुक्ति-चेतना अस्तित्ववादी मोह, निराशा, क्षणवादी मानसिकताओं में जी रहे थे और सभी बहसों इसी के इर्द गिर्द घूम रही थीं। नामवर सिंह के संपादन के पूर्व के 'मोहभंग' की राजनीतिक कारणों के स्पष्ट होने के बावजूद उस पर बात करने से कतराना, कविता से राजनीति के संबंध को 'अपवाद' के रूप देखा जाता था। ऐसी स्थिति में 'कविता और राजनीति' पर 'जिरह' करना और उस पर परिसंवाद का आयोजन हिंदी साहित्य के आगामी इतिहास की रूपरेखा निर्मित करना था। जबकि समसामयिक रचनाशीलता राजनीतिक रुझान को बेरोकटोक अभिव्यक्ति दे रही थी। राजकमल चौधरी, धूमिल, रघुवीर सहाय, केदारनाथ सिंह नागार्जुन आदि की रचनाओं में राजनीति अनायास आती है, वह 1960 के ही दशक की साहित्यिक अभिव्यक्ति है। इस दशक में प्रगतिशील आंदोलन के उपरांत 'कविता का राजनीति' से इतना गहरा जुड़ाव देखने में आया था, किंतु समकालीन हिंदी आलोचना का इस समकालीन साहित्यिक चेतना से लगाव नहीं रह गया था, नामवर सिंह 1960 के उपरांत हिंदी कविता के इस बदलते हुए परिप्रेक्ष्य की पहचान करते हैं और इस 'चुनाव और राजनीति' विषय पर परिसंवाद का आयोजन करते हैं। तो यह हमारी दृष्टि में प्रगतिशील आंदोलन के निष्क्रिय होने के दो दशक बाद सुप्त पड़े हुए विवाद को उन परिस्थितियों में उठाना साहस की बात थी।

प्रतीत होता है कि नामवर सिंह प्रारंभ से ही इस 'कविता और राजनीति' के बीच के संबंध को स्पष्ट करना चाहते थे जिससे तत्कालीन साहित्य के निहितार्थ को स्पष्ट किया जा सके। क्योंकि टॉमसमान की शब्दावली में कहें तो "हमारे समय में मानव नियति अपने को राजनीति की पदावली में व्यक्त करती है।"¹¹ इस परिप्रेक्ष्य में एक तथ्य और है जो नामवर सिंह के द्वारा आयोजित इस परिसंवाद के पीछे की उनकी दृष्टि और वैचारिक रुझान को स्पष्ट करता है। मुरलीमनोहरप्रसाद सिंह कहते हैं कि 'वियतनाम की लड़ाई के प्रसंग में 'जनयुग' (1965 ई.) से 'साहित्यकार और राजनीति' पर विवाद चलाया गया था। उस समय एक खास किस्म के लेखकों ने इस विवाद के

प्रस्तावक के विरुद्ध अभियान चलाया और मूलतः इस तर्क के साथ कि साहित्य का तो राजनीति से संबंध हो सकता है, साहित्यकार का नहीं।¹² इस वक्तव्य में जिस प्रस्तावक की बात मुरलीमनोहरप्रसाद सिंह कर रहे हैं वह कोई और नहीं स्वयं 'नामवर सिंह' हैं। ज्ञातव्य हो कि 1965 ई. में 'जनयुग' के संपादन का कार्यभार नामवर सिंह ने संभाला था, 'जनयुग' के संपादन के बाद वह 'आलोचना' में आए थे। और 'कविता और राजनीति' पर चली बहस को महत्त्व नहीं दिया गया जब नामवर सिंह ने 'आलोचना' के माध्यम से इस विषय पर परिसंवाद (नवांक 06) जुलाई-सितंबर-1968 आयोजित किया तब इस बहस को गंभीरता से लिया गया। इसमें एक महत्त्वपूर्ण तथ्य यह भी है कि छठे दशक के परिदृश्य में "1956 में इलाहाबाद में धर्मवीर भारती ने 'साहित्य और राज्याश्रय' विषय पर एक राष्ट्रीय परिसंवाद आयोजित किया था। यह परिसंवाद 'कांग्रेस फॉर कल्चरल फ्रीडम' नाम की अंतर्राष्ट्रीय संस्था के भारतीय कार्यालय की ओर से हुआ था।... इलाहाबाद में आयोजित 'साहित्य और राज्याश्रय' विषय पर हुए परिसंवाद का निचोड़ 'व्यक्ति-स्वातंत्र्य' था"¹³ स्पष्ट है कि उस समय यदि 'कविता और राजनीति' को लेकर कोई परिसंवाद भी आयोजित हुए भी तो उनका अंत 'व्यक्ति-स्वातंत्र्य', 'अस्तित्ववाद', 'अतिथथार्थवाद', 'कलावाद', 'लघुमानव', 'क्षणवाद', 'मूल्यहीनता', 'आस्था-अनास्था' आदि की भँवर में विलुप्त हो गए। इसी दौर में 'कविता और राजनीति' को साहित्य सर्जना और आलोचना से प्रायः बाहर की चीज मानकर खारिज कर दिया गया था।¹⁴ वही राजनीति साठ के दशक के बाद अपनी केंद्रीय भूमिका में फिर आता है। तत्कालीन भारतीय राजनीति के गर्भ में ही इसके कारण छिपे हुए थे जिनको यथासमय जन्म लेना था।

ध्यान देने की बात है कि स्वाधीनता के उपरांत छठे दशक की पीढ़ी जिस मोहभंग की स्थिति से गुजर रही थी, ठीक वही स्थिति छठे दशक के बाद आई युवापीढ़ी की नहीं थी, वह स्वाधीनता के संघर्ष की चेतना से महरूम तो थी ही, साथ ही उसे विरासत के रूप में उस युग की लक्ष्यहीनता, बेरोज़गारी, भ्रष्टाचार, असफल सत्ता परिवर्तन, दो-दो पंचवर्षीय योजनाओं की अपूर्णता, चीन और

पाकिस्तान से युद्ध, भारत-पाक विभाजन के उपरांत शेषफल के रूप में सांप्रदायिकता का दंश, हत्याएँ और उनसे उत्पन्न तनाव की परिस्थितियों ने उसे विक्षोभ से भर दिया था। उसे अपना भविष्य अंधकारमय दिखाई पड़ रहा था। ऊपर से शीतयुद्ध की स्थितियों ने उसे वैश्विक धरातल पर भी निराश ही किया। किंतु उसे इसका बोध हो गया था कि इस 'राजनीतिक व्यवस्था' से ही उसकी समस्याओं के तार जुड़े हुए हैं। जब युवाओं की कुछ पीढ़ी ने अपनी समस्याओं के अंतःसूत्र की जाँच की, उसके गहराई में जाकर उसके कारणों की पड़ताल की तो पाया कि इसके पीछे, गहरे में जड़ जमाया हुआ कारण तो मूलरूप से राजनीतिक तानेबाने में निहित है। इस समस्या को समझ लिया और उसे ठीक कर लिया गया तो सारी समस्याओं का समाधान सरलतापूर्वक निकल आएगा। इस पीढ़ी में धूमिल, दूधनाथ सिंह, कमलेश, रघुवीर सहाय, राजकमल चौधरी आदि ने अपनी कविताओं से इस राजनीति को समझने का मार्ग दिया।¹⁵ यह आकास्मिक नहीं कि 'कविता और राजनीति' के बहुआयामी संबंध को पुनः समझने की आवश्यकता महसूस की गई। 'आलोचना' ने 'कविता और राजनीति' पर परिसंवाद आयोजित कर तत्कालीन कविता के स्वरूप को समझने का प्रयत्न किया और तद्दुगीन काव्य-पक्षों की युगीन मानसिकता को समझने में बिल्कुल ही भूल नहीं की। उसका इस संदर्भ में यह ऐतिहासिक महत्त्व, अवश्य ही ध्यान में रखना चाहिए, कि उस दौर में 'कल्पना' जैसी पत्रिकाएँ उपलब्ध थीं। साथ ही परिमल ग्रुप की पत्रिकाएँ - 'नए पत्ते', 'नई कविता', 'निकष', 'प्रतिमान', 'नया प्रतीक', 'धर्मयुग' आदि भी समकालीन परिदृश्य में अपना विशेष महत्त्व रखती थीं।¹⁶

नामवर सिंह के संपादन में 'आलोचना' ने जुलाई-सितंबर - 1968 ई. के नवांक -06 में 'कविता और राजनीति' विषय पर परिसंवाद का आयोजन किया था। इसके पूर्व उनके संपादन में आया पहला अंक जो अप्रैल-जून 1967 आया वह भी मुख्यतः राजनीतिक विषय पर ही केंद्रित था। वह मूल रूप से 1967 ई. में हुए आम चुनाव के बाद के भारत की स्थिति का जायज़ा लेने वाला

था। यह अंक पूरी तरह भारतीय राजनीति पर केंद्रित था। 'चुनाव के बाद भारत' परिसंवाद में भारतीय राजनीति की परिस्थितियों का जायजा लेते हुए रामविलास शर्मा ने 'फासिस्ट तानाशाही के खतरे' से अवगत कराया था और वाम पक्ष के दायित्व को स्पष्ट किया था। इसमें 'राजकमल चौधरी', 'रमेशकुंतल मेघ', 'शिवप्रसाद सिंह', 'विद्यानिवास मिश्र', 'विष्णुप्रभाकर भगवतीचरण वर्मा', 'अमृतलाल नागर', 'मन्मथ नाथ गुप्त', 'राजेंद्र अवस्थी', 'ओमप्रकाश दीपक', 'आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी' आदि की सहभागिता थी। इस अंक से तत्कालीन भारतीय राजनीति को समझने का अवसर मिलता है। वस्तुतः 'आलोचना' का नवांक-1, 'कविता और राजनीति' (नवांक - 06) विषयक 'परिसंवाद' के लिए एक पृष्ठभूमि की तैयारी थी। जिससे रघुवीर सहाय की 'आत्महत्या के विरुद्ध' (1967 ई.) धूमिल की 'पटकथा' और संसद से सड़क तक राजकमल चौधरी कृत 'मुक्तिप्रसंग,' श्रीकांत वर्मा का 'भायादर्पण' मुक्तिबोध का 'चाँद का मुँह टेढ़ा है।' ये सभी छठे दशक के बाद की रचनाएँ हैं। इन रचनाओं में 'कविता और राजनीति' को लेकर अलग रुझान देखने को मिला। नवांक-06 के संपादकीय में नामवर सिंह की मान्यता है कि 'कविता और राजनीति के संबंध को लेकर इस दशक में एक सक्रियता दिखाई पड़ी थी, किंतु इस दशक के अंत तक जाकर उन रचनाओं में एक ठहराव-सा आने लगा और उस काल की रचनाएँ एक संकटपूर्ण दौर से गुजर रही थीं' "इस संकट से उबरने और ठहराव को तोड़ने के लिए इस दौर की असंगतियों की ओर ध्यान जाना अस्वाभाविक नहीं और इस प्रक्रिया में जिस राजनीतिक रुझान ने कविता को थोड़ी देर के लिए जीवंत बनाया था उसकी पड़ताल अप्रासंगिक न होगी।" अपने समय की कविता में आए राजनीतिक रुझान की पड़ताल के लिए 'कविता और राजनीति' पर परिसंवाद आयोजित किया गया था। और राजनीतिक रुझान कविता में इस प्रकार से आने लगा कि पूरे काव्य की विषय-वस्तु ही राजनीति के इर्द-गिर्द घूमने लगी। सन् साठ के बाद की कविताओं में यह राजनीति किस तरह आती है अशोक वाजपेयी उसका विश्लेषण करते हुए कहते हैं कि "कविता जिसे ज़ाहिर है कि

समकालीन मनुष्य की हालत से सीधा और गहरा सरोकार है और राजनीति का रिश्ता एक प्रासंगिक सवाल है। बल्कि रचनात्मक स्तर पर राजनीति के साथ लेखक के रिश्ते का सवाल है जिससे कतराना असंभव नहीं तो बिल्कुल मुश्किल ज़रूर लगता है।¹⁸ इसी परिसंवाद में नेमिचंद्र जैन कहते हैं कि “पिछले दिनों के प्रायः समस्त महत्त्वपूर्ण लेखन में आज के आदमी की जिंदगी को बड़ी संपूर्णता से नियमित और नियंत्रित करनेवाली शक्ति के रूप में राजनीतिक सत्ता और उसके परोक्ष-प्रत्यक्ष प्रभावों और संबंधों को परिभाषित करने और समझने के प्रयास से बचना असंभव है।”¹⁹ यहाँ तक कि श्रीकांत वर्मा इस मत का समर्थन करते हैं और परिसंवाद में हिस्सा लेते हुए कहते हैं कि “यह सही है कि बीसवीं सदी के समस्त मानवीय संबंधों पर राजनीति की छाया है।”²⁰ वस्तुतः इसीलिए ‘कविता और राजनीति’ पर परिसंवाद आयोजित करना, उसकी पड़ताल करना उस युग की ऐतिहासिक आवश्यकता थी, ‘आलोचना’ ने इस आवश्यकता की पूर्ति करने का एक सार्थक प्रयास किया।

ध्यान देने की बात है कि ‘आलोचना’ ने ‘कविता और राजनीति’ विषय पर जो परिसंवाद आयोजित किया, वह स्वर्गीय मुक्तिबोध की इक्यावनवीं जन्मतिथि के उपलक्ष्य में 17 नवंबर 1968 को ‘नई दिल्ली’ में आयोजित हुआ। गोष्ठी का आयोजन मुक्तिबोध की जन्मतिथि पर होना स्वतः स्पष्ट करता है कि मुक्तिबोध की कविताओं का राजनीति से क्या संबंध था ? यह मुक्तिबोध को कविताओं की राजनीति में खींचना नहीं था, बल्कि उनकी समस्त कविताओं की पृष्ठभूमि स्पष्ट करने की इच्छा दिखाई पड़ती है। क्योंकि मुरलीमनोहरप्रसाद सिंह अपनी प्रतिक्रिया ‘विनिमय’ स्तंभ में लिखते हैं और स्पष्ट करते हैं कि “आज की कविता का एक ही संदर्भ है वह है राजनीति। राजनीति को अलग कर दीजिए, आज की कविता के किसी भी शब्द को, किसी भी वाक्य खंड को समझ पाना मुश्किल है।”²¹ और राजनीतिक कविताओं के लिए जिस प्रकार ब्रेख्त प्रसिद्ध हैं इस संदर्भ में नामवर सिंह का मत है कि “ब्रेख्त के समान ही एक अन्य स्तर पर मुक्तिबोध भी हमारे

लिए सर्वथा प्रासंगिक हैं।”²² इस “परिसंवाद की अध्यक्षता सच्चिदानंद वात्स्यायन अज्ञेय ने की। अशोक वाजपेयी और श्रीकांत वर्मा के निबंधों ने विचार विनिमय के लिए आधार प्रस्तुत किया तथा कृष्णनारायण फक्कड़, रघुवीर सहाय और नेमिचंद्र जैन ने अपने विचार व्यक्त किए।”²³

‘आलोचना’ द्वारा आयोजित इस परिसंवाद में ‘कविता और राजनीति’ के संबंधों की बहुस्तरीयता की पड़ताल की कोशिश भी दिखाई पड़ती है। इस परिसंवाद में मुख्य चिंता कविता के स्वरूप को लेकर ही है। क्योंकि यह महत्वपूर्ण प्रश्न है कि कविता में राजनीति को किस प्रकार ग्रहण किया जाए?? कविता का कथ्य यदि राजनीति है तो उसमें कविता कहाँ होगी? उसमें कविता का तानाबाना किस रूप में सुरक्षित रह पाएगा? कविता सपाट वक्तृता व नारेबाजी के रूप में रहेगी या उसके रूपाकार में कोई परिवर्तन होगा? कविता और राजनीति का संबंध कैसा है? अलग-अलग है या एक-दूसरे में विलीन भी होते हैं? कविता अपनी स्वायत्तता की रक्षा राजनीतिक मताग्रहों से किस प्रकार करती है?? क्या राजनीति के लिए कविता एक साधन मात्र है? इसीप्रकार के कई मुद्दों पर पूरे परिसंवाद में बहस की गई है। “यह सब इसलिए संभव हुआ कि इन कवियों में कविता के राजनीति से किसी क़दर कम चिंता नहीं है बल्कि कविता की चिंता कुछ अधिक है।”²⁴ इस प्रकार यह परिसंवाद ‘कविता और राजनीति’ को कई स्तरों पर समझाने का कार्य करता है।

कविता और राजनीति का क्या संबंध है और कविता में राजनीति किस रूप में आती है? क्या कविता और राजनीति अलग-अलग ही रहते आए हैं, दोनों एक नहीं हो सकते? क्या कोई कविता का प्रकार भी है जिसे ‘राजनीति की कविता’ अथवा ‘राजनीतिक कविता’ के रूप में देखा जाए? इस संदर्भ में नामवर सिंह संपादकीय में ए. अल्वारेज का मत उद्धृत करते हैं जिसमें अल्वारेज स्पष्ट करते हैं सामान्यतः “हमने मान लिया है कि कविता और राजनीति के बीच बुनियादी विभाजन है समस्या यह नहीं है कि दोनों छोर कभी मिल नहीं सकते बल्कि यह कि यदि वे मिल सकते हैं तो बड़ी कीमत पर।”²⁵ यहाँ ‘बड़ी कीमत’ का तात्पर्य ‘कविता’ की कीमत से है

और अल्वारेज स्पष्ट करते हैं कि “इसकी परिणति इस विश्वास में होती है कि राजनीतिक कविता, कविता के रूप में, अपेक्षया ही नहीं बल्कि अशक्यता सपाट होती है।”²⁶ इसप्रकार कविता और राजनीति के संबंध को प्रायः ‘मान लिया गया’ अथवा ‘विश्वास किया जाने लगा’ जिसके कारण यह कहा जाने लगा कि ‘कविता और राजनीति दोनों दो छोर हैं और ये कभी मिल नहीं सकते। यदि मिलेंगे तो कविता नहीं रहेगी बल्कि नारेबाजी, प्रचार आदि जैसी कुछ हो जाएगी। ऐसा ‘मान लिया जाना’ और यह विश्वास होना प्रगतिशील आंदोलन के बाद ही हिंदी साहित्य में दिखाई पड़ता है क्योंकि “हिंदी कविता के आधुनिक काल में प्रगतिवाद के दौरान पहली बार कविता और राजनीति में सीधी घनिष्टता हुई थी।... प्रगतिवादियों के राजनीतिक उत्साह और सामाजिक स्वप्नदर्शिता का सबसे दुर्भाग्यपूर्ण नतीजा”²⁷ यह हुआ कि साहित्य और कलाकारों को “एक विशेष राजनीतिक कार्यक्रम के खूँटे से बाँधने का प्रयत्न करना हास्यास्पद ही नहीं, साहित्य के लिए निश्चय ही घातक है। इसलिए कवियों पर केवल अर्थशास्त्र के नियम लागू नहीं हो सकते। साहित्य में समाजवादी या अन्य किसी भी विनश्वर राजनीतिक कार्यक्रम का ज्यों का त्यों अनुकरण करना साहित्य के लिए कभी श्रेयष्कर नहीं हो सकता।”²⁸ इसलिए ‘कविता और राजनीति’ को अलग-अलग रखकर देखने की प्रवृत्ति ही जन्म लेने लगी, जिसमें बुर्जुआ संस्कृति व पूँजीवादी संगठनों ने भी इसमें दूरी बनाए रखने में अपनी अहम भूमिका निभाई।

इस परिसंवाद के अंतर्गत अशोक वाजपेयी, नेमिचंद्र जैन ‘कविता और राजनीति’ के बीच के विभाजन का पड़ताल करते हैं। इनकी मान्यता है कि प्रगतिशील और प्रतिक्रियावादी दोनों द्वारा ‘कविता और राजनीति’ को गलत ढंग से प्रस्तुत किए जाने के कारण इन दोनों में संबंध-विच्छेद की प्रवृत्ति ने जोर पकड़ना शुरू किया।

इस परिसंवाद में रघुवीर सहाय और अज्ञेय ‘कविता और राजनीति’ को अलग-अलग खानों में रखकर देखने की बात करते हैं। रघुवीर सहाय कहते हैं कि “मैं तो यह मानता रहा हूँ कि

कवियों को कविता पर बहस करनी चाहिए राजनीति पर नहीं। राजनीति पर बहस से कवि उलझन में पड़ सकता है।”²⁹ इसलिए “कवि कर्म अलग है, राजनीति अलग। जीवनवृत्ति के स्तर पर दोनों एकदम अलग हैं।”³⁰ इसलिए इन दोनों की दूरी-भेद मिटाते हुए अज्ञेय ‘राजनीतिक कविता’ के रूप में ही राजनीति को स्वीकार करने के पक्षधर दिखाई पड़ते हैं; और उसे कविता का एक प्रकार मानते हैं। ‘कृष्णनारायण कक्कड़’ इस मत का प्रतिवाद करते हैं। “राजनीतिक कविता की बात मेरी कल्पना से परे है। राजनीतिक कविता तो नहीं होती। कविता का कहीं-न-कहीं राजनीति से संबंध हो सकता है।”³¹

श्रीकांत वर्मा अपने वक्तव्य में ‘कविता और राजनीति’ के संबंध को ‘कविता के प्रश्न’ के रूप में स्वीकार करते हैं “राजनीति का प्रश्न भी उसके लिए उसी हद तक संगत है जिस हद तक वह कविता का प्रश्न है।”³² इसीलिए “कविता राजनीति से दो स्तरों पर साक्षात्कार करती है। एक घटना के स्तर पर और दो उसकी परिणतियों के स्तर पर।”³³ श्रीकांत वर्मा के मत में राजनीतिक घटनाक्रम स्थूल समस्याओं व्यक्तियों आदि युक्त रचनाएँ कविता को भीतर तक प्रभावित नहीं करती, जबकि कुछ कवि अपने समय के गहरे संकट को, स्थितियों को बिना घटनाओं-विचारों आदि के प्रयोग किए व्यक्त करता तो वह राजनीति की सार्थकता को ही कविता के माध्यम से व्यक्त करता है। इस प्रकार श्रीकांत वर्मा भी कविता में राजनीति को स्वीकार करते हैं, राजनीतिक कविताओं को नहीं। क्योंकि कविता में यदि युगीनसंकटबोध कथ्य के रूप में अनायास आता है और गहरे संकट से आत्मसाक्षात्कार कराता है तो कविता के रूप में स्वीकार्य है। नामवर सिंह अपने संपादकीय में श्रीकांत वर्मा के मत के समर्थन में ही दिखाई पड़ते हैं वह भी कविता में राजनीति को दो रूपों में देखते हैं एक वह, कविता जिसमें “समकालीन राजनीति के ठोस व्यक्तियों, शहरों आदि का खुलकर उपयोग किया गया”³⁴ इसके विपरीत दूसरी ओर कुछ कविताएँ ऐसी हैं “इनमें न तो स्थूल राजनीतिक घटनाओं, समस्याओं, व्यक्तियों स्थानों आदि का उपयोग होता है और न ये

स्पष्टतः राजनीति से कहीं टकराती हैं।³⁵ इसप्रकार कविता में राजनीति उसी रूप में स्वीकार्य है जब वह कविता का कथ्य बनकर अनायास बिना शोरशराबे के आए और अपने निहितार्थ को व्यंजित कर जाए। यहाँ 'राजनीति के प्रश्न' 'कविता के प्रश्न' बन जाते हैं। और वह राजकमल चौधरी के शब्दों में परंपरागत 'राजनीति की कविता' के विरुद्ध 'कविता की राजनीति' बन जाती है।

परिसंवाद के वक्तव्यों से स्पष्ट है कि अधिकांश वक्ता चौथे दशक में उठी 'कविता और राजनीति' की बहस को 'राजनीति की कविता' से जोड़ते हैं। जबकि छठे दशक के बाद के राजनीतिक उभार को 'कविता की राजनीति' से जोड़ते हैं। उसकी प्रासंगिकता स्पष्ट करते हैं।³⁶

इस परिसंवाद के आयोजन में वक्ताओं ने सन् साठ के बाद की युवा कवियों की कविताओं में स्वतः आए 'राजनीतिक प्रश्न' एवं मुद्दों का विश्लेषित किया है, जिनमें एक मान्यता तो यह है कि "राजनीति आज इसप्रकार इतने विविध रूपों में और इतनी दूर तक समुदाय और व्यक्ति के जीवन में घुस आई है कि उससे किसी के लिए तटस्थ होने की गुंजाइश नहीं।"³⁷ इस तथ्य को प्रायः सभी वक्ताओं ने स्पष्टतः स्वीकार किया है। युवा कवियों को इस बात का शीघ्र ही बोध हो गया था कि। "राजनीति से अछूता काव्य संसार कलात्मक ढंग से सार्थक हो सकता है, स्वायत्त भी पर मानवीय ढंग से समृद्ध और तात्कालिक नहीं।"³⁸ इसीलिए "कविता की आंतरिक ज़रूरतों और हमारी तात्कालिक बाहरी दुनिया के दबावों और चुनौतियों ने एक साथ कवि-कर्म और राजनीति के पारस्परिक साक्षात्कारों को अनिवार्य बना दिया।"³⁹ इसीलिए 'कविता और राजनीति' के बीच इतनी पारस्परिकता बनी कि राजनीति ही कविता का कथ्य बन गई। इसीलिए मुरलीमनोहरप्रसाद सिंह 'विनिमय' स्तंभ में कहते हैं कि "आज की कविता का एक ही संदर्भ है और वह है राजनीति।"⁴⁰

इस परिसंवाद के माध्यम से यह स्पष्ट है कि सन् 60 के बाद की 'कविता और राजनीति' की पारस्परिकता की सजग पड़ताल की कोशिश प्रत्येक वक्ताओं में देखी जा सकती है। जिसमें वक्ताओं को प्रगतिशील आंदोलन की 'राजनीतिक कविताओं' की बार-बार याद आती है। अपने

वक्तव्य में अशोक वाजपेयी, नेमिचंद्र जैन, श्रीकांत वर्मा आदि 'कविता और राजनीति' की घनिष्टता को बीसवीं शती के चौथे दशक से मानते हैं जबकि अज्ञेय इस मत का विरोध करते हैं कि "यह कहना ग़लत है कि पहले-पहल प्रगतिवाद ने ही कविता और राजनीति' की समस्या का साक्षात्कार किया या करवाया।"⁴¹ इसके लिए ऋग्वेद के मंत्रों में आए युद्धों को जीतने का वर्णन, महाभारत से समाज और राजनीति पर हुई चर्चा, भारतेंदुयुगीन कवियों की राजनीतिक चेतना तथा छायावाद के राष्ट्रीय धारा के कवियों की राष्ट्रीय कविताओं को भी राजनीतिक कविताओं के संदर्भ में देखने की बात करते हैं।⁴² पर वह स्वीकार करते हैं कि चौथे दशक की कविता में राजनीति 'एक महत्वपूर्ण अर्थ में भिन्न ज़रूर' है। नेमिचंद्र जैन, अज्ञेय का प्रतिवाद करते हैं, स्पष्ट करते हैं कि 'कविता और राजनीति' की इस बहस को अज्ञेय द्वारा "अनावश्यक अति व्यापकता देकर उसे निरर्थक बनाना मात्र है।"⁴³ कृष्णनारायण कक्कड़ भी अज्ञेय के मत का खंडन अपने वक्तव्य में करते हैं। 'कविता और राजनीति' के संदर्भ में चौथे दशक की राजनीति प्रेरित, विचारधारा प्रेरित कविताओं को इसलिए बार-बार याद किया गया है कि उससे छठे दशक की कविता और राजनीति' के संबंध को समझा जा सके, उन दोनों के बीच जो पर्याप्त भिन्नता है उसे रेखांकित किया जा सके। यहाँ यह देखना महत्वपूर्ण है कि चौथे दशक की राजनीतिक परिस्थितियाँ छठे दशक की परिस्थितियों से कई संदर्भों में भिन्न थीं। उसी से जुड़कर उन युवा कवियों का रचना-कर्म विकसित हुआ था। इन युवा रचनाओं को किसी विचारधारा ने राजनीति को समझने के लिए प्रेरित नहीं किया था, क्योंकि वे स्वयं राजनीतिजन्य यथार्थ की जटिलताओं के आगे बेबसी के शिकार थे। "उन्हें अपने इस प्रयास में राजनीतिक क्षेत्रों से किसी प्रकार की उम्मीद न दिखाई पड़ी; शासक दल से तो खैर कोई उम्मीद थी ही नहीं, प्रतिपक्ष के राजनीतिक दलों ने भी इन कवियों को बहुत कुछ निराश ही किया, यही नहीं, बल्कि जनता भी एक मुश्किल ही मालूम हुई।"⁴⁴ इन कवियों ने विद्रोह करना प्रारंभ किया। इसीलिए नामवर सिंह इसे 'विरोध की राजनीति' कहते हैं, "जिसे राजकमल चौधरी ने परंपरागत

‘राजनीति की कविता’ के विरुद्ध, ‘कविता की राजनीति’ की संज्ञा दी थी और केदारनाथ सिंह ने ‘प्रतिपक्ष का साहित्य’ कहा है जो निश्चय ही राजनीतिक प्रतिपक्ष अर्थात् प्रतिपक्षी राजनीतिक दलों से अलग है।⁴⁵

इस परिसंवाद के लगभग सभी वक्ताओं ने इस युवा विद्रोह एवं राजनीति को उनकी अनुभूति के रूप में चिह्नित किया है। यहाँ सभी स्वीकार करते हुए देखे जा सकते हैं कि इनके यहाँ विद्रोह राजनीतिक जीवनानुभव बनकर आया है, किसी दर्शन विशेष के अनुकरण पर या राजनीतिक रुझान के कारण नहीं; इसीलिए अशोक वाजपेयी स्पष्ट करते हैं कि “इन कवियों की राजनीति को किसी स्पष्ट विचार प्रणाली या दलीय पक्षधरता से जोड़ना मुमकिन हो भी तो ग़लत ज़रूर होगा। उनकी कविता की स्वतंत्रता और व्यस्कता के लिए यह तथ्य काफ़ी हद तक ज़िम्मेदार है कि वे किसी विशिष्ट और सँकरी विचारधारा से उसकी चौखटा-सचाइयों से बँधी-सीमित नहीं हैं”⁴⁶ इसीप्रकार नामवर सिंह, अशोक वाजपेयी, नेमिचंद्र जैन, अज्ञेय जैसे रचनाकार-आलोचना अपने समकालीन युवाओं के विद्रोह, आक्रोश की पड़ताल करते हैं और ‘कविता और राजनीति’ को इनके जीवनानुभव के रूप में चिह्नित करते हैं। इनके विद्रोह या विरोध को किसी राजनीतिक पार्टी के कार्यक्रम जुड़ा न होने पर सभी की इनके प्रति सहानुभूति भी दिखाई पड़ती है जैसे: “और यह अनिवार्य ही है कि आज का हर संवेदनशील और क्षमतावान कवि अपने निजी खोल से निकल कर व्यापक मानवीय जगत के साथ अपने संबंधों को नए सिरे से तलाश को अपने कविकर्म का सबसे महत्वपूर्ण दायित्व माने और इसके लिए राजनीति के माध्यम से मिलने वाले असलियत के नंगे संस्पर्श की ओर बेझिझक बढ़े।”⁴⁷

इस परिसंवाद में इस तथ्य का उद्घाटन किया गया है कि क्यों युवा विद्रोह, के आक्रोश में कुछ ही वर्षों में ठंडापन आ गया? इस संदर्भ में उसके अंतर्विरोधों की पड़ताल करते हुए नेमिचंद्र जैन, अशोक वाजपेयी, नामवर सिंह, आदि का मत लगभग समान है कि किसी विचारधारा के

अभाव, दलीय राजनीति के अभाव के कारण नामवर सिंह के लिए वह 'प्रति-राजनीति' है अथवा 'ट्रेजिक प्रोटेस्ट' की कविता या 'विरोध की राजनीति' की कविता है; तो केदारनाथ सिंह के लिए 'प्रतिपक्ष का साहित्य' है। इसीलिए इनकी रचनाशीलता में एकरूपता ठहराव, स्थिरता आ गई क्योंकि- "स्थायी रूप से विरोध में रहने की प्रतिज्ञा भी किसी न किसी प्रकार की पक्षधरता या प्रतिबद्धता के संदर्भ में ही मूल्यवान हो सकती है।"⁴⁸

इस परिसंवाद में भाग लेते हुए अशोक वाजपेयी, श्रीकांतवर्मा, नेमिचंद्र जैन, कृष्णनारायण कक्कड़, सन् साठ के बाद की कविता में राजनीति किस प्रकार कविता का कथ्य बन जाती है उस पर गंभीरता से अपने विचार रखते हुए देखे जा सकते हैं। वहीं रघुवीर सहाय, अज्ञेय कविता राजनीति को अलग-अलग रखकर देखने के इच्छुक हैं। रघुवीर सहाय कविता में राजनीति आने को स्वीकार करते हैं, किंतु कवि द्वारा राजनीतिक अवधारणाओं के राजनीतिक तरीकों का रूप उनके यहाँ अस्वीकार्य है। "राजनीतिक तरीकों को अपनाने से साहित्य का हमेशा क्षय होता है, लेकिन उससे अलग कोई तरीका नहीं होता, इसलिए उसे स्वीकार करना पड़ेगा - पीड़ा से स्वीकार करना पड़ेगा।"⁴⁹ क्योंकि वहाँ कविता नहीं रह जाती, उनके मत में 'राजनीतिक प्रतिबद्धता' ही रह जाती है। इसीलिए उनका मत है कि कवि तो राजनीति में हिस्सा ले सकता है, किंतु कोई कहे कि मैं राजनीति में हिस्सा लेता हूँ इसीलिए राजनीति पर मैं कविता कर सकता हूँ यह ग़लत है- क्योंकि "मैं कवि हूँ मैं राजनीति में हिस्सा लेता हूँ, इसीलिए कविता करता हूँ, जैसे ही यह कहूँगा मेरी मृत्यु निश्चित है।"⁵⁰ रघुवीर सहाय के यहाँ भी कविता की चिंता सर्वाधिक रूप में ही लक्षित होती है। वह राजनीतिक संकटों के युग को स्वीकार करते हुए भी 'कविता और राजनीति' के संबंध को अस्वीकार करते हैं "यह जो समय है वह तमाम राजनीतिक व्यवस्थाओं के टूटने का समय रहा है। ऐसे समय पर सतही तौर पर यह मानलेना कि कविता और राजनीति का संबंध है बहुत बड़ा धोखा होगा।"⁵¹ अज्ञेय का भी मत लगभग रघुवीर सहाय के समान ही है। वह स्पष्ट करते

हैं कि 'वह इस विषय को 'कविता और राजनीति' के रूप में नहीं 'कवि और राजनीति' के रूप में देखना चाहिए।⁵² अज्ञेय भी राजनीति संकटों को तत्कालीन समय में स्वीकार करते हैं और सरकारी तंत्र को निर्वैयक्तिक तंत्र के रूप में स्वीकार करते हैं किंतु उनसे विद्रोह करने के औजारों को लेकर वह आश्वस्त नहीं हैं क्योंकि इस तंत्र से लड़ा कैसे जाए जिसका अपना कोई चेहरा नहीं है। जिससे आमने सामने लड़ा जा सके। अज्ञेय अपने वक्तव्य में युवा पीढ़ी के विद्रोह और उनके द्वारा कुछ न कर पाने की स्थिति को सरकार के चेहराविहीन तंत्र से जोड़ते हैं "इसलिए कि सरकार का कोई चेहरा नहीं है। यह निर्वैयक्तिक राज्यसत्ता आज नागरिक के जीवन में सर्वत्र दिखाई देती है लेकिन उसका कोई चेहरा या रूपाकार न होने से यह भी नहीं समझ पा रहे हैं कि लड़ा कैसे जाए?"⁵³ इसप्रकार के राजनीतिक संकट में अज्ञेय भी किंकर्तव्यविमूढ़ दिखाई पड़ते हैं कि 'इस चेहराविहीन स्थिति से लड़ा कैसे जाए, और युवा कवियों की स्थिति यह है कि उनके यहाँ हर प्रकार की 'राजनीति का विरोध' 'विरोध की राजनीति,' प्रतिपक्ष या विपक्ष की स्थिति में रहने को अभिशप्त है।⁵⁴

इस परिसंवाद के अतिरिक्त 'आलोचना' के इसी अंक में पीटर वाइस का मत 'पूरक संवाद' स्तंभ के अंतर्गत प्रकाशित किया गया है। यह पूरक सामग्री 'इस विभाजित विश्व में लेखक के लिए दस कर्म-सूत्र' शीर्षक से प्रकाशित है। इन कर्म सूत्रों में पीटर वाइस लेखकों की राजनीतिक संकट के दौर में क्या करना चाहिए उस पर विस्तार से चर्चा करते हैं। यह राजनीतिक संकट जब शीत युद्धकालीन हो तब स्थिति और भी भयावह हो जाती है। इन्हीं संदर्भों में लेखक को क्या करना चाहिए उस पर उनकी दस मान्यताओं को स्पष्ट किया गया है। इसी नवांक-06 में रघुवीर सहाय के वक्तव्यों के अतिरिक्त उनका एक 'पूरक वक्तव्य' प्रकाशित हुआ है। 'तानाशाही के विरुद्ध: एक वक्तव्य' में अपनी राजनीतिक स्थिति स्पष्ट करते हुए सभी प्रकार की दलीय राजनीति की तानाशाही का विरोध करते हैं क्योंकि "मैं अभी से लेकर उस दिन तक किसी भी प्रकार की तानाशाही का विरोध करूँगा। ठीक वैसे जैसे संसदीय लोकतंत्र में प्रच्छन्न प्रत्येक सर्वसत्तावादी प्रयास का विरोध

किया है। अंतर यह होगा कि इस विरोध में कभी-न-कभी राजनीतिक भी सहभागी रहे हैं उस विरोध में न शायद कोई राजनीतिक दल हैं न शायद होगा।”⁵⁵ रघुवीर सहाय किसी भी प्रकार की तानाशाही का विरोध करते हैं वह चाहे दलीय तानाशाही हो भाषाई तानाशाही हो-उन सबका विरोध करते हैं।

‘आलोचना’ द्वारा आयोजित यह ‘परिसंवाद’ भक्तिबोध की 51 वीं जन्मतिथि पर आयोजित किया गया था। जबकि ज्ञातव्य है कि मुक्तिबोध के यहाँ राजनीति युवा कवियों के समान निर्विकल्प रूप में नहीं रहा है, और मुक्तिबोध की कविता में राजनीति का जिस स्तर से जुड़ाव रहा है इस परिसंवाद के आयोजन में उनके विचारों, सक्रिय प्रयासों को और स्पष्ट करने में, युवाओं के लिए प्रेरक के रूप में प्रस्तुत करने का एक महत्वपूर्ण प्रयास ही कहा जाएगा। ‘कविता और राजनीति’ पर आयोजित यह परिसंवाद वास्तव में संपादकीय सक्रियता को ही स्पष्ट करता है। नामवर सिंह के संपादन में प्रकाशित ‘आलोचना’ के नवांक-एक का परिसंवाद-‘चुनाव के बाद का भारत’ मूल रूप से कविता और राजनीति’ विषयक बहस की पृष्ठभूमि के रूप में देखा जा सकता है।

नामवर सिंह के संपादन के लंबे दौर में ‘आलोचना’ में ‘कविता और राजनीति’ विषयक मुद्दे एवं बहस किसी-न-किसी रूप में आते रहे हैं। यह देखना भी ज़रूरी है कि एक लंबे अंतराल में ‘कविता और राजनीति’ विषयक मान्यताएँ एक रूपी न होकर कई रूपों में आई हैं जिन्हें ‘आलोचना’ के अंकों में परिलक्षित किया जा सकता है। सन् साठ के आसपास उभरती युवा पीढ़ी का विद्रोह 1967-1968 ई0 तक आकर ठंडा पड़ने लगता है, और भारतीय राजनीति में एक परिवर्तन लक्षित किया जा सकता है तो यह स्पष्ट है कि ‘आलोचना’ के संपादन के लगभग 23 वर्षों के अंतराल में भारतीय राजनीति में भी एकरूपता नहीं होगी। और 1967-1990 के अंतराल में ‘कविता और राजनीति’ संबंधी मान्यताओं एवं दृष्टियों में परिवर्तन भी हुए होंगे, यह सहज अनुमान का विषय है। ‘कविता और राजनीति’ विषयक मान्यताएँ ‘आलोचना’ में किस रूप में आई हैं उन्हें

पत्रिका में समय-समय पर प्रकाशित लेखों, टिप्पणियों शोधपरक आलेखों-निबंधों आदि में परिलक्षित किया जा सकता है। 'आलोचना' में प्रकाशित इन लेखों-शोध-पत्रों में 'कविता और राजनीति' का संबंध जिस रूप में परिलक्षित होता है उसका संबंध किसी-न-किसी रूप में भारतीय राजनीति के बदलते स्वरूप में निहित दिखाई पड़ता है। भारतीय राजनीति के बदलते स्वरूप से न केवल रचनात्मक साहित्य प्रभावित हुआ बल्कि रचनात्मकता में बदलाव को ढूँढते आलोचनात्मक विवेक में भी परिवर्तन दिखाई पड़ता है। स्वातंत्र्योत्तर हिंदी साहित्य व आलोचना के विकास एवं परिवर्तन को इस व्यापक परिप्रेक्ष्य में देखा भी जा सकता है। इससे न केवल हिंदी साहित्य में विकसित होती हुई प्रवृत्तियों को समझने में सहायता मिलती है। बल्कि 'कविता और राजनीति' के बीच बदलते संबंधों के स्वरूप को भी देखा जा सकता है।

युवा विद्रोह व उनकी रचनाओं का परिप्रेक्ष्य स्पष्ट करते हुए नंदकिशोर नवल (किंतु 'नंदन' के रूप में प्रकाशित) का 'समकालीन कविता का सही सेहरा'? (नवांक-25, अप्रैल-जून 1973) इस संदर्भ में महत्वपूर्ण लेख है। इसमें वह स्पष्ट करते हैं कि "आज़ादी के बाद की भारतीय राजनीति ने आम आदमी को जिस भयावह स्थिति में पहुँचा दिया है... उसे आम आदमी की ज़िंदगी से जोड़कर देखे बिना उसकी सही और संपूर्ण व्याख्या असंभव है।"⁵⁶ कविता और राजनीति में संबंध को नवल जी स्पष्ट करते हैं कि "कुछ लोग कविता में व्यक्त राजनीतिक संदर्भों को देखकर कविता के भटक जाने की बात करते हैं और आज कविता पर राजनीति का शिकार होने का आरोप मढ़ते हैं। शायद वे लोग इस तथ्य से अनभिज्ञ हैं या जानकर भी अनजान हैं कि कविता और राजनीति दोनों का दायित्व अपने समकालीन समाज के प्रति सामूहिक हुआ करता है।"⁵⁷ शिवमंगल सिद्धांतकर का एक विचारोत्तजक लेख 'आज की कविता चरित्र' (नवांक-30, जुलाई-सितं., 1974 ई.) 'कविता और राजनीति' के संबंध को समकालीन राजनीति के संदर्भों में रखकर पड़ताल करते हैं। 'कविता और राजनीति' के संबंध की व्याख्या 'नक्सलवाद की राजनीति' से जोड़कर करते हैं। स्पष्ट करते हैं कि

‘शुरूआत’, ‘युयुत्सा’, ‘देशव्रती’ आदि पत्रिकाएँ क्रांतिकारी स्वर को बुलंद करती हैं, किंतु ‘देशव्रती’ पत्रिका प्रतिबंधित होती है, अन्य पत्रिकाएँ नहीं। इसी के साथ ‘धूमिल’, ‘राजकमल चौधरी’ के यहाँ विरोध विद्रोह आदि मिलता है, किंतु इनकी रचनाओं से समाज में कोई क्रांतिकारी परिवर्तन नहीं हुआ। इसके कारणों की पड़ताल करते हुए लिखते हैं कि “‘शुरूआत’ और उसके कवियों के बेलाग बचे रहने का कारण साहित्यिक और राजनीतिक दोनों हैं। साहित्यिक इस मानी में कि ‘शुरूआत’ के कवि... किसान और मजदूरों के बीच गए नहीं, जहाँ ये कविताएँ सीमा तक खतरा साबित हो सकती थीं... राजसत्ता शब्दों से नहीं डरती है: शब्दों के जनता के बीच पहुँचकर बंदूक बनने से घबराती है और तब दमनकारी हमले करती है।... कथन में चाहे जितने क्रांतिकारी हों। जाहिर है कि व्यवस्था को ऐसी कविताओं से कोई खतरा नहीं हो सकता, कवि-कौशल द्वारा यदि वे जनता के बीच पहुँचाई नहीं जाती।”⁵⁸ सिद्धांतकर ‘धूमिल’ और ‘राजकमल चौधरी’ की कविताओं को इसी कोटि में रख कर देखते हैं। जनता के लिए ‘आत्म-बलिदान’ दे देने वाले कवियों में, जिन्होंने क्रांति की अगुवाई उनके बीच रहकर की थी- उनमें ‘वेणुगोपाल’, ‘आलोकधन्या’, ‘नागार्जुन’, कुमारेंद्र पारसनाथ सिंह’, ‘विष्णुचंद्र शर्मा’ आदि आते हैं। इस प्रकार साठोत्तरी कवियों एवं 1967 ई. के बाद की ‘कविता और राजनीति’ को इस संदर्भ में भी रखकर देखे जाने की कोशिश हुई है। जनवरी-मार्च- 1975 के (नवांक-32) में पवनकुमार मिश्र ‘कहानी: परत-दर-परत’ में सत्तर के दशक में भारतीय राजनीति की भयावहता को स्पष्ट करते हैं कि जनता को यह प्रतीत होने लगता है कि उसे अब अपनी लड़ाई खुद ही लड़नी है। फ़तवों, नारों, भाषणों की असलियत स्पष्ट हो गई है।⁵⁹ ‘कविता और राजनीति’ की बहस 1975 ई. के आस-पास हिंदी आलोचना में किसी रूप में चल रही थी, ‘आलोचना’, (नवांक-32) जनवरी-मार्च-1975 ई. के अंक में नंदकिशोर नवल के लेख ‘राजनीति और समकालीन कविता’ में देखा जा सकता है। महत्वपूर्ण तथ्य है कि ‘आलोचना’ द्वारा आयोजित ‘कविता और राजनीति’ विषयक परिसंवाद को इस लेख में आधारभूत स्रोत-सामग्री के

रूप में प्रयुक्त भी करते हैं। नंदकिशोर नवल स्पष्ट करते हैं कि “समकालीन का प्रमुख नारा है ‘व्यवस्था का विरोध’। यह विरोध सही ढंग से किया जा रहा हो, या ग़लत ढंग से, लेकिन इसमें कोई शक की बात नहीं कि यह राजनीतिक है। इस प्रकार समकालीन कविता मूलतः राजनीतिक कविता है।”⁶⁰

रामस्वरूप चतुर्वेदी, अपने लेख ‘समकालीन कविता की दशा’ में ‘कविता और राजनीति’ के संबंधों की पड़ताल करते हैं। समाज-परिवर्तन के प्रश्न को विचार और अनुभव के प्रश्न से जोड़कर देखते हुए कहते हैं “इस संदर्भ में सबसे स्पष्ट धारणा प्रेमचंद की है... वह (अर्थात् साहित्य) देशभक्ति और राजनीति के पीछे चलने वाली सच्चाई भी नहीं, बल्कि उसके आगे मशाल दिखाती हुई चलनेवाली सच्चाई है।... साहित्य उनके लिए पक्षधर या हथियार नहीं विवेक और अन्वेषण की प्रतीक मशाल है।”⁶¹ इनकी मान्यता है कि है कि “साहित्य और राजनीति के संबंधों में तनाव जितना बढ़ता गया है रचनाकार ने अपने आपको उतने ही बल के साथ रचना के पक्ष में प्रक्षिप्त किया है।”⁶² इस प्रकार रामस्वरूप चतुर्वेदी कविता और राजनीति के बीच के अंतर को स्पष्ट करते हैं और ‘कविता के पक्ष’ में अपना मत स्थिर रखते हैं।

इस प्रकार, नामवर सिंह संपादित ‘आलोचना’ में ‘कविता और राजनीति’ के मुद्दे पर जो बहस चली है उसमें मुख्य रूप से दो मत देखे जा सकते हैं। एक मत, कविता में राजनीति की स्पष्टतः दखलअंदाजी को अस्वीकार करता है, किंतु कविता में राजनीति कथ्य के रूप में आना उसे स्वीकार्य है। जब कि ‘कविता और राजनीति’ के विषय में दूसरे पक्ष की राय है कि समकालीन जीवन संदर्भों में जब राजनीति इस सीमा तक आक्रांत हो चुकी है तो कविता को राजनीतिक संदर्भों के बिना समझा ही नहीं जा सकता है। मूलतः ‘राजनीति और कविता’ के बीच के संबंधों की पड़ताल का प्रश्न अंततः ‘कविता के स्वरूप के प्रश्न से जाकर जुड़ता है। इस प्रकार उपर्युक्त बहस में मुख्यतः दो पक्ष दिखाई पड़ते हैं एक, जो कविता का सामाजिक जीवन में केंद्रीय भूमिका स्वीकार

करते हुए भी उसे राजनीतिक छाया से दूर रखना चाहता है; जबकि दूसरा पक्ष कविता और राजनीति को कई बार समानार्थी और पर्याय के रूप में द्योतित करता है जिससे 'कविता' कविता नहीं रहकर बाकी सबकुछ रह जाती है। इस बहस में एक महत्वपूर्ण तथ्य को अवश्य देखना चाहिए कि 'कविता और राजनीति' की बहस उस पुरानी बहस की छाया से मुक्त होने लगी है जिसमें एक पक्ष राजनीति की पक्षधरता के कारण नारों को भी कविता कहने पर तुला हुआ था तो दूसरा पक्ष 'कविता' के नाम पर जीवन से कटते-कटते अमूर्तता की स्थिति तक पहुँच गया था। इस पूरी बहस में दोनों पक्ष अपने सीमांतों को छोड़ते हुए दिखाई पड़ते हैं। उन्हें इसका स्पष्टतः ज्ञान हो चला है कि 'राजनीति से हमारा जीवन बुरी तरह आक्रांत है। जब जीवन राजनीति से इतना आक्रांत है तो कविता जो जीवन का साक्षात्कार कराती है, वह कैसे अपने को बचा सकती है। इसलिए राजनीतिक कविता या नारेबाजी से युक्त कविता से परहेज हो सकता है, लेकिन जब राजनीति ही कविता का कथ्य बनकर, मुहाविरा बनकर आए उसे कैसे अस्वीकृत किया जा सकता है। इसीलिए साठ के बाद की कविता में राजनीति जीवनानुभव के रूप में आती है तो सभी पक्ष उसे स्वीकार करने को तैयार दिखते हैं।

‘आलोचना’ द्वारा आयोजित ‘कविता और राजनीति’ की बहस से हिंदी आलोचना के सम्मुख साठोत्तरी पीढ़ी की रचनाधर्मिता को जानने-समझने का एक बड़ा ही अवरोध दूर हुआ। इस बहस से ‘कविता और राजनीति’ के संबंधों की पड़ताल तो हुई ही, साठोत्तरी पीढ़ी की संरचना का मूलभाव भी निकलकर आया। जिससे हिंदी साहित्य के इतिहास के इस पक्ष को सहजता से देखा जा सकता है उसके विकास की गति से भविष्य की दिशा को निर्धारित किया जा सकता है।

1.3 साहित्य के समाजशास्त्रीय चिंतन की प्रस्तावना

नामवर सिंह के संपादन में ‘आलोचना’ पत्रिका ने जिस विषय को बड़ी गंभीरता से प्रस्तावित किया, वह था साहित्य का समाजशास्त्रीय चिंतन। हिंदी आलोचना में पहली बार इसे एक ‘प्रवृत्ति’ के रूप में प्रस्तावित करने और इस पर बहस चलाने का श्रेय ‘आलोचना’ पत्रिका को

ही जाता है। नामवर सिंह अपने 'आत्मकथ्य' में स्पष्ट करते हैं कि “ ‘आलोचना’ में जिस दूसरी प्रवृत्ति का प्रारंभ मैंने किया, वह प्रवृत्ति है ‘साहित्य के समाजशास्त्र’ की। यों तो साहित्य और समाज के रिश्ते पर बहुत पहले से विचार होता आ रहा था, लेकिन बगैर यह जाने कि इसका एक शास्त्र भी होता है। साहित्यशास्त्र है तो समाजशास्त्र भी है। समाजशास्त्र के लोग इस रिश्ते को कैसे देखते हैं? इसकी पद्धतियाँ क्या हैं? कैसे विकसित हुई हैं? इन सब प्रश्नों को ‘आलोचना’ के मंच से सामने लाने का प्रयत्न किया।”⁶³ इस बात की पुष्टि मैनेजर पांडेय की पुस्तक ‘साहित्य के समाजशास्त्र की भूमिका (1989 ई.)’ का ‘समर्पण पृष्ठ’ करता है। मैनेजर पांडेय की यह पुस्तक ‘नामवर सिंह’ को समर्पित है। इसके समर्पण पृष्ठ पर यह उक्ति भी प्रकाशित है “डॉ. नामवर सिंह को सादर जिनके प्रयत्न से साहित्य का समाजशास्त्र हिंदी में आया है।”⁶⁴ इसके अतिरिक्त मैनेजर पांडेय उक्त ग्रंथ की भूमिका में इसे रेखांकित करते हैं कि “साहित्य के समाजशास्त्र को हिंदी में ले आने, उसकी विभिन्न दृष्टियों और आलोचनात्मक उपलब्धियों से हिंदी के पाठकों को परिचित और उस पर बहस चलाने का काम ‘आलोचना’ पत्रिका के माध्यम से डॉ. नामवर सिंह ने किया है।”⁶⁵ रामचंद्र तिवारी भी इस मत को स्वीकार करते हैं कि “हिंदी में समाजशास्त्रीय समीक्षा संबंधी विचार-विवेचन ‘आलोचना’ पत्रिका के माध्यम से आरंभ हुआ।”⁶⁶ इस प्रकार स्पष्ट है कि हिंदी आलोचना में ‘साहित्य के समाजशास्त्रीय चिंतन’ को बहस के रूप में प्रस्तावित करने का काम ‘आलोचना’ पत्रिका ने किया, जिससे हिंदी आलोचना की यह अब एक प्रवृत्ति के रूप में अपना विकास कर रही है। इन वक्तव्यों के प्रकाश में ‘आलोचना’ पत्रिका की इस प्रवृत्ति का हिंदी आलोचना के विकास में एक योगदान के रूप में देखा जा सकता है।

ध्यातव्य है कि साहित्य की समाजशास्त्रीय चिंतन एवं उसकी अध्ययन पद्धतियों का आविर्भाव एवं विकास पश्चिमी ज्ञानमीमांसा की देन है⁶⁷ जहाँ इस अध्ययन पद्धति का स्वरूप, अध्ययन क्षेत्र तथा अवधारणा को लेकर बहसें हुई हैं। जिसके परिणामस्वरूप “साहित्य का

समाजशास्त्र एक स्वतंत्र साहित्य विद्या के रूप में विकसित हो रहा है। उसने साहित्य की नई धारणा निर्मित की है और साहित्य की सामाजिकता के विवेचन के लिए आवश्यक कुछ दृष्टियों और पद्धतियों का विकास किया है।⁶⁸

साहित्य के समाजशास्त्रीय चिंतन में मुख्य सरोकार 'साहित्य और समाज' के संबंधों पर आधारित है और जिस रूप में इनकी दृष्टियाँ बदलती रही हैं उनके संबंधों को भी उसी प्रकार से देखा गया है। निर्मला जैन का साहित्य के बारे में विचार है कि "साहित्य का मुख्य सरोकार मनुष्य का सामाजिक जगत होता है।"⁶⁹ जबकि समाजशास्त्र मनुष्य के सामाजिक संबंधों एवं संस्थाओं, जीवन - प्रक्रियाओं, व्यक्ति और समाज के संदर्भों का अध्ययन विभिन्न पद्धतियों एवं अवधारणाओं के आधार पर करता है।⁷⁰ इस प्रकार साहित्य और समाजशास्त्र का ध्येय एक-दूसरे पर निर्भर है। निर्मला जैन के अनुसार तो "साहित्य और समाजशास्त्र पूर्णतः भिन्न विषय नहीं हैं। यह कहना ज्यादा उचित होगा कि समाज-विषयक हमारी समझ में वे एक-दूसरे के पूरक हैं। साहित्य का वास्ता काफी हद तक उन्हीं सामाजिक-आर्थिक और राजनीतिक संरचनाओं से पड़ता है जिनसे समाजशास्त्र का"⁷¹ इस प्रकार साहित्य और समाजशास्त्र का संबंध अन्योन्याश्रित, परस्पर पूरक और द्वंद्वात्मक है। साहित्य का समाज से समाज का साहित्य से अत्यंत ही गहरा एवं जटिल संबंध है। साहित्य को तभी समझा जा सकेगा जब समाज की जटिलताओं एवं अंतर्वृत्तियों को समझा जा सके। चूँकि समाज के व्यवस्थित अध्ययन हेतु समाजशास्त्र के पास विभिन्न दृष्टियाँ, अध्ययन पद्धतियाँ एवं उपागम आदि उपलब्ध हैं उसी प्रकार के चिंतन एवं अध्ययन पद्धतियों के माध्यम से साहित्य का अध्ययन कर उसकी साहित्यिकता और सामाजिकता की पड़ताल करने का प्रयास साहित्य का समाजशास्त्रीय चिंतन करता है। विद्यानिवास मिश्र का मानना है कि "साहित्य का समाजशास्त्र साहित्य समीक्षा के लिए एक अपरिहार्य आयाम है। समाजशास्त्र का यदि दृबहू खाका साहित्य पर आरोपित किया जाए तो वह अपर्याप्त ही होगा और अधिकांशतः अनावश्यक भी। साहित्य की

रचना-प्रक्रिया का ध्यान से देखते हुए उसकी अनुकूल समाजशास्त्रीय पद्धति का निर्धारण किया जा सकता है।⁷²

मैनेजर पांडेय के मतानुसार “साहित्य का समाजशास्त्र व्यापक सामाजिक प्रक्रिया के भीतर क्रियाशील संपूर्ण साहित्य प्रक्रिया की विभिन्न गतियों और परिणतियों की व्याख्या करते हुए साहित्य के वास्तविक सामाजिक स्वरूप की पहचान कराता है और उसमें साधारण पाठकों की दिलचस्पी जगाता है। इस तरह वह रचना और आलोचना दोनों की सामाजिक सार्थकता बढ़ाता है।⁷³

पश्चिमी ज्ञानमीमांसा में ‘साहित्य के समाजशास्त्र को लेकर यह विवाद रहा है कि ‘साहित्य का समाजशास्त्र एक स्वतंत्र साहित्य-विद्या है या समाजशास्त्र की एक शाखा? इस संदर्भ में यह तथ्य ध्यान देने योग्य है कि “समाजशास्त्री उसे समाजशास्त्र की एक शाखा समझते हैं, उसे ज्ञान के समाजशास्त्र के भीतर रखते हैं लेकिन साहित्य विचारक उसे एक स्वतंत्र साहित्य-विद्या मानते हैं। यही कारण है कि कुछ समाजशास्त्री साहित्य का समाजशास्त्र और साहित्यिक समाजशास्त्र में अंतर करते हैं। वे पहले को समाजशास्त्र का एक रूप कहते हैं और दूसरे को साहित्यिक आलोचना का एक प्रकार। समाजशास्त्री ‘साहित्य के समाजशास्त्र’ को साहित्य के मार्फत समाजशास्त्र समझते हैं।⁷⁴ वस्तुस्थिति यह है कि साहित्य और समाज के संबंधों पर आधारित अध्ययन-पद्धति जब से आविर्भाव में आयी है तभी से वह समाजशास्त्र की मूल संकल्पना से इतर एक स्वतंत्र अध्ययन-पद्धति के रूप में विकसित होती हुई दिखाई पड़ती है। 18 वीं शती से लेकर अब तक जिन पश्चिमी चिंतकों ने साहित्य का अध्ययन समाजशास्त्रीय पद्धति पर किया, उसे यदि देखा जाए तो “अब वह समाजशास्त्र से स्वतंत्र एक साहित्य-विद्या के रूप में विकसित हो रहा है।⁷⁵ इसके स्वतंत्र रूप के विकास में ‘मादाम स्तेल’, ‘ईपालीत तेन’, ‘लिओ लावेंथल’, ‘आयन वाट्स’, ‘राबर्ट एस्कार्पिट’, ‘जार्ज लूकाच’, ‘लूसिएँ गोल्डमान’, ‘माल्कम ब्रेडबरी’, ‘रेमंड विलियम्स’ आदि ने समाजशास्त्रीय

पद्धति पर साहित्य का अध्ययन प्रस्तुत कर साहित्य के समाजशास्त्र को विकसित करने में अपना महत्वपूर्ण योगदान दिया है।

हिंदी जगत में 'मैनेजर पांडेय', 'विद्यानिवास मिश्र', 'बी.डी. गुप्ता', 'रामचन्द्र तिवारी' इसे स्वतंत्र साहित्य विद्या के रूप में स्वीकार करते हैं इसके विपरीत 'एलन स्विंगवुड', 'पी. फास्टर', 'सी. केनकोर्ड' आदि इसे समाजशास्त्र की एक शाखा के रूप में देखते हैं।⁷⁶ मैनेजर पांडेय इस संदर्भ में स्पष्ट करते हैं कि "पिछले सौ वर्षों में संस्कृति की भौतिकवादी व्याख्या के आधार पर कलाओं का जो समाजशास्त्र विकसित हुआ है उसका एक रूप है- साहित्य का समाजशास्त्र।"⁷⁷ साहित्य के अध्ययन के लिए समाजशास्त्रीय पद्धति के इस्तेमाल के कारण इसे कई नामों से अभिहित किया जाता है। 'कोई साहित्य का समाजशास्त्र कहता है, कोई साहित्यिक समाजशास्त्र कहता है या कोई समाजशास्त्रीय आलोचना कहता है।' "इससे कोई खास फर्क नहीं पड़ता है। मुख्य बात यह है कि उसका लक्ष्य साहित्य की सामाजिकता की व्याख्या करना है।"⁷⁸ इसलिए 'साहित्य का समाजशास्त्र' ही इसके लिए सर्वमान्य हो गया है।

मैनेजर पांडेय का विचार है कि साहित्य के समाजशास्त्र का स्वरूप और अवधारणा अभी बिल्कुल निश्चित आकार नहीं ले पाया है। उनके मत से "साहित्य के समाजशास्त्र के स्वरूप के अनिश्चय का एक कारण समाजशास्त्र संबंधी पद्धतियों एवं दृष्टियों की अनेकता है।"⁷⁹ साहित्यिक समाजशास्त्रियों ने अपनी आलोचना-पद्धति द्वारा साहित्य के समाजशास्त्र का एक स्थिर रूप देने का प्रयास किया है 'विको', 'मादामस्तेल', 'इपालीत तेन', 'लिओ लावेंथल', 'राबर्ट एकार्पिट', 'जार्ज लूकाच', 'रेमंड विलियम्स', 'लूसिए गोल्डमान', 'एलन स्विंगवुड' आदि की कृतियों से साहित्य के समाजशास्त्र की अवधारणा को समझा जा सकता है। साहित्य का समाजशास्त्र निम्न बिंदुओं पर कार्य करता है।⁸⁰

1.3.1. साहित्य के समाजशास्त्रीय चिंतन संबंधी महत्त्वपूर्ण बिंदु

- I. 'साहित्य का समाजशास्त्र व्यापक सामाजिक प्रक्रिया के भीतर क्रियाशील संपूर्ण साहित्य-प्रक्रिया की विभिन्न गतियों और परिणतियों की व्याख्या करते हुए साहित्य की वास्तविक स्वरूप की पहचान कराता है। और उसमें साधारण पाठकों की दिलचस्पी जगाता है इस तरह रचना और आलोचना दोनों की सामाजिक सार्थकता बढ़ाता है।'
- II. 'साहित्यिक समाजशास्त्र का लक्ष्य कृति की व्याख्या नहीं है यह काम दूसरी आलोचना पद्धतियों में भी होता है। उसका लक्ष्य साहित्यिक कृति की सामाजिक अस्मिता की व्याख्या है। साहित्यिक कृति की सामाजिक अस्मिता रचना के सामाजिक संदर्भ और सामाजिक अस्तित्व से निर्मित होती है। इसीलिए साहित्य के समाजशास्त्र में उस पूरी प्रक्रिया को समझने की कोशिश होती है। जिसमें कोई रचना साहित्यिक कृति बनती है।'
- III. लेखन को साहित्य बनानेवाली इस प्रक्रिया का विश्लेषण केवल साहित्य के समाजशास्त्र में होता है, किसी दूसरी आलोचना-पद्धति में नहीं।
- IV. 'साहित्य के समाजशास्त्र की मुख्य प्रवृत्ति समग्रतावादी है। वह साहित्य के सभी रूपों और पक्षों को समग्रता में समझने पर जोर देता है। साहित्य-प्रक्रिया के मुख्य तीन पक्ष हैं: लेखक, रचना, और पाठक। साहित्य विश्लेषण की अधिकांश दृष्टियों के केंद्र में इन तीनों में से कोई एक रहता है। साहित्य के समाजशास्त्र में तीनों विवेचन का होता है और इनके आपसी संबंधों का भी। उसमें गंभीर कलात्मक साहित्य के साथ लोकप्रिय साहित्य के सामाजिक संदर्भ और प्रयोजन का भी विश्लेषण होता है।'
- V. 'केवल साहित्य के समाजशास्त्र में ही साहित्य-प्रक्रिया के अनुभवों और तथ्यों का व्यावहारिक विवेचन होता है, जिसमें साहित्य के लेखन, प्रकाशन, वितरण और उपभोग की पूरी व्यवस्था की भूमिका स्पष्ट होती है।'

- VI.** 'साहित्य का समाजशास्त्र किसी भी रचना को ठीक से समझने के लिए उस सामाजिक यथार्थ के अलग से समझने की माँग करता है जिससे रचना अनेक रूपों में जुड़ी होती है ।
.. अब साहित्य को समझने के लिए साहित्य के बाहर की दुनिया को जानना ज़रूरी हो गया है ।'
- VII.** 'साहित्य के समाजशास्त्र में समाज से लेखक के संबंध उसकी सामाजिक स्थिति, जीविका, आश्रय और इन सबसे प्रभावित होनेवाली मानसिकता का अध्ययन होता है ।'
- VIII.** 'साहित्य का समाजशास्त्री मानता है कि 'किसी रचना की अंतर्वस्तु में ही समाज नहीं व्यक्त होता । रचना के हर स्तर पर अर्थात् उसकी अंतर्वस्तु, संरचना, शिल्प और भाषा में समाज की अभिव्यक्ति होती है ।'
- IX.** 'साहित्य का समाजशास्त्र साहित्य को एक संस्था के रूप में स्वीकार करता है ।- 'वह व्यापक सामाजिक ढाँचे से अनेक रूपों में जुड़ा होता है । वह सामाजिक प्रक्रिया के आर्थिक राजनीतिक, और विचारधारात्मक व्यवहारों से प्रभावित होता है और उसको प्रभावित भी करता है । साहित्य के समाजशास्त्र में ऐसे संबंधों का अध्ययन होता है । इस अध्ययन के लिए कुछ विचारक साहित्य को एक सामाजिक संस्था मानते हैं । वे कहते हैं कि जैसे दूसरी सामाजिक संस्थाएँ सामाजिक प्रक्रिया में बनती है और उसे प्रभावित करती है वही स्थिति साहित्य नाम की संस्था की भी है ।'
- X.** 'साहित्य के समाजशास्त्रीय चिंतन में 'पाठक-लेखक', 'पाठक-कृति' और 'लेखक-प्रकाशक-वितरक' आदि संबंधों की भी पड़ताल होती है कि ये सभी किस प्रकार साहित्य व रचनाकार को प्रभावित करते हैं और रचनाकार और साहित्य किस प्रकार इन्हें प्रभावित करता है ।'
- XI.** 'इसके अतिरिक्त कला को सामाजिक उत्पादन, कलाकार को उत्पादक, कृति को वस्तु, रचना के बोध को उपभोग आदि कहा जाता है ।'

ध्यान देने की बात है कि इन उपर्युक्त बिंदुओं के संदर्भ में ही अधिकांशतः 'साहित्य का समाजशास्त्रीय चिंतन अपना कार्य करता है, इसके अतिरिक्त अन्यान्य बिन्दु और भी हो सकते हैं। किंतु साहित्य का समाजशास्त्रीय चिंतन अधिकांशतः इन बिंदुओं को ही केंद्र में रखता है।

1.3.2. साहित्य के समाजशास्त्र की अध्ययन पद्धतियाँ

इसके साथ साहित्य के समाजशास्त्र की कई अध्ययन पद्धतियाँ भी हैं- सबसे पुरानी अध्ययन पद्धति - विधेयवादी पद्धति है जो 'साहित्य को समाज का दर्पण मानता है' इसलिए इसे 'दर्पणवादी अध्ययन पद्धति' के रूप में चिह्नित किया जाता है। यह पद्धति 'इपालित तेन' और 'मादामस्ताल' के यहाँ मिलती है। इसमें साहित्य और समाज के बीच 'कार्य-कारण संबंध' निर्धारणवादी ढंग से देखा जाता है।⁸¹ 'अनुभववादी अध्ययन-पद्धति' इसी दर्पणवादी अध्ययन पद्धति का अद्यतन रूप है। फ्रांस के रोबर एस्कार्पी इसके प्रतिनिधि हैं।⁸² दूसरी धारा संरचनावादी चिंतन पद्धति से प्रभावित हैलूसिएं गोल्डमान इसी चिंतनधारा के प्रभाव से 'उत्पत्तिमूलक संरचनावाद की बात करते हैं।⁸³ एक अन्य धारा आलोचनात्मक समाजशास्त्र की भी है जिसके प्रवक्ता लिओ लावेंथल हैं।⁸⁴ इसके अतिरिक्त मार्क्सवादी चिंतन से प्रभावित धारा है, जिसका विकास रेमंड विलियम्स आदि के यहाँ दिखाई पड़ता है।⁸⁵ साहित्य के समाजशास्त्री चिंतन की अध्ययन की ये प्रमुख धाराएँ हैं इन्हीं का विकास किसी-न-किसी रूप में मिलता है।

1.3.3. 'आलोचना' पत्रिका में साहित्य के समाजशास्त्रीय चिंतन का स्वरूप : विवेचन-विश्लेषण

नामवर सिंह के संपादन में आते ही 'आलोचना' पत्रिका में साहित्य के समाजशास्त्रीय चिंतन के नवीन आधारों, मान्यताओं को स्थान मिलना शुरू होता है। नामवर सिंह संपादित 'आलोचना' पत्रिका के विभिन्न अंकों में 'साहित्य के समाजशास्त्र' की उपर्युक्त मान्यताओं और विभिन्न पद्धतियों पर कई लेख, शोधलेख, निबंध, साक्षात्कार, संपादकीय टिप्पणियाँ आदि मिलते हैं। इसके अतिरिक्त साहित्य के समाजशास्त्रीय चिंतन के स्वरूप को विकसित करनेवाले पश्चिमी

चिंतकों, विद्वानों के अंग्रेज़ी पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित लेख, निबंधों आदि का अनुवाद कराकर नामवर सिंह ने 'आलोचना' पत्रिका में प्रकाशित किए हैं। इन्हीं लेखों के माध्यम से हिंदी आलोचना में 'साहित्य के समाजशास्त्रीय चिंतन' की प्रवृत्ति की नींव पड़ी। आलोचना नवांक- 03 (अक्टूबर-दिसंबर, 1967 ई.) अन्स्ट फिशर का लेख 'कला और सैद्धांतिक बाह्य संरचना' प्रकाशित है। जिसकी मूल बहस ही यह है कि कला का बाह्य वृत्तियों से किस प्रकार का संबंध होता है। नवांक-13 (अप्रैल-जून, 1970) में डेविड एन. मार्गोलीज का लेख 'कॉडवेल और साहित्य की सामाजिक वृत्ति' शीर्षक लेख प्रकाशित हुआ है। इसका अनुवाद विश्वनाथ त्रिपाठी ने किया है। इस लेख में मार्गोलीज की मान्यता है कि "कॉडवेल का ध्यान इस बात पर भी गया कि साहित्य का अस्तित्व है तो उसके अस्तित्व का कारण है। साहित्य का अस्तित्व है तो उसकी सामाजिक सार्थकता भी होगी।"⁸⁶ इस प्रकार कॉडवेल ने साहित्य और कला का अस्तित्व के कारण का उत्तर "साहित्य के प्रति पूर्ण सामाजिक दृष्टिकोण को अपनाकर खोजा।.... उन्होंने साहित्य की परीक्षा केवल कुछ रचनाओं तक ही सीमित रहकर नहीं, मानवजीवन की संपूर्णता को ध्यान में रखकर की। उन्होंने साहित्य को समाज की छाया के रूप में नहीं, समाज के अंदर रखकर देखा-परखा।"⁸⁷ ध्यातव्य है कि कॉडवेल 'साहित्य के समाजशास्त्र' की विधेयवादी अथवा दर्पणवादी पद्धति का निषेध करते हैं और इसे मार्क्सवादी साहित्यिक समाजशास्त्री पद्धति का प्रकारांतर से विकसित करते हैं। इसी अंक में इस्त्वान साइमन एवं इर्विन जित्यानि द्वारा लिए गए जार्ज लूकाच के एक साक्षात्कार का अनुवाद प्रकाशित है। इस साक्षात्कार में मार्क्सवादी चिंतन पर आधारित समाज और साहित्य के संबंधों पर नवीन मान्यताएँ देखी जा सकती हैं। ठीक इसी अंक के उपरांत नवांक-14 में जार्ज लूकाच से एक भेंटवार्ता प्रकाशित है। ध्यान दें तो जार्ज लूकाच की मान्यताएँ पश्चिमी ज्ञानमीमांसा में नवमार्क्सवादी चिंतन का प्रस्थान बिंदु हैं, जिसका संबंध साहित्य के समाजशास्त्र को व्यवस्थित करने में अग्रणी भूमिका निभाता है इसके कारणों की चर्चा आगे के पृष्ठों पर होगी।

जैसा कि पिछले पृष्ठों में ध्यान दिलाया गया है उपर्युक्त साहित्यिक समाजशास्त्र में कला को सामाजिक उत्पादन कलाकार को उत्पादक, कृति को वस्तु, रचना के बोध को उपभोग आदि कहा जाता है।⁸⁸ इस संदर्भ में 'आलोचना' के नवांक- 17 (अप्रैल-जून, 1971 ई.) में 'वाल्टर बेंजामिन' का एक व्याख्यान 'लेखक: उत्पादक के रूप में' प्रकाशित है। इसके अनुवादकर्ता कमलेश हैं। यह व्याख्यान सन् 1934 ई. का है, जिसमें रचनाकार को उत्पादक के रूप में और उसकी रचना को 'उत्पाद' के रूप में देखा गया है तथा इनके बीच के संबंध को सामाजिक संबंधों के बीच रखकर देखा गया है- वाल्टर बेंजामिन कहते हैं कि- "भौतिकवादी आलोचना जब किसी कलाकृति को परखती है तो यह सवाल उठाया करती है कि उस कृति का अपने समय के सामाजिक संबंधों में क्या स्थान हैं?... इस सवाल का सीधा लक्ष्य है- अपने दौर के साहित्यिक संबंधों के अंदर उस रचना का कार्य। दूसरे शब्दों में इसका सीधा लक्ष्य उस रचना की साहित्यिक प्रविधि से है।"⁸⁹ इसी प्रकार का उत्पादन संबंधों के संदर्भ में वाल्टर बेंजामिन का एक लेख 'यांत्रिक पुनरुत्पादन के युग में कलाकृति' शीर्षक से नवांक- 70 (जुलाई-सितं., 1984 ई.) में प्रकाशित है। इस प्रकार साहित्य अथवा कला को सामाजिक संबंधों एवं उत्पादन संबंधों से जोड़कर देखने की प्रक्रिया उसे साहित्य के समाजशास्त्रीय चिंतन से जोड़ देती है।

'आलोचना' का नवांक- 18 (जुलाई-सितं., 1971) में मार्क्सवादी चिंतक जार्ज लूकाच पर केंद्रित है। यह अंक जार्ज लूकाच की मृत्यु के उपरांत श्रद्धांजलि के रूप में प्रकाशित है। इस अंक में जार्ज लूकाच पर इस्तवान इरोसी का लेख 'यथार्थता के परम आग्रही: जार्ज लूकाच' प्रकाशित है, जिसका अनुवाद रामकृपाल पांडे ने किया है। जार्ज लूकाच पर एक लेख जिसका अनुवाद मैनेजर पांडेय ने किया है- 'जार्ज लूकाच: कला और वस्तुपरक सत्य' शीर्षक से प्रकाशित है। इस अंक का संपादकीय भी 'जार्ज लूकाच' पर केंद्रित है। इन लेखों से कुछ ऐसे सूत्र मिलते हैं जिनसे 'साहित्य का समाजशास्त्रीय चिंतन को व्यापक आधार मिलता है। जैसे' "उन्होंने मार्क्सवाद को प्रकृति और

समाज दोनों का समग्र सिद्धांत न मानकर केवल सिद्धांत माना... समग्रता (टोटैलिटी) की अवधारणा को मार्क्सवाद को केंद्र में प्रतिष्ठित करते हुए आर्थिक आधार की बुनियादी अवधारणा की उपेक्षा की।⁹⁰ इसके अतिरिक्त उन्होंने 'शांतिपूर्ण सह-अस्तित्व' की बात की जिसे 'कम्युनिस्ट लड़ाकूपन' से दूरी को देखा जा सकता है।⁹¹ नामवर सिंह अपने संपादकीय में स्पष्ट करते हैं कि उनकी पुस्तक 'इतिहास और वर्ग-चेतना' में "पूँजीवाद एक चेतना मात्र है उसी तरह मज़दूर वर्ग की इस सार्वभौम चेतना के उदय मात्र से पूँजीवाद समाप्त हो जाएगा।... लूकाच चेतना पर इतने निर्भर हैं कि उन्हें पूँजीवाद को खत्म करने के लिए मज़दूर वर्ग के किसी संगठन की आवश्यकता ही प्रतीत नहीं होती।"⁹² इसके अतिरिक्त नवांक-13 के साक्षात्कार में लूकाच ने शांतिपूर्ण "सह-अस्तित्व" को वर्ग-संघर्ष का एक नया रूप माना है।⁹³ यह "सह-अस्तित्व को दो संस्कृतियों के बीच निर्बाध संपर्क"⁹⁴ को कहते हैं। इन मान्यताओं से मार्क्सवादी चिंतन में नवीन मान्यताएँ विकसित हुईं। इससे अधिकांशतः नवमार्क्सवादी चिंतकों ने प्रेरणा ग्रहण की और मार्क्सवादी साहित्यिक समाजशास्त्र की पद्धति को विकसित किया।

नवांक-18 में ही निर्मला जैन का लेख 'शुद्ध साहित्यिक मूल्यों का प्रश्न' प्रकाशित हुआ है। इस लेख में साहित्यिक मूल्यों पर प्रश्नचिह्न लगाए गए हैं, और स्पष्ट किया गया है कि "साहित्य की समीक्षा में ऐसा कोई साहित्यिक मूल्य अब तक नहीं पाया गया जिसकी विशुद्धता प्रश्नातीत हो। पूरक मूल्यों के रूप में हमेशा साहित्येतर मूल्यों की सत्ता बनी है.... साहित्येतर मूल्यों की मान्यता देनेवाले सिद्धांत साहित्य को संपूर्ण मानवीय क्रियाकलाप के अंग के रूप में ग्रहण करते हैं।"⁹⁵ यदि ध्यान से देखें तो साहित्य का समाजशास्त्र भी साहित्यिक मूल्यों को मानवीय क्रियाकलाप के अंग के रूप में सामाजिक संबंधों में रखकर देखता है। इसी नवांक-18 में जेरेमी हाथार्न का लेख- 'कला कालजयी क्यों' प्रकाशित है। इसका अनुवाद गिरिधर राठी ने किया है। यह बहस एक शाश्वत बहस की तरह अब तक चली आ रही है कि 'कला कालजयी कैसे हो जाती है?' कला की महानता के

कारण क्या है? प्राचीन साहित्य आज भी हमें क्यों आकर्षित करता है? आदि प्रश्न साहित्य के समाजशास्त्रीय चिंतन के अंतर्गत उठाया जाता है। यह बहस हमें तेन, क्रिस्टोफर काडवेल, लूकाच, गोल्डमान आदि तक में दिखाई पड़ती है।⁹⁶

आलोचना का नवांक- 25 (अप्रैल-जून, 1973 ई.) साहित्य के समाजशास्त्रीय चिंतन के संदर्भ में महत्वपूर्ण अंक है। इस अंक में 'समाजशास्त्र' पर तीन निबंध प्रकाशित किए गए हैं। माल्कम ब्रेडबरी के लेख 'साहित्य और समाजशास्त्र' का अनुवाद जगदीश शर्मा ने किया है। माल्कम ब्रेडबरी के मतानुसार साहित्य के संश्लिष्ट अस्तित्व को समझने की दो मुख्य दृष्टियाँ हैं। "एक दृष्टि साहित्य को समाज में प्रेरणात्मक एवं सक्रिय शक्ति के रूप में देखती है जिसके अनुसार हम महान कला की शक्ति पर विश्व की व्याख्या और उसे समझने तथा उसके प्रभाव में कार्य करने की दृष्टि पर बल देते हैं। दूसरी दृष्टि इस समाज की अभिव्यक्ति के रूप में विशेषस्रोतों, विचारों एवं काल-विशेष के, समाज-विशेष की सामग्री से रूपायित एवं अनुकूलित वस्तु के रूप में देखती हैं। इसके अनुसार महान् लेखन के सामर्थ्य और स्रोत को युग और सामाजिक संरचना की मूलभूत शक्तियों के प्रतिभावन (रिसर्पोस) के रूप में देखा जा सकता है। हम साहित्य के अस्तित्व को मानकर चल सकते हैं और समाज के संबंध में उसके साक्ष्य को देख सकते हैं।"⁹⁷

इस प्रकार साहित्य के समाजशास्त्रीय चिंतन की दो दृष्टियाँ भी मूलतः साहित्य और समाज की संश्लिष्टता को ही केंद्र में रखती हैं। जिस प्रकार साहित्य की संश्लिष्ट प्रक्रिया की दो दृष्टियों का उल्लेख माल्कम ब्रेडबरी करते हैं, ठीक उसी प्रकार उन्होंने साहित्यिक समाजशास्त्र के अध्ययन की दो परंपराओं का भी उल्लेख करते हैं। "पहली परंपरा, इंग्लैंड में स्वच्छंदतावादियों (रोमैंटिसिज़्म) से प्राप्त होती है और आर्नल्ड, विलियम मोरिस से होती हुई टी. एस. इलियट, एफ.आर. लीविस और हाल ही में रिचर्ड हॉगार्ट और स्वयं विलियम्स तक आई है।... दूसरी परंपरा- जो अंग्रेजी पद्धति की अपेक्षा यूरोपीय थी, अमरीकी पद्धति ही अधिक है साहित्य के ऐतिहासिक अध्ययन की

वस्तुगत प्रणाली से संबंधित है- मादाम स्तेल और बाद में हिप्पोलाइट तेन इसके उदाहरण हैं।⁹⁸ इस प्रकार माल्कम ब्रेडबरी साहित्य के समाजशास्त्र की अध्ययन की दो परंपराओं का उल्लेख करते हैं और इस लेख में साहित्यिक समाजशास्त्र किस रूप में विकसित हो रहा उसकी गंभीरता से पड़ताल करते हैं उनके खतरों से भी आगाह करते हैं और किस क्षेत्र में कार्य करने की संभावना है उसे इस रूप में व्यक्त करते हैं “जिन क्षेत्रों में समाजशास्त्रीय पद्धतियाँ, वास्तविक सहायता दे सकती हैं अभी उपेक्षित हैं... आधुनिक लेखन की स्थिति, प्रकाशन की व्यावसायिक स्थितियों, आधुनिक पाठक समुदाय की रचना, गंभीर और लोकप्रिय साहित्य के बीच उभरते हुए संबंध तथा इनसे जुड़े बहुत-से विषयों पर ठोस कार्य प्रायः नहीं के बराबर हुआ”⁹⁹ इन पर साहित्यिक एवं साहित्य के समाजशास्त्रीय पद्धति से काम होना चाहिए।

इसी नवांक- 25 में रिचर्ड हागर्ट के लेख का अनुवाद ‘साहित्यिक कल्पना और समाजशास्त्रीय कल्पना’ शीर्षक से प्रकाशित है। इसका अनुवाद मैनेजर पांडेय ने किया है। इसी अंक में रेमंड विलियम्स का व्याख्यान जो कि लूसिएँ गोल्डमान की स्मृति में दिया गया है उसका अनुवाद ‘साहित्य और समाजशास्त्र’ शीर्षक से प्रकाशित है इसका अनुवाद रामकृपाल पांडे ने किया है। ध्यान देने योग्य तथ्य यह है कि लूसिएँ गोल्डमान स्वयं साहित्य के समाजशास्त्र में ‘उत्पत्तिमूलक संरचनावाद’ के प्रयोक्ता सिद्धांतकार हैं, और रेमंड विलियम्स भी मार्क्सवादी साहित्य समाजशास्त्र को गति प्रदान करने वाले साहित्यिक समाजशास्त्री हैं। इस व्याख्यान में उन्होंने अपनी मान्यताओं को भी स्पष्ट किया है। जार्ज लूकाच, और लूसिएँ गोल्डमान से अपनी वैचारिक संबंधों की पड़ताल करते हैं। रेमंड विलियम्स स्पष्ट करते हैं कि मार्क्सवादी चिंतन का ‘आधार और अधिरचना’ का स्वीकृति सूत्र “साधारण हाथों में पड़कर अतिशीर्ष ही ऊपरी ठाठ की एक ऐसी व्याख्या में परिवर्तित हो गया, जिसके अनुसार ऊपरी ठाठ सरल प्रतिच्छाया प्रतिबिंब और वैचारिक अभिव्यंजना मात्र होता है। यह सरलीकरण वास्तविक कृतित्व के लंबे अनुभव में सही नहीं सिद्ध होता।”¹⁰⁰ रेमंड विलियम्स

ने साहित्य-चिंतन के संदर्भ में सदैव ही इस 'आधार और अधिरचना की प्रतिबिंबवादी मान्यताओं का विरोध किया है ये संबंध अब रुढ़, स्थिर व सरलीकृत होकर रह गया है; जबकि रेमंड विलियम्स का मत है जार्ज लूकाच और लूसिँ गोल्डमान ने 'सचेतन परंपरा, तथा अपेक्षाकृत कम मौलिक अलगाव के भीतर काम कर रहे थे सक्रिय और विकसित मार्क्सवादी सिद्धांत की ओर।' ¹⁰¹ रेमंड विलियम्स ने अनुभूति की संरचना ¹⁰² की सैद्धांतिकी प्रतिपादित की। साहित्य के समाजशास्त्रीय चिंतन पद्धति को समृद्ध करने का कार्य किया। 'आलोचना' पत्रिका ने लूसिँ गोल्डमान की मृत्यु पर श्रद्धासुमन अर्पित करते हुए विशेष रूप से सामग्री प्रकाशित की। जैसे नवांक-20 (जनवरी-मार्च, 1972 ई.) में नामवर सिंह अपना संपादकीय लूसिँ गोल्डमान पर लिखते हैं और गोल्डमान का एक लेख का अनुवाद जो- 'साहित्य का समाजशास्त्र: इतिहास, वर्तमान स्थिति और पद्धतिमूलक समस्याएँ' शीर्षक से प्रकाशित है। इसके अनुवादक- कमलेश और एस. वेंकटराम हैं। इस अंक में गोल्डमान की साहित्य-सिद्धांत- 'उत्पत्तिमूलक संरचना और समग्रता' पर विचार किया गया है। इसके अतिरिक्त 'आलोचना' के नवांक-37 में लूसिँ गोल्डमान के एक लेख का अनुवाद 'द्वंद्वत्मक भौतिकवाद और साहित्यिक इतिहास' शीर्षक से प्रकाशित है। इसप्रकार 'आलोचना' में एक प्रमुख साहित्यिक समाजशास्त्री लूसिँ गोल्डमान पर प्रचुर सामग्री प्रकाशित है, इसे हम आसानी से देख सकते हैं; ठीक यही स्थिति जार्ज लूकाच की भी है और रेमंड विलियम्स की और उनकी मान्यताओं चिंतन-अध्ययन आदि पर भी उसी प्रकार से प्रचुरसामग्री हम देख सकते हैं। नवांक-31 में (अक्टू.-दिसं., 1974 ई.) रेमंड विलियम्स के एक लेख का अनुवाद-मैनेजर पांडेय ने किया है जो 'संस्कृति के मार्क्सवादी सिद्धांत के आधार और ऊपरी ढाँचे की सार्थकता' शीर्षक से प्रकाशित है। वहीं इस अंक के संपादकीय में भी रेमंड विलियम्स की मान्यताओं का स्पष्टीकरण है।

रेमंड विलियम्स की मृत्यु पर 'आलोचना' पत्रिका ने उनके व्यक्तित्व और कृतित्व पर मैनेजर पांडेय का एक लेख 'लंबी क्रांति पर लंबी बहस' शीर्षक से नवांक-87 (अक्टू.-दिसंबर-

1988 ई.) में प्रकाशित किया गया है। मैनेजर पांडेय ने बड़े ही मनोयोग से रेमंड विलियम्स के कृतित्व समग्रता में मूल्यांकन किया है।

‘आलोचना’ के नवांक-03 में ही नामवर सिंह, ग्राम्शी के अविस्मरणीय योगदान की चर्चा अपने संपादकीय में करते हैं। उनके योगदान को मार्क्सवादी चिंतन के सर्जनात्मक विकास के रूप में ही स्वीकार करते हैं। किंतु ग्राम्शी की मान्यताओं को साहित्य के समाजशास्त्र से जोड़ने का काम बच्चन सिंह ने ‘अंतोनियो ग्राम्शी और साहित्य का समाजशास्त्र’ शीर्षक लेख में किया है। यह लेख ‘आलोचना’ के नवांक-71 (अक्टू.- दिसं., 1984) में प्रकाशित है। बच्चन सिंह की मान्यता है कि “सांस्कृतिक आधिपत्य और नागरिक समाज (सिविल सोसायटी) को मद्देनज़र रखते हुए उसने जातीय-लोकप्रिय (नेशनल पापुलर कैटेगरी) सामानाधिकरण को सामने रखा। इस सामानाधिकरण का संबंध साहित्य के समाजशास्त्र से है।”¹⁰³ अपने लेख में बच्चन सिंह ग्राम्शी की साहित्य संबंधी मान्यताओं को प्रस्तुत करते हैं उन्होंने ‘हेगेमनी’ की अवधारणा पर उतना विचार नहीं किया है। इसकी पूर्ति नवांक- 87 (अक्टू.- दिसं., 1988) में अलखनारायण के लेख ‘हेगेमनी, आधार और अधिरचना: अंतोनियो ग्राम्शी की अवधारणाएँ’ शीर्षक लेख से होती हैं। बच्चन सिंह ने अंतोनियो ग्राम्शी को साहित्य के समाजशास्त्रीय चिंतक के रूप में स्वीकार किया है किंतु इस का मत खंडन मैनेजर पांडेय करते हैं कि ग्राम्शी को साहित्य या कला के समाजशास्त्र से नहीं जोड़ा जा सकता है क्योंकि “ग्राम्शी ने मार्क्सवाद को समाजशास्त्र बनाने और उसके आधार पर कला का समाजशास्त्र रचने के बुखारिन के प्रयास को समाजशास्त्रीय ढाँचे में ढालकर ग्राम्शी के साहित्य का समाजशास्त्र बढ़ने का कुछ लोगों का प्रयास विडंबनापूर्ण ही कहा जाएगा। विलियम्स व्यू बाएक होवर ने ऐसा ही प्रयास एक लेख में किया है जिसका लगभग अनुवाद बच्चन सिंह की पुस्तक ‘साहित्य के समाजशास्त्र और रूपवाद’ में मौजूद हैं”¹⁰⁴ बच्चन सिंह की पुस्तक में ‘आलोचना’ के नवांक-71 में प्रकाशित लेख को ही स्थान दिया गया है।

‘आलोचना’ के नवांक-21 (अप्रैल-जून 1972 ई.) में रूमानिया के लेखक एवं चिंतक मर्सिया मलिता के एक लेख का अनुवाद- ‘साहित्य की वर्तमान विधाओं का भविष्य’ शीर्षक से प्रकाशित है। यह लेख मुख्य रूप से पूँजीवादी के बढ़ते हुए चरण में साहित्य की विधाओं के भविष्य की चिंता की गई है।

हिंदी साहित्य का अध्ययन साहित्य के समाजशास्त्र की प्रवृत्ति के संदर्भ में किस प्रकार किया गया है, उसका विकास किस रूप में हुआ है वह भी ‘आलोचना’ पत्रिका के लेखों के माध्यम से देखा जा सकता है।

हिंदी में ‘साहित्य के समाजशास्त्र’ पर व्यवस्थित ढंग से काम करने वालों में से एक श्री पी.सी. जोशी हैं ‘आलोचना’ पत्रिका में उनके कई लेख इस संदर्भ में देखे जा सकते हैं- नवांक- 28 में प्रकाशित ‘भारत का वर्तमान संकट और उसके सांस्कृतिक आयाम’, नवांक- 42 में प्रकाशित उनका लेख ‘राष्ट्रीय विकास के सांस्कृतिक आयाम’ भी इस संदर्भ में महत्वपूर्ण है। पी.सी. जोशी का प्रेमचंद पर लिखा गया लेख ‘प्रेमचंद की अमरता के मूल स्रोत’ को इस साहित्यिक समाजशास्त्रीय पद्धति में महत्वपूर्ण योगदान के रूप में रेखांकित किया जाना चाहिए। जो ‘आलोचना’ के नवांक 51-52 जो कि प्रेमचंद विशेषांक (अक्तू.-दिसं. 1979, जन.-मार्च, 1980) है, उसमें संकलित है। राजेंद्र यादव का ‘चंद्रकांता’ उपन्यास पर लिखा गया लेख दयनीय महानता की दिलचस्प दास्तान: ‘चंद्रकांता’ जो नवांक-53 (अप्रैल-जून, 1980 ई.) में प्रकाशित है यह लेख साहित्य के समाजशास्त्रीय चिंतन पद्धति को ही उजागर करता है। जहाँ यह तो स्पष्ट है कि चंद्रकांता का महत्त्व सामाजिक जीवन में अत्यंत महत्त्व रखता था किंतु वह था दयनीय महानता की दिलचस्प दास्तान ही। किंतु उसकी महत्ता किस रूप में थी, उसे प्रदीप सक्सेना ने ‘यथार्थवाद के प्रथम उत्थान का महाकाव्य’ (नवांक- 76 जनवरी-मार्च, 1976 ई.) कहकर स्पष्ट किया और उन्होंने बताया कि यह महज दयनीय महानता की दिलचस्प दास्तान नहीं है बल्कि उसका एक साम्राज्यवाद-विरोधी

चरित्र है। प्रदीप सक्सेना का उक्त लेख नवांक-83 (अक्तू.-दिसं., 1987 ई.) में 'तिलिस्मी साहित्य का साम्राज्यवाद-विरोधी चरित्र' शीर्षक से प्रकाशित है। ध्यातव्य है कि यह मुख्यतः साहित्य के समाजशास्त्रीय चिंतन और मार्क्सवादी चिंतन के बीच का दृष्टि भेद है जिसे आगे के पृष्ठों में स्पष्ट किया गया है कि एक ही रचना में किसी को 'दयनीय महानता' दिखाई पड़ती है तो दूसरे चिंतन को उसमें साम्राज्यवाद विरोधी चरित्र दो विपरीत ध्रुव कैसे दिखाई पड़ता है। 'आलोचना' के नवांक-86 (जुलाई-सितं., 1988 ई.) समकालीन आलोचना पर एक परिसंवाद प्रकाशित हुआ है, जिसमें दो आलेख एक ही शीर्षक 'आलोचक का सामाजिक दायित्व' से प्रकाशित हुए हैं। खगेंद्र ठाकुर एवं विश्वनाथ त्रिपाठी द्वारा इन दोनों लेखों में आलोचक की सामाजिक जीवन में क्या भूमिका होती है इसे गंभीरता से तलाशने की कोशिश की गई है। जिसप्रकार लेखक साहित्य के समाजशास्त्रीय चिंतन के केंद्र में रहता है उसी प्रकार आलोचक साहित्यिक समाजशास्त्र के केंद्र में किस रूप में आता है यह भी हम इस परिसंवाद में देखते हैं। खगेंद्र ठाकुर स्पष्ट करते हैं कि "सामाजिक दायित्व का मतलब है समाज के भीतर काम करनेवाली शक्तियों के प्रति जवाबदेही।"¹⁰⁵ उनका मानना है कि "आलोचना का काम होता है: रचनाकार के सामाजिक लगाव अथवा उसकी रचना के सामाजिक स्रोत की खोज करना। इसी आधार पर हम कहना चाहते हैं कि आलोचक का बुनियादी दायित्व किसी रचनाकार या रचना के प्रति नहीं, पाठकों के प्रति भी नहीं, बल्कि संबद्ध सामाजिक शक्तियों के ऐतिहासिक ध्येय के प्रति है"¹⁰⁶ इस प्रकार खगेंद्र ठाकुर आलोचक का दायित्व सामाजिक शक्तियों और उसके संबंधों पर केंद्रित रखते हुए स्पष्ट करते हैं। साहित्य का समाजशास्त्र भी सामाजिक संबंधों की जटिलताओं को और उसमें रचनाकार आदि की भूमिका का भी पता लगाता है।

साहित्य के समाजशास्त्रीय चिंतन में 'लेखक' की भूमिका को अत्यंत महत्वपूर्ण माना गया है राबर्ट एस्कार्पिट ने लेखक के व्यक्तित्व एवं सामाजिक-राजनीतिक स्थितियों में उसकी स्थिति का

ही गंभीरता से विश्लेषण किया है।¹⁰⁷ साहित्यिक समाजशास्त्र के इस पक्ष को 'आलोचना' पत्रिका के अंकों में देखा जा सकता है। जिसमें लेखक की सामाजिक स्थिति, उसका समाज के प्रति दृष्टिकोण, विभिन्न सामाजिक संस्थाओं से उसका संबंध, रचना में उसके व्यक्तित्व के प्रतिबिंबन आदि को 'आलोचना' में प्रकाशित कई लेखों में देखा सकता है। जैसे- नवांक-7 में यशदेव शल्य का लेख 'लेखक की पराजय', नवांक-17 में वाल्टर बेंजामिन का लेख 'लेखक उत्पादक के रूप में' नवांक-30 में विश्वनाथ प्रसाद तिवारी का लेख 'लेखक का रचना-दायित्व और जनसंघर्ष में उसकी सक्रिय भूमिका', नवांक-37 में प्रकाशित आरिगपूडि का लेख 'लेखक का दायित्व', नवांक 91 में प्रकाशित मिशेल फूको के एक लेख का अनुवाद 'लेखक क्या होता है?' आदि कुछ महत्वपूर्ण लेख हैं जिसमें 'लेखक' को ही में रखकर लिखा गया है। इसके अतिरिक्त नवांक-44 में 'भारतीय लोकतंत्र में लेखक की स्थिति' पर एक विशेष प्रतिक्रिया प्रकाशित की गई है जिसमें मैनेजर पांडेय ने 'लेखक और लोकतंत्र' शीर्षक से अपने मत व्यक्त किए हैं वहीं माहेश्वर ने 'बुर्जुआ लोकतंत्र और अभिव्यक्ति-संकट' शीर्षक लेख में लेखक के अभिव्यक्ति-संकट पर विचार किया है। यह विशेष सामग्री आपातकाल के तुरंत बाद प्रकाशित की गई है।

'आलोचना' के साहित्य की समाजशास्त्रीय चिंतन पद्धति की प्रस्तावना का प्रतिफल है- आलोचना के नवांक-71 (अक्टू.-दिस., 1984) में प्रकाशित 'प्रेमशंकर का लेख 'कविता का समाजशास्त्र'। स्पष्ट है कि साहित्य का समाजशास्त्रीय चिंतन ने 'कविता के समाजशास्त्र' की पड़ताल को अनिवार्य बना दिया है। इस संदर्भ में 'आलोचना' पत्रिका के नवांक- 84 (जनवरी-मार्च, 1988) में आर.ए. संजीव का लेख 'क्या साहित्य का समाजशास्त्र संभव है?' शीर्षक से प्रकाशित है। यह लेख वास्तव में साहित्य के समाजशास्त्र की प्रस्तावना के व्यापक आधार पर सामान्य जानकारी अवश्य देता है, किंतु यह लेख 'आलोचना' द्वारा प्रवर्तित एवं प्रस्तावित 'साहित्य के समाजशास्त्र' की भूमिका पर प्रश्नचिह्न भी लगाता है कि जिस 'आलोचना' पत्रिका और उसके

संपादक नामवर सिंह ने अपने संपादन के प्रारंभ से ही इस 'प्रवृत्ति' को विकसित कर रहे थे उसे हिंदी आलोचना में एक विद्या के रूप में विकसित किया था- फिर इस लेख का क्या मतलब है कि 'क्या साहित्य का समाजशास्त्र संभव है?' वस्तुतः 'आलोचना' पत्रिका में प्रकाशित यह साहित्य के समाजशास्त्र के स्वरूप को सामान्यरूप में स्पष्ट करने के संदर्भ में ही देखा जा सकता है। इसी संदर्भ में 'आलोचना' के नवांक-88 (जनवरी-मार्च, 1989 ई.) में प्रकाशित वीरेंद्र सिंह का लेख 'अंतरशास्त्रीय आलोचना की प्रस्तावना' भी दृष्टव्य है। वस्तुतः यह लेख अंतरशास्त्रीय आलोचना कहने से समाजशास्त्रीय साहित्य पद्धति का ही बोध कराता है, जबकि वस्तुस्थिति यह है कि साहित्य का समाजशास्त्र इसकी तुलना में कहीं अधिक व्यापक एवं सैद्धांतिक दृष्टि से सुस्पष्ट साहित्य की अध्ययन पद्धति है। उपर्युक्त लेखों, निबंधों, शोधालेखों में साहित्य के समाजशास्त्र की जिस दृष्टि का सबसे सबल पक्ष 'आलोचना' पत्रिका में दिखाई पड़ता है वह है-मार्क्सवादी चिंतन धारा से प्रेरित 'साहित्य की समाजशास्त्रीय चिंतन पद्धति'।

ध्यान देने की बात है कि साहित्य के समाजशास्त्रीय चिंतन की अनेक दृष्टियाँ हैं जिनकी पीछे चर्चा की जा चुकी है उसमें से एक प्रमुख धारा 'आलोचनात्मक समाजशास्त्र' की है जिसके प्रवक्ता 'लिओ लावेंथल' हैं, उन पर 'आलोचना' पत्रिका के किसी भी अंक में कोई सामग्री प्रकाशित नहीं है। दूसरी तरफ विधेयवादी पद्धति का विरोध हमें प्रायः सभी लेखों में मिल जाता है- साहित्य और समाज के संबंधों को प्रतिबिंबवादी माध्यम से समझने-समझाने की कोशिश को ग़लत दृष्टि समझा गया है- जिसकी समीक्षा होना अत्यावश्यक है। यह अलग बात है कि किसी विशेषकाल में कभी उसके माध्यम से ही साहित्य का समाजशास्त्रीय चिंतन प्रकाश में आया। यह प्रश्न उठता है कि जिस 'आलोचना' पत्रिका ने मार्क्सवादी चिंतन-धारा से प्रेरित साहित्य का समाजशास्त्र विकसित किया है उसे 'साहित्यिक समाजशास्त्र' क्यों कहा जाए-क्यों नहीं उसे मार्क्सवादी आलोचना कहा जाए?? यदि ध्यान दिया जाए तो यह स्पष्ट होगा कि जो साहित्य के समाजशास्त्र की मार्क्सवादी

धारा के प्रणेता चिंतक हैं उन्हें मार्क्सवादी चिंतक तो कहा जाता है किंतु उन्हें उस रूप में मार्क्सवादी चिंतक नहीं माना जाता जिस रूप में एंगेल्स, लेनिन, काडवेल, रॉल्फ फाक्स, हेनरी बारबूस, गोर्की, ब्रेख्त आदि को मार्क्सवादी चिंतक माना है। ध्यान देने की बात है कि जार्ज लूकाच, रेमंड विलियम्स, लूसिऐ गोल्डमान आदि मार्क्सवादी चिंतन की मूल स्थापनाओं से ही मतभेद रखते हैं। इन्हें मार्क्सवादी चिंतन-पद्धतियों पर आक्रमणकर्ता, नवहिगेलवादी आदि के रूप में देखा गया है। क्योंकि इन तीनों विचारकों ने ऐतिहासिक भौतिकवाद, वर्ग-संघर्ष की मान्यताओं को प्रश्नांकित करना शुरू किया था।¹⁰⁸ यदि जार्ज लूकाच की मान्यताओं का एक बार पुनः अवगाहन करें तो स्पष्ट होगा कि लूकाच वर्ग-संघर्ष के स्थान पर 'शांतिपूर्ण सह-अस्तित्व'¹⁰⁹ को अधिक श्रेयकर समझते हैं। और शांतिपूर्ण "सह-अस्तित्व को वर्ग-संघर्ष का एक नया रूप मानते हैं।"¹¹⁰ और "सह-अस्तित्व को दो संस्कृतियों के बीच निर्बाध संपर्क"¹¹¹ कहते हैं "उन्होंने मार्क्सवाद को मूल प्रकृति और समाज दोनों का समग्र सिद्धांत न मानकर केवल समाज का सिद्धांत माना... समग्रता (टोटैलिटी) की अवधारणा को मार्क्सवाद के केन्द्र में प्रतिष्ठित करते हुए आर्थिक आधार की बुनियादी अवधारणा की उपेक्षा की।"¹¹² शांतिपूर्ण अस्तित्व के कारण कम्युनिस्ट लड़ाकूपन से दूरी बनाए रहे।¹¹³ साथ ही यह मानते रहे कि "पूँजीवादी को खत्म करने के लिए मजदूर वर्ग के किसी संगठन की आवश्यकता ही प्रतीत नहीं होती।"¹¹⁴ इसीप्रकार लूसिऐ गोल्डमान संरचनावादी पद्धति को अपनाकर 'उत्पत्तिमूलक संरचनावाद'¹¹⁵ की अवधारणा प्रस्तुत करते हैं वहीं रेमंड विलियम्स मार्क्स की आधार और अधिरचना के स्वीकृत सूत्र का कड़ा विरोध करते हैं।¹¹⁶ इस प्रकार ये चिंतक 'सदोष मार्क्सवादी के रूप में ख्यात रहे हैं इनकी मान्यताओं में वर्ग-संघर्ष की भूमिका नितांत अभाव है। व्यवस्था की शोषणकारी प्रवृत्ति पर ये विद्वान 'शांतिपूर्ण सह-अस्तित्व' की बात करते हैं जबकि "मार्क्सवाद का उद्देश्य इसके ठीक विपरीत शोषक-व्यवस्था को समाप्त कर एक शोषण-मुक्त समाज-व्यवस्था का निर्माण करना है।"¹¹⁷ इसके अतिरिक्त "मार्क्सवाद समाज और मानव-व्यवहार को केवल समझने

और व्याख्या करने का ही दर्शन नहीं है उसका प्रयोजन समाज और मनुष्य को बदलना भी है। साहित्य सामाजिक बदलाव की प्रक्रिया में सहायक होता है इसीलिए मार्क्सवादी साहित्य चिंतन सामाजिक बदलाव, समाज के क्रांतिकारी परिवर्तन के प्रसंग में साहित्य की सार्थकता की परख व पहचान विकसित करता है।¹¹⁸ स्पष्ट है कि जार्ज लूकाच लूसिऐं गोल्डमान और रेमंड विलियम्स आदि ने जो मार्क्सवाद विकसित किया वह मार्क्सवाद क्रांतिकारिता युक्त न होकर उसे दंतहीन अर्थात् क्रांतिविहीन समाजशास्त्रीय सिद्धांत के रूप में विकसित किया। अब जब वह, मार्क्सवाद स्थूल समाजशास्त्रीय चिंतन ही रह जाता है तो उस पर बात करना, उसे स्वीकार करना उतना ही सहज हो जाता है। यह भी ध्यान देने योग्य तथ्य है कि मार्क्सवादी चिंतन पद्धति में गिरावट देखी गयी है, वहाँ नवमार्क्सवादी चिंतनधारा-जो जार्ज लूकाच आदि द्वारा निर्मित है- से प्रेरित साहित्य की समाजशास्त्र पद्धति को उतने ही जोर-शोर से अपनाया गया है। स्पष्ट है कि यहाँ क्रांति या वर्ग-संघर्ष की सैद्धांतिकी के रूप में देखा जा सकता है। सामाजिक परिवर्तन के कारक के रूप में नहीं। यही कारण है कि “ग्राम्शी ने मार्क्सवाद को समाजशास्त्र बनाने और उसके आधार पर कला का समाजशास्त्र रचने के बुखारिन के प्रयास की¹¹⁹ जमकर आलोचना की है। बच्चन सिंह की मान्यता है कि “जिस तरह मार्क्सवादी समाजशास्त्र के समानांतर एक दूसरा समाजशास्त्र (मुख्यतः अमरीकी) विकसित हो रहा है, उसी तरह मार्क्सवादी आलोचना के समानांतर ‘साहित्य का समाजशास्त्र’ प्रस्तुत किया जाता रहा है”¹²⁰ इस संदर्भ में जब आशुतोष कुमार यह कहते हैं कि “अंग्रेजी नई समीक्षा, पश्चिमी मार्क्सवाद और उत्तर आधुनिकतावादी चिंतन के बीच निरंतरता है और... मार्क्सवादी आलोचना की इस दूसरी परंपरा का उत्तर आधुनिक चिंतन से घनिष्ठ संबंध है।”¹²¹ तो पश्चिमी मार्क्सवादी चिंतकों द्वारा साहित्य के समाजशास्त्रीय चिंतन को प्रस्तावित करने के पीछे की स्थितियों का परिज्ञान स्पष्ट हो जाता है। आशुतोष कुमार जिस निरंतरता को पश्चिम की मार्क्सवादी आलोचना और उत्तर आधुनिकतावादी चिंतन में देखते हैं और उसकी परिणति हिंदी

की मार्क्सवादी आलोचना और उत्तर आधुनिक चिंतन में देखते हैं। आकस्मिक नहीं कि उसकी पुष्टि 'आलोचना' पत्रिका की साहित्य के समाजशास्त्रीय चिंतन की परिणति में देखी जा सकती है। जब नवांक-68 (जनवरी-मार्च, 1984 ई.) में सुरेश ह. जोशी के लेख का अनुवाद 'आधुनिकता और उत्तर आधुनिकता' शीर्षक से प्रकाशित देखते हैं। इस लेख के अतिरिक्त 'आलोचना' के नवांक-78 (जुलाई-सितं., 1986) में 'राजनाथ' का लेख 'नई समीक्षा और विच्छेदनवाद: भाषा और साहित्य के प्रश्न' प्रकाशित हैं। पुनः राजनाथ जी का एक लेख 'पाठकवादी समीक्षा की समीक्षा' शीर्षक से नवांक-84 (जनवरी-मार्च-1988 ई.) में प्रकाशित है जिसका रूप नवांक- 91 में प्रकाशित 'मिशेल फूकों का लेख- 'लेखक क्या होता है?' में हमें दिखाई पड़ता है। इस लेखों के प्रकाशित करने एवं और पश्चिमी चिंतन की अधुनातन प्रवृत्तियों को हिंदी में पहले-पहल प्रस्तुत करने को श्रेय लेते हुए जब 'आलोचना' के संपादक 'नामवर सिंह सगर्व यह कहते हैं कि "आजकल उत्तर आधुनिकता का बहुत हल्ला है लेकिन 'आलोचना' में बहुत पहले 'विच्छेदनवाद' जिसको अंग्रेजी में डिकांस्ट्रेशन कहते हैं पर मैंने कई लेख छापे। सुरेश जोशी जो गुजराती के महत्त्वपूर्ण कवि और आलोचक हैं उनका 'आधुनिकता और उत्तर आधुनिकता' लेख मैंने सन् 84 में छपा था।"¹²² तो उससे इस अंग्रेजी नई समीक्षा और पश्चिमी मार्क्सवाद और उत्तर आधुनिकतावादी चिंतन के बीच एक निरंतरता है' वाली धारणा की ही पुष्टि होती है। और यहीं हम उन दृष्टियों में भेद कर सकते हैं जो 'साहित्य के समाजशास्त्रीय चिंतन' और 'मार्क्सवादी चिंतन पद्धति' में लक्षित होता है और यही वह अंतर है जो चंद्रकांता' उपन्यास के मूल्यांकन के संबंध में भी विद्यमान है, जिसमें समाजशास्त्रीय पद्धति से मूल्यांकन करने पर एक कथा-आलोचक उसे 'दयनीय महानता की दिलचस्प दास्तान' कहता है, और एक मार्क्सवादी आलोचक अपने निष्कर्षों में उसे 'यथार्थवाद के प्रथम उत्थान का महाकाव्य' कहता है उसके 'साम्राज्यवाद विरोधी चरित्र' को उजागर करता है।¹²³

'आलोचना' पत्रिका साहित्य के समाजशास्त्र की प्रस्तावना का महत्त्व इस बात में है कि

इससे साहित्य की साहित्यिकता की पहचान साहित्येतर संबंधों के बीच कर उसकी स्वायत्तता को बरकरार रखते हुए की जा सके। साहित्य को जकड़बंद खोल से मुक्तकर उसके अन्य आयामों को उद्घाटित किया जा सके। 'आलोचना' पत्रिका द्वारा इस कार्य का महत्त्व इस बात में भी है कि यह साहित्य के समाजशास्त्र के बहाने "साहित्य की सामाजिकता पर बल देता है।"¹²⁴ रूपवादी-कलावादी साहित्य चिंतन से कई स्तरों पर टकराता है। इसलिए "नए पुराने देशी-विदेशी रूपवादी-कलावादी साहित्य चिंतन से साहित्य का समाजशास्त्र अधिक उपयोगी है।"¹²⁵ इस संदर्भ में 'आलोचना' पत्रिका और नामवर सिंह के हिंदी आलोचना की महत्त्वपूर्ण देन और उपलब्धि की ही जाएगी। इस प्रकार 'आलोचना' पत्रिका ने जार्ज लूकाच, रेमंड विलियम्स, लूसिएँ गोल्डमान की रचनाओं लेखों आदि का और उनकी मान्यताओं पर केंद्रित लेख, साक्षात्कार आदि को प्रकाशित कर हिंदी आलोचना जगत को न केवल इनसे परिचित कराया, बल्कि हिंदी आलोचना में साहित्य के समाजशास्त्र की एक बुनियाद डाली। और मार्क्सवादी चिंतन पद्धति की नई मान्यताओं नवीन बहसों से भी परिचित कराया।

1.4 हिंदी नवजागरण की संकल्पना पर बहस

बीसवीं शती के आठवें दशक की हिंदी आलोचना में साहित्य-इतिहास और संस्कृति संबंधी मुद्दे पर जो सबसे तीव्र बहस हुई, वह 'नवजागरण संबंधी संकल्पना को लेकर चली है। इतिहास और सांस्कृतिक धरातल पर केंद्रित होने के कारण यह महज साहित्यिक अवधारणा अथवा संकल्पना भर नहीं है, इसका संबंध भारतीय राजनीति में आकार ग्रहण करनेवाली एक 'विशेष राजनीति' से भी है, जिसका उभार आठवें दशक के बाद हमें दिखाई पड़ता है।

ध्यातव्य है कि हिंदी प्रदेश¹²⁶ में 1857 की महाक्रांति के बाद और भारतेंदुयुगीन हिंदी समाज और साहित्य में जो परिवर्तन देखा गया उसे " 'नवजागरण' नाम देने का श्रेय हिंदी में डॉ० रामविलास शर्मा को है। 'महावीरप्रसाद द्विवेदी और हिंदी नवजागरण' (1977) नामक पुस्तक के

द्वारा उन्होंने 'नवजागरण' ही नहीं बल्कि 'हिंदी नवजागरण' की संकल्पना प्रस्तुत की।¹²⁷ डॉ० रामविलास शर्मा की यह संकल्पना सर्वप्रथम 'आलोचना' पत्रिका के माध्यम से ही हिंदी बुद्धिजीवी और पाठक वर्ग तक पहुँची थी। 'आलोचना' के नवांक-40 (जन.-मार्च, 1977) में ही डॉ० रामविलास शर्मा का 'महावीरप्रसाद द्विवेदी और हिंदी नवजागरण' शीर्षक शोधपरक लेख पहले-पहल प्रकाशित हुआ था। 'आलोचना' पत्रिका में जब यह लेख प्रकाशित हुआ था उस पर यह पाद टिप्पणी "लेखक की शीघ्र ही प्रकाशित होने वाली पुस्तक 'महावीरप्रसाद द्विवेदी और हिंदी नवजागरण' की भूमिका तथा प्रथम अध्याय का आरंभिक अंश"¹²⁸ प्रकाशित है। नामवर सिंह को 'हिंदी नवजागरण' की संकल्पना की चर्चा करते हुए रामविलास शर्मा की उक्त 'पुस्तक' की तो याद आई उन्हें यह तथ्य बिल्कुल भूल गया कि 'यह लेख सर्वप्रथम उन्हीं के संपादन में पहले-पहल प्रकाशित हो चुका है। इतना ही नहीं इसी पुस्तक के एक बड़े अध्याय का अंश- 'हिंदी की जातीय पत्रिका: सरस्वती' भी 'आलोचना' के नवांक-41 (अप्रैल-जून, 1977) में ही पहले पहल प्रकाशित हुआ। जिसका परिवर्द्धित और परिष्कृत रूप उक्त पुस्तक में दिखाई पड़ता है। नामवर सिंह द्वारा इन लेखों की याद न आने के अपने कारण हैं जिनका गहरा संबंध इस संकल्पना संबंधी बहस के दबाव में दिखायी पड़ता है। इससे स्पष्ट है कि 'हिंदी नवजागरण' की संकल्पना से पाठकों को पहलीबार परिचित कराने में 'आलोचना' पत्रिका की महत्वपूर्ण नेतृत्वकारी भूमिका रही है। इसलिए 'आलोचना' पत्रिका को 19 वीं शती के उत्तरार्द्ध व 20 वीं शती के पूर्वार्द्ध को समझने के लिए हिंदी नवजागरण जैसे पदबंध और उसकी संकल्पना को बहस के एक प्रमुख मुद्दे के रूप में स्थापित करने का श्रेय दिया जाना चाहिए।

डॉ० रामविलास शर्मा की हिंदी नवजागरण की संकल्पना के कुछ प्रमुख सूत्र इस प्रकार हैं

"हिंदी प्रदेश में नवजागरण 1857 ई. के स्वाधीनता-संग्राम से शुरू होता है।"¹²⁹ रामविलास शर्मा की हिंदी नवजागरण की संकल्पना में 1857 ई. की महाक्रांति प्रस्थान बिंदु है, जहाँ से पूरे

नवजागरण का सैद्धांतिक विकास हुआ है। 1857 का महत्व रेखांकित करते हुए वह कहते हैं कि 'ग़दर, सन् 57 का स्वाधीनता-संग्राम हिंदी प्रदेश के नवजागरण की पहली मंज़िल है। दूसरी मंज़िल भारतेन्दु हरिश्चंद्र का युग है।'¹³⁰ क्योंकि 'भारतेन्दु युग का साहित्य व्यापक स्तर पर ग़दर से प्रभावित है, इसका पहला प्रमाण यह है कि इस साहित्य में किसानों को लक्ष्य करके उन्हें संगठित और आंदोलित करने की दृष्टि से जितना गद्य-पद्य लिखा गया है, उतना दूसरी भारतीय भाषाओं में नहीं लिखा गया।'¹³¹ उनके मत से इस नवजागरण का विकास भी हम देख सकते हैं इसीलिए 'हिंदी नवजागरण का तीसरा चरण महावीरप्रसाद द्विवेदी और उनके सहयोगियों का कार्यकाल है। सन् 1900 में 'सरस्वती' का प्रकाशन आरंभ हुआ और 1920 ई. में द्विवेदी जी उससे अलग हुए। इन दो दशकों की अवधि को द्विवेदी-युग कहा जा सकता है। इस युग की सही पहचान तभी हो सकती है जब हम एक तरफ ग़दर और भारतेन्दु से उसका संबंध पहचानें, और दूसरी तरफ छायावादी युग, विशेष रूप से निराला के साहित्य से उसके संबंध पर ध्यान दें'¹³² डॉ० रामविलास शर्मा के मतानुसार 'भारतीय नवजागरण और हिंदी नवजागरण एशियाई नवजागरण का अंग है'¹³³ उनके मत से 'हिंदी नवजागरण की कुछ अपनी विशेषताएँ हैं।'¹³⁴ और उसकी अपनी विशेषताएँ ही उसे बंगाल और गुजरात की स्थितियों से अलग करती हैं।¹³⁵ इसके अतिरिक्त रामविलास जी की हिंदी नवजागरण संबंधी अन्य मान्यताएँ भी हैं, जैसे यह कि 'नवजागरण की प्रक्रिया जनजागरणों की देन है' और जनजागरणों की 'शुरुआत तब होती है जब यहाँ बोल-चाल की भाषाओं में साहित्य रचा जाने लगता है। जब यहाँ के विभिन्न प्रदेशों में आधुनिक जातियों का गठन होता है।' यह सामंत विरोधी जनजागरण है। यह हुआ पहला विशिष्ट दौर। 'भारत में अंग्रेज़ीराज्य कायम करने के सिलसिले में पलासी की लड़ाई से 1857 के स्वाधीनता संग्राम तक जो युद्ध हुए वे जनजागरण के दूसरे दौर के अंतर्गत है।' यह पहले दौर से भिन्न है। मुख्य लड़ाई विदेशी शत्रु से है यह साम्राज्य विरोधी जनजागरण है भारतेन्दु युग इस जागरण से जुड़ा हुआ है।' 'जिस सामाजिक इकाई में

नवजागरण के कार्य संपन्न होते हैं उसे हम जाति की संज्ञा देते हैं।¹³⁶ इस प्रकार रामविलास शर्मा की नवजागरण की अवधारणा में 'जाति-जातीय चेतना' की अवधारणा भी सम्मिलित है और उसके संबंध का आधार भाषाई है। अतः नवजागरण 'हिंदी जाति' के सतत संघर्षों का परिणाम है।¹ ये कुछ सूत्र डॉ० रामविलास शर्मा द्वारा संकल्पित हिंदी नवजागरण के चिंतन के अंग हैं। अपनी संकल्पना को वे 'भारतेंदु हरिश्चंद्र और हिंदी नवजागरण की समस्याएँ' (1984) पुस्तक में और भी जोरदार ढंग से प्रस्तुत करते हैं।

किंतु अचरज में डालनेवाली बात यह है कि डॉ० रामविलास शर्मा की मान्यताओं को शुरू-शुरू में गंभीरता से नहीं लिया गया। क्योंकि डॉ० रामविलास शर्मा का लेख 'महावीरप्रसाद द्विवेदी और हिंदी नवजागरण' 'आलोचना' के जिस अंक में प्रकाशित है, उसके संपादक स्वयं नामवर सिंह है। और ध्यान देने की बात है कि उसी अंक 40 में न कोई संपादकीय ही प्रकाशित है और न ही कोई 'संपादकीय टिप्पणी' ही देखने को मिलती है। यहाँ तक कि नामवर सिंह 'आलोचना' के नवांक-66 (जुलाई-सितं., 1983 ई.) में चंद्रधरशर्मा गुलेरी के जन्मशताब्दी वर्ष के उपलक्ष्य में संपादकीय का शीर्षक 'चंद्रधरशर्मा गुलेरी और हिंदी नवजागरण' रखते हैं इस पूरे संपादकीय में कहीं भी डॉ० रामविलास शर्मा की नवजागरण संबंधी मान्यताओं से असहमति नहीं देखी जा सकती है, बल्कि इस संपादकीय में हिंदी नवजागरण की अवधारणा का विकास करने का प्रयास 'लोक और शास्त्र के संगम' की एक अन्य धारा को जोड़कर किया गया है। नामवर सिंह इस अंक के संपादकीय में लिखते हैं कि "लोक और शास्त्र के इसी संगम से पंडित चंद्रधरशर्मा गुलेरी ने हिंदी नवजागरण का शंख फूँका था। साथ देने वाले स्वर और भी थे-मुखर भी और महत्वपूर्ण भी पर उनमें सबसे दूरगामी, सबसे आकर्षक और सबसे हृदय स्वर गुलेरीजी का ही था।"¹³⁷ ध्यान देने की बात है कि नामवर सिंह चंद्रधर शर्मा गुलेरी को हिंदी नवजागरण के अग्रदूत के रूप स्थापित करते हैं। इसमें 'हिंदी नवजागरण' पदबंध की प्रकारांतर से स्वीकृति भी देखी जा

सकती है। इस अंक तक इस संबंध पर उनकी कोई आपत्ति नहीं दिखाई पड़ती हैं। यह भी स्पष्ट है कि जब चंद्रधर शर्मा गुलेरी को नवजागरण के अग्रदूत के रूप में चिह्नित करते हैं तो उनकी दृष्टि में आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी अवश्य रहे होंगे। इसी के साथ यह देखा जा सकता है कि नामवर सिंह की हिंदी नवजागरण की अवधारणा में -जिसमें लोक और शास्त्र का संगम-की केंद्रीयता है और उस अवधारणा के अनुसार उसका विकास वह नागार्जुन, आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, राहुल सांकृत्यायन व मनोहरश्याम जोशी तक की परंपरा में देखते हैं। इस प्रकार नामवर सिंह इस हिंदी नवजागरण की अवधारणा का विकास करते हुए देखे जा सकते हैं।

डॉ० रामविलास शर्मा की हिंदी नवजागरण की संकल्पना से उनका मतभेद सन् 1985-86 ई. से देखा जा सकता है। चूँकि, यह वर्ष हिंदी के दो लेखकों को शताब्दी वर्ष के रूप में मनाया जा रहा था। एक, 1985- भारतेंदु हरिश्चंद्र की सौवीं पुण्यतिथि के रूप में एवं राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त की जन्मशताब्दी वर्ष के रूप में दोनों रचनाकारों में एक (भारतेंदु हरिश्चंद्र) हिंदी नवजागरण के अग्रदूत हैं तो दूसरा (मैथिलीशरण गुप्त) हिंदी नवजागरण की अप्रतिम देन। नामवर सिंह का मानना है कि दोनों महानुभावों के अप्रतिम योगदान पर चर्चा-परिचर्चा के दौरान “उन्नीसवीं सदी के जिस नवजागरण की तस्वीर पेश की जा रही थी वह दरअसल हिंदू नवजागरण था। यह बात राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त की जन्मशती के संदर्भ में अनेक विद्वानों द्वारा दोहराई गई। यह बात बड़ी विचित्र लगी कि इतने वर्षों बाद आज इस माहौल में लेखकों का एक खासा समुदाय उन्नीसवीं सदी के नवजागरण को हिंदू नवजागरण के रूप में स्थापित कर रहा है और यह दिखाने की कोशिश कर रहा है कि प्राचीन हिंदू या वैदिक भारत के पुनरुत्थान के द्वारा ही हम नए युग में प्रवेश कर सकते हैं।”¹³⁸ स्पष्ट है कि नामवर सिंह इन घटनाओं के उपरांत ही ‘हिंदी नवजागरण की अवधारणा’ की पड़ताल करते हुए देखे जा सकते हैं और इसी पड़ताल का प्रतिफल है, ‘आलोचना’ का नवांक-79 (अक्तू.-दिसं., 1986 ई.) और उसकी संपादकीय ‘हिंदी नवजागरण की समस्याएँ’।

गौरतलब है कि 'आलोचना' का नवांक-79, भारतेन्दु हरिश्चंद्र और मैथिलीशरण गुप्त की शताब्दी वर्ष के उपलक्ष्य पर केंद्रित अंक है और उनके मूल्यांकन का संदर्भ 'हिंदी नवजागरण' की संकल्पना ही है। वस्तुतः 'आलोचना' का नवांक-79 ही वह अंक है जहाँ से डॉ० रामविलास शर्मा की 'हिंदी नवजागरण की संकल्पना' से से उनका मतभेद शुरू होता देखा जा सकता है। नामवर सिंह अपने वक्तव्य में हिंदी नवजागरण की संकल्पना प्रस्तुत करने का श्रेय डॉ० शर्मा को देते हुए कहते हैं कि "भारतेन्दु हरिश्चंद्र के उदय के साथ हिंदी में एक नए युग का आरंभ हुआ, यह मान्यता तो बहुत पहले से प्रचलित रही है, किंतु इस नए युग को 'नवजागरण' नाम देने का श्रेय हिंदी में डॉ० रामविलास शर्मा को है... उन्होंने 'नवजागरण' ही नहीं बल्कि 'हिंदी नवजागरण' की संकल्पना प्रस्तुत की।"¹³⁹ नामवर सिंह कहते हैं कि शर्मा जी के 'नवजागरण' शब्दबंध का "तात्पर्य संभवतः 'रिनेसांस' से है"¹⁴⁰ और बंगला नवजागरण की महान विभूति बंकिमचंद्र चट्टोपाध्याय की दृष्टि को उल्लिखित करते हुए कहते हैं कि उनकी दृष्टि में "रिनेसांस पंद्रहवीं शताब्दी के भारत का सांस्कृतिक जागरण था।"¹⁴¹ इसप्रकार "यूरोप के रिनेसांस के समान भारत में भी पंद्रहवीं शताब्दी में नवजागरण की लहर उठी थी। सामान्यतः इसे अपने यहाँ भक्ति आंदोलन कहा जाता है। सवाल यह है कि 'रिनेसांस' किसे कहा जाए- पंद्रहवीं शताब्दी के भक्ति आंदोलन को या उन्नीसवीं शताब्दी के सांस्कृतिक नवजागरण को?"¹⁴² इस संदर्भ में नामवर सिंह यह प्रश्न करते हैं "भारत का उन्नीसवीं शताब्दी का सांस्कृतिक नवजागरण 'रिनेसांस' था तो पंद्रहवीं शताब्दी का सांस्कृतिक नवजागरण क्या था?"¹⁴³ इस प्रकार 'नवजागरण' शब्दबंध का आशय क्या लिया जाए- क्या उसे 'रिनेसांस' कहा जाए जिसकी संभावना नामवर सिंह संपादकीय में व्यक्त करते हैं। या उसे "पुनरुज्जीवन, पुनरुन्नयन, पुनर्जीवीकरण, पुनरुत्थान, नवप्रभात, पुनरोदय, लोकजागरण, पुनर्जागरण एवं नवजागरण संज्ञाएं तो प्रचलित हैं ही, रिनेसांस, रिजरेक्शन, रिवाइवलिज्म, अवेकनिंग और एनलाइटेनमेंट,"¹⁴⁴ आदि में से कौन-सा अर्थ ग्रहण किया जाए?? इस संदर्भ में भारतीय नवजागरण के अध्येता-आलोचक

प्रदीप सक्सेना ने पत्राचार द्वारा डॉ० रामविलास शर्मा से यह प्रश्न किया कि 'आप' 'नवजागरण' को अंग्रेजी के किस शब्द के समानांतर या पर्याय के रूप में रखकर देखते हैं।' इसके प्रत्युत्तर में डॉ० रामविलास शर्मा ने कहा है- "अंग्रेजी के किसी शब्द के नहीं।"¹⁴⁵ इसीलिए नामवर सिंह स्पष्ट करते हैं कि 'उन्नीसवीं शताब्दी के भारतीय नवजागरण को 'रिनेसांस' कहना ज्यादा ठीक नहीं, क्योंकि इस काल के नए युग के उत्थान में सक्रिय विचारकों एवं अग्रदूतों के प्रेरणास्रोत पंद्रहवीं शताब्दी के चिंतक एवं रचनाकार न होकर 'रिनेसांस' के बाद के एनलाइटनेमेंट का काल था उसके चिंतक एवं रचनाकार थे।'¹⁴⁶ इसीलिए यहाँ भ्रम न बना रहे कि 'रिनेसांस' किसे कहें, इसलिए डॉ० रामविलास शर्मा ने 'पंद्रहवीं शती के सांस्कृतिक जागरण के लिए 'लोक जागरण' और 19वीं शती के सांस्कृतिक जागरण के लिए 'नवजागरण' शब्द का प्रयोग किया है'¹⁴⁷ इस प्रकार नामवर सिंह इन्हीं पदबंधों शब्दों को-पंद्रहवीं शताब्दी के जागरण के लिए 'लोकजागरण' और 19वीं सदी के सांस्कृतिक जागरण के लिए 'नवजागरण' शब्द- को ही उसी रूप में स्वीकार करने की बात करते हैं।¹⁴⁸ इसके स्वीकार करने से 'लोकजागरण' और 'नवजागरण' "की सांस्कृतिक प्रक्रियाओं के बीच परंपरा से संबंध भी बना रहता है और अंतर भी स्पष्ट हो जाता है। इसके अतिरिक्त यूरोपीय इतिहास के अनावश्यक अनुषंग से मुक्ति भी मिल जाती है"¹⁴⁹ उन दोनों के बीच का अंतर स्पष्ट करते हुए नामवर सिंह कहते हैं कि "उन्नीसवीं शताब्दी का नवजागरण भक्तिकालीन लोकजागरण से भिन्न इस बात में है कि यह उपनिवेशवादी दौर की उपज है, इसीलिए ऐतिहासिक अंतर्वस्तु भी भिन्न है... इसके पुरस्कर्ता और विचारक नए शिक्षित मध्यवर्ग के हैं, जिन्हें बंगला में भद्रलोक की संज्ञा दी गई है"¹⁵⁰ इसप्रकार नवजागरण के अग्रदूत मध्यवर्गीय या उच्चवर्गीय समाज से आए। इन मध्यवर्गीय समाज की समस्या 'भारतेन्दु के शब्दों में 'स्वत्व निज भारत गहै' है जो कि नामवर सिंह के मतानुसार "भारतीय नवजागरण की मूल समस्या है... यह स्वत्व-प्राप्ति की पहली शर्त है।"¹⁵¹ इस प्रकार नामवर सिंह की दृष्टि में नवजागरण की पहली समस्या 'अस्मिता' की समस्या है इसके

लिए राजनीतिक स्वाधीनता का होना अनिवार्य है। जो कि उन्नीसवीं शती के नवजागरण में कम ही दिखाई पड़ता है। नामवर सिंह का विचार है कि “नवजागरणकालीन प्रकाशित साहित्य में राजनीतिक स्वाधीनता का स्पष्ट स्वर कम ही सुनाई पड़ता है। पहले ईस्ट इंडिया कंपनी और फिर महारानी विक्टोरिया के शासन काल में राज के विरुद्ध निश्चय ही किसानों के छिटपुट विद्रोह बराबर होते रहे, जिनमें सबसे संगठित और सशक्त सन् सत्तावन की राजक्रांति है, फिर भी समकालीन शिष्ट साहित्य में उसकी गूँज सुनाई नहीं पड़ती।”¹⁵² इसलिए नामवर सिंह स्पष्ट करते हैं कि “हिंदी नवजागरण की विशिष्टता बतलाने के लिए सन् सत्तावन की राजक्रांति को उसका बीज मानना कठिन है भारतेन्दु तथा उनके मंडल के लेखक सन् सत्तावन की राजक्रांति की अपेक्षा बंगाल के उस नवजागरण से प्रेरणा प्राप्त कर रहे थे जो उससे पहले शुरू हो चुका था।”¹⁵³ इसके अतिरिक्त “यदि हिंदी नवजागरण को सन् सत्तावन की राजक्रांति का उत्तराधिकारी कहने का अर्थ यह है कि वह अंग्रेजीराज का विरोध करने में सबसे आगे था तो इसके भी पर्याप्त प्रमाण नहीं मिलते।”¹⁵⁴ साथ ही “सन् सत्तावन की राजक्रांति को हिंदी नवजागरण का गोमुख मानने में एक कठिनाई यह भी है कि राजक्रांति के नितान्त असांप्रदायिक पक्ष का संदेश हिंदी नवजागरण तक पूरा-पूरा नहीं पहुँच सका। हिंदी प्रदेश के नवजागरण के सम्मुख यह बहुत गंभीर प्रश्न है कि यहाँ का नवजागरण हिंदू और मुस्लिम दो धाराओं में क्यों विभक्त हो गया।”¹⁵⁵ इसप्रकार स्पष्ट है कि उपर्युक्त मान्यताएँ डॉ० रामविलास शर्मा की हिंदी नवजागरण के प्रस्थान बिंदु पर प्रश्नचिह्न लगाती हैं। नामवर सिंह की मान्यता में यह स्पष्ट है कि उन्नीसवीं शती के नवजागरण का प्रस्थान बिंदु 1857 को नहीं माना जा सकता है। इस संदर्भ में यह देखना महत्वपूर्ण होगा कि प्रदीप सक्सेना, डॉ० रामविलास शर्मा और नामवर सिंह की मान्यताओं को दो छोरों के रूप में देखते हैं, जिसमें रामविलास शर्मा द्वारा 1857 को ही केंद्रीयता देकर “भारतेन्दु की एक पंक्ति से ही 1857 को नवजागरण से और हिंदी से जोड़ने की प्रेरणा पाकर अकेले हिंदी का नवजागरण”¹⁵⁶ की संकल्पना

प्रस्तुत करते हैं, और “उर्दू जिसमें विपुल साहित्य उपलब्ध था उसे हिंदी जाति की विरासत से बाहर कर”¹⁵⁷ देते हैं, वहीं नामवर सिंह के उपर्युक्त मत को प्रदीप सक्सेना दुर्भाग्यपूर्ण बताते हैं¹⁵⁸ कि ‘जिस प्रकार रामविलास शर्मा हिंदी नवजागरण में उर्दू साहित्य को बाहर रखते हैं ठीक उसी प्रकार की यह धारणा भी ‘शिष्ट साहित्य’ में 1857 का उल्लेख नहीं मिलता है कहकर नामवर सिंह उसे संपूर्ण शिष्ट साहित्य से बाहर कर देते हैं।’¹⁵⁹ अर्थात् वह उर्दू साहित्य की 1857 संबंधी विपुल सामग्री का बिल्कुल ही नजरअंदाज़ कर देते हैं।

डॉ० रामविलास शर्मा हिंदी नवजागरण को “मूलतः बुद्धिवादी और रहस्यवाद विरोधी”¹⁶⁰ मानते हैं इसके प्रतिपक्ष में नामवर सिंह का मत है कि “हिंदी नवजागरण में प्रखर बुद्धिवाद की प्रधानता भी संदिग्ध ही दिखाई पड़ती है। इस नवजागरण के अग्रदूत स्वयं भारतेन्दु में वैष्णव भावुकता कहीं अधिक है।”¹⁶¹ रामविलास शर्मा ‘हिंदी नवजागरण में रहस्यवाद विरोध देखते हैं’ तो नामवर सिंह का मत है कि “वह रहस्यवाद उस नववेदांत की देन है जिसका एक रूप रवींद्रनाथ में विकसित हुआ तो दूसरा रामकृष्ण परमहंस और विवेकानंद में।”¹⁶²

रामविलास शर्मा हिंदी प्रदेश में नवजागरण की प्रक्रिया को हिंदी नवजागरण तक सीमित करके देखते हैं, जबकि नामवर सिंह उसे ‘भारतीय नवजागरण की सांश्लिष्ट प्रक्रिया’ मानते हुए समूचे भारतीय नवजागरण पर विशेष बल देने की बात करते हैं। स्पष्ट करते हैं कि “आज उन्नीसवीं शताब्दी के भारतीय नवजागरण के इस सांश्लिष्ट रूप पर बल देने की आवश्यकता विशेष रूप से आ पड़ी है”¹⁶³ इसकी आवश्यकता इसलिए आ पड़ी है कि इस हिंदी नवजागरण की संकल्पना को “इकहरे साँचे में ढालकर तरह-तरह से हस्तगत करने की कोशिश की जा रही है।”¹⁶⁴ इसी के साथ इस बहस को जारी रखने के पीछे के मंतव्य को स्पष्ट करते हुए अपने संपादकीय में कहते हैं कि जिस प्रकार की समस्याएँ उठ रही हैं उससे लगता है कि “आज की समस्त समस्याओं के लिए यदि कोई जिम्मेदार है तो उन्नीसवीं शताब्दी का नवजागरण। यदि आज के

बुद्धिजीवियों में औपनिवेशिक मानसिकता है तो नवजागरण के फलस्वरूप, और अध्यात्मवाद, रहस्यवाद अंधविश्वास आदि में वृद्धि हो रही है तो वह भी उसी के कारण। हिंदू मुस्लिम-सिख सांप्रदायिकता के विषय बीज भी वहीं के हैं और भाषाई झगड़ों और क्षेत्रीय अलगाववाद की जड़ें भी ढूँढकर उन्नीसवीं शताब्दी में बताई जा रही है।¹⁶⁵ और “ये तमाम बातें उन्नीसवीं शताब्दी के अंतर्गत अंग्रेजी उपनिवेशवाद और भारतीय सभ्यता के बीच चलनेवाले उस वस्तुगत संघर्ष की जटिलता और संश्लिष्टता की ओर संकेत करती है।”¹⁶⁶ इसी कारण हिंदी नवजागरण की संकल्पना पर बहस होनी चाहिए। इसके अतिरिक्त नामवर सिंह का मत है कि “नवजागरण पर विचार करना मुझे इसलिए भी ज़रूरी लगता है कि अपनी अस्मिता और अपनी जड़ों की खोज करते हुए परंपरा के प्रति आलोचनात्मक रुख से परिचित होना चाहिए।”¹⁶⁷

गौरतलब कि नामवर सिंह ने ‘हिंदी नवजागरण’ की संकल्पना पर बहस के लिए ‘आलोचना’ पत्रिका को एक मंच बनाया जहाँ नवजागरण संबंधी मान्यताओं पर विचार-विमर्श हो सके। ‘आलोचना’ पत्रिका का नवांक-79 भारतेंदु हरिश्चंद्र और मैथिलीशरण गुप्त पर केंद्रित है हिंदी नवजागरण के परिप्रेक्ष्य में रखकर ही देखा गया है। यहाँ ‘नवजागरण’ की प्रक्रिया और परंपरा के प्रगतिशील पक्षों के प्रति आस्था रखते हुए भारतेंदु हरिश्चंद्र और मैथिलीशरण गुप्त का मूल्यांकन करने का प्रयास किया गया है। ‘आलोचना’ पत्रिका का नवांक-79 ‘अपनी परंपरा के प्रति आलोचनात्मक रुख से परिचित’ कराता है जिससे ‘अपनी अस्मिता और अपनी जड़ों की खोज’ की जा सके।

नवांक- 79 में बच्चन सिंह अपने लेख “भारतेंदु हरिश्चंद्र: व्यक्तित्व के अंतर्विरोध” में भारतेंदु की धर्म संबंधी, राजभक्ति- देशभक्ति संबंधी, उनकी भाषानीति- जिसमें गद्य की भाषा खड़ी बोली और पद्य की ब्रजी- तथा आधुनिक एवं भक्त के बीच के अंतर्विरोधों का मूल्यांकन करते हैं। और उनका आधार इस प्रकार से है भारतेंदु हरिश्चंद्र का “व्यक्तित्व अंतर्विरोधों का एक कंप्लैक्स था।

वे विशिष्ट भी थे, सामान्य भी, राजभक्त भी थे, देशभक्त भी, सनातनी वैष्णव भी थे, आडंबर विरोधी, परंपरावादी भी थे, आधुनिक भी, कविता में ब्रजी के प्रयोक्ता थे, गद्य में खड़ी बोली के, गृहस्थी थी और गृहस्थी के बाहर स्त्री-सौंदर्य के प्रेमी... ये अंतर्विरोध हिंदी समाज के थे, इसलिए भारतेन्दु के भी थे।”¹⁶⁸ इस प्रकार भारतेन्दु हरिश्चंद्र के व्यक्तित्व का मूल्यांकन उनके अंतर्विरोधों के बीच से किया गया है।

शिवकुमार मिश्र ‘राष्ट्रीय नवजागरण और भारतेन्दु’ शीर्षक लेख में भारतेन्दु हरिश्चंद्र का मूल्यांकन करते हैं। स्पष्ट करते हैं कि 1857 के प्रभाव भारतेन्दु पर एक दो अपवादों को छोड़कर हमें देखने को नहीं मिलता है इसलिए वह डॉ० रामविलास शर्मा द्वारा 1857 की राजक्रांति को हिंदी नवजागरण एवं भारतेन्दु से जोड़ने की कोशिश से अपनी असहमति प्रकट करते हैं। नवजागरणकालीन धार्मिक और सामाजिक सुधार आंदोलन पर व्यापक रूप से प्रकाश डालते हैं। भारतेन्दु हरिश्चंद्र की राष्ट्रीयता के मुद्दे पर विस्तार से चर्चा करते हुए स्पष्ट करते हैं कि भारतेन्दु को देशभक्त या राजभक्त कुछ लोग जबरन ही साबित करना चाहते हैं, और वो लोग “नवजागरण के तत्कालीन दौर को तथा उस समय देश के भावी विकास तथा प्रगति की अपनी ज़रूरतों को अनदेखा करते हुए अपनी वर्तमान मानसिकता के आधार पर भारतेन्दु या उस समय के किसी भी रचनाकार विचारक की देशभक्ति को परखना चाहते हैं। यह दृष्टि ग़लत है और हम इसका विरोध करते हैं”¹⁶⁹ अपने लेख में भारतेन्दु हरिश्चंद्र के अवदान को इन शब्दों में व्यक्त करते हैं कि “भारतेन्दु बाबू नवजागरण की सबसे उन्नत लहर के साथ जुड़े हुए और आगे बढ़नेवाले रचनाकार हैं... जनता ने उन्हें प्यार से हरिश्चंद्र न कहकर भारतेन्दु के नाम से पुकारा और भारतेन्दु की उनकी यह उपाधि अमिट होकर रह गई।”¹⁷⁰

जबकि खगेंद्र ठाकुर ‘राष्ट्रीय जागरण और भारतेन्दु’ शीर्षक लेख में भारतेन्दु हरिश्चंद्र की राष्ट्रीय चेतना के विकास को 1857 से मानते हुए उसे भारतेन्दु हरिश्चंद्र से जोड़ते हैं। रमेशकुंतल

मेघ अपने लेख 'भारतेंदु हरिश्चंद्र और कुछ उपनिवेशीय सवाल' में ब्रिटेन की साम्राज्यवादी शोषण की नीति के स्वरूप का उद्घाटन करते हैं। 'नवजागरण' पदबंध पर सवालिया निशान लगाते हैं। इसके प्रयोग के अंतर्विरोधी पक्ष पर अपना विचार इस प्रकार व्यक्त करते हैं। "राममोहन राय से शुरू होनेवाले अपने परिवर्तन को 'रिनेसां' अर्थात् पुनर्जागरण कहें या नवजागरण अर्थात् एनलाइटेनमेंट कहें, अथवा सुधारण अर्थात् रिफार्मेशन कहें- यह पहली मुश्किल है। दूसरी मुश्किल है कि इन सांस्कृतिक पारिभाषिकों के आनुषंगिक अनुप्रयोग के बिना हम भारतेंदु तथा उन्नीसवीं शती के उत्तरार्द्ध के भारत के रूपांतरणों को समझ भी नहीं सकते।"¹⁷¹ अपने लेख में कुछ प्रश्न उठाते हैं जिसमें 'राष्ट्र और राष्ट्रीयता-भारतेंदु युग के संदर्भ में कहाँ है? तीसरा प्रश्न भारतेंदु के ज़माने में कौन-सी सामाजिक प्रणाली विकसित हुई?? चौथा प्रश्न- शिक्षा और सांप्रदायिकता को लेकर है, पाचवाँ सवाल- युद्धों की प्रकृति और विश्लेषण को लेकर करते हैं। उनका छठा सवाल-संवैधानिक कार्य तथा सुधार की रणनीति-रणकौशल में नैतिकता एवं नीति की भूमिका क्या हो? कैसी हो? उन्हीं प्रश्नों के आधार पर भारतेंदु हरिश्चंद्र का मूल्यांकन करते हैं।

विश्वभरनाथ उपध्याय 'हिंदी के आदि भरत भारतेंदु हरिश्चंद्र' शीर्षक लेख में भारतेंदु के नाटकों का मूल्यांकन करते हुए उन्हें हिंदी नाटकों के आदि भरत के रूप में स्थापित करते हैं।¹⁷² सत्येंद्र कुमार तनेजा 'भारतेंदु की रंगदृष्टि का मूल्यांकन 'भारत भाई' के संदर्भ में करते हैं। उनके मत से 'भारत भाई' एक अर्थपूर्ण प्रतीक है- जो भारतवासियों के लिए प्रयुक्त किया गया है।¹⁷³ 'महेंद्रनाथ दुबे' भारतेंदु की भाषा- चेतना' पर विस्तारपूर्वक चर्चा करते हैं।¹⁷⁴ श्रीनारायण पांडेय 'भारत माता/ भारत जननी' नाटक का मूल लेखक कौन है? इसकी खोज करते हैं इस लेख में श्रीनारायण पांडे स्पष्ट करते हैं कि 'भारतमाता' नाटक मूल रूप से बंगला भाषा में किरण बंधोपाध्याय द्वारा लिखा गया है। जिसका अनुवाद भारतेंदु के एक मित्र ने 'भारतजननी' शीर्षक से किया। जिसकी भाषा और संवादों का परिष्कार भारतेंदु ने किया है इसीलिए यह जाना जाता रहा

है यह रचना उनकी मूल रचना है।¹⁷⁵

इस अंक में शीर्षकों को देखकर ही स्पष्ट होता है कि भारतेन्दु हरिश्चंद्र का मूल्यांकन उनके संपूर्ण रचना-संसार को केंद्र में रखकर किया गया है; और मूल्यांकन का परिप्रेक्ष्य है राष्ट्रीय नवजागरण।

रघुवंशजी का लेख 'भारतेन्दु हरिश्चंद्र और मैथिलीशरण गुप्त: 'मूल्यांकन का परिप्रेक्ष्य' शीर्षक से प्रकाशित है और उनके मूल्यांकन का परिप्रेक्ष्य-हिंदी नवजागरण की संकल्पना ही है।¹⁷⁶ नवजागरण के संदर्भ में मैथिलीशरण गुप्त की रचनाओं की त्रिलोचन किस रूप में देखते हैं इसे 'आधुनिक हिंदी कविता और मैथिलीशरण गुप्त का काव्य' शीर्षक आलेख में देख सकते हैं। इसकी प्रस्तुति 'वीरेंद्र मोहन' ने की है।¹⁷⁷ कमला प्रसाद 'मैथिलीशरण गुप्त का आत्मसंघर्ष और काव्य' शीर्षक लेख में उनके आत्मसंघर्षों का मूल्यांकन करते हैं।¹⁷⁸ अंबादत्त पांडे 'राष्ट्रीय भावना और गुप्त काव्य' शीर्षक लेख में मैथिलीशरण गुप्त का मूल्यांकन करते हैं।¹⁷⁹

रमेशचंद्र शाह 'भारत भारती के बहाने' शीर्षक लेख में गुप्त जी की काव्य-दृष्टि पर अपना विचार रखते हैं। राष्ट्र कवि की महत्ता से परिचित कराते हैं।¹⁸⁰ उपर्युक्त लेखों- निबंधों में मैथिलीशरण गुप्त जी की राष्ट्रीय चेतना की मुक्त कंठ से प्रशंसा ही प्रशंसा की गई है। इसमें आलोचनात्मक दृष्टि का प्रायः अभाव है। किंतु पुरुषोत्तम अग्रवाल 'राष्ट्रकवि की राष्ट्रीय चेतना' शीर्षक लेख में गुप्त जी के "काव्य संस्कार और भाषिक व्यवहार में अनुस्यूत वैचारिक आग्रह किस कोटि के हैं।"¹⁸¹ इसका मूल्यांकन करते हैं।

इस अंक में नामवर सिंह के संपादकीय के अतिरिक्त एक लेख भी 'मैथिलीशरण गुप्त की काव्य-भाषा' शीर्षक से प्रकाशित है, जिसमें गुप्तजी की काव्य-भाषा ने आधुनिक हिंदी काव्य भाषा के विकास में क्या योगदान दिया है स्पष्ट किया गया है।¹⁸²

ध्यातव्य है कि नामवर सिंह ने 'आलोचना' के इस अंक के माध्यम से अपनी परंपरा व

अस्मिता की जड़ की पहचान के लिए भारतेन्दु हरिश्चंद्र व मैथिलीशरण गुप्त का मूल्यांकन हिंदी नवजागरण-राष्ट्रीय नवजागरण आदि के परिप्रेक्ष्य में कराने का प्रयास करते हैं, जिन लेखों में आलोचनात्मक ढंग से मूल्यांकन किया गया है, उन लेखकों का कड़ा प्रतिवाद बाद में चलकर किया गया है। उदाहरणस्वरूप 'आलोचना' के नवांक-82 (जुलाई-सितं.,- 1987 ई.) में शिवकुमार मिश्र का लेख 'नवजागरणकालीन साहित्य के चरित्र का विशिष्ट पहलू' दृष्टव्य है। इस लेख में शिवकुमार मिश्र डॉ० रामविलास शर्मा की हिंदी नवजागरण संबंधी मान्यताओं से अपनी असहमति और भी तर्कपुष्ट ढंग से व्यक्त करते हैं। और आलोचना के नवांक- 79 में प्रकाशित अपनी मान्यताओं का और ठोस आकार देते हुए देखे जा सकते हैं। उनकी मान्यता नामवर सिंह की मान्यता के समान ही है, उनसे उनकी सहमति है। शिवकुमार मिश्र 1857 की क्रांति को हिंदी नवजागरण का गोमुख नहीं मानते हैं और भारतेन्दु युगीन साहित्य को राजभक्ति और देशभक्ति के अंतर्विरोधों को 'आलोचना'-79 में स्पष्ट कर चुके थे; किंतु उन्होंने जिस प्रकार से यह तर्कपुष्ट आलेख लिखा है उससे स्पष्ट हो जाता है कि सहज ही उस आलेख के कारण उन्हें कड़ा प्रतिवाद झेलना पड़ा होगा। उनकी भारतेन्दु हरिश्चंद्र की 'राजभक्ति और देशभक्ति' के संबंध में मान्यता है कि "भारतेन्दु में राजभक्ति का स्वर बहुलांश में है, पर यह देखने की बात यह है कि राष्ट्रभक्ति के स्वर उनके मूल्यांकन में अंततः निर्णायक साबित होते हैं। यही भारतेन्दु के आत्मसंघर्ष की फलश्रुति है... यह उस युग की सच्चाई है... परंतु इसका अर्थ यह नहीं कि हम उनके आत्मसंघर्ष और उनके अंतर्विरोधों पर पर्दा डालें।" ¹⁸³ शिवकुमार मिश्र अपने लेख में स्पष्ट करते हैं कि "यह सब हम इसलिए लिखते हैं ताकि हम भारतेन्दु बाबू की विरासत को उसके सही परिप्रेक्ष्य और सही संदर्भों में देख और ग्रहण कर सकें, उससे सीख ले सकें। भारतेन्दु बाबू की यही विरासत हमारे लिए अधिक ग्राह्य और मूल्यवान होगी, बजाय उनके उस रूप के जो उन्हें उनके समय से काटकर एक श्रद्धाविगलित मानसिकता के तहत हमारे सामने पेश किया जाए?" ¹⁸⁴ शिवकुमार मिश्र का मत है कि उनका यह

मत उन लोगों के लिए नहीं है 'जिनकी 'भारतेंदु-व्याकुल' और '1857- व्याकुल छवि हमें आलोचना' के 79 वे अंक के बाद ही देखने को मिली है।'¹⁸⁵ स्पष्ट है कि 'आलोचना'- 79 को संपादकीय में नामवर सिंह 'भारतीय नवजागरण के संश्लिष्ट रूप पर बल देते हुए उस इकहरे साँचे का विरोध कर चुके थे जिन्हें डर था कि इस नवजागरण के तरह-तरह से तर्क देकर हस्तगत करने की कोशिश की जा रही है, उससे उसकी रक्षा की जा सके।'¹⁸⁶ उन्हीं लोगों का कड़ा प्रतिकार करते हुए शिवकुमार मिश्र लिखते हैं कि 'ऐसे लोगों के 'भारतेंदु-प्रेम' और 'देश-प्रेम' को हम अच्छी तरह पहचानते हैं, हमने राष्ट्रीय आंदोलन के पूरे दौर में उसे पहचाना है, महात्मा गाँधी की नृशंस हत्या में पहचाना है, आपातकाल में पहचाना है, और आज भी पहचान रहे हैं।'¹⁸⁷ अपने लेख में शिवकुमार मिश्र 'हिंदी नवजागरण' को राष्ट्रीय नवजागरण के परिप्रेक्ष्य में रखकर देखते हुए हिंदी नवजागरण की विशिष्टता को रेखांकित करना चाहते हैं। हिंदी जाति, हिंदी प्रदेश एवं जातीयता के सवाल को "उनकी संपूर्ण वस्तुमता के साथ हमारी पहचान का विषय बनाया जाए ताकि हम हिंदीवाले आत्ममुग्ध न हो सकें, अपनी अस्मिता के महज ऊर्जस्वित तथा स्फीत रूप को ही देखकर अपने कृतित्व को दूसरी जातिवालों से विशिष्ट मानकर।"¹⁸⁸ वह डॉ० रामविलास शर्मा अपना मतभेद प्रकट करते हुए उनके अवदान को भी रेखांकित करते हैं स्पष्ट करते हैं कि "हिंदी नवजागरण संबंधी उनकी स्थापना पर कुछ सवाल उठते हुए यहाँ हमें उनके और उनके कार्य के इस महत्व का पूरा बोध है। किंतु सवालों को उठाना और बड़ी-बड़ी स्थापनाओं को भी भलीभाँति परखकर स्वीकार और अस्वीकार करना भी हमने उन्हीं से सीखा है।... ये हमारे ज्ञानकांड का अनिवार्य अंग है। हमें उम्मीद है कि डॉ० शर्मा कभी हमारे सवालों की ओर ज़रूर मुखातिब होंगे।"¹⁸⁹ उपर्युक्त मत से स्पष्ट है कि 'आलोचना' पत्रिका ने हिंदी नवजागरण की संकल्पना की समस्या पर गंभीर बहस चलाई है तो दूसरी तरफ 'आलोचना की भाषा' कैसी हो, किसी के प्रदेश को स्वीकार करते हुए उनसे असहमति भी किस प्रकार आलोचना में की जानी चाहिए यह भी इस

बहस में हम देख सकते हैं। इस लेख के माध्यम से शिवकुमार मिश्र न केवल हिंदी नवजागरण से जुड़े कुछ विशिष्ट पहलुओं को उजागर करते हैं बल्कि आलोचना की वैज्ञानिक पद्धति को विकसित करते हुए- 'आलोचना का स्वरूप' कैसा हो इसे भी स्पष्ट करते हैं। नवजागरण संबंधी बहस को 'आलोचना' के नवांक- 93 (अप्रैल-जून, 1990 ई.) में भी देखा जा सकता है। इस अंक में नवजागरण संबंधी बहस को हिंदी नवजागरण की सीमा से आगे निकालकर भारतीय नवजागरण के व्यापक परिप्रेक्ष्य में रखकर देखने की कोशिश की गई है। इस अंक में हिंदी नवजागरण पर दो आलेख देखे जा सकते हैं- बच्चन सिंह 'उन्नीसवीं शताब्दी का औपनिवेशिक भारत और हिंदी नवजागरण' में औपनिवेशिक सत्ता विरोध में हिंदी नवजागरण और भारतीय नवजागरण का मूल्यांकन करने का प्रयास करते हैं।¹⁹⁰

विजेन्द्रनारायण सिंह 'हिंदी नवजागरण: सामंतविरोधी मूल्य और बुद्धिवाद की प्रतिष्ठा' शीर्षक लेख में उन्नीसवीं शती की वैचारिक दशाओं का मूल्यांकन 'अंधेर नगरी', 'राजा भोज का सपना', और 'सत्यार्थ प्रकाश' के संदर्भ में करते हैं, और इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि "इन तीनों कृतियों से विचारों की चिंगारियाँ फूटीं, जिनसे आधुनिक साहित्य में सामंती मूल्य के स्थान पर लोकतांत्रिक भावबोध और विवेकवाद की प्रतिष्ठा हुई। हिंदी क्षेत्र का नवजागरण इन्हीं के माध्यम से अपनी अस्मिता अर्जित करता है।"¹⁹¹

'आलोचना' के इस अंक में टी.एस. कुप्पुस्वामी ने तमिलनाडू के समाज पर नवजागरण का क्या प्रभाव हुआ इसका गंभीर विश्लेषण 'नवजागरण का तमिलनाडू के समाज राजनीति एवं साहित्य पर प्रभाव' शीर्षक लेख में किया है वहीं इसी अंक (93 वें) में चंद्रकांत बांडिवडेकर का लेख 'महाराष्ट्र में आधुनिकता का उदय-प्रसार' आदि किस रूप में हुआ इसका विश्लेषण करते हैं। इस प्रकार 'आलोचना' का नवांक-93 'हिंदी नवजागरण' की सीमा से निकलकर 'भारतीय नवजागरण' की व्यापक परिधि तक अपना विस्तार करता हुआ देखा सकता है। इस संदर्भ में यह एक महत्वपूर्ण

तथ्य हैं कि वीर भारत तलवार ने 'आलोचना' के नवांक 93 की नवजागरण संबंधी बहस का समीक्षात्मक आकलन 'हिंदी नवजागरण: अध्ययन की समस्याएँ' में किया। यह आलेख उनकी पुस्तक 'सामना' में संकलित है।¹⁹²

इसप्रकार 'आलोचना' में प्रकाशित 'डॉ० रामविलास शर्मा के लेख 'महावीर प्रसाद द्विवेदी और हिंदी नवजागरण (नवांक- 40) से हिंदी जगत में 'हिंदी नवजागरण' की संकल्पना को लेकर बहस का प्रारंभ हुआ और आज उसके अध्ययन में कई आयाम व दृष्टियाँ जुड़ चुकी हैं। हिंदी नवजागरण की बहस में दलित व स्त्री मुद्दे भी प्रकट होकर आने लगे हैं। हिंदी नवजागरण के अध्ययन को विस्तार देने में उसे आगे बढ़ाने में 'वीर भारत तलवार', 'प्रदीप सक्सेना', 'शंभूनाथ' आदि विद्वानों का महत्वपूर्ण योगदान है। जो आज भी इस बहस पर गंभीरता से विचार कर रहे हैं।

'आलोचना' पत्रिका ने हिंदी नवजागरण की संकल्पना को और व्यापक परिप्रेक्ष्य प्रदान किया है, उसे आलोचनात्मक विवेक के आधार पर मूल्यांकन करने और प्रेरणा प्राप्त करने के लिए प्रोत्साहित किया है उसे भारतीय नवजागरण के परिप्रेक्ष्य में रखकर उसके राष्ट्रीय चरित्र की व्याख्या करने का काम अपने अंकों के माध्यम से किया है, जिससे 19 वीं शती के नवजागरण की मूल्यों से प्रेरणा ग्रहण की जा सके।

1.5 रोमांटिक बनाम आधुनिक

बीसवीं शती के सातवें दशक की हिंदी आलोचना में 'आधुनिकता' और 'आधुनिकतावाद' पर व्यापक पर बहस चली थी। कुछ विद्वान इसे केवल 'बहस' अथवा 'चर्चा' के रूप में देखते हैं तो कुछ विद्वान इसे एक साहित्यिक आंदोलन के रूप में स्वीकार करते हैं।¹⁹³ पूरे दौर की इस बहस का मुख्य ध्येय 'रोमानी भावबोध' अथवा रोमांटिक दृष्टि का प्रखर विरोध ही रहा है। यहाँ रोमांटिक भावबोध के निषेध का मूल कारण क्या रहे, इसके विरोध के प्रमुख तर्क क्या थे? आदि को ही समझने और इसकी पड़ताल करने के लिए नामवर सिंह ने 'आलोचना' पत्रिका के नवांक-03

(अक्तू.-दिसं., 1967 ई.) में 'रोमांटिक बनाम आधुनिक' विषय को लेकर एक परिसंवाद का आयोजन किया था। इस परिसंवाद के आयोजन की पृष्ठभूमि सातवें दशक के इसी आधुनिकता और आधुनिकतावादी विषयक बहस में निहित है। इस परिसंवाद के आयोजन की पृष्ठभूमि न केवल इस बहस में निहित है, बल्कि यह परिसंवाद ही उस बहस के दबाव की उपज है। वस्तुतः इस 'रोमांटिक बनाम आधुनिक' की बहस को उसी पृष्ठभूमि में रखकर समझा जा सकता है।

इस परिसंवाद में विषय-प्रवर्तन डॉ. रामविलास शर्मा ने किया था। इस आयोजन में मुद्राराक्षस, श्रीकांत वर्मा, प्रेमप्रकाश डोभाल, भारतभूषण अग्रवाल, अजित कुमार, मुरलीमनोहर प्रसाद सिंह, नरेश सक्सेना, शमशेर बहादुर सिंह, गिरिजा कुमार माथुर और नामवर सिंह ने अपने वक्तव्य दिए थे। डॉ० रामविलास शर्मा द्वारा विषय प्रवर्तन के उपरान्त इस परिसंवाद में सभी ने बड़े विस्तार से 'रोमांटिकता और आधुनिकता' के विषय चर्चा परिचर्चा की है। कुछ लोगों कुछ सीमा तक डॉ० रामविलास शर्मा के मत का समर्थन करते हैं, तो कुछ पूरा विरोध करते हुए देखे जाते हैं। इस बहस में कई प्रश्न निकल कर आते हैं, जिसका प्रत्युत्तर भी डॉ० रामविलास शर्मा ने दिया है, वह भी इसी अंक में प्रकाशित है। इस 'रोमांटिक बनाम आधुनिक' परिसंवाद के अतिरिक्त पश्चिमी देशों में रोमांटिक काव्य-प्रवृत्ति पर हुई बहस को इस परिसंवाद की पूरक सामग्री के रूप में प्रकाशित किया गया है। यह 'पूरक सामग्री' 'रोमांटिसिज़्म, समकालीन कविता और समाजवाद' शीर्षक से प्रकाशित है। इस 'पूरक संवाद' में 'ग्रेब्रिएल पियर्सन', 'डेविड क्रेग' और 'स्टेनली मिचेल' ने अपनी हिस्सेदारी निभाई है।

'आलोचना' द्वारा आयोजित इस परिसंवाद में 'आधुनिकता' का तात्पर्य बिल्कुल वह नहीं है जो 'मध्यकालीनता बनाम आधुनिकता' अथवा 'परंपरा बनाम आधुनिकता' से ग्रहण किया जाता है। चूँकि यहाँ आधुनिकता का आशय एक 'गुणात्मक बोध, मूल्यबोध अथवा साहित्यिक प्रवृत्ति आदि' से है। इसका यदि ध्यान नहीं रखा जाए तो हम सदा रोमांटिसिज़्म को मध्ययुगीन काव्य-प्रवृत्ति

मानने को बाध्य होंगे, जबकि वस्तुस्थिति यह है कि रोमांटिसिज़्म स्वयं आधुनिककालीन साहित्यिक प्रवृत्ति है। “ऐतिहासिक दृष्टि से आधुनिक कला स्वच्छंदतावादी कही जाती है और यह केवल औपचारिकता मात्र नहीं है कि आधुनिक कला का आरंभ स्वच्छंदतावाद से होता है।”¹⁹⁴ जबकि यहाँ, ‘आधुनिकता’ और रोमांटिकता’ के संदर्भ में, ‘आधुनिकता’ एक पारिभाषिक अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। जहाँ टी.एस. इलियट का काव्य संबंधी चिंतन-मान्यताएँ, अस्तित्ववादी धारणाएँ, व्यक्तिवादी चिंतन, नए यथार्थवादी रुझान और अतियथार्थवादी रुझान भी इसकी परिभाषा के अंतर्गत समाहित है। बच्चन सिंह के मतानुसार “आधुनिक ज्ञान-विज्ञान और टेक्नॉलाजी के फलस्वरूप उत्पन्न मानवीय स्थितियों का नया, गैर-रोमांटिक और अमिथकीय साक्षात्कार ‘आधुनिकता’ है।”¹⁹⁵ इंद्रनाथ मदान इसे बीसवीं शती के ‘नगरबोध’ से जोड़ कर देखते हैं।¹⁹⁶ अमृतराय 1960 ई. के बाद की इस आधुनिक भावबोध की स्थिति को ‘एक गंभीर जीवन दृष्टि’ के रूप में देखते हैं और उसे परिभाषित करते हुए स्पष्ट करते हैं कि- “सब व्यर्थताओं और विभीषिकाओं के बीच होकर उनका बोझ मन पर ढोते हुए पुरानी आस्थाओं को खोकर और नई किसी आस्था के अभाव में जो एक भाव बोध बनाता है, घोर निराशा और अविश्वास जिसका आवश्यक तत्व है, शायद उसी को आधुनिक भावबोध की संज्ञा दी जाती है।”¹⁹⁷ और लक्ष्मीकांत वर्मा के यहाँ “आधुनिकता’ का कोई भी अर्थ बिना मानव के स्वाभिमान और व्यक्ति के स्वातंत्र्य के संभव नहीं है।”¹⁹⁸ इसके अतिरिक्त उनके यहाँ आधुनिकता का एक व्यापक अर्थ “उस मुक्ति से है जिसमें हमारा अस्तित्व संपूर्ण दायित्व के साथ उभर सके, और उस पर किसी भी प्रकार का ऐसा दबाव या संस्कार न हो जिससे मानव-स्वाभिमान और मानव-जीवन का स्वत्व नाश होता है।”¹⁹⁹ इसीलिए ‘आधुनिकता’ उनके यहाँ गुणात्मक बोध है। ‘नितांत समसामयिकता का बोध’, ‘क्षण के यथार्थ के प्रति दायित्व’, ‘आत्मनिश्चय का दायित्व’, ‘व्यक्ति की पारस्परिक आत्म-निष्ठा के प्रति आस्था’, ‘विवेक की संगति’, और ‘व्यक्ति-स्वातंत्र्य’ के सह-संबंध को विकसित करने की क्रियाशीलता में ही आधुनिकता परिलिखित

होगी।²⁰⁰ इसीलिए लक्ष्मीकांत वर्मा स्पष्ट करते हैं कि “आधुनिकता का सीधा विरोध रोमानी दृष्टि से है।²⁰¹ और इस रोमानी दृष्टि से इसलिए है कि “रोमानी दृष्टि में चीजों के सत्य (ट्रुथ ऑफ थिंग्स) को हम एक बड़े ही सुंदर आवरण को विवेक और ज्ञान की सहायता से सीधा अनुभव करती है। आधुनिकता के लिए किसी माध्यम की अनिवार्यता नहीं होती और वह विवेक और ज्ञान की उपलब्धियों को स्वीकार करने में इसीलिए प्रत्यक्ष को अधिक मूल्यवान मानती है।²⁰² यह दृष्टि लक्ष्मीकांत वर्मा की थी जबकि 30 नवंबर 1967 ई. को आयोजित इस परिसंवाद की मूल दृष्टि ‘रोमांटिक बनाम आधुनिक’ की होने के बावजूद यह थी कि “आधुनिक भावबोध की व्याख्या के सिलसिले में प्रायः रोमांटिक रुझान की अस्वीकृति की आवाज़ उठती रही है। निःसंदेह यह आधुनिक भावबोध का समग्र रूप नहीं है, बल्कि उसका एक पहलू है, किंतु इसी तरह एक-एक पहलू को लेकर विचार करते हुए ही आधुनिक भावबोध की परिभाषा की दिशा में उपयोगी कार्य हो सकता है।²⁰³ स्पष्ट है कि यहाँ तात्पर्य केवल रोमांटिक रुझान का विरोध मात्र नहीं है, बल्कि उसका एक पहलू है। दूसरी चीज इस संदर्भ में महत्वपूर्ण है कि इस परिसंवाद के माध्यम से ‘आधुनिक भावबोध की संज्ञा’ को उसके सही रूप में व्याख्यायित किया जा सके। संवाद के प्रारंभिक वक्तव्य से ही स्पष्ट है ‘आधुनिक भावबोध की व्याख्या के सिलसिले में’ यह संवाद एक उपयोगी कार्य हो सकता है।

डॉ० रामविलास शर्मा इस परिसंवाद का विषय-प्रवर्तन ‘छायावाद विरोध अर्थात् आधुनिक भावबोध’ शीर्षक से करते हैं। उनकी स्पष्ट धारणा है कि आधुनिक भावबोध का मतलब छायावाद के पूर्णविरोध से है। डॉ० शर्मा का मानना है कि “इस एंटी - रोमांटिक - छायावाद - विरोधी - प्रवृत्ति को एक सिद्धांत का रूप टी.एस. इलियट ने दिया है और इलियट का गहरा असर हमारे बहुत से आधुनिकता- बोधवाले कवियों पर है। इलियट की तरह वे भी छायावाद को अस्वीकार करते हैं।²⁰⁴ इसके अतिरिक्त उनकी मान्यता है कि ‘रोमांटिक काव्य मूलतः सामंत विरोधी है और उसका गहरा संबंध व्यापारिक पूँजीवाद से है।’ उनके विषय प्रवर्तन में कुछ अन्य बिंदुओं को हम

देख सकते हैं, जैसे-

‘रोमांटिक काव्यधारा के विपरीत एक तथाकथित क्लासिकल धारा है, जिसका संबंध सामंत विरोध से नहीं है, जो सामंती व्यवस्था और संस्कृति को कायम रखने वाली है।’ इसीलिए ‘इलियट ने जब रोमांटिक काव्यधारा को अस्वीकार किया तब उसने इंग्लैंड और यूरोप की उस प्रगतिशील धारा को अस्वीकार किया।’ इसके अतिरिक्त डॉ० रामविलास शर्मा का मत है कि ‘आधुनिक भावबोधवाले लोगों ने इलियट का प्रभाव ग्रहण किया, उन्होंने यह तो देखा कि वह रोमांटिक धारा का विरोध करता है पर यह नहीं देखा कि उस पर ‘उत्तर-रोमांटिक भाव धारा’ का कितना गहरा असर है।’ इसके अलावा डॉ० शर्मा की मान्यता है कि छायावाद की पूर्ण अस्वीकृति का मतलब है, भारतीय साहित्य की समूची विकासशील परंपरा की अस्वीकृति।’ इस आधुनिक भावबोधवाली दृष्टि का एक सकारात्मक पक्ष है उनका नया यथार्थवादी रुझान, जिसकी डॉ० शर्मा प्रशंसा करते हैं। और उनकी सलाह है कि ‘नई कविता के यथार्थवादी रुझान को दृढ़ करना चाहिए, उसकी अतिशय व्यक्तिवादी, प्रदर्शनकामी भावधारा को खत्म करना चाहिए।’ वस्तुतः ‘यथार्थवाद को व्यापक-दृष्टि से देखना चाहिए, यथार्थवादी रुझान को दृढ़ करते हुए हमें छायावाद तथा उससे पहले के साहित्य से सीखना चाहिए और आधुनिकता-बोध का संबंध समाजवाद तथा यथार्थवादी रुझान से जोड़ना चाहिए, न कि केवल छायावाद विरोध से।’²⁰⁵ इन्हीं प्रमुख बिंदुओं के आधार पर इस परिसंवाद की चर्चा-परिचर्चा को आगे बढ़ाया गया है।

मुद्राराक्षस युवा विद्रोही तेवर में अपना पक्ष रखते हैं, स्पष्ट करते हैं किसन् 1960 के बाद के कवियों में दायित्वबोध अत्यधिक है और उनमें गुस्सा भी ज़्यादा है। इन कवियों के यहाँ ‘गंदा-से-गंदा भयानक-से-भयानक एक्सप्रेशन रख देने में हिचक नहीं है। ये अनुभूतियाँ, यह आतंकवाद- इनके पीछे पहले का परिमार्जित भावबोध नहीं है।’²⁰⁶ मुद्राराक्षस डॉ० रामविलास शर्मा द्वारा स्पष्ट किए गए ‘नए यथार्थवादी रुझान’ को 1960 ई. के बाद के कवियों की विशेषता के रूप

में रेखांकित करते हैं, उसे महत्वपूर्ण मानते हैं। किंतु इस समझ पर कि 'आधुनिकतावादी कवियों को समाजवाद से जोड़कर देखना चाहिए'- कड़ा प्रतिवाद करते हैं।

श्रीकांत वर्मा, डॉ० रामविलास शर्मा की मान्यता का विरोध करते हैं कि 'रोमांटिक काव्य मूलतः सामंत विरोधी हैं, और रोमांटिक काव्यधारा के विरोध का तात्पर्य सामंती व्यवस्था एवं सामंती संस्कृति को कायम रखनेवाली धारा है। इस संदर्भ में श्रीकांत वर्मा मार्क्सवादी विचारधारा एवं मान्यताओं का विरोध करते हैं। और इस प्रकार सामंत विरोधी और सामंती संस्कृति के पोषक साहित्य के विभाजन का विरोध करते हैं। अपने वक्तव्य में श्रीकांत वर्मा इलियट को व्यवस्थावादी कवि स्वीकारते हुए भी स्पष्ट करते हैं कि "क्लासिसिज़्म और रोमांटिसिज़्म का फ़र्क यह है कि जहाँ क्लासिसिज़्म व्यवस्था पर जोर देता है वहाँ रोमांटिसिज़्म व्यवस्था से विद्रोह करता है।"²⁰⁷ इसके अतिरिक्त इनका मत है कि 'रोमांटिक साहित्य का विवेचन करते समय केवल अंग्रेज़ी साहित्य के उदाहरण तक अपने को सीमित रखना गलत होगा' इसके अतिरिक्त वह मानते हैं कि लैटिन अमेरिकी देशों में रोमांटिक साहित्य उनके स्वाधीनता-संघर्ष की ही परिणति है। उनके वक्तव्य में एक महत्वपूर्ण तथ्य यह निकलकर आता है जिसमें वह कहते हैं कि "यह सही है कि आज का साहित्य रोमांटिसिज़्म के विरुद्ध घोषणाएँ करता है, लेकिन एक स्तर पर वह स्वयं रोमांटिक है।"²⁰⁸ प्रेमप्रकाश डोभाल अपने वक्तव्य में रोमांटिसिज़्म शब्द के अस्पष्टता युक्त प्रयोग को 'घपले' के रूप में देखते हैं, और रोमांटिकता का जमकर विरोध करते हुए कहते हैं कि "हो सकता है कि रोमांटिकता का जीवन में कोई स्थान हो, परंतु साहित्य में इसका कोई स्थान नहीं।"²⁰⁹ डोभालजी डॉ० शर्मा के इस मत का कि 'इलियट पर उत्तर-रोमांटिक धारा का गहरा असर है', को स्वीकार करने में कठिनाई महसूस करते हैं। और स्पष्ट करते हैं जिसने रोमांटिकता को जड़ से उखाड़ने का काम किया "उसे रोमांटिकता के समर्थन का श्रेय देना या तो एक बड़ी चुनौती है या मात्र शाब्दिक विसंगति, क्योंकि तथ्य यह है कि इलियट और उनके अनुयायियों ने रोमांटिकता पर ऐसा मारक

प्रहार किया कि अधुनिक युग के लिए एक संपूर्ण काव्य-दर्शन प्रतिष्ठित करने में रोमांटिकता अब तक पंगु सिद्ध हुई है।²¹⁰ डोभाल जी इलियट के प्रेरणास्रोत अविंग बैबिट और टी. ई. ह्यूम को मानते हैं जिन्होंने रूसोवादी रोमांटिकता का जमकर विरोध किया है।

भारतभूषण अग्रवाल रोमांटिकता को छायावाद का पर्याय कहने पर डॉ० शर्मा से अपनी असहमति जताते हैं, और स्पष्ट करते हैं कि “प्रत्येक काव्यांदोलन की भाँति छायावाद में भी अनेक तत्व और रुझान प्रकट हुए थे, रोमांटिक तत्व उनमें से केवल एक ही था। पर साथ ही उनमें से कई ऐसे तत्व भी थे जो आज के कवि के काम के नहीं थे। उन्हीं के कारण छायावाद अपनी परिणति और परिसमाप्ति पर पहुँचा।”²¹¹ भारतभूषण अग्रवाल डॉ० रामविलास शर्मा द्वारा छायावाद का समर्थन करने पर आश्चर्य व्यक्त करते हैं, कि उन्होंने कभी स्वयं छायावाद का जमकर खंडन किया था। फिर अग्रवाल जी यह स्पष्ट करते हैं कि आधुनिकतावादियों का विरोध छायावाद से कत्तई नहीं है क्योंकि “आज छायावाद दूर की अनुगूँज बनकर रह गया है। इसलिए उसके विरोध का कोई प्रश्न ही नहीं उठता, वह तो है ही नहीं। मैं नहीं मानता कि आज का कवि छायावाद का विरोध करता है। इसलिए मैं इस विषय को कारगर और प्रासंगिक विषय नहीं मान पाता। वह मुझे कृत्रिम लगता है।”²¹² अपने वक्तव्य को भारतभूषण अग्रवाल और स्पष्ट करते हुए कहते हैं, कि जहाँ तक रोमांटिक शब्द का प्रश्न है “हिंदी में इस शब्द का अर्थ ठीक वही नहीं ग्रहण किया गया है जो अंग्रेज़ी या यूरोपीय साहित्य में माना जाता रहा है। हिंदी में रोमांटिक को यथार्थ के विलोम के रूप में भी देखा-जाना गया है। आज का कवि यदि एंटी-रोमांटिक है या रोमांटिकता विरोधी है तो इसी अर्थ में।”²¹³ इस प्रकार भारतभूषण अग्रवाल के यहाँ आधुनिकता का तात्पर्य यथार्थवादी प्रवृत्तियों से है, और रोमांटिक भावबोध के विरोध का तात्पर्य है पलायनवादी और कल्पनावेदी, ह्यसोन्मुख प्रवृत्तियों का विरोध।

अजित कुमार अपने वक्तव्य में यह स्पष्ट करते हैं कि, जिसे डॉ० रामविलास शर्मा

‘छायावाद विरोध अर्थात् आधुनिकता बोध’ कहते हैं वह मूलतः था तो ‘छायावाद-बोध अर्थात् आधुनिकता-विरोध’ का प्रतिपादन, किंतु वह कुछ और ही हो गया।²¹⁴ उनके कभी छायावाद विरोधी होने और इस असंगति के कारणों की पड़ताल करते हुए अजित कुमार कहते हैं कि “डॉ० शर्मा ने अपनी मार्क्सवादी विचारधारा के कारण भले ही पहले छायावाद का विरोध किया हो, किंतु वह उनका समकालीन साहित्य आंदोलन था। और उनकी रुचि छायावादी कविता द्वारा ही निर्मित एवं पोषित हुई थी, इसलिए आलोचना का एक दौर पूरा हो चुकने के बाद, उनके लिए यह स्वाभाविक ही नहीं अनिवार्य भी था कि वे छायावादी कविता का समर्थन करने लगते।”²¹⁵ वस्तुतः अजित कुमार का मानना है कि छायावाद का समर्थन डॉ० शर्मा इसलिए करते हैं कि, उनके संस्कार ने उन्हें ऐसा करने को बाध्य किया। इस संदर्भ में उन्होंने एक प्रश्न उठाया कि ‘अपने भाषण में डॉ० शर्मा प्रगतिवाद का उल्लेख एक बार भी क्यों नहीं करते?’ इसके अतिरिक्त अजित कुमार स्पष्ट करते हैं कि ‘छायावाद और आधुनिकता’ को बहुलोकों में समझ सकना होगा अन्यथा हमारी व्याख्या सीधी और सपाट होगी। उनके मत में “आधुनिक भावबोध कहीं अधिक जटिल गहरा और व्यापक है अनेक स्तरों पर छायावादी प्रवृत्तियों का सहज और सचेत अंगीकार भी है... वर्तमान आक्रोश और विद्रोह मूलतः छायावादी या रोमांटिक है। फिर, इस मामले में दो टूक फैसला क्यों कर किया जा सकता है?”²¹⁶ कि छायावाद विरोध का अर्थ आधुनिक भावबोध ही है। इस प्रकार अजित कुमार डॉ० शर्मा के इस मत से- ‘छायावाद विरोध अर्थात् आधुनिक भावबोध’ के पर्यायवाली मान्यता से अपनी असहमति जताते हैं। स्पष्ट करते हैं कि वह मूलतः ‘छायावादबोध बनाम आधुनिकता-विरोध’ है। वह यह स्पष्ट करते हैं कि आधुनिक भावबोध में छायावादी तत्वों को स्पष्टतः रेखांकित किया जा सकता है। इन्हीं के समान भारतभूषण अग्रवाल की दृष्टि में वह तत्व “स्वप्नशीलता उसकी आंतरिकता, उसकी वैयक्तिकता और उसकी विद्रोह भावना है। हाँ, उसके अन्य ह्रसोन्मुख तत्व ज़रूर आज के कवि ने त्याग दिए हैं।”²¹⁷ इसप्रकार भारतभूषण अग्रवाल, श्रीकांतवर्मा, अजित कुमार

के यहाँ आधुनिक भावबोध का तात्पर्य छायावाद का विरोध न होकर बल्कि छायावादी-बोध का विरोध है, इसके अतिरिक्त इनकी मान्यता है कि छायावाद के जो प्रगतिशील तत्व हैं, आधुनिकतावादी कवियों में उन्हें स्पष्ट लक्षित किया जा सकता है। जिसे उन्होंने अंगीकार किया है।

मुरलीमनोहर प्रसाद सिंह भी आधुनिक भावबोध को रोमांटिसिज़्म का विरोधी नहीं मानते हैं बल्कि रोमांटिसिज़्म का नया रूप ही, 60 के बाद की पीढ़ी में देखते हैं- “मेरे विचार से रोमांटिसिज़्म अपने स्थिर रूप में जितना महत्वपूर्ण है, उससे अधिक महत्वपूर्ण है उसका नया रूप आज की पीढ़ी के मन में है।”²¹⁸ मुरलीमनोहर प्रसाद सिंह अपने वक्तव्य में यह स्पष्ट करते हैं कि किसी लेखक द्वारा किसी राजनीतिक पार्टी से संबंध रखने का विरोध भी कभी “यह रूमानी संस्कार-सा बन गया था कि लेखक का राजनीतिक पार्टियों से कुछ भी संबंध नहीं होना चाहिए। यह संस्कार चरम व्यक्तिवादिता के आवेश में ‘नई कविता’ ने गढ़ा था। उन्हीं रूमानी आदतों के विरुद्ध नया लेखन है।”²¹⁹ इसके अतिरिक्त वह यह भी स्पष्ट करते हैं कि ‘इस पीढ़ी के रचनाकार राजनीतिक दायित्व का अनुभव करते हुए सजग लेखन में विश्वास करते हैं। यह रूमानी संस्कार छोड़े बिना संभव नहीं है।’²²⁰ नरेश सक्सेना के नजदीक ‘रोमांटिक दृष्टि बाधक दृष्टि के रूप में आती है। उन्हें रोमांटिक दृष्टि आस्थावादी प्रतीत होती है। शमशेरबहादुर सिंह के यहाँ रूमानियत एक प्रकार का वाग्जाल है और नरेश सक्सेना की पीढ़ी में- “रूमानियत का वाग्जाल इसमें नहीं है- जिससे पिंड छुड़ाने का ये रास्ता बना रहे हैं... रूमानियत में शक्ति खर्च न कर बचाकर रखनायह ढंग नितांत नया है।”²²¹ शमशेरबहादुर सिंह का अपने बारे में मत है कि “मैं बहुत हद तक छायावाद से जुड़ा रहा हूँ, खुद को दूर रखने की कोशिशों के बावजूद। मेरे भावबोध में वह चीज़ दृष्टि को धुँधला करने में वर्तमान है।”²²² गिरिजाकुमार माथुर अपने वक्तव्य में डॉ० रामविलास शर्मा के मत का विरोध करते हैं, और ‘आधुनिकता’ का अर्थ स्पष्ट करते हैं “‘आधुनिकता’ मनुष्य के नूतन वैज्ञानिक मोक्ष का ऐतिहासिक आयाम है, उसके सर्वांगीण हित की

स्थिति है।”²²³ और रोमांटिसिज़्म का यथार्थ विरोध वायवी दृष्टि से युक्त मानते हैं; यह सवाल करते हैं कि “क्या यथार्थ को दूरस्थ, वायवी दृष्टि से देखनेवाला रोमांटिसिज़्म यथार्थवाद से जुड़ सकता है।?”²²⁴ और आधुनिक लेखक को वैज्ञानिक युगचेतना से संपृक्त मानते हुए स्पष्ट करते हैं कि “रोमानवाद का वह विरोध करता है क्योंकि विज्ञान के युग में वह दृढ़स्थिर वस्तुवाद को मानता है।”²²⁵ इस प्रकार गिरिजाकुमार माथुर की दृष्टि में आधुनिकतावादी कवियों की “वस्तुमुखी प्रवृत्ति किसी भी पुराने आर्थिक समीकरण से विश्लेषित नहीं हो सकती, उसके लिए नई कसौटियाँ चाहिए। रोमानवाद की कसौटी भी उसके लिए अनुपयुक्त है। वैज्ञानिक युग की सबसे बड़े कसौटी तथ्यों के परीक्षण तथा ‘ट्रायल’ और ‘एरर’ की कसौटी है। जिसे ‘एंपिरिकल कसौटी’ कहते हैं... आधुनिकता को उसके वर्तमान संदर्भ में समझना होगा, वैज्ञानिक संस्कृति के ऐतिहासिक अर्थ में उसे पहचानना होगा।”²²⁶ इस प्रकार गिरिजाकुमार माथुर ‘आधुनिकता’ को वैज्ञानिक दृष्टि के समतुल्य रखते हैं। और छायावाद की चर्चा करने पर भारतभूषण अग्रवाल के समान सवाल उठाते हैं कि इस समय छायावाद जब दूर की इतिहास की वस्तु हो गई है, तो उसको ही पुनर्स्थापित करने का कारण क्या है? वस्तुतः गिरिजाकुमार माथुर आधुनिकतावादी भावबोध की पक्षधरता की बात करते हैं, और रोमांटिक वृत्ति का विरोध करते हैं, और उसे वैज्ञानिकता के समतुल्य रख कर देखने की बात करते हैं।

इस परिसंवाद में प्रायः सभी ने डॉ० रामविलास शर्मा के ‘छायावादविरोध अर्थात् आधुनिक भावबोध’ के मत का प्रत्याख्यान ही करते हैं। इसके मत के विरोध के लपेटे में कुछ सह-भागियों ने ‘छायावाद’ का ही विरोध करने लगते हैं; जबकि अधिकांश लेखकों की मान्यता है कि आधुनिकता-बोध में रोमांटिक तत्व किसी न किसी रूप में विद्यमान है। इस परिसंवाद के अंतर्गत नामवर सिंह का वक्तव्य भी प्रकाशित है। नामवर सिंह का मत है कि आधुनिकतावाद का तात्पर्य छायावाद का विरोध न होकर ‘छायावादी दृष्टि’ का विरोध है। उनकी मान्यता है कि 1960 के बाद

के रचनाकारों का मुख्य विरोध गाँधी और नेहरू की राजनीतिक विचारधारा से है। इसीलिए 'उनके मन में इस राजनीति के विरुद्ध तीव्र विद्रोह है, इसीलिए वे इस राजनीति से संबद्ध छायावादी दृष्टि के भी खिलाफ है।'²²⁷ इस प्रकार छायावादी संस्कारों के विरोध का कारण नामवर सिंह तत्कालीन राजनीतिक-सामाजिक परिवेश में ढूँढ़ते हैं। 1960 के बाद का युग नेहरू का अंत व मोहभंग का युग है, जिसमें युवाओं की आक्रोश स्पष्ट लक्षित किया जा सकता है जहाँ वे अपने पूर्ववर्ती पीढ़ी की तरह मोह में नहीं जीते हैं, बल्कि स्वयं भारतीय राजनीति के यथार्थ का खट्टा स्वाद चखते हैं; इसलिए उनके यहाँ यथार्थ का नंगा रूप देखने को मिलता है, कि हमें सपने में नहीं जीना है जो हम हैं, जो हमारा यथार्थ है उसी में हमें रहने दिया जाए, उस पर कोई रोमांटिक आवरण नहीं चढ़ाया जाए। इस प्रकार 'यथार्थ का दबाव इतना तीखा है और उसे हूबहू देखने का आग्रह इतना प्रबल है कि छायावादी इंद्रजाल को तोड़ना ज़रूरी मालूम देता है।'²²⁸ उनका मानना है कि छायावादी संस्कार इतना अधिक प्रबल है कि "हरपीढ़ी ने अपने पूर्ववर्ती दौर उसके छायावाद-विरोध के बावजूद रोमांटिक कहा है... और हिंदी कविता इतने संघर्षों के बाद भी उससे मुक्त नहीं हो सकी।'²²⁹

नामवर सिंह पर भी यह आरोप लगाया जाता रहा है कि उन्होंने 'छायावाद' पर पूरी एक किताब लिखते हैं जबकि 1960 के बाद 'कविता के नए प्रतिमान' में छायावाद का ही विरोध करने लगते हैं। इस संदर्भ में उनका मत है कि "सवाल दरअसल छायावादी काव्य के स्वीकार-अस्वीकार का नहीं, बल्कि छायावादी-दृष्टि को स्वीकार-अस्वीकार करने का है। छायावादी-दृष्टि और छायावादी काव्य एक नहीं हैं।'²³⁰ ध्यान दिया जाए तो 'कविता के नए प्रतिमान' में भी इसी 'छायावादी-दृष्टि' अथवा 'छायावादी भावबोध' या संस्कार का ही विरोध किया गया है। नामवर सिंह 'कविता के नए प्रतिमान' में स्पष्ट करते हैं कि "छायावादी काव्य-संस्कार आज भी कितने प्रबल हैं। इन संस्कारों के रहते नई कविता की स्वीकृति का कोई अर्थ नहीं। जब तक नई कविता इस संस्कार को तोड़कर

अपने लिए उसमें जगह नहीं बनाती अथवा स्वयं वह संस्कार ही सच्चे अर्थों में अपनी सीमा तोड़कर नई कविता को अंतर्भुक्त करने का प्रयास नहीं करता, तब तक नई कविता बौद्धिक रूप से स्वीकृत होकर भी काव्य-बोध के स्तर पर हिंदी साहित्य के इतिहास में एक तथ्य-मात्र है।”²³¹ इसके अतिरिक्त छायावाद और आधुनिक भावबोध के बीच का द्वंद्व वह ‘यथार्थ और अयथार्थ’ का द्वंद्व है। जिसे डॉ० रामविलास शर्मा ‘नया यथार्थवादी रुझान’ कहते हैं। नामवर सिंह अजित कुमार, भारतभूषण अग्रवाल, गिरिजाकुमार माथुर के समान ही रामविलास शर्मा से प्रश्न करते हैं कि छायावाद के समर्थन का कारण क्या है?? और “आखिर छायावादी कविता से अपने ‘घनिष्ठ संबंध की घोषणा करने की आवश्यकता सहसा क्यों पड़ी?”²³²

इस प्रकार इस परिसंवाद के विषय-प्रवर्तन के उपरांत सहभागी लेखकों ने अपने वक्तव्यों में जो प्रश्न उठाए हैं उनका समाधान डॉ० रामविलास शर्मा ने किया है अजित कुमार ने जो प्रश्न किया था कि डॉ० शर्मा अपने वक्तव्य में ‘प्रगतिवाद’ का नाम क्यों नहीं लेते? डॉ० शर्मा उसका उत्तर देते हुए कहते हैं कि “उत्तर है, आधुनिकता-बोध का अर्थ हो गया है छायावाद विरोध”, न कि ‘प्रगतिवाद-विरोध’²³³ और यही कारण है कि प्रगतिवाद के संदर्भ में रामविलास जी कुछ नहीं कहते। इसके अतिरिक्त ‘छायावाद’ और ‘छायावादी-दृष्टि’ को अलग देखे जाने के सुझाव पर डा० शर्मा का मत है कि “छायावाद एक वाद है, वाद का अर्थ है विचारधारा। मेरा कहना है जैसे रीतिवाद विचारधारा मात्र का द्योतक नहीं है वैसे ही छायावाद शब्द में विचारधारा के अतिरिक्त भाव-बोध, शब्द-चयन, कवि-कौशल सभी कुछ शामिल है।”²³⁴

डॉ० रामविलास शर्मा इस प्रश्न का भी उत्तर देते हैं कि वह इस परिसंवाद में छायावाद का समर्थन क्यों करते हैं? और ‘तारसप्तक’ के प्रथम प्रकाशन में उनका वक्तव्य नहीं था, जबकि दूसरे संस्करण में उनका वक्तव्य है जिसमें उन्होंने अपना संबंध छायावाद से जोड़ा है, उसके कारण पर भी चर्चा करते हैं। ‘तारसप्तक’ के दूसरे संस्करण में वक्तव्य प्रकाशन को लेकर उनका कहना है

कि 'उनका वक्तव्य प्रथम संस्करण में प्रकाशित होनेवाला था, जो 'अज्ञेय' से कहीं खो गया, जिसके विषय में अज्ञेय ने उन्हें सूचित कर दिया था, जबकि "दूसरे संस्करण के समय, जिसे देखो वही छायावाद पर कीचड़ उछालकर अपने आधुनिकताबोध का परिचय दे रहा था, ऐसी परिस्थिति में मैंने छायावाद से अपने संबंध का स्पष्टीकरण आवश्यक समझा... 'तारसप्तक' में निरालाजी पर मेरी कविता पढ़कर कोई भी छायावाद के प्रति मेरी भावना समझ सकता है।"²³⁵ इस संदर्भ में अजित कुमार का वक्तव्य ध्यान देने योग्य है जिसमें उनका कहना है कि 'डॉ० रामविलास शर्मा का संस्कार छायावादी काव्य आंदोलन द्वारा निर्मित है वह उनके समकालीन साहित्यिक आंदोलन था. .. उनके लिए यह स्वाभाविक ही नहीं अनिवार्य भी था कि वे छायावादी कविता का समर्थन करने लगते।'²³⁶ जबकि नामवर सिंह भी इसी तथ्य को स्वीकार करते हैं कि "रामविलास जी छायावाद के गहरे प्रशंसक रहे। छायावाद के काल में उनका संस्कार बना था"²³⁷

इस प्रकार इस परिसंवाद के माध्यम से यह स्पष्ट हुआ कि हिंदी कविता की 1960 के बाद की काव्यधारा रोमांटिक अर्थात् छायावाद विरोधी काव्यधारा नहीं थी, बल्कि छायावादी भावबोध या संस्कार का विरोधी थी। जबकि वक्तव्यों में स्पष्ट है कि छायावाद का विरोध वहाँ नहीं है, बल्कि वह कई स्तरों पर रोमांटिक तत्वों को अपने साथ आत्मसात किए हुए हैं, किंतु यहाँ एक नया यथार्थवादी रुझान देखा जा सकता है। जो वैज्ञानिक और वस्तुमुखी है, जो उसे छायावादी या रोमांटिक भावबोध से अलग करती है।

ध्यातव्य है कि इस परिसंवाद के साथ ही एक 'पूरक सामग्री' जो 'रोमांटिसिज़्म, समकालीन कविता और समाजवाद' शीर्षक से प्रकाशित हुआ है, जिसमें 'ग्रेब्रिएल पियर्सन', 'डेविड क्रेग', और 'स्टेनली मिचेल' के वक्तव्य हैं। इस 'पूरक संवाद में ग्रेब्रिएल पियर्सन रोमांटिसिज़्म के समर्थन में हैं, उनका मत है कि "कुछ दिन पहले अंग्रेज़ी में 'आधुनिक' कविता को रोमांटिक कविता का विरोधी तथा उससे भिन्न समझा जाता था।.... (किंतु) अकाट्य तथ्यों के आधार पर यह प्रमाणित

कर दिया गया है कि आधुनिक कविता सिद्धांत और व्यवहार दोनों स्तरों पर मूलतः रोमांटिक है। .. आज की कविता में जो कुछ भी मूल्यवान है वह मूलतः रोमांटिक है।”²³⁸ पियर्सन का यह मत भी ध्यातव्य है कि “अस्तित्ववाद के प्रभाव के कारण आजकल जिसे अनुभूति की प्रामाणिकता कहा जाता है वह ‘ईमानदारी’ की रोमांटिक अवधारणा का ही आधुनिक रूपांतर है।”²³⁹ इस प्रकार पियर्सन रोमांटिक कविता और आधुनिक कविता को एक साथ रखकर पूरक के रूप में देखते हैं। जबकि डेविड क्रेग इनकी मान्यताओं का खंडन मार्क्सवादी विचारधारा से प्रभावित रचनाकारों ब्रेख्त, मैक्डायरमेड आदि की रचनाओं के आधार पर करते हैं। डेविड क्रेग का मत है कि “पियर्सन भावबोध की विच्छिन्नता (डिस्सोसिएशन ऑफ सेंसिबिलिटी) की धारणा एवं नितांत निजी भावनाओं की प्रवृत्ति को अत्यधिक महत्व देते हैं, और इसी कारण उन्हें आज की अधिकांश कविताएँ रोमांटिक लगती हैं।... इसके अतिरिक्त वे कविता के लिए किसी अन्य संगत आधार को स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं है।”²⁴⁰ इसके विरोध में क्रेग मार्क्सवादी-समाजवादी कवियों की रचनाओं का उल्लेख करते हुए स्पष्ट करते हैं कि कविताएँ इस दावे को सहज ही उलट देती हैं “इन कवियों कि रोमांटिक कविता ही आज की सच्ची कविता है। और समाजवादी यथार्थवाद काव्य रचना की दृष्टि से बंजर है।”²⁴¹ इस प्रकार डेविड क्रेग अपने वक्तव्य में रोमांटिक काव्य दृष्टि के बरक्स समाजवादी यथार्थवादी काव्य दृष्टि का जोरदार समर्थन करते हुए देखे जा सकते हैं। ग्रेब्रिएल पियर्सन और डेविड क्रेग दोनों विद्वानों की मान्यताएँ एक दूसरे के विरोध में जाती हैं। दोनों विद्वानों की मान्यताओं के अतिवाद को रेखांकित करते हुए स्टैनली मिचेल अपना मत रखते हैं और स्पष्ट करते हैं कि ‘समाजवादी यथार्थवादी कविता के लिए रोमांटिसिज़्म फलप्रद हो सकता है।’ और रोमांटिसिज़्म के विद्रोही तत्व को अत्यंत महत्वपूर्ण मानते हैं और स्पष्ट करते हैं कि रोमांटिसिज़्म में रूस, पोलैंड, हंगरी, जर्मन इटली आदि में “राष्ट्रीय पुनर्जन्म की सांस्कृतिक अभिव्यक्ति”²⁴² हुई थी और “रोमांटिसिज़्म ने ‘विशेष’ और ‘राष्ट्र’ के लिए संघर्ष किया। रोमांटिसिज़्म के लोक-आधार

का यही रहस्य है। भ्रष्ट और पतित आभिजात्य के विरुद्ध लड़ने में लोक-जीवन की उष्ण मानवीयता, लोकगीतों की ताज़गी और लोकमिथकों की जीवंतता बोर्जुआ कवियों को बहुत कारगर मालूम हुई।²⁴³ मिचेल रोमांटिसिज़्म के उस प्रगतिशील पक्ष को स्पष्ट करते हैं। और जो लोग यथार्थवाद और रोमांटिसिज़्म में घोर विरोध ही देखते हैं स्टेनली मिचेल उनमें पूर्वापर संबंध रेखांकित करते हैं “ठेठ रोमांटिसिज़्म के बाद सामाजिक उपन्यास ही यूरोपीय साहित्य के विकास की मुख्यधारा नियत करते हैं और इस प्रकार वे यथार्थवाद की अवधारणा को जन्म देते हैं।”²⁴⁴ इसी प्रकार रोमांटिसिज़्म की विद्रोही प्रवृत्ति को देखकर जो विद्वान उसे समाजवाद से जोड़ कर देखते हैं उस संबंध में मिचेल का मानना है कि- “निस्संदेह समाजवादी (होने) के नाते हम रोमांटिक विरासत के साझीदार हैं, लेकिन रोमांटिक कवियों को समाजवादी समझना ग़लत है।”²⁴⁵

रोमांटिक बनाम आधुनिक परिसंवाद के प्रत्युत्तर में अपनी प्रतिक्रिया देते हुए परमानंद श्रीवास्तव इस बहस को ‘रोमांटिक बनाम आधुनिक’ नहीं कह कर इसे ‘सर्वकालीन बनाम समकालीन’ कहते हैं।²⁴⁶ इस ‘विनिमय’ के अंतर्गत परमानंद श्रीवास्तव अपनी बेबाक टिप्पणी करते हैं। उनका मानना है कि उक्त ‘संवाद’ में रामविलास जी की मान्यताओं में असंगति है और स्पष्ट करते हैं कि रामविलास जी ‘आधुनिक साहित्य’ को छायावाद की अस्वीकृति के रूप में लेते हैं यदि “रामविलास जी छायावाद की अस्वीकृति के समानांतर आधुनिक साहित्य को रखते हुए उसकी समस्याओं को समझने की कोशिश करते तो उनके निष्कर्षों में अति-सरलीकरण न होता।”²⁴⁷ परमानंद श्रीवास्तव स्पष्ट करते हैं कि “इस बहस के क्रम में अधिक उपयोगी होता है यह देखना कि रोमांटिक बनाम आधुनिक भावबोध की व्याख्या के क्रम में इस्तेमाल किए जानेवाले शब्दों के अर्थ किस प्रकार बदलते हैं।... अच्छा होता कि यही बहस ‘सर्वकालीन बनाम समकालीन’ जैसे दो दूक जैसे विषय पर चलाई जाती।”²⁴⁸

उपर्युक्त ‘परिसंवाद’ के माध्यम से स्पष्ट हो जाता है कि ‘आधुनिकतावादी’ कही जानेवाली

कविताएँ और उनके रचनाकारों को रोमांटिक संस्कार से किस प्रकार लड़ना पड़ा है और साथ स्वयं उनके विकास में रोमांटिक कविताओं का कितना अधिक योगदान है। हिंदी आलोचना जगत की इस प्रमुख साहित्यिक समस्या पर परिसंवाद आयोजित कर 'आलोचना' पत्रिका ने एक काम यह किया कि आक्रोशित युवा पीढ़ी की रोमांटिकता विरोध की कारणों की पड़ताल हो गई। इसके साथ-साथ रोमांटिक विरोध का मतलब स्पष्ट हुआ कि सन् 60 के बाद के युवा कवियों का विरोध छायावाद अथवा रोमांटिक कविता से न होकर उस छायावादी संस्कार से है, जो नई कविता के दौर के बाद भी प्रबलता से विद्यमान है, जिससे कविता में यथार्थ आवरण में ही पड़ा रह जाता है, जीवन से कई बार फटा हुआ दिखाई पड़ता है। इस प्रकार 'रोमांटिक बनाम आधुनिक' परिसंवाद में रोमांटिकता के विविध आयाम देखने को मिलते हैं एक जिसे डेविड क्रेग रोमांटिसिज़्म को समाजवाद के लिए फलदायक मानते हैं,²⁴⁹ तो दूसरी तरफ स्टेनली मिचेल रोमांटिसिज़्म के क्रांतिकारीरूप एवं राष्ट्रीय चेतना के आयाम के रूप में चिह्नित करते हैं²⁵⁰ वहीं 'आधुनिकतावादी' कही जानेवाली कविताओं का स्वरूप भी स्पष्ट होकर आता है। जिसमें यथार्थ की हूबहू नकल रख देने की प्रवृत्ति के कारणों की पड़ताल हो जाती है, जहाँ उसका संबंध स्पष्ट अपने समकालीन राजनीतिक परिवेश से जुड़ा हुआ है, जो अपनी स्थिति का पूर्णतया बोध कराने को बेचैन है। इन तथाकथित आधुनिकतावादी कवियों के यहाँ तीव्र आक्रोश व घोर असंतोष की भावना को देखा जा सकता है। चूँकि इन कवियों का संबंध नेहरू युग के अंत व तद्‌युगीन मोहभंग के कटु यथार्थवादी समय से रहा है, जिसने अमरीकी बीट कवियों के प्रभाव में आकर अपने नंगे यथार्थ को उघाड़कर रख देने को ही अपना लक्ष्य बना लिया था। स्पष्ट है कि नंगे यथार्थ की आँधी में रोमांटिक भावबोध का आवरण छिन्न-भिन्न हो गया। इस पीढ़ी को आधुनिकतावादी पीढ़ी के रूप से उस प्रकार नहीं जाना गया जितना कि 'अकविता', 'क्रुद्ध पीढ़ी', 'विद्रोही पीढ़ी', 'बीट पीढ़ी', आदि नामों से।²⁵¹ वस्तुतः इस परिसंवाद के माध्यम से 'आलोचना' ने रोमांटिक भावबोध की अवधारणा को स्पष्ट किया, वहीं 'आधुनिक भावबोध के

निहितार्थ को भी स्पष्ट किया। न केवल यही बल्कि 1960 के बाद युवा लेखन को समझने का एक आधार भी मिलता है। और उनके आत्म व बाह्य के द्वंद्व को समझने का अवसर भी मिलता है, जिसका आगे विकास 'समकालीन कविता' में दिखाई पड़ता है। इन्हीं संदर्भों को और स्पष्ट करने के लिए नामवर सिंह 'युवा लेखन पर एक बहस' परिसंवाद का आयोजन 'आलोचना' पत्रिका में करते हैं।

1.6 आलोचना की भाषा

नामवर सिंह संपादित 'आलोचना' पत्रिका की एक महत्वपूर्ण उपलब्धि 'आलोचना की भाषा' पर परिसंवाद का आयोजन है। 'आलोचना' पत्रिका के नवांक 02 (जुलाई-सितं., 1967) में इस परिसंवाद का आयोजन किया गया था। इस आयोजन में रामस्वरूप चतुर्वेदी, कृष्णनारायण कक्कड़, यशदेव शल्य, सुरेंद्र बारलिंगे, सुरेश अवस्थी और अशोक वाजपेयी की सहभागिता रही। इस परिसंवाद के अतिरिक्त इसी अंक में सुरेंद्र चौधरी का निबंध 'आक्रोश की भाषा और भाषा का आक्रोश' भी मूलतः इसी विषय पर केंद्रित है।

हिंदी आलोचना 'काव्य-भाषा' पर जितने महत्वपूर्ण एवं गंभीर अध्ययन-विश्लेषण से समृद्ध है, 'आलोचना की भाषा' संबंधित अध्ययन में हमें उतनी ही दरिद्रता देखने को मिलती है। वस्तुतः यह तथ्य है कि आलोचना की भाषा पर किसी आलोचक की टिप्पणी आदि को छोड़कर शायद ही कोई गंभीर व उल्लेखनीय कार्य हमें दिखाई पड़े। इस परिप्रेक्ष्य में देखने से ही हम इस विषय पर परिसंवाद आयोजित करने का महत्व समझ सकते हैं। किसी पत्रिका द्वारा 'आलोचना की भाषा' पर परिसंवाद का आयोजन का यह एक दुर्लभतम उदाहरण है। परमानंद श्रीवास्तव के मतानुसार " 'आलोचना की भाषा' पर विचार एकदम नई चीज है। ले-देकर 'आलोचना' पत्रिका के 'आलोचना की भाषा' नामक विशेषांक का ही उल्लेख किया जा सकता है।"²⁵² ध्यातव्य हो कि जिस दौर में यह परिसंवाद आयोजित किया गया था उस समय को 'लघुपत्रिका आंदोलन' का काल

कहा जाता है, और प्रसिद्ध आलोचक परमानंद श्रीवास्तव ने अपना उपर्युक्त मत दिया होगा तो उनकी दृष्टि में यह आंदोलन भी अवश्य रहा होगा। उपर्युक्त मत के अतिरिक्त भी यदि ध्यान दिया जाए तो इस संदर्भ में कोई उल्लेखनीय पुस्तक भी हिंदी आलोचना पटल पर हमें दिखाई नहीं पड़ती। काव्य-भाषा पर तो फिर भी हमें गंभीर व महत्वपूर्ण कार्य देखने को मिले हैं। किंतु इसकी स्थिति भी बेहतर नहीं कही जा सकती। डॉ० रामस्वरूप चतुर्वेदी का मानना है कि “हिंदी साहित्य के क्षेत्र में रचनात्मक भाषा की ओर ध्यान यों ही कम दिया जाता रहा है और आलोचना की भाषा के बारे में तो चिंता करने की कभी जरूरत ही महसूस नहीं की जाती है।”²⁵³ इसी प्रकार नामवर सिंह इस परिसंवाद के आयोजन के पीछे कारणों की पड़ताल करते हुए अपने संपादकीय वक्तव्य में लिखते हैं कि ‘रिचर्ड्स को अंग्रेजी में जिस वाग्जाल का सामना इस शताब्दी के दूसरे दशक में करना पड़ा, हिंदी में शुक्लजी को यह स्थिति तीसरे दशक में मिली, और हमें यदि वही बात आज भी दुहराने की जरूरत महसूस होती है तो बहुत-कुछ इसलिए कि अपने यहाँ आलोचना के क्षेत्र में भाषा के स्तर पर दृढ़ता के साथ उस संघर्ष को आगे नहीं बढ़ाया गया। ‘आलोचना के दायित्व’ और ‘आलोचना प्रतिमान’ की बातें तो बहुत हुई, किंतु जिस भाषा के माध्यम से वह दायित्व संपन्न होता है, उसकी चर्चा बहुत कम हुई।”²⁵⁴ इसके अतिरिक्त नामवर सिंह संपादकीय वक्तव्य में स्पष्ट करते हैं कि “शुक्लजी ने ‘आलोचना की भाषा’ का सवाल उठाया था तो इसलिए कि उक्त वाग्जाल के कारण ‘घोर विचार-शैथिल्य और वृद्धि का आलस्य फैलने को खतरा था। उन्हें समालोचना का हवाई और विचारशीलता का ह्रास’ परस्पर संबद्ध प्रतीत हुआ था। इससे स्पष्ट है कि आलोचना की भाषा का सवाल केवल भाषा का सवाल नहीं है।”²⁵⁵ इसप्रकार ‘आलोचना की भाषा’ पर परिसंवाद के आयोजन का एक अर्थ तो यह है कि यह देखा जाए कि आलोचना अथवा समीक्षा-कर्म जिस भाषा में संपन्न हो रहा है उस भाषा का स्वरूप क्या है? दूसरे यह कि उस भाषा के प्रयोक्ता आलोचक की आलोचनात्मक विवेक की पड़ताल की जा सके, जिससे उसकी आलोचना के स्वरूप

का पता लगाया जा सके, क्योंकि 'आलोचना की भाषा केवल भाषा का सवाल नहीं है।' यह 'आलोचना के स्वरूप' का भी सवाल है। आलोचना की भाषा में वाग्वैचित्र्य, अस्पष्टता, वागाडंबर आदि भाषा-शैथिल्य को ही नहीं बल्कि अशोक वाजपेयी मत में²⁵⁶ अधिकांश सामान्य आलोचना-बुद्धि और स्तर की गिरावट ही सूचित करते हैं। इस पर नामवर सिंह की टिप्पणी है 'सामान्य आलोचना-बुद्धि और स्तर की गिरावट सबसे पहले भाषा के स्तर पर दिखाई पड़ती है।' इस प्रकार 'आलोचना की भाषा पर व्याप्त संकट को ही रेखांकित करने और उसकी तह तक जाकर उसके समाधान ढूँढने का प्रयास भी हमें दिखाई पड़ता है। आलोचना को इस भाषा चिन्ता में प्रकारांतर से 'आलोचना की चिन्ता भी निहित है।

'आलोचना' पत्रिका के समय में 'आलोचना की भाषा' का स्वरूप क्या था? इस पर यदि ध्यान दें तो यह स्पष्ट हो सकेगा कि 'आलोचना की भाषा का कौन-सा रूप प्रचलन में था, जिसके कारण इस परिसंवाद की तीव्र आवश्यकता महसूस की गई होगी। शचीरानी गुटू अपनी पुस्तक की भूमिका में प्रभाकर माचवे के मत को उद्धृत करती हैं जिसमें आलोचना की भाषा का एक रूप देखा जा सकता है- "एक ओर संयुक्त साहित्य मोर्चे की चर्चा और दूसरी ओर ये प्रतिदिन के फ़रमान-आज शिवदान सिंह चौहान को चारों खाने चित्त करो, कल पंत के पटक दे मारो, परसों रांगेय राघव को 'धोबी पछाड़' दो, नरसों यशपाल पर लट्ठ लेकर दौड़ पड़ो। यह है साहित्यिक आलोचना के क्षेत्र में रामविलास की पहलवानी, और उनके पट्ट शिष्य चंद्रबली सिंह जी का उस्ताद की ताबीज पहनकर मुग़दर में तेल चुपड़ना।"²⁵⁷ यह प्रगतिशील कहे जाने वाले आलोचक की भाषा का एक उदाहरण है। दूसरा उदाहरण धर्मवीर भारती का भी देखना चाहिए जो स्वयं कभी 'आलोचना' पत्रिका के संपादक रह चुके थे 'जैसे एक पागल कुत्ता कभी कभी खिसिया कर अपनी ही पूँछ नोंचने के लिए नाचने लगता है, वैसे ही इन प्रगतिवादियों ने अपने ही पक्ष वालों को हाथ नचा-नचाकर गालियाँ देनी शुरू की।"²⁵⁸ स्पष्ट है कि यह दोनों उदाहरण आलोचना की भाषा को ही घोटित करते हैं। यह

भी स्पष्ट है कि न तो यह आलोचना ही है और नहीं 'आलोचना की भाषा' के रूप में संदर्भित किए जाने योग्य है। दूसरा उदाहरण एक महत्वपूर्ण पत्रिका 'विकल्प' का है जिसके द्वारा मई, 1967 में 'लेखकीय संत्रास और रचनात्मक असामर्थ्य बोध' विषय पर परिचर्चा आयोजित की गई थी। आयोजकीय वक्तव्य के पहले पैरेग्राफ की पंक्तियाँ कुछ इस प्रकार दी गई हैं "सहस्राब्दियाँ, शताब्दियाँ, सभ्यताएँ, संस्कृतियाँ, परंपराएँ, नैतिकताएँ, शाश्वतमूल्य, नई संचेतना, भोगे हुए यथार्थों की अभिव्यक्ति सांकेतिकता, प्रामाणिकता और प्रतिबद्धता-संक्रमण, संक्रांति, आतंक संत्रास, विघटन, विभाजन, मूल्यहीनता, धूरीहीनता, दिशाशून्यता, परंपरा और विद्रोह, विस्फोट, निषेध, नए सत्यों की खोज, सलीबों की खोज... पुरानी, बिचली, नई, भूखी, नंगी और विद्रोही पीढ़ियाँ... न जाने कितने शब्द, न जाने कितने संदर्भों का अन्वेषण और इसके बावजूद अभिव्यक्ति का संकट।"²⁵⁹ इसके प्रतिउत्तर में गंगाप्रसाद विमल कहते हैं कि- आपका वक्तव्य एक-पीड़ित लेखक की झूठी भाषा लगती है।... बहुत हद तक परिपत्र की, भाषा बुनियादी सवालों की जगह रोंगटे खड़े करनेवाली भेड़िया आया आवाज़ का रूपांतर है।²⁶⁰ यहाँ तक कि यशपाल जैसे कथाकार को जब उस परिपत्र की भाषा समझ में नहीं आई तो उन्होंने लिखा कि- 'विकल्प' के आयोजकीय को समझ नहीं पाया... मानना पड़ रहा है कि चर्चा का स्तर मेरे मनन- सामर्थ्य से कुछ ऊँचा है।²⁶¹ रमेश बक्षी ने लिखा था कि 'यह भाषा मेरी समझ के बाहर है।'²⁶² मुद्राराक्षस तक ने लिखा है कि 'लगा, बहुत कुछ समझ नहीं पा रहा हूँ।'²⁶³ तो यह उपर्युक्त स्थिति नामवर सिंह के संपादन के समय की भाषा की थी। और यह भाषा तत्कालीन आलोचना के स्वरूप को ही प्रकारांतर से द्योतित करती है। 'आलोचना की भाषा' पर आयोजित परिसंवाद को इसी प्रकार जड़ता को तोड़ने, आलोचना के स्वरूप को बचाने और स्वस्थ आलोचना की भाषा के निर्माण की चिंता के परिप्रक्ष्य में ही रखकर देखना चाहिए। इसके अतिरिक्त नामवर सिंह का मत है कि इस परिसंवाद के माध्यम से "आलोचना की भाषा में गिरावट पर चिंता व्यक्त करते हुए उसकी प्रकृति और कारणों का विश्लेषण किया

था।¹²⁶⁴

‘आलोचना’ पत्रिका द्वारा आयोजित इस परिसंवाद में यदि वक्तव्यों को देखें सभी वक्तव्यों में भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण से आलोचना की भाषा पर विस्तार से चर्चा-परिचर्चा की गई है। डॉ. रामस्वरूप चतुर्वेदी और सुरेंद्र चौधरी आलोचना की भाषा के संबंध में चिंता व्यक्त करते हुए इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि ‘आलोचना की भाषा’ पत्रकारिता की भाषा हो गई है।¹ रामस्वरूप चतुर्वेदी स्पष्ट करते हैं कि- “भाषा अर्थ-सृष्टि की वाहक भर नहीं, अर्थ-सृष्टि की प्रक्रिया और इसीलिए एक स्तर पर जीवन की ही प्रक्रिया है।.... आलोचक को इस विकसनशील अर्थ-प्रक्रिया को उसी सफाई से व्यक्त करना है जितनी कुशलता से रचना स्वयं जीवन की संश्लिष्टता और समग्रता को व्यक्त करती है।... आलोचना रचना की अर्थ-प्रक्रिया को भी प्रशस्त और समृद्ध कर सके, यही तो उचित और काम्य है”²⁶⁵ इस प्रकार आलोचना कर्म एक बड़ा दायित्व है। और जितना बड़ा दायित्व होता है खतरा भी उतना ही बड़ा होता है। रामस्वरूप चतुर्वेदी समकालीन आलोचना की भाषा को दो खतरे से परिचित कराते हैं “एक ओर ‘आलोचना की भाषा’ पंडिताऊ और कड़ी, समझने की दृष्टि से नहीं, संप्रेषण की दृष्टि से- हो जाती है और दूसरी ओर वह साप्ताहिक पत्रकारिता की पिघलती, उफनती भाषा का रूपधारण कर लेती है। दोनों ही स्थितियों में भाषा का सहज संस्कारी रूप आहत होता है और अनुभव की पकड़ कठिनतर हो जाती है।”²⁶⁶ इस प्रकार डॉ० चतुर्वेदी की चिंता में एक तरफ ‘आलोचना की भाषा’ का पंडिताऊ और कड़ा होना है तो दूसरी ओर उसका पत्रकारिता की भाषा का रूप धारण करना। वे ‘आलोचना की भाषा’ की जीवंतता को जाँचने का माध्यम स्पष्ट करते हैं कि- “किसी समीक्षक द्वारा प्रयुक्त विशिष्ट और केंद्रीय शब्दावली को इस दृष्टि से परखा जाए कि वह अनुभव को किस नए और सार्थक ढंग से पकड़ सकी है। यह ध्यान रखना होगा कि आलोचक द्वारा प्रयुक्त यह शब्दावली विशिष्ट होते हुए भी पारिभाषिक इसलिए नहीं होगी, क्योंकि वह अर्थ और अनुभव की निश्चितता को नहीं, उन्मुक्तता को व्यक्त करना चाहेगी।”²⁶⁷

रामस्वरूप चतुर्वेदी आलोचना की भाषा को रूढ़ व निश्चितार्थ में प्रयुक्त नहीं करके उस भाषा को उन्मुक्त करने के पक्षधर हैं। वह आलोचना की भाषा को 'अर्थ-प्रक्रिया' के संदर्भों में रखकर देखते हैं। जबकि कृष्णनारायण कक्कड़ अपने वक्तव्य में 'आलोचना की भाषा' को किसी भी रचना की 'रचना-प्रक्रिया' से जोड़कर देखते हैं कि "जब हम आलोचना की भाषा बात करते हैं रचना-प्रक्रिया की भी बात आ ही जाती है।"²⁶⁸ उनका मत है कि "जब हम आलोचना की भाषा की बात करते हैं तो हम स्पष्ट रूप से आलोचक की उस दृष्टि को भी ध्यान में रखते हैं जिसके सहारे वह किसी कृति को वर्णित (डिस्क्रिटिव) करता है या उसका मूल्यांकन करता है कि जब हम आलोचना की भाषा का वर्तमान स्थिति का अध्ययन करें तो भाषा और उसकी प्रेषणीयता को दर्शन-क्षेत्र में अलग न मानें। साथ ही आलोचक की उस 'स्कीम' का भी ध्यान रखें जो किसी कृति के समझने-समझाने या मूल्य-निर्धारण में काम आती हैं।"²⁶⁹ इस प्रकार कृष्णनारायण कक्कड़ 'आलोचना की भाषा' के माध्यम से रचना की रचना-प्रक्रिया और आलोचक की आलोचना-प्रक्रिया की 'स्कीम' को स्पष्ट करने की बात करते हैं।

यशदेव शल्य 'आलोचना की भाषा' का अर्थ आलोचना जिस भाषा में लिखी जाती है उसकी आलोचना की मूल्य-प्रक्रिया, मूल्यांकन-पद्धति और उससे जुड़े हुए मूल्य-बोध व मूल्य-निर्णय को महत्वपूर्ण मानते हैं जहाँ मूल्यांकन के लिए युक्तता का संदर्भ (कॉन्टेक्स्ट ऑफ वैलिडिटी) को भी आधार बनाया जाता है। यशदेव शल्य स्पष्ट करते हैं कि आलोचना मूल्य-प्रक्रिया का प्रतिफल और "आलोचना की भाषा का विश्लेषण वास्तव में मूल्यांकन की भाषा का विश्लेषण है।"²⁷⁰

इस परिसंवाद में सुरेंद्र बारलिंगे की भी महत्वपूर्ण भागीदारी देखी जा सकती है। "आलोचना की भाषा' विषय पर ही प्रश्नचिह्न लगाते हुए स्पष्ट करते हैं "सबसे पहले, 'आलोचना की भाषा' यह शब्द प्रयोग ही मुझे संदिग्ध लगता है। बहुधा यह 'लैंग्वेज ऑफ क्रिटिसिज़्म' का हिंदी पर्याय या भाषांतर है। लैंग्वेज ऑफ क्रिटिसिज़्म' का एक अर्थ आलोचना का स्वरूप भी हो सकता है, न

कि केवल आलोचना की भाषा। अर्थात् आलोचना के स्वरूप में आलोचना की भाषा का भी अंतर्भाव हो जाता है।²⁷¹ ध्यातव्य है कि इस परिसंवाद के वक्तव्यों में सहभागिता करनेवाले रामस्वरूप चतुर्वेदी, कृष्णनारायण कक्कड़, यशदेव शल्य, अशोक वाजपेयी आदि के मत में आलोचना की भाषा का तात्पर्य केवल आलोचना की भाषा नहीं है, बल्कि नामवर सिंह के मतानुसार 'आलोचना की भाषा का सवाल केवल आलोचना की भाषा का नहीं है बल्कि आलोचना के स्वरूप का भी है।'

सुरेंद्र बारलिंगे 'आलोचना की भाषा' को महत्वपूर्ण अर्थ-प्रक्रिया से जोड़ते हैं, जिसमें साहित्यिक कृति की आलोचना भाषा से ही संबद्ध है, और साहित्यिक कृतियों की आलोचना ही हो सकती है, क्योंकि "साहित्यिक कृति की और उसकी आलोचना दोनों का संबंध मूलतः एक ही भाषा से है। वे दोनों बहुत-कुछ एक ही स्तर से संबद्ध हैं जो मूल्यांकन से नितांत भिन्न हैं, क्योंकि मूल्यांकन तत्त्वतः एक अन्य ही स्तर की अवधारणा है।"²⁷² इसलिए साहित्यिक कृति भाषा में रचित होने से आलोच्य है जबकि कलाकृतियाँ गैर-भाषिक निर्मिति होती हैं इसलिए उनका उनका मूल्यांकन होता है। इसप्रकार सुरेंद्र बारलिंगे 'आलोचना की भाषा' को व्यापक धरातल पर रखकर देखते हैं। स्पष्ट करते हैं कि आलोचना तभी संभव होगी जब वह 'भाषिक' होगी। सुरेंद्र बारलिंगे आलोचना के लिए 'सामान्य भाषा' के प्रयोग की हियायत करते हैं और उसे 'अर्थ-प्रक्रिया' से जोड़ते हैं।

अशोक वाजपेयी के यहाँ भी 'आलोचना की भाषा' "से मतलब सिर्फ शब्द-व्यवस्था नहीं है, उसमें धारणाएँ, जिज्ञासाएँ और दृष्टि शामिल है।"²⁷³ इनके यहाँ आलोचना का अर्थ है कि- "आलोचना रचना की सार्थकता की खोज करे, उसे परिभाषित करे और इस परिभाषा को भरसक मनुष्य की खोजों की सार्थकता और उनके द्वारा पाई गई दूसरी परिभाषाओं से जोड़ सके।"²⁷⁴ तत्कालीन आलोचना की भाषा को अप्रामाणिक मानते हुए उनका मत है कि "पदों के अभिप्राय स्थिर करने की कोशिश बहुत कम हुई है। नए साहित्य के साथ बहुत सारी नई शब्दावली आई हैं और पचलित शब्दों ने नई अर्थछवियाँ पाई हैं पर उनका अर्थ निश्चित है: वे परिभाषिक होने

का आभास देते हुए वास्तविक उपयोग में बहुतों के यहाँ प्रामाणिक नहीं है।²⁷⁵ अशोक वाजपेयी भी 'आलोचना की भाषा' का तात्पर्य मात्र भाषा तक सीमित नहीं मानते बल्कि आलोचकों की भाषा में कमजोरी "अधिकांश आलोचना-बुद्धि और स्तर की गिरावट ही सूचित करता है।"²⁷⁶ अशोक वाजपेयी के मतानुसार कभी नए कवियों ने जीवंत भाषा की तलाश की थी, जो धीरे-धीरे बारंबार व्यवहृत होकर निष्करुण परंपरा भर रह गई... बँधे-बधाए ढर्रे या परिपाटी की आवृत्ति भर होने लगी।²⁷⁷ इसप्रकार हम देखते हैं कि 'आलोचना की भाषा' मात्र आलोचक की भाषा चेतना को ही घातित नहीं करती है बल्कि आलोचना कैसी है और क्या है यह भी स्पष्ट होता है।

सुरेंद्र चौधरी अपने निबंध में स्पष्ट करते हैं कि आलोचना को कृत्रिम गद्य का खतरा केवल हमारी पीढ़ी के सामने नहीं है। आज से पहले भी इस तरह के खतरे पैदा हुए हैं।²⁷⁸ आलोचना की भाषा के लिए यह खतरा 'रिपोर्ताज और दैनिक बुलेटिन की' भाषा से ही है।²⁷⁹ और "पत्रकार आज आलोचक हो गए हैं। आलोचना की भाषा, फिकरों, मुहावरों और आंतरिक सूचनाओं की उत्तेजना से दूषित हो रही है। दावा यह कि आलोचना की भाषा को प्राग्मैटिक बनाया जा रहा है।"²⁸⁰ इससे उबरने के क्या उपाय हैं इस संदर्भ में सुरेंद्र चौधरी का मत है कि "आलोचक अपनी भाषा के माध्यम से ही अपने 'टोन' का निश्चय करता है। आचार्य शुक्ल की भाषा उस टोन से निश्चित है जिसे हम शुक्लजी की श्रेष्ठता कहते हैं।"²⁸¹ इसीलिए सुरेंद्र चौधरी का मत है कि "समकालीन हिंदी आलोचना को पद-परिभाषाएँ गढ़नी है, उनके साथ आलोचक के 'टोन' की संगति ढूँढनी है और अंततः उस प्रायोजित ढाँचे को उपलब्ध करना है जिसमें निरंतर विकसित होती हुई रचनात्मक संवेदना के ग्रहण किया जा सके।"²⁸²

नामवर सिंह का संपादकीय वक्तव्य 'आलोचना की भाषा' परिसंवाद पर ही केंद्रित है। जिसमें हिंदी आलोचना की पड़ताल करते हुए स्पष्ट करते हैं कि पत्रकारिता से खतरा साहित्य समालोचना को उस तरह से नहीं जितना कि व्यावसायिक पत्रकारिता से है, जैसा अपने वक्तव्य

में रामस्वरूप चतुर्वेदी ने स्पष्ट किया है कि उसमें 'आवेश', वक्तृत्व, अतिनाटकीयता, सनसनी उत्पन्न करनेवाली स्थितियों का प्रभाव ही अधिक होता है। इसलिए इसके प्रभाव से आलोचना को बचाने की तैयारी है। आलोचना की भाषा पर बातचीत इसलिए भी आवश्यक हो गयी थी कि आलोचक को बाहरी, जासूस या मध्यस्थ के रूप में देखने की प्रवृत्ति पनपने लगी थी जिसका विरोध नामवर सिंह अपने संपादकीय में करते हैं। उनके मतानुसार- आलोचना-कर्म एक सांस्कृतिक कर्म है और "प्रत्येक कृति एक सांस्कृतिक प्रक्रिया है और कृतिकार, पाठक और आलोचक इस एक ही प्रक्रिया के अंग हैं, जिनमें से प्रत्येक की प्रतिक्रिया उस प्रक्रिया की ही अनिवार्य कड़ी है। इस प्रकार आलोचक कवि या पाठक के लिए नहीं लिखता, किसी कृति पर लिखना उसका ऐतिहासिक दायित्व है।"²⁸³ इसलिए आलोचना-कर्म एक सांस्कृतिक कर्म है और आलोचक-इस सांस्कृतिक-कर्म का महत्वपूर्ण अंग है और "इस दृष्टि से आलोचक मूलतः उक्त सांस्कृतिक प्रक्रिया के अंतर्गत अपने अनुभवों, विचारों एवं सपनों को ही सुस्पष्ट एवं व्यवस्थित करने के लिए संघर्ष करता है। आलोचक का आत्मसंघर्ष भी रचनाकारों के समान ही महत्वपूर्ण है। बल्कि व्यवहार में वह आत्म-संघर्ष और भी पेचीदा होता है, क्योंकि वह दुहरा होता है। इसीलिए रचनाकार के समान ही आलोचक के सामने भी माध्यम की समस्या उपस्थित होती है। 'आलोचना की भाषा' की समस्या इस प्रकार माध्यम की ही समस्या है। माध्यम की वास्तविक समस्या का सामना वे आलोचक करते हैं जिनके लिए आलोचना एक सर्जनात्मक प्रयास है।"²⁸⁴ इस प्रकार 'आलोचना की भाषा' पर सर्जनात्मक होने का भी दबाव रहता है।

'आलोचना की भाषा' नामवर सिंह के मतानुसार अब मात्र भाषा की समस्या नहीं रह गई है बल्कि वह 'संपूर्ण वस्तु' को प्रकट करती है। और "अब पहले की ही तरह भाषा को 'प्रदत्त' मानकर अभिव्यक्ति के लिए इस्तेमाल करना कठिन हो चला है, क्योंकि हम देख रहे हैं कि वह संप्रेषण से पहले संवेदन का माध्यम है।"²⁸⁵ अपने वक्तव्य में नामवर सिंह का विचार है कि भाषा

को लेकर नवीनता का सबसे पहले रचनात्मक स्तर पर आई हैं उसके उपरान्त ही आलोचना में इस बोध का उदय हुआ।

आलोचना की भाषा का सर्वाधिक क्षरण नामवर सिंह के मतानुसार 'पदों के दुरुपयोग' से हुआ है। आलोचना की पदावली और औजारों के ग़लत व भ्रान्त उपयोग के कारण आलोचना निकृष्टता तक पहुँचती है, इसलिए नामवर सिंह की मान्यता है कि- "आलोचना के क्षेत्र में इस तरह की फैली हुई भ्रांतियों को केवल भाषा-विश्लेषण के द्वारा ही दूर किया जा सकता है इनके लिए किसी बड़े सैद्धांतिक शास्त्र की आवश्यकता नहीं है।"²⁸⁶ नामवर सिंह अपने संपादकीय में स्पष्ट करते हैं कि यदि किसी शब्द को कोई आलोचक निर्मित करता है और वह उसका निश्चित अर्थ में अभीप्सित प्रयोग करता है किंतु ठीक वही शब्द दूसरे आलोचकों के यहाँ कई बार ग़लत ढंग से प्रयोग किए जाते हैं, और उससे अस्पष्टता का जो भ्रमजाल बनता है। वही शब्द जो कभी जीवंतता के प्रतीक माने जाते थे बारंबार प्रयुक्ति के कारण बासी और बोझिल हो जाते हैं। इसीलिए उनका मत है कि "आलोचना की व्यक्तिगत शब्दावली सार्वजनिक भाषा की पारिभाषिक पदावली का अंग नहीं बन सकती और कदाचित उसका यह उद्देश्य भी नहीं है बल्कि अक्सर व्यक्तिगत छापवाले ये शब्द दूसरों के हाथ में पड़कर अपनी जीवंतता खो बैठते हैं।"²⁸⁷ नामवर सिंह आलोचना की शब्दावली के रूढ़ होने एवं उसकी जीवंतता के खोने की जो स्थिति होती है उसके लिए रामस्वरूप चतुर्वेदी की बात को ज्यादा ठीक समझते हैं, जिसमें चतुर्वेदीजी 'आलोचना की भाषा में पारिभाषिकता की अपेक्षा अनुभव के खुलेपन पर बल' देते हैं और जहाँ आलोचक 'अपनी बात को जितनी दूर पारिभाषिक शब्दावली नहीं बनने देगा, उतनी ही दूर तक यह आलोचना-कर्म में सफल होगा।' सुरेंद्र बारलिंगे जिस प्रकार अपने वक्तव्य में 'सामान्य भाषा' की पक्षधरता की बात करते हैं उसके निहितार्थ को नामवर सिंह स्पष्ट करते हुए लिखते हैं कि " 'सामान्य भाषा' का अर्थ 'सपाट भाषा' नहीं है मूल प्रश्न है भाषा की वाचकता या व्यंजकता का।... यदि जीवट हो तो मामूली भाषा में भी

बारीक-से-बारीक औज़ार की धार होगी।”²⁸⁸ वैज्ञानिक विधि से गढ़ी हुई शब्दावली परिभाषिक तो हो जाती है साथ ही उससे आलोचना की भाषा भी बोझिल हो जाती है उसका अच्छा उदाहरण ‘विकल्प’ के प्रवेशांक में दिए गए आयोजकीय वक्तव्य में देख सकते हैं।²⁸⁹

इस प्रकार उपर्युक्त संदर्भों से स्पष्ट है कि ‘आलोचना’ की भाषा’ विषयक परिसंवाद का आयोजन ‘आलोचना की भाषा’ की रूढ़ हो गई गूढ़ार्थ पारिभाषिक शब्दावलियों से बचाव और ‘आलोचना’ की रहस्यमयी, अस्पष्टता वैज्ञानिक पदावलियों के वागांडबर आदि से मुक्त कर उसे जीवंतता प्रदान करना है। ‘आलोचना की भाषा’ संबंधी इस परिसंवाद के पीछे एक महत्वपूर्ण कारण और भी था, वह यह कि “आलोचना की भाषा को समृद्ध करने के नाम पर इधर अंधाधुंध इसी तरह देशी-विदेशी नए-पुराने पुर्जों का ढेर जमा किया जा रहा है। और इस प्रकार एक ही पैराग्राफ में अभिनव गुप्त-रिचर्ड्स-क्रोचे-काडवेल-अंग्रेज़ी के नव्य-समीक्षक एक साथ बुरी तरह ठेलमठेल करते दिखाई पड़ते हैं यह भाषा नहीं मदारी का झोला है।”²⁹⁰ इस प्रकार की आलोचना की भाषा निश्चित ही आलोचना की सांस्कृतिक प्रक्रिया स्वस्थ विकास के लिए बाधक होती है। आलोचना की भाषा के संदर्भ में सभी सहभागियों ने जीवटता, जीवंतता, उन्मुक्तता, रूढ़िहीनता, स्पष्टता अरहस्यात्मकता आदि का आवश्यक मूलभूत तत्व मानते हैं। ये तत्त्व आलोचना की भाषा को ‘मदारी का झोला’ बनने से बचा सकते हैं। उसे प्रसन्न भाषा का रूप दे सकते हैं। यह तभी आएगा जब जीवन में उनकी पैठ होगी क्योंकि “यदि जिंदगी में रोटी का हर टुकड़ा एक संघर्ष की उपलब्धि है तो किसी से प्राप्त आस्वाद का हरक्षण भी संघर्ष का ही फल है। यही संघर्ष आलोचना की भाषा को जीवंतता प्रदान करता है।”²⁹¹ इस संदर्भ में नामवर सिंह आचार्य रामचंद्र शुक्ल, आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, मुक्तिबोध आदि की आलोचना की भाषा पर अपना मत प्रकट करते हैं कि “आचार्य शुक्ल की यथातथ्य संयत, आजस्वी, तेज तर्रार, तल्ल और प्रसन्न भाषा इसी लड़ाकूपन के बीच बनी है। निराला ने इसी अर्थ में गद्य को ‘जीवन-संग्राम की भाषा’ कहा है। पंडित

हजारी प्रसाद द्विवेदी 'कबीर' की भाषा का तेवर इस संघर्ष की अदा से दिखा सके हैं, और मुक्तिबोध की 'एक साहित्यिक की डायरी' के संवाद में तनावपूर्ण भाषा का जीवंत संघर्ष है। हिंदी आलोचना की भाषा का विकास ऐसे ही तथाकथित अशास्त्रीय एवं वैयक्तिक प्रयासों के बीच हो सका है।²⁹²

नामवर सिंह अपने साक्षात्कार में इस बहस के संदर्भ को स्पष्ट करते हुए बताते हैं, कि 'आलोचना की भाषा' संबंधी चिंता का मूल कारण 'आधुनिकतावाद' का दबाव रहा है क्योंकि 'हिंदी में जब से आधुनिकतावाद की हवा बही है, यह भाषा-चिंता बढ़ी है।'²⁹³ नामवर सिंह स्पष्ट करते हैं आधुनिकतावादियों की भाषा-चिंतन पर अंग्रेजीपन का प्रभाव है और उनका गद्य भी अंग्रेजी वाक्य-विन्यास एवं मुहावरेवाला गद्य है। उसकी प्रकृति हिंदी के जातीय गद्य से बिल्कुल भिन्न है वह परंपरा से कटी हुई बनावटी भाषा है।²⁹⁴ नामवर जी 'आलोचना की भाषा' के संदर्भ में 'अशोक वाजपेयी' की भाषा की प्रशंसा करते हुए भी उनके एक दोष को उजागर करते हैं कि 'उन्होंने आलोचना को पत्रकारिता के स्तर तक गिरा देने के दोषी भी हैं।'²⁹⁵

नामवर सिंह कई स्थलों पर पत्रकारिता की भाषा को 'आलोचना की भाषा' के लिए संकट के रूप में चिह्नित करते हैं। "दूसरा एक बड़ा संकट है हिंदी आलोचना की भाषा का। वह निकृष्ट पत्रकारिता के निकट चली गई है। गंभीरता के नाम पर अधिकचरी दार्शनिक शब्दावली और पश्चिम से आयातित पदावली का अनुवाद। एक तरफ घटिया पत्रकारिता और दूसरी तरफ छद्म दार्शनिकता। समझते हैं कि 'सरोकार' शब्द लिखकर एक आमफहम 'आलोचना की भाषा' बन रही है।"²⁹⁶ आलोचना की भाषा को कलावादी रहस्यमयता, दार्शनिकता, क्लिष्टता, जड़ता आदि से बचाने के पीछे पूँजीवादी राजनीति से भाषा की जीवंतता की रक्षा करना निहित है। पत्रकारिता को ऊँचे प्रतिष्ठान व बड़े पूँजीवाले ही आज़ादी के बाद आगे बढ़ाने में लगे थे "कहने की आवश्यकता नहीं कि साहित्य में भी इस शिष्ट और भद्र पत्रकारिता का प्रतिरूप दिखाई पड़ता है, जिसका उद्देश्य ही है, साफ-सुथरी बात को उलझाना और बातों की जलेबी बनाना।"²⁹⁷ यहीं पर नामवर सिंह

आलोचना की भाषा का संबंध 'भाषा की राजनीति से जोड़ते हुए स्पष्ट करते हैं कि "इन उदाहरणों से स्पष्ट है और राजनीति ही वह कुंजी है जिससे गद्य की असलियत को पहचाना जा सकता है।" ²⁹⁸

एक महत्वपूर्ण तथ्य यह भी है कि मैनेजर पांडेय भी हिंदी आलोचना की वर्तमान दुर्दशा के प्रमुख कारणों में 'आलोचना की भाषा' को भी रखते हैं, उसे 'भाषा के रहस्यवाद' से जोड़ते हुए स्पष्ट करते हैं कि "पचास-साठ के दशक से हिंदी के कुछ आलोचक अमूर्तन और अनुवाद से भरी ऐसी भाषा में आलोचना लिखते चले जा रहे हैं, जो भाषा के रहस्यवाद की सरहद को छूती है।... हिंदी आलोचना की भाषा को इस बीमारी से बचाना ज़रूरी है और उसे रामचंद्र शुक्ल, हजारी प्रसाद द्विवेदी, रामविलास शर्मा, विजयदेवनारायण साही और नामवर सिंह की आलोचना की सहज, संवेदनशील और जानदार भाषा से जोड़ना ज़रूरी है जो पाठक की बुद्धि को जगाती, संवेदना को सक्रिय बनाती और स्मृति को अनुप्रमाणित करती है।" ²⁹⁹

स्पष्ट है कि 'आलोचना की भाषा' संबंधी चिंता एक गंभीर चिंता है जिससे आलोचना-कर्म का पूरा अस्तित्व ही जुड़ा हुआ है। आलोचना जिस माध्यम से निकलकर अपने प्रकृत-स्वरूप में दिखाई पड़ती है यदि वह माध्यम ही अपना नहीं है, तो स्पष्ट है कि समीक्षा-कर्म संकट काल से गुजर रहा है। 'आलोचना की भाषा' परिसंवाद के माध्यम से 'आलोचना' में नामवर सिंह का ध्येय यही था कि इस संकट को गंभीरता से लिया जाए; और हिंदी आलोचना की भाषा को हिंदी भाषा की जातीय परंपरा से जोड़ा जाए; जो पत्रकारिता की सनसनी खेज, लफ्फाजीवाली भाषा से मुक्त हो, कृत्रिम पारिभाषिकता किलष्टता, रहस्यात्मकता, दुर्बोधता से मुक्त हो और हिंदी की चलती हुई, जीवित, प्रसन्न भाषा, का प्रयोग हो, जिसमें सीधे-सादे ढंग से गंभीरतम बातों को बिना गोल-गोल घुमाए स्पष्टतः कहा जा सके। इसकी आवश्यकता आज भी बनी हुई है, हिंदी आलोचना की भाषा की पहचान कराने में इस परिसंवाद का महत्वपूर्ण अवदान रेखांकित किया जा सकता है। किया जाना चाहिए।

इस परिसंवाद के संदर्भ में एक तथ्य और भी महत्वपूर्ण है कि इसमें सहभागिता देनेवाले समर्थ विद्वानों की मान्यता पर किसी-न-किसी रूप में आधुनिकतावादी भाषिक आलोचना का दबाव भी देखा जा सकता है। प्रायः सभी आलोचना की भाषा का संबंध 'रचना-प्रक्रिया, अर्थ-प्रक्रिया, मूल्य-प्रक्रिया, आदि से जोड़ते हैं जैसा कि कर्णसिंह चौहान 'आलोचना' पत्रिका के परिसंवाद को भाषिक आलोचना और रूपवादी रुझान के संदर्भ में उसे एक राजनीतिक हथियार के रूप में देखते हैं। कहना न होगा कि 'आलोचना' का यह परिसंवाद स्वयं ही इस प्रकार के प्रश्नों का उत्तर देता है।³⁰⁰ किंतु ऐसी स्थिति में भी आलोचना की भाषा को लेकर जो पक्षधरता है वह भाषिक आलोचना अथवा नई समीक्षा-पद्धति से कतई नहीं है जिस समय यह 'आलोचना की भाषा' पर परिसंवाद आयोजित किया गया था उस दौर में आधुनिकतावाद और भाषिक आलोचना का बहुत जोरशोर व्याप्त था। स्वयं 'आलोचना' का यह अंक भाषिक आलोचना व शैलीविज्ञान से पूरी तरह आच्छादित है। जिसे उसमें प्रकाशित निबंध, लेख समीक्षा आदि में सहजता से देखा जा सकता है। उदाहरण के लिए- रघुवंश द्वारा लिखित निबंध 'संस्कृत काव्यशास्त्र और संरचनात्मक समीक्षा पद्धति', रवींद्रनाथ श्रीवास्तव लिखित 'भाषा वैज्ञानिक दृष्टि और आलोचना की नई भूमिका,' परमानंद श्रीवास्तव का लेख 'नई काव्य-समीक्षा की संभावना', आदि इसी नवांक-02 में प्रकाशित हैं जिसमें 'आलोचना की भाषा' परिसंवाद आयोजित किया गया है; स्पष्ट है कि इस परिसंवाद में 'आलोचना की भाषा' को इन सभी कुछ दबावों से मुक्त होकर आचार्य रामचंद्र शुक्ल, आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी और मुक्तिबोध की आलोचना की भाषा का समर्थन किया गया है उसी भाषा को हिंदी गद्य जातीय परंपरा से जोड़ा गया है। वस्तुतः यह हिंदी की अपनी 'आलोचना की भाषा' के निर्माण और पहचान की प्रक्रिया के संघर्ष की परिणति है।

'आलोचना की भाषा' संबंधित कुछ अन्य महत्वपूर्ण लेख भी 'आलोचना' में प्रकाशित हुए हैं जिन्हें इस बहस में रखकर देखा जा सकता है। 'आलोचना' के नवांक- 26 में (जुलाई-सितं.,

1973) में प्रकाशित शंभुनाथ त्रिपाठी का लेख 'आचार्य शुक्ल की भाषा की पहचान' में शुक्ल जी की आलोचना की भाषा की बनावट की मानसिकता की पड़ताल की गई है। नवांक-28 में (जन.-मार्च, 1974 ई.) में सदाशिव द्विवेदी का लेख 'आलोचना: स्वरूप, भाषा और शैली' में 'आलोचना की भाषा' पर प्रकाश डाला गया है। नवांक -10 (जुलाई-सितं., 1969 ई.) में प्रभात कुमार त्रिपाठी के लेख में 'युवा कविता की भाषा' में भी 'आलोचना की भाषा' संबंधी कुछ सूत्र दिखाई पड़ते हैं। नवांक- 31 (अक्टू.-दिसं., 1974 ई.) में प्रकाशित परमानंद श्रीवास्तव का लेख 'सर्जनात्मक आलोचना' में स्वयं इस 'आलोचना की भाषा' परिसंवाद की चर्चा की गई है। उसके महत्व को रेखांकित किया गया है नवांक-85 में (अप्रैल-जून- 1988) पद्मनाभ प्रभास 'मलयज से आगे: कुछ विचार सूत्र' (समीक्षा) में मलयज की आलोचना की भाषा पर विचार करते हैं। वहीं मैनेजर पांडेय नवांक- 87 (अक्टू.-दिसं., 1988 ई.) में आलोचना की भाषा पर रेमंड विलियम्स के विचारों की पड़ताल 'लंबी क्रांति पर लंबी बहस' शीर्षक निबंध में करते हैं। रामचंद्र तिवारी 'आलोचना की भाषा' को ही आधार बनाकर हिंदी आलोचना के आरंभिक काल से लेकर आचार्य शुक्ल तक की 'आलोचना की भाषा' की पड़ताल अपने तीन विद्वत्पूर्ण शोधपरक निबंधों में करते हुए देखे जा सकते हैं जो 'आलोचना' पत्रिका में निम्न अंकों में प्रकाशित हैं- नवांक-87 (अक्टू.-दिसं., 1988 ई.) में भारतेन्दुयुगीन आलोचना की शब्दावली और उसका रचना-संदर्भ; नवांक- 88 (जन.-मार्च, 1989 ई.) में प्रकाशित 'द्विवेदीयुगीन आलोचना की शब्दावली और उनका रचना-संदर्भ'। इसके बाद आचार्य रामचंद्र शुक्ल की भाषा पर प्रकाशित उनका शोधालेख नवांक-93 (अप्रैल-जून, 1990 ई.) में 'आचार्य रामचंद्र शुक्ल: आलोचना की शब्दावली का रचना-संदर्भ' शीर्षक से प्रकाशित हैं।

1.7 भाषिक आलोचना और अन्य मुद्दे

नामवर सिंह ने 'आलोचना' पत्रिका के द्वारा 'हिंदी आलोचना' को समृद्ध करने के लिए न केवल मार्क्सवादी चिंतन की नवीन अवधारणाओं एवं चिंतकों से परिचित कराया, बल्कि उसके

समानांतर पश्चिमी साहित्य चिंतन में चलनेवाली अन्य साहित्यिक अध्ययन-पद्धतियों एवं साहित्य-सिद्धांतों की प्रमुख मान्यताओं पर लेख, निबंध, साक्षात्कार आदि को अनूदित करवाकर उसे प्रकाशित किया, हिंदी आलोचना को समृद्ध करने का प्रयास किया।

पश्चिमी साहित्यिक अध्ययन एवं विश्लेषण केंद्र में वहाँ की भाषिक आलोचना पद्धति की सक्रिय भूमिका रही है। भाषा विज्ञान के सिद्धांतों ने साहित्य के अध्ययन की भाषिक पद्धति के द्वार खोले हैं; उसे 'भाषिक आलोचना' के रूप में देखा जाता है। शैलीविज्ञान भी नवीन भाषिक साहित्यिक आलोचना पद्धति है- जो साहित्य का मूल्यांकन भाषाविज्ञान के सिद्धांतों पर करता है। इस नवीन पद्धति पर 'आलोचना' पत्रिका के अंकों में कई लेख आदि मिलते हैं। नामवर सिंह के संपादन में आते ही 'आलोचना' पत्रिका के माध्यम से उन्होंने इस नवीन अध्ययन पद्धति पर लेख आदि को प्रकाशित कर हिंदी आलोचना को समृद्ध करने का कार्य किया। नामवर सिंह की मान्यता है कि शैली विज्ञान से हिंदी पाठकों से परिचित कराने का श्रेय 'आलोचना' पत्रिका को जाता है।³⁰¹

'आलोचना' के नवांक- 1 (अप्रैल-जून 1967) में भाषाविज्ञान के गंभीर अध्येता डॉ० रवींद्रनाथ श्रीवास्तव द्वारा लिखित लेख- 'साहित्य विश्लेषण का संघटनात्मक दृष्टिकोण' शीर्षक से प्रकाशित है। जिसमें साहित्यिक कृतियों का विश्लेषण वैज्ञानिक पद्धतियों एवं टेक्नीक के माध्यम से करने का प्रस्ताव रखते हैं। इसके संदर्भ में स्पष्ट करते हैं कि "आज की आलोचना की वैज्ञानिक पद्धति, मात्र यह शैली विज्ञान ही हो सकता है।"³⁰² 'आलोचना' के नवांक-02 में भी रवींद्रनाथ श्रीवास्तव का लेख 'भाषा वैज्ञानिक दृष्टि और आलोचना की नई भूमिका' प्रकाशित है। इसी क्रम में नवांक-05 में 'काव्य भाषा और शैलीविज्ञान' शीर्षक से उनका लेख प्रकाशित है। शैलीविज्ञान से जुड़े अध्ययन का विस्तार नवांक- 41 में भी देखा जा सकता है। इस अंक में 'काव्य-संसार और शैली विज्ञान' शीर्षक से श्रीवास्तव जी का लेख प्रकाशित हुआ है। नवांक- 42 में आपका ही लेख 'संसर्गगत काव्य-संसार' का प्रकाशित है। नवांक 43 में श्रीवास्तव जी का

‘शाब्दिक सौंदर्य काव्य-वस्तु और शैली विज्ञान’ शीर्षक लंबा लेख देख सकते हैं।

शैलीविज्ञान पर न केवल रवींद्रनाथ श्रीवास्तव का लेख मिलता है बल्कि बच्चन सिंह का अत्यंत विवादस्पद लेख ‘शैलीविज्ञान और आलोचना’ नवांक 30 में प्रकाशित है। नवांक-31 में इस लेख के विरोध में वागीश शुक्ल अपनी प्रतिक्रिया देते हैं। बच्चन सिंह जिनके प्रश्नों का समाधान अपने प्रत्युत्तर में करते हैं। ‘आलोचना’ के इसी नवांक-31 में कृपाशंकर सिंह का लेख- ‘शैली विज्ञान और काव्य का अध्ययन’ भी प्रकाशित है। नवांक-41 में कृपाशंकर सिंह का ही दूसरा लेख ‘‘शैली विज्ञानिक अध्ययन की अवधारणा’’ शीर्षक से प्रकाशित है। नवांक-43 में कृष्णकुमार शर्मा का लेख ‘गद्य संरचना के शैलीवैज्ञानिक अध्ययन में शैलीचिह्न विचारण का प्रयोग’ का प्रकाशन हुआ है। नवांक-49-50 में विशन सिंह यादव का लेख ‘कुटज का शैली वैज्ञानिक अध्ययन’ प्रकाशित है। इसके अतिरिक्त भाषिक आलोचना के संदर्भ में रवींद्रनाथ श्रीवास्तव का लेख ‘नई समीक्षा की भाषावादी चेतना’ नवांक-30 में प्रकाशित है। नवांक-45 में श्रीवास्तव जी का ही एक लेख ‘भाषा का आधुनिकीकरण: अनुवाद का संस्कार और दबाव’ देखा जा सकता है। इस प्रकार ‘आलोचना’ में ‘शैलीविज्ञान’ जैसी आलोचना पद्धति पर सामग्री मिलने से हिंदी आलोचना का यह पक्ष प्रकारांतर से मजबूत ही हुआ। जिसे रवींद्रनाथ श्रीवास्तव के लेखों के माध्यम से समृद्ध होते हुए देखा जा सकता है।

भाषिक आलोचना संबंधी अध्ययन का विस्तार देने में दूसरा महत्वपूर्ण नाम विद्यानिवास मिश्र का है। इन्होंने भाषाविज्ञान को अध्ययन पद्धतियों पर विशेष रूप से कार्य किया। नवांक-07 में विद्या निवास मिश्र का लेख ‘काव्य भाषा और काव्येतर भाषा’ शीर्षक से प्रकाशित हुआ है। नवांक- 09 में शब्द-अर्थ: भारतीय भाषा दृष्टि’, नवांक- 21 में ‘रीतिविज्ञान की नई पुरानी भूमिका’, नवांक- 24 में ‘भाषा-दर्शन और भारतीय चिंतन’ पर लेख प्रकाशित है। नवांक-29 में ‘भाषा, गणितात्मक भाषा, सूत्रात्मक भाषा और काव्य-भाषा’ पर एक महत्वपूर्ण लेख देख सकते हैं।

भाषिक आलोचना में कुछ चिंतकों ने 'संप्रेषणीयता' पर विशेष बल दिया है। 'आलोचना' में इस पर कई लेख प्रकाशित हैं। नवांक- 05 में धर्मेन्द्र गोयल का लेख 'संप्रेषणीयता: कुछ कथन' प्रकाशित है। वहीं नवांक- 21 में प्रेमशंकर का लेख 'संप्रेषणीयता का प्रश्न', प्रकाशित है। विश्वनाथ त्रिपाठी का लेख 'आज का साहित्य और प्रेषणीयता', का प्रकाशन नवांक- 30 में हुआ है। नवांक- 31 में नंद भारद्वाज का लेख 'समकालीन लेखन: प्रेषणीयता का नया संदर्भ' शीर्षक से प्रकाशित है। नवांक- 58 में परमानंद श्रीवास्तव का लेख 'भाषावादी आलोचना-दृष्टि और रचनात्मक संवेदना' शीर्षक से छपी है।

इस भाषिक आलोचना पद्धति से जुड़ी हुई अन्य साहित्यिक अध्ययन की पद्धतियाँ भी विकसित हुई हैं, जिसमें 'नई समीक्षा', शिकागो समीक्षक, उत्तर आधुनिकता, पाठकवादी समीक्षा पर कई लेख प्रकाशित हैं।

नवांक-07 में रामसेवकसिंह का 'टी.एस. इलियट और नई आलोचना', शीर्षक लेख देख सकते हैं। इसी अंक में डॉ० राजनाथ का 'शिकागो समीक्षक' शीर्षक लेख प्रकाशित है। इसी अंक में शिवमूर्ति पांडेय 'नार्थप फ्राई के मूलरूपकीय आलोचना सिद्धांत' पर गंभीरता से विचार करते हैं। नवांक- 19 में शिवमूर्ति पांडेय का दूसरा लेख 'ईवर बिटर्ज और नई आलोचना' शीर्षक से प्रकाशित है। नवांक- 24 में 'संरचनात्मक मानवशास्त्र के जनक क्लाद लेवी-स्ट्रोस के साथ अंतरंग वार्ता: आंद्रे आकू, फ्राँस्वा मोरे और ज्याक मोसू' का अनुवाद प्रकाशित है। नवांक-38 में मैनेजर पांडेय का लेख- 'संरचनावाद और साहित्य का इतिहास' को देख सकते हैं। नवांक-34-35 में मधुसूदन बख्शी ने 'सार्त्र-सर्जक और चिंतक' लेख में गंभीरता से विचार प्रस्तुत करते हुए देखे जा सकते हैं।

नवांक-41 में डॉ० राजनाथ का एक लेख. 'टी.एस. इलियट का संवेदना-पृथक्करण सिद्धांत' प्रकाशित है। डॉ० राजनाथ का ही एक अन्य लेख 'आलोचक एक. आर. लीविस: उपलब्धि

और सीमाएं नवांक-45 में प्रकाशित है। नवांक-68 में सुरेश ह. जोशी के लेख का अनुवाद 'आधुनिकता और उत्तर-आधुनिकता' शीर्षक से प्रकाशित है। इसके अनुवादक बंशीधर हैं। डॉ० राजनाथ का नई समीक्षा पर केंद्रित लेख नवांक-78 में 'नई समीक्षा' और विच्छेदनवाद: भाषा और साहित्य के प्रश्न' शीर्षक से प्रकाशित है। इन्हीं का दूसरा लेख नवांक-84 में 'पाठकवादी समीक्षा की समीक्षा' शीर्षक से प्रकाशित है। नवांक-91 में मिशेल फूको के एक लेख का अनुवाद 'लेखक क्या होता है?' शीर्षक से प्रकाशित है। इस प्रकार 'आलोचना' पत्रिका ने पश्चिमी साहित्य चिंतन की प्रमुख प्रवृत्तियों से भी हिंदी आलोचना को न केवल परिचित कराया बल्कि हिंदी आलोचना को समृद्ध भी किया।

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि नामवर सिंह के संपादन में 'आलोचना' पत्रिका में अपने समय की साहित्यिक सांस्कृतिक मुद्दों को गंभीरता से लिया गया है। उन पर बहस चलाई गई है जिसका प्रतिफल 'कविता और राजनीति', 'साहित्य के समाजशास्त्रीय चिंतन की प्रस्तावना', 'हिंदी नवजागरण की संकल्पना', 'रोमांटिक बनाम आधुनिक', 'आलोचना की भाषा', 'युवा लेखन पर एक बहस', 'दूसरी परंपरा की खोज' आदि विषयों पर उच्चकोटि की बहस है। इस संदर्भ में इन्हीं विषयों पर विशद रूप से चर्चा की गई है जिससे इनके विषय का महत्त्व स्पष्ट हो सके; 'आलोचना' में उस विषय को समझाने में किस प्रकार हमारी मदद करती है यह भी स्पष्ट हो सके। इन्हीं वाद-विवाद-संवाद से हिंदी आलोचना का विकास होता हुआ दिखायी पड़ता है। इस प्रकार कहा जा सकता है कि नामवर सिंह ने अपने संपादकीय विवेक व आलोचनात्मक प्रतिभा के माध्यम से 'आलोचना' पत्रिका में ऐसे बहसों को उठाएँ हैं; जिससे हिंदी आलोचना समृद्ध हुई है।

संदर्भ :

1. नवल, नंदकिशोर. हिंदी आलोचना का विकास. नई दिल्ली: राजकमल प्रकाशन, तीसरी आवृत्ति, 2007. पृ.सं. 28.
2. मधुरेश. हिंदी आलोचना का विकास. द्वितीय संस्करण. इलाहाबाद: सुमित प्रकाशन, 2004 पृ.सं. 19.
3. नवल, नंदकिशोर. हिंदी आलोचना का विकास. पृ.सं. 26
4. शर्मा, रामविलास. महावीरप्रसाद द्विवेदी और हिंदी नवजागरण. नई दिल्ली: राजकमल प्रकाशन, 1977. रामविलास जी ने 'सरस्वती' पत्रिका के महत्त्व पर विस्तार से अपने विचार प्रकट किए हैं, दृष्टव्य. पृ.सं. 350-392.
5. पांडेय, रत्नाकर. हिंदी पत्रकारिता: प्रेमचंद और हंस. नई दिल्ली: प्रवीण प्रकाशन, 1988. भूमिका से उद्धृत
6. पांडेय, मैनेजर. साहित्य के समाजशास्त्र की भूमिका. चंडीगढ़: हरियाणा साहित्य अकादमी, 1989. पृ. सं. 281
7. रमेश कुमार. नवजागरण और हिंदी आलोचना. दिल्ली: नेहा प्रकाशन, 2006. पृ. सं. 16.
8. वही. पृ. सं. 16.
9. पांडेय, मैनेजर. साहित्य और इतिहास दृष्टि. द्वितीय संस्करण. नई दिल्ली: वाणी प्रकाशन, 2000. पृ. सं. 213-214.
10. आशुतोष कुमार. समकालीन कविता और मार्क्सवाद. दिल्ली : शिल्पायन, 2010. पृ. सं. 178
11. वाजपेयी, अशोक. द्वारा उद्धृत "कविता और राजनीति-परिसंवाद". 'आलोचना' (नवांक-06) जुलाई- सितं. 1968, पृ. सं. 09.
12. सिंह, मुरली मनोहर प्रसाद. "कविता और राजनीति पर विनिमय". 'आलोचना' (नवांक-08) जनवरी-मार्च-1969, पृ. सं. 102.
13. मुद्राराक्षस. आलोचना का समाजशास्त्र, नई दिल्ली: नेशनल पब्लिशिंग हाउस, 2004. पृ. सं. 63-64.
14. इस संदर्भों को ध्यान में रखकर ही कई पुस्तकें लिखी गई थी, जिनमें दो अवश्य रेखांकित किए

जाने योग्य है। एक-लक्ष्मीकांत वर्मा की, 'नए प्रतिमान: पुराने निकष', और दूसरी पुस्तक 'हिंदी नवलेखन' जो डॉ. रामस्वरूप चतुर्वेदी द्वारा लिखित है।

15. दृष्टव्य- 'आलोचना' पत्रिका द्वारा आयोजित 'युवा लेखन पर एक बहस' परिसंवाद, (नवांक-04) जनवरी-मार्च- 1968.
16. दृष्टव्य- चतुर्वेदी, रामस्वरूप. हिंदी साहित्य और संवेदना का विकास. तेइसवाँ संस. इलहाबाद: लोकभारती प्रकाशन, 2010. पृ. सं. 234.
17. सिंह, नामवर. 'संपादकीय'. 'आलोचना'. (नवांक-06) जुलाई-सितं.- 1968, पृ. सं. 4.
18. वाजपेयी, अशोक. "कविता और राजनीति" परिसंवाद-'आलोचना' (नवांक-06) - पृ. सं. 09.
19. जैन, नेमिचंद्र. "कविता और राजनीति" परिसंवाद,- 'आलोचना'. (नवांक-06) - पृ. सं. 18.
20. वर्मा, श्रीकांत. "कविता और राजनीति". परिसंवाद 'आलोचना' (नवांक-06)- पृ. सं. 17.
21. सिंह, मुरलीमनोहर प्रसाद. 'विनिमय' स्तंभ - कविता और राजनीति." 'आलोचना' (नवांक-08) जनवरी-मार्च-1969 ई. पृ. सं. 105.
22. सिंह, नामवर. "संपादकीय." 'आलोचना'. (नवांक-06) जुलाई - सितंबर - 1968- पृ. सं. 07.
23. 'आलोचना' (नवांक- 06)-पत्रिका द्वारा दी गई सूचना - वही, पृ. सं. 08.
24. सिंह, नामवर. "संपादकीय" 'आलोचना' (नवांक-06), वही- पृ.सं.- 04.
25. वही - पृ.सं. 03
26. वही- पृ.सं. 03
27. वाजपेयी, आशोक. 'आलोचना' (नवांक-06), पृ. सं. 09
28. वाष्णेय, लक्ष्मीसागर. "हिंदी कविता के पिछले सौ वर्ष". 'हिंदुस्तानी'. जनवरी - मार्च 1942: पृ. सं. 22
29. सहाय, रघुवीर. "कविता और राजनीति". परिसंवाद 'आलोचना' (नवांक-06) पृ. सं. 24
30. वही - पृ. सं. 24.
31. कक्कड़, कृष्णनारायण 'कविता और राजनीति' परिसंवाद (नवांक-06). पृ. सं. 25.
32. वर्मा, श्रीकांत: 'कविता और राजनीति' परिसंवाद (नवांक-06). पृ. सं. 14.
33. वही. पृ. सं. 16.
34. सिंह, नामवर. संपादकीय. 'आलोचना' (नवांक-06), पृ. सं. 4.
35. वही. पृ. सं. 05.

36. देखें - वहीं - संपादकीय वक्तव्य, अशोक वाजपेयी, नेमिचंद्र जैन श्रीकांत वर्मा आदि का मत.
'कविता और राजनीति' परिसंवाद आलोचना (नवांक - 06)
37. जैन, नेमिचंद्र. 'कविता और राजनीति' परिसंवाद (नवांक-06). पृ. सं. 21.
38. वाजपेयी, अशोक. 'कविता और राजनीति' परिसंवाद (नवांक-06). पृ. सं. 11
39. वही, पृ. सं. 11
40. सिंह, मुरलीमनोहर प्रसाद. 'कविता और राजनीति. पर विनिमय,' 'आलोचना' (नवांक-08)
अप्रैल-जून - 1969 ई. पृ. सं. 105.
41. अज्ञेय. 'कविता और राजनीति' परिसंवाद 'आलोचना' (नवांक-06), पृ. सं. 26.
42. वही. पृ. सं. 26.
43. जैन, नेमिचंद्र. 'कविता और राजनीति' परिसंवाद, (नवांक-06), पृ. सं. 18.
44. सिंह, नामवर: 'संपादकीय,' 'आलोचना' (नवांक-06). वही, पृ. सं. 04.
45. वही. पृ. सं. 03.
46. वाजपेयी, अशोक, 'कविता और राजनीति' परिसंवाद, (नवांक-06), पृ. सं. 13.
47. जैन, नेमिचंद्र, 'कविता और राजनीति' परिसंवाद, (नवांक-06), पृ. सं. 24.
48. वही. पृ. सं. 23.
49. सहाय, रघुवीर, 'कविता और राजनीति' परिसंवाद, (नवांक-06), पृ. सं. 25.
50. वही. पृ. सं. 25.
51. वही. पृ. सं. 25.
52. अज्ञेय, 'कविता और राजनीति' परिसंवाद, (नवांक-06), पृ. सं. 25-26.
53. वही. पृ. सं. 26.
54. देखें- संपादकीय. 'आलोचना' (नवांक-06) वहीं- पृ. सं. 3-4-5.
55. देखें. सहाय रघुवीर का पूरक संवाद- तानाशाही के विरुद्ध: एक वक्तव्य- आलोचना, (नवांक-06),
पृ. सं. 32.
56. नवल, नंदकिशोर. "समकालीन कविता का सही सेहरा." 'आलोचना', (नवांक-25) अप्रैल-जून-
1973: पृ. सं. 81.
57. वही, पृ. सं. 82.

58. सिद्धांतकर, शिवमंगल. “आज की कविता का चरित्र”. ‘आलोचना’ (नवांक-30) जुलाई- सितंबर- 1974: पृ. सं. 80.
59. मिश्र, पवन कुमार: “कहानी: परत-दर-परत”, ‘आलोचना’, (नवांक-32), जनवरी-मार्च- 1975: पृ. सं. 28.
60. नवल, नंदकिशोर: “राजनीति और समकालीन कविता”. ‘आलोचना’ (नवांक-32) जनवरी-मार्च- 1975: पृ. सं. 34.
61. चतुर्वेदी, रामस्वरूप: “समकालीन कविता की दशा,” ‘आलोचना’ (नवांक-67) अक्टूबर-दिसंबर- 1983: पृ. सं. 34.
62. वही. पृ. सं. 34.
63. सिंह, नामवर. आत्मकथा-2 “रचना और आलोचना के पथ पर”- ‘तद्भव’-03, अप्रैल- 2000: पृ. सं. 08.
64. पांडेय, मैनेजर. साहित्य के समाजशास्त्र की भूमिका. चंडीगढ़: हरियाणा साहित्य अकादमी, 1989 देखें ‘समर्पण पृष्ठ
65. वही, भूमिका. “संग्रह त्याग न बिनु पहिचाने”, पृ. सं. 15-16.
66. तिवारी, रामचंद्र. हिंदी का गद्य साहित्य, तृ.सं. वाराणसी: विश्वविद्यालय प्रकाशन, 1992 पृ. सं. 101.
67. पांडेय, मैनेजर. साहित्य के समाजशास्त्र की भूमिका- में ‘साहित्य और समाज के संबंध की दृष्टियाँ’ शीर्षक अध्याय. पृ. सं. 12-30 तक
68. वही पृ.सं. 06.
69. जैन, निर्मला. भूमिका. साहित्य का समाजशास्त्रीय चिंतन, सपां. निर्मला जैन, नई दिल्ली: हिंदी भाषा कार्यान्वयन समिति, दिल्ली विश्वविद्यालय, सितंबर. 2009, पृ. सं. 11.
70. देखें-
71. जैन, निर्मला. भूमिका, साहित्य का समाजशास्त्रीय चिंतन, पृ. सं.- 2-3.
72. मिश्र, विद्यानिवास. आमुख, साहित्य का समाजशास्त्र: अवधारणा सिद्धांत एवं पद्धति. द्वारा. वी. डी. गुप्ता, हाथरस: सीता प्रकाशन, 1982. ‘आमुख’.
73. पांडेय, मैनेजर. साहित्य के समाजशास्त्र की भूमिका-‘भूमिका’ “संग्रह त्याग न बिनु पहिचाने”,

- पृ.सं. 10.
74. वही. पृ. सं. 3-4.
75. वही. पृ. सं. 05.
76. इस संदर्भ में अभी तक बहस चल रही है कि साहित्य का समाजशास्त्र को किस रूप में अपनाया जाए-सामान्यतः इसे अब स्वतंत्र-विद्या के रूप में ही देखा जाने लगा-इसके लिए मैनेजर पांडेय और वी.डी. गुप्ता की उपर्युक्त पुस्तकें देखने पर पूरी स्थिति स्पष्ट हो जाएगी।
77. पांडेय, मैनेजर. साहित्य के समाजशास्त्र की भूमिका. पृ. सं. 05.
78. वही. पृ. सं. 05.
79. वही. पृ. सं. 05-06.
80. मैनेजर पांडेय की उपर्युक्त पुस्तक से ही इन बिंदुओं का चयन किया गया है। अधिकांश सूत्रों की चर्चा उन्होंने उक्त पुस्तक की 'भूमिका' में की है।
81. वही. पृ. सं. 13.
82. वही. पृ. सं. 06.
83. वही. पृ. सं. 06.
84. वही. पृ. सं. 06.
85. वही. पृ. सं. 06.
86. मार्गोलीज, डेविड एन. "काडवेल और साहित्य की सामाजिक वृत्ति" अनु. विश्वनाथ त्रिपाठी. 'आलोचना', (नवांक-13) अप्रैल-जून, 1970: पृ. सं. 13.
87. वही. पृ. सं. 13.
88. पांडेय, मैनेजर. साहित्य के समाजशास्त्र की भूमिका. पृ. सं. 39.
89. बेंजामिन, वाल्टर. 'लेखक उत्पादक के रूप में' 'आलोचना' (नवांक-17) अप्रैल-जून, 1971 ई. पृ. सं. 10.
90. जार्ज लूकाच का मत. नामवर सिंह द्वारा संपादकीय में उद्धृत. 'आलोचना' (नवांक-18) जुलाई-सितंबर, 1971: पृ. सं. 05.
91. सिंह, नामवर. संपादकीय. वही. पृ. सं. 05-06.
92. वही. पृ. सं. 05-06.
93. लूकाच. जार्ज. साक्षात्कार, "जार्ज लूकाच से एक बातचीत". साक्षात्कार कर्ता. इस्तवान साइमन

- एवं इर्विन जित्यानि. 'आलोचना' (नवांक-13) अप्रैल-जून, 1970: पृ. सं. 50.
94. वही. पृ. सं. 50.
95. जैन, निर्मला. "शुद्ध साहित्यिक मूल्यों का प्रश्न" 'आलोचना' (नवांक-18) जुलाई-सितंबर, 1971: पृ. सं. 54.
96. स्विंगवुड, एलन. "समाजशास्त्र और साहित्य". अनु. एवं संपा. निर्मला जैन. साहित्य का समाजशास्त्रीय चिंतन, नई दिल्ली : हिंदी भाषा कार्यान्वयन समिति, दिल्ली विश्वविद्यालय, पृ. सं. 52-54 पर देखें.
97. ब्रेडबरी, माल्कम. "साहित्य और समाजशास्त्र", अनु. जगदीश शर्मा. 'आलोचना' (नवांक-25) अप्रैल-जून, 1973: पृ. सं. 08.
98. वही. पृ. सं. 08-09.
99. वही. पृ. सं. 14.
100. विलियम्स, रेमंड. "साहित्य और समाजशास्त्र." अनु. रामकृपाल पांडे. 'आलोचना' (नवांक-25), पृ. सं. 32.
101. वही. पृ. सं. 33.
102. वही. पृ. सं. 34-35.
103. सिंह, बच्चन. "अंतोनियो ग्राम्शी और साहित्य का समाजशास्त्र", 'आलोचना' (नवांक-71) अक्टू.-दिसं., 1984: पृ. सं. 06.
104. पांडेय, मैनेजर. साहित्य के समाजशास्त्र की भूमिका. पृ. सं. 47.
105. ठाकुर, खगेंद्र. "आलोचक का सामाजिक दायित्व", 'आलोचना' (नवांक-86) जुलाई-सितं., 1988: पृ. सं. 20.
106. वही. पृ. सं. 20.
107. गुप्ता, वी.डी.. साहित्य का समाजशास्त्र. हाथरस: सीता प्रकाशन, 1982. पृ. सं. 92-93 पर राबर्ट एस्कार्पिट के 'लेखक क्या होता है' संबंधी विचार।
108. कुलदीप कुमार की टिप्पणी- 'आलोचना' (नवांक-37) अप्रैल-जून, 1976- पृ. सं. 11-12 पर प्रकाशित। इनकी मान्यता है कि ये चिंतक क्रांतिकारी मार्क्सवादियों की दृष्टि में गैरमार्क्सवादी थे।
109. लूकाच, जार्ज. साक्षात्कार, "जार्ज लूकाच से बातचीत", साक्षात्कारकर्ता इस्त्वान साइमन एवं

- इर्विन जित्यानि, 'आलोचना' (नवांक-18) अप्रैल-जून, 1970: पृ. सं. 50.
110. वही. पृ. सं. 50.
111. वही. पृ. सं. 50.
112. जार्ज लूकाच का मत, नामवर सिंह द्वारा संपादकीय में उद्धृत 'आलोचना' (नवांक-18), जुलाई-सितं, 1971: पृ. सं. 05.
113. सिंह, नामवर. संपादकीय. वही. पृ. सं. 05-06.
114. वही. पृ. सं. 05-06.
115. सिंह, नामवर. संपादकीय, "लूसिएँ गोल्डमान" 'आलोचना' (नवांक-20) जनवरी-मार्च, 1972: पृ. सं. 1-2 पर देखें
116. विलियम्स, रेमंड, "साहित्य और समाजशास्त्र", अनु. रामकुपाल पांडे. 'आलोचना' (नवांक-25) अप्रैल-जून, 1973: पृ. सं. 32 एवं पूरे लेख की मान्यताएँ भी।
117. पांडेय, मैनेजर. शब्द और कर्म. बीकानेर : धरती प्रकाशन, 1981. पृ. सं. 114.
118. वही. पृ. सं. 116.
119. पांडेय, मैनेजर. साहित्य के समाजशास्त्र की भूमिका. पृ. सं. 47.
120. सिंह, बच्चन. साहित्य का समाजशास्त्र और रूपवाद, वाराणसी: विश्वविद्यालय प्रकाशन, 1984. पृ. सं. 01.
121. आशुतोष कुमार. समकालीन कविता और मार्क्सवाद, दिल्ली: शिल्पायन, 2010. पृ. सं. 218.
122. सिंह, नामवर. आत्मकथा-2 "रचना और आलोचना के पथ पर" 'तद्भव'-03 अप्रैल- 2000: पृ. सं. 16.
123. दृष्टव्य, नामवर सिंह का संपादकीय वक्तव्य 'आलोचना' (नवांक- 53) अप्रैल-जून, 1980- में जिसमें वह 'राजेंद्र यादव' के लेख 'चंद्रकांता: दयनीय महानता की दिलचस्प दास्तान' को 'साहित्य के समाजशास्त्रीय चिंतन' के परिप्रेक्ष्य में ही देखते हैं। 'आलोचना' के इसी अंक में यह लेख भी प्रकाशित है। और संपादकीय भी मूलतः इसी लेख के वक्तव्यों पर केंद्रित है।
- 'प्रदीप सक्सेना के लेख भी 'आलोचना' के निम्न अंकों में ही प्रकाशित हैं-
- चंद्रकांता; यथार्थवाद के प्रथम उत्थान का महाकाव्य. 'आलोचना' (नवांक-76) जनवरी-मार्च, 1986
- तिलिस्मी साहित्य का साम्राज्यवाद विरोधी चरित्र (नवांक-83) अक्तू.-दिसं., 1986

124. पांडेय, मैनेजर. शब्द और कर्म. पृ. सं. 120.
125. वही. पृ. सं. 120.
126. 'हिंदी प्रदेश' का तात्पर्य भारत के वे दस प्रदेश-उत्तर प्रदेश, बिहार, मध्यप्रदेश, हिमाचल प्रदेश, राजस्थान, दिल्ली आदि- जिनमें हिंदी भाषा मुख्य रूप से बोली जाती है, जबकि इसके साथ-साथ उर्दू भी इन प्रदेशों में बोली जानेवाली आधुनिक भारतीय भाषा है। जिसे डॉ. रामविलास शर्मा उसके बोलचाल के स्तर पर कोई अंतर नहीं होने के कारण उसे 'हिंदी की बहन' के रूप में चिह्नित करते हैं। इसलिए वे उर्दू भाषा को 'हिंदी भाषा' में अंतर्भुक्त करते हैं- इस प्रकार इस 'हिंदी भाषा' का व्यवहार करनेवाले प्रदेशों को 'हिंदी प्रदेश' कहते हैं किंतु कुछ विद्वान उनके 'हिंदी प्रदेश' की इस अवधारणा पर प्रश्नचिह्न लगाते हुए उसे- 'हिंदी-उर्दू प्रदेश' के रूप में चिह्नित करते हैं। इस संदर्भ में विस्तृत अध्ययन के लिए देखें।
- देखें:- शर्मा, रामविलास. महावीर प्रसाद द्विवेदी और हिंदी नवजागरण. नई दिल्ली: राजकमल प्रकाशन, 1977.- इस पुस्तक में-“भारत की भाषा-समस्या” शीर्षक अध्याय।
- देखें:- तलवार, वीर भारत. रस्साकशी: 19 वीं सदी का नवजागरण और पश्चिमोत्तर प्रांत. दिल्ली: सारांश प्रकाशन, 2002. इस पुस्तक की 'हिंदी, नागरी और गोरक्षा' संबंधी अध्याय, व उपसंहार।
- देखें:- सक्सेना, प्रदीप, अठारह सौ सत्तावन और भारतीय नवजागरण, पंचकूला. आधार प्रकाशन, 1996. इस पुस्तक का-‘भारतीय पुनर्जागरण की फिर से समीक्षा करनी होगी’ शीर्षक अध्ययन
127. सिंह, नामवर, संपादकीय. “हिंदी नवजागरण की समस्याएँ”. ‘आलोचना’ (नवांक-79) अक्टू.-दिसं., 1986: पृ. सं. 01.
128. देखें. शर्मा, रामविलास, “महावीरप्रसाद द्विवेदी और हिंदी नवजागरण” शीर्षक लेख. ‘आलोचना’ नवांक-40 जनवरी-मार्च, 1977. पर उल्लिखित पाद टिप्पणी।
129. शर्मा, रामविलास. भूमिका. महावीरप्रसाद द्विवेदी और हिंदी नवजागरण. नई दिल्ली: राजकमल, 1977. पृ. सं. 09.
130. वही. पृ. सं. 12.
131. वही. पृ. सं. 12.
132. वही. पृ. सं. 15.
133. वही. पृ. सं. 16.
134. वही. पृ. सं. 179.

135. देखें- वही. पृ. सं. 179-180.
136. सक्सेना, प्रदीप. अठारह सौ सत्तावन और भारतीय नवजागरण. पंचकूला: आधार प्रकाशन, 1996.
पृ. सं. 111 पर रामविलास शर्मा की मान्यताएँ- उद्धृत.
137. सिंह, नामवर. संपादकीय. "चंद्रधर शर्मा गुलेरी और हिंदी नवजागरण". 'आलोचना' (नवांक-66)
जुलाई-सितं., 1983 ई.: पृ. सं. 6- द.
138. सिंह, नामवर. साक्षात्कार, 'अब तक क्या किया, जीवन क्या जिया', साक्षात्कारकर्ता. असद जैदी
और मंगलेश डबराल. जनसत्ता 03 मई, 1987. संकलित. कहना न होगा. संपा. समीक्षा ठाकुर.
नई दिल्ली: वाणी प्रकाशन, 1994. पृ. सं. 140.
139. सिंह, नामवर. संपादकीय "हिंदी नवजागरण की समस्याएँ". 'आलोचना' नवांक-79 अक्टू.-दिसं.
, 1986: पृ. सं. 01.
140. वही. पृ. सं. 01.
141. वही. पृ. सं. 01.
142. वही. पृ. सं. 02.
143. वही. पृ. सं. 02.
144. सक्सेना, प्रदीप. अठारह सौ सत्तावन और भारतीय नवजागरण. पृ सं. 95-96.
145. देखें-रामविलास शर्मा द्वारा प्रदीप सक्सेना को लिखा गया पत्र. संकलन-संपादन: प्रदीप सक्सेना.
"प्रतिरोध ही सौंदर्य है" 'रामविलास शर्मा महाविशेषांक' 'उद्भावना'. नव.-दिसं.,- 2012: पृ. सं.
710.
146. देखें-सिंह, नामवर 'संपादकीय "हिंदी नवजागरण की समस्याएँ" 'आलोचना' (नवांक-79) अक्टू.
-दिसं., 1986: पृ. सं. 02.
147. वही. पृ. सं. 02.
148. वही. पृ. सं. 02.
149. वही. पृ. सं. 02.
150. वही. पृ. सं. 03.
151. वही. पृ. सं. 03.
152. वही. पृ. सं. 03.
153. वही. पृ. सं. 06.

154. वही. पृ. सं. 06.
155. वही. पृ. सं. 06.
156. सक्सेना, प्रदीप. अठारह सौ सत्तावन और भारतीय नवजागरण. पृ. सं. 439.
157. वही. पृ. सं. 439.
158. देखें-वही. पृ. सं. 436.
159. देखें-वही. पृ. सं. 436.
160. शर्मा, रामविलास. महावीरप्रसाद द्विवेदी और हिंदी नवजागरण. पृ. सं. 179.
161. सिंह नामवर. संपादकीय: हिंदी नवजागरण की समस्याएँ” ‘आलोचना’ (नवांक-79) अक्टू.-दिसं. 1986- पृ. सं. 07.
162. वही. पृ. सं. 07.
163. वही. पृ. सं. 08.
164. वही. पृ. सं. 08.
165. वही. पृ. सं. 08.
166. वही. पृ. सं. 08.
167. नामवर सिंह का साक्षात्कार. “अब तक क्या किया, जीवन क्या जिया”. ‘कहना न होगा’. में संकलित. पृ. सं. 141.
168. सिंह, बच्चन. “भारतेंदु हरिश्चंद्र: व्यक्तित्व के अंतर्विरोध”, ‘आलोचना’ नवांक-79 अक्टू.-दिसं. , 1986- पृ. सं. 16.
169. मिश्र, शिवकुमार. “राष्ट्रीय नवजागरण और भारतेंदु”, ‘आलोचना’ (नवांक-79). पृ. सं. 28.
170. वही. पृ. सं. 30.
171. मेघ, रमेशकुंतल. “भारतेंदु हरिश्चंद्र और कुछ उपनिवेशीय सवाल”. ‘आलोचना’ (नवांक-79). पृ. सं. 40.
172. उपाध्याय, विश्वभरनाथ. “हिंदी के आदि भरत भारतेंदु हरिश्चंद्र” शीर्षक लेख ‘आलोचना’ (नवांक-79).
173. तनेजा. सत्येंद्र कुमार. “भारतेंदु की रंगदृष्टि का मूल्यांकन: भारत भाई के संदर्भ में” ‘आलोचना’ (नवांक-79). पृ. सं. 62. पर देखें.
174. दुबे, महेंद्रनाथ. “भारतेंदु की भाषा चेतना”, शीर्षक लेख देखें ‘आलोचना’ (नवांक-79).

175. पांडेय, श्रीनारायण. “भारत माता / भारत जननी” शीर्षक लेख- देखें ‘आलोचना’ (नवांक-79).
176. देखें-रघुवंश. “भारतेंदु हरिश्चंद्र और मैथिलीशरण गुप्त: मूल्यांकन का परिप्रेक्ष्य” ‘आलोचना’ (नवांक-79).
177. देखें- त्रिलोचन की मान्यताएँ- “आधुनिक हिंदी कविता और मैथिलीशरण गुप्त का काव्य”- शीर्षक लेख में-प्रस्तुति-वीरेंद्र मोहन ‘आलोचना’ (नवांक-79).
178. प्रसाद, कमला. “मैथिलीशरण गुप्त का आत्मसंघर्ष और काव्य” शीर्षक लेख ‘आलोचना’ (नवांक-79).
179. देखें- अंबादत्त पांडे का लेख- “राष्ट्रीय भावना और गुप्त काव्य” ‘आलोचना’ (नवांक-79).
180. देखें- रमेशचंद्र शाह का लेख ‘भारत-भारती के बहाने’ ‘आलोचना’ (नवांक-79).
181. अग्रवाल, पुरुषोत्तम. “राष्ट्रकवि की राष्ट्रीय चेतना”, ‘आलोचना’ (नवांक-79). पृ. सं. 130.
182. देखें- नामवर सिंह का लेख “मैथिलीशरण गुप्त और आधुनिक हिंदी काव्य-भाषा का विकास. वही-
183. मिश्र, शिवकुमार. “नवजागरणकालीन साहित्य के चरित्र का एक विशिष्ट पहलू” ‘आलोचना’ (नवांक-82). जुलाई-सितं., 1987: पृ. सं. 52.
184. वही. पृ. सं. 54.
185. वही. पृ. सं. 54.
186. सिंह, नामवर. संपादकीय “हिंदी नवजागरण की समस्याएँ” ‘आलोचना’ (नवांक-79). पृ. सं. 08.
187. मिश्र, शिवकुमार. “नवजागरण कालीन साहित्य के चरित्र का एक विशिष्ट पहलू” ‘आलोचना’ (नवांक-82). पृ. सं. 54.
188. वही. पृ. सं. 56.
189. वही. पृ. सं. 57.
190. देखें- सिंह, बच्चन. “उन्नीसवीं शताब्दी का औपनिवेशिक भारत और हिंदी नवजागरण”, ‘आलोचना’ (नवांक-93). अप्रैल-जून, 1990 ई: लेख-
191. देखें- सिंह, विजेंद्रनारायण. “हिंदी नवजागरण: सामंतविरोधी मूल्य और बुद्धिवाद की प्रतिष्ठा।” आलोचना ‘आलोचना’ (नवांक-93). पृ. सं. 11-12.
192. तलवार, वीरभारत, सामना, नई दिल्ली : वाणी प्रकाशन, 2005. पृ. सं. 252-258.

193. वर्मा, धनंजय. आधुनिकता के बारे में तीन अध्याय. नई दिल्ली: विद्याप्रकाशन मंदिर, 1984. पृ. सं. 19. 'आधुनिकतावाद' को एक आंदोलन के रूप में देखते हैं। किंतु डॉ० बच्चन सिंह 'आधुनिकता' एवं आधुनिकतावाद को आंदोलन नहीं मानते हैं बल्कि 'चर्चा' कहते हैं। देखें- सिंह, बच्चन, "आधुनिकता". संपा. डॉ० नगेंद्र. हिंदी साहित्य का इतिहास. 1973. पुनर्मुद्रित चवालिसवाँ संस्करण. हिंदी साहित्य का इतिहास, सह-संपा. डॉ० हरदयाल. दिल्ली: मयूर पेपर बैक्स, 2013. पृ. सं. 417.
194. वर्मा, धनंजय. आधुनिकता के बारे में तीन अध्याय. नई दिल्ली: विद्या प्रकाशन मंदिर, 1984. पृ. सं. 14.
195. सिंह, बच्चन. "आधुनिकता". संपा. डा० नगेंद्र. हिंदी साहित्य का इतिहास. 1973. पुनर्मुद्रित चवालिसवाँ संस्करण. दिल्ली: मयूर पेपर बैक्स, 2013. पृ. सं. 416.
196. मदान, इंद्रनाथ. "आधुनिकता और समकालीन कविता". 'आलोचना' (नवांक-17) अप्रैल-जून, 1971: पृ. सं. 126.
197. अमृतराय. आधुनिक भावबोध की संज्ञा. इलाहाबाद: हंस प्रकाशन, 1987. पृ. सं. 22.
198. वर्मा, लक्ष्मीकांत. नए प्रतिमान: पुराने निकष. कलकत्ता: भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, 1966. पृ. सं. 47.
199. वही. पृ. सं. 49.
200. वही. पृ. सं. 60.
201. वही. पृ. सं. 45.
202. वही. पृ. सं. 45.
203. 'रोमांटिक बनाम आधुनिक' परिसंवाद "आयोजकीय वक्तव्य," 'आलोचना' (नवांक-03) अक्तू.-दिसं., 1967.
204. शर्मा, रामविलास. "रोमांटिक बनाम आधुनिक" परिसंवाद. 'आलोचना' (नवांक-3) अक्तू.-दिसं., 1967: पृ. सं. 05.
205. वही.- सभी बिंदु डॉ० रामविलास शर्मा द्वारा इस परिसंवाद के प्रवर्तन में कहे गए हैं।
206. मुद्राराक्षस. "रोमांटिक बनाम आधुनिक" परिसंवाद, 'आलोचना' (नवांक-03), पृ. सं. 06.
207. वर्मा, श्रीकांत. "रोमांटिक बनाम आधुनिक" परिसंवाद., पृ. सं. 07.
208. वही. पृ. सं. 07.

209. डोभाल, प्रेमप्रकाश. “रोमांटिक बनाम आधुनिक” परिसंवाद. पृ. सं. 08.
210. वही. पृ. सं. 09.
211. अग्रवाल, भारत भूषण. “रोमांटिक बनाम आधुनिक” परिसंवाद. पृ. सं. 09.
212. वही. पृ. सं. 10.
213. वही. पृ. सं. 10.
214. कुमार अजित. “रोमांटिक बनाम आधुनिक” परिसंवाद., पृ. सं. 11
215. वही. पृ. सं. 11.
216. वही. पृ. सं. 12.
217. अग्रवाल, भारत भूषण. “रोमांटिक बनाम आधुनिक” परिसंवाद., पृ. सं. 10.
218. सिंह, मुरलीमनोहर प्रसाद. “रोमांटिक बनाम आधुनिक” परिसंवाद., पृ. सं. 12.
219. वही. पृ. सं. 13.
220. वही. पृ. सं. 13.
221. सिंह, शमशेर बहादुर. “रोमांटिक बनाम आधुनिक” परिसंवाद., पृ. सं. 13.
222. वही. पृ. सं. 13.
223. माथुर, गिरिजा कुमार. “रोमांटिक बनाम आधुनिक” परिसंवाद., पृ. सं. 14.
224. वही. पृ. सं. 15.
225. वही. पृ. सं. 16.
226. वही. पृ. सं. 16.
227. सिंह, नामवर. “रोमांटिक बनाम आधुनिक” परिसंवाद., पृ. सं. 17.
228. वही. पृ. सं. 17.
229. वही. पृ. सं. 17.
230. वही. पृ. सं. 16.
231. सिंह, नामवर. कविता के नए प्रतिमान. पाँचवी आवृत्ति. नई दिल्ली: राजकमल प्रकाशन, 2000.
पृ. सं. 20. इसके अतिरिक्त ‘छायावादी संस्कार’ के विरोध की चर्चा इस पुस्तक में कई बार की गई है- जैसे पृ. सं. 25 पर-नामवर सिंह लिखते हैं कि ‘छायावादी संस्कारों में पले जो आलोचक अनुभूति को स्थायी भाव का पर्याय समझते हैं... किंतु जब स्थाई भाव नहीं मिलते तब वे अपने काव्य-सिद्धांत को दोष देने की जगह नई कविता को ही दोषी मान लेते हैं’ इसके अतिरिक्त पृ.

सं. 29 पर-‘इस दृष्टि से आज नए-से-नए प्रतिमान के लिए सबसे बड़ी चुनौती छायावादी संस्कार हैं’। ध्यातव्य है कि ‘कविता के नए प्रतिमान’ में प्रतिमान का अर्थ प्रकारांतर से ‘संस्कार’ ही है। नामवर सिंह का मत है कि ‘जिन्हें हम ‘पुराने प्रतिमान’ कहते हैं, वे वस्तुतः पुराने ‘संस्कार’ हैं। .. जब तक इन संस्कारों को न तोड़ा जाएगा, नए प्रतिमानों के प्रस्तुत होने पर भी वास्तविक मूल्यांकन में वे परोक्ष रूप से दखल देंगे।’ पृ. सं. 28.

232. सिंह. नामवर. “रोमांटिक बनाम आधुनिक” परिसंवाद - ‘आलोचना’ (नवांक-03), पृ. सं. 17.
233. शर्मा, रामविलास, “रोमांटिक बनाम आधुनिक”, पृ. सं. 19.
234. वही. पृ. सं. 19.
235. वही. पृ. सं. 19.
236. कुमार, अजित. “रोमांटिक बनाम आधुनिक” परिसंवाद, पृ. सं. 11.
237. सिंह, नामवर. साक्षात्कार, “हिंदी आलोचना के वृहत्तीय” साक्षात्कारकर्ता, सुधीर रंजन सिंह, बात बात में बात. में संकलित. संपादक. समीक्षा ठाकुर- नई दिल्ली: वाणी प्रकाशन, 2006. पृ. सं. 172.
238. पियर्सन, ग्रेब्रिएल. “रोमांटिसिज़्म, समकालीन कविता और समाजवाद” ‘आलोचना’ नवांक-03, पृ. सं. 20.
239. वही. पृ. सं. 20.
240. क्रेग, डेविड. वही. पृ. सं. 21.
241. वही. पृ. सं. 21.
242. मिचेल, स्टेनली. वही. पृ. सं. 22.
243. वही. पृ. सं. 23.
244. वही. पृ. सं. 23.
245. वही. पृ. सं. 24.
246. श्रीवास्तव, परमानंद, विनिमय स्तंभ. “रोमांटिक बनाम आधुनिक या सर्वकालीन बनाम समकालीन” ‘आलोचना’ (नवांक-04) जनवरी-मार्च 1968. देखें- 108-109.
247. वही. पृ. सं. 108.
248. वही. पृ. सं. 109.

249. देखें. डेविड क्रेग का मत-पूरक संवाद 'रोमांटिसिज़्म, समकालीन कविता और समाजवाद', पृ. सं. 21
250. देखें. स्टेनली मिसेल का मत. पूरक संवाद. पृ. सं. 22-23
251. द्रष्टव्य. नामवर सिंह का लेख-'हिंदी साहित्य के पच्चीस वर्ष'. 'आलोचना' (नवांक-28), जन.-मार्च, 1974.
252. श्रीवास्तव, परमानंद. "सर्जनात्मक आलोचना." 'आलोचना' (नवांक-31) अक्टूबर-दिसंबर 1974: पृ. सं. 24.
253. चतुर्वेदी, रामस्वरूप. "अर्थ- प्रक्रिया का विश्लेषण और संवर्धन." 'आलोचना की भाषा'-परिसंवाद, 'आलोचना' (नवांक-02) जुलाई-सितं., 1967, पृ. सं. 9-10.
254. सिंह, नामवर, संपादकीय 'आलोचना की भाषा' परिसंवाद 'आलोचना' (नवांक-02) जुलाई-सितं., 1967, पृ. सं. 01.
255. वही. पृ. सं. 01.
256. वाजपेयी, अशोक. "सार्थकता, प्रसंगानुकूलता और प्रामाणिकता" 'आलोचना की भाषा' परिसंवाद. पृ. सं. 37-38.
257. द्वारा उद्धृत गुर्दे, शचीरानी. "आलोचना का रुख" (भूमिका). हिंदी के आलोचक. संपा. गुर्दे, दिल्ली: आत्माराम एंड संस, 1955. पृ. सं. तेरह.
258. द्वारा उद्धृत. वही: पृ. सं. तेरह.
259. मटियानी, शैलेश, "लेखकीय संत्रास और रचनात्मक असमर्थ बोध." आयोजकीय वक्तव्य. 'विकल्प' प्रवेशांक मई, 1967: पृ. सं. 220.
260. देखें- गंगाप्रसाद विमल का वक्तव्य- 'विकल्प' पत्रिका के आयोजकीय वक्तव्य का प्रत्युत्तर, पृ. सं. 227.
261. देखें- यशपाल का वक्तव्य: 'विकल्प' पत्रिका के आयोजकीय वक्तव्य का प्रत्युत्तर, पृ. सं. 228.
262. देखें- रमेश बक्षी का वक्तव्य- 'विकल्प' पत्रिका के आयोजकीय वक्तव्य का प्रत्युत्तर, पृ. सं. 234.
263. देखें- मुद्राराक्षस का वक्तव्य. 'विकल्प' पत्रिका के आयोजकीय वक्तव्य का प्रत्युत्तर, पृ. सं. 231.
264. सिंह, नामवर. साक्षात्कार. "विवेक की पक्षधरता" साक्षात्कारकर्ता अशोक वाजपेयी, उदय प्रकाश. कहना न होगा: संपा. समीक्षा ठाकुर. नई दिल्ली: वाणी प्रकाशन, 1994. पृ. सं. 33.
265. चतुर्वेदी, रामस्वरूप. "अर्थ-प्रक्रिया का विश्लेषण और संवर्धन." आलोचना की भाषा-परिसंवाद,

- पृ. सं. 09.
266. वही. पृ. सं. 09.
267. वही. पृ. सं. 11.
268. कक्कड़, कृष्णनारायण. "स्पष्टता और संगति का आग्रह" आलोचना की भाषा-परिसंवाद, पृ. सं. 23.
269. वही. पृ. सं. 21.
270. शल्य, यशदेव. "मूल्यान्वेषण और अर्थ-विवेक," 'आलोचना की भाषा'-परिसंवाद, पृ. सं. 24.
271. बारलिंगे, सुरेंद्र. "सामान्य भाषा और मूल्यांकन" 'आलोचना की भाषा'-परिसंवाद, पृ. सं. 28.
272. वही. पृ. सं. 29.
273. वाजपेयी, अशोक. "सार्थकता, प्रसंगानुकूलता और प्रामाणिकता." 'आलोचना की भाषा'-परिसंवाद, पृ. सं. 37.
274. वही. पृ. सं. 37.
275. वही. पृ. सं. 40.
276. वही. पृ. सं. 40.
277. वाजपेयी, अशोक. "आज के साहित्य में आक्रमकता", 'आलोचना' (नवांक-01) अप्रैल-जून 1967: पृ. सं. 61.
278. चौधरी, सुरेंद्र. "आक्रोश की भाषा और भाषा का आक्रोश." 'आलोचना' (नवांक-02) जुलाई-सितं., वही: पृ. सं. 76.
279. देखें- वही. पृ. सं. 76.
280. वही. पृ. सं. 78.
281. वही. पृ. सं. 80.
282. वही. पृ. सं. 80.
283. सिंह, नामवर. संपादकीय. 'आलोचना' (नवांक-02). पृ. सं. 2-3.
284. वही. पृ. सं. 03.
285. वही. पृ. सं. 04.
286. वही. पृ. सं. 05.
287. वही. पृ. सं. 06.

288. वही. पृ. सं. 06.
289. देखें- संदर्भ संख्या- 08, जिसमें प्रवेशांक में दिए गए एक पैराग्राफ को उद्धरित किया गया है।
290. सिंह, नामवर. संपादकीय, 'आलोचना' (नवांक-02). पृ. सं. 07.
291. वही. पृ. सं. 07.
292. वही. पृ. सं. 08.
293. सिंह, नामवर. साक्षात्कार. "विवेक की पक्षधरता." कहना न होगा. पृ. सं. 33.
294. देखें- उपर्युक्त साक्षात्कार. वही: पृ. सं. 33-34.
295. सिंह, नामवर. साक्षात्कार, "सृजनात्मकता के बचाव में." साक्षात्कार कर्ता- विष्णु खरे 'कहना न होगा', पूर्वोद्धृत- पृ.सं. 55.
296. सिंह, नामवर. साक्षात्कार "अब तक क्या किया, जीवन क्या जिया." साक्षात्कारकर्ता. असद जैदी व मंगलेश डबराल- कहना न होगा, पृ. सं. 144.
297. सिंह, नामवर. साक्षात्कार. "विवेक की पक्षधरता"- कहना न होगा. पृ. सं. 35.
298. वही. पृ. सं. 35.
299. पांडेय, मैनेजर. आलोचना की सामाजिकता. नई दिल्ली: वाणी प्रकाशन, 2005. पृ. सं. 35.
300. दृष्टव्य-कर्णसिंह चौहान की पुस्तक 'आलोचना के नए मान', नई दिल्ली : मैकमिलन, 1978, परिशिष्ट-1 में प्रकाशित लेख, पृ. सं. 199-213 तक
301. द्रष्टव्य :- नामवर सिंह का आत्म कथ्य-2, में तद्भव-अंक-03, अप्रैल, 2000 में प्रकाशित वक्तव्य।
302. श्रीवास्तव, रवींद्रनाथ. "साहित्य विश्लेषण का संघटनात्मक दृष्टिकोण" 'आलोचना' (नवांक-01) अप्रैल-जून, 1967: पृ. सं. 80.

अध्याय : दो

मार्क्सवादी आलोचना की नई बहसें और 'आलोचना' पत्रिका

नामवर सिंह द्वारा संपादित 'आलोचना' के अंकों में मार्क्सवादी साहित्य और कला-चिंतन कीपश्चिमी और हिंदी साहित्यकला चिंतन-धारा पर शोधपरक आलेख, निबंध, समीक्षाएँ, अनूदित लेख, व्याख्यान, साक्षात्कार आदि सर्वाधिक मात्रा में उपलब्ध हैं। मार्क्सवादी साहित्य-चिंतन एवं समीक्षा पर इतनी प्रचुरता में सामग्री की उपलब्धता नामवर सिंह की मार्क्सवादी चिंतन एवं विचारधारा से प्रतिबद्धता का ही साक्ष्य है। ध्यातव्य है कि स्वयं नामवर सिंह न केवल घोषित रूप से मार्क्सवादी हैं, बल्कि हिंदी की मार्क्सवादी आलोचना के प्रमुख स्तंभ भी हैं।¹ स्पष्ट है कि उनके संपादन में 'आलोचना' पत्रिका का वैचारिक आधार मार्क्सवादी चिंतन एवं विचारधारा से प्रतिबद्धता है।

ध्यान देने की बात है कि 'आलोचना' पत्रिका अपने प्रकाशन काल से 'कई संपादकीय विवेक से पुष्ट रही है, जिसमें 'आलोचना' के संस्थापक - संपादक शिवदान सिंह चौहान स्वयं मार्क्सवादी आलोचक थे। शिवदान सिंह चौहान को तो हिंदी में मार्क्सवादी आलोचना का प्रथम पुरस्कर्ता के रूप में भी देखा जाता है।² अपने संपादन में शिवदान सिंह चौहान ने अपने दौर की मार्क्सवादी आलोचना के प्रमुख मुद्दों एवं बहसों को 'आलोचना' पत्रिका के माध्यम से प्रखर एवं जोरदार ढंग से प्रस्तुत किया था। और फिर 'आलोचना' कलावादी एवं सौष्ठववादी चिंतक और आलोचकों³ के द्वारा भी संपादित होती रही। और उसके माध्यम से साहित्यिक आलोचना में कलावादी चिंतन-भाववादी चिंतन को बल मिला। कलावादी और सौष्ठववादी आलोचकों का मार्क्सवादी चिंतन-पद्धति से विरोधपूर्ण रवैया रहा। 'आलोचना' पत्रिका के इन संपादकों के संपादन में मार्क्सवादी चिंतन एवं समीक्षा-पद्धति हाशिए पर रही। वस्तुतः उन्होंने मार्क्सवादी साहित्य-चिंतन

के लिए प्रतिपक्ष की भूमिका का ही निर्वाह किया। इधर एकतरफ मार्क्सवादी आलोचना पर कलावादी प्रहार हो रहे थे, वहीं दूसरी तरफ मार्क्सवादी चिंतकों में विभिन्न मुद्दों 'पार्टी-संगठन की साहित्य से संबद्धता', 'कविता और राजनीति', 'परंपरा और प्रगति', 'देश की स्वाधीनता', 'साहित्य और समाज के संबंध' आदि पर मतभेद देखे जा सकते हैं। कलावादी चुनौतियों के समक्ष यह मतभेद तीव्रता से लक्षित किए जा सकते हैं। कई बार मार्क्सवादियों में ही मार्क्सवादी चिंतन और कलावादी चिंतन के बीच परस्पर अवलंबित तत्वों को लेकर एक अजीब रस्साकशी भी देखी जा सकती है, और कई बार इन्हीं मार्क्सवादी चिंतकों में किन्हीं मुद्दों पर उग्र और आक्रामक रवैयों को भी परिलक्षित किया जा सकता है। दरअसल यह स्थिति अपने दौर की राजनैतिक-सामाजिक संबंधों एवं प्रश्नों से कई स्तरों की उपज थी। इनका तत्कालीन भारतीय राजनीति और विश्व की शीतयुद्धीय राजनैतिक परिवेश से किसी-न-किसी रूप में गहरे स्तरों पर जुड़ाव भी था। स्पष्ट है कि नामवर सिंह के 'संपादन दायित्व' में जब 'आलोचना' पत्रिका आई तब वही सामाजिक राजनैतिक स्थिति एवं विश्व परिदृश्य नहीं था, जो 1960 ई. के पहले के मार्क्सवादी आलोचना एवं साहित्य-चिंतन के सम्मुख था। और यह स्तालिनोत्तर मार्क्सवादी चिंतन था, और नेहरू युग के अंत को दर्शाता था। समय के मार्क्सवादी चिंतन में नवीन आयाम जुड़े, नए मुद्दों पर बातें हुईं, कई प्रश्न उठाए गए, और उन प्रश्नों के उत्तर ढूँढ़ने की कोशिश की गई जिन्हें आरंभिक आलोचना में अनुत्तरित ही छोड़ दिया गया था।

वस्तुतः इस अध्याय में मार्क्सवादी आलोचना और साहित्य-चिंतन के उन्हीं नवीन मुद्दों और बहसों को स्पष्ट करना है, जो 1960 के बाद पश्चिमी और हिंदी के मार्क्सवादी साहित्य चिंतन में उभर कर आए हैं, जिन्हें 'आलोचना' पत्रिका के माध्यम से प्रस्तुत किया गया है।

ध्यान देने की बात है कि नामवर सिंह संपादित 'आलोचना' पत्रिका में मार्क्सवादी आलोचना की नवीन बहसों को दो रूपों में देखा गया है। एक संदर्भ पश्चिमी देशों के मार्क्सवादी

चिंतन की परंपरा से है, तो दूसरा संदर्भ हिंदी की मार्क्सवादी साहित्य-समीक्षा की परंपरा से है। 'आलोचना' पत्रिका में मार्क्सवादी आलोचना की नई बहसें एवं मुद्दे, इन्हीं दो संदर्भों में ही प्रकट हुए हैं। इन्हीं दोनों संदर्भों में यहाँ अध्ययन करेंगे, जिससे यह स्पष्ट हो सके कि पश्चिमी देशों के साहित्य में मार्क्सवादी कला-चिंतन के नवीन अर्थ-संदर्भ क्या हैं? और हिंदी की मार्क्सवादी आलोचना में नवीन मान्यताएँ क्या है? और इनका आपस में पारस्परिक क्या संबंध है यह भी स्पष्ट हो सकेगा। उन चुनौतियों को भी देखा जा सकेगा, जो 1960 के आसपास पश्चिमी मार्क्सवादी चिंतन और हिंदी की मार्क्सवादी साहित्य-चिंतन में उभर कर आए हैं, और 'आलोचना' जिनकी माध्यम बनी है।

2.1 पश्चिमी मार्क्सवादी चिंतन की नई धारा : मुद्दे और मान्यताएँ

अंग्रेजी साहित्य अथवा पश्चिमी कला चिंतन में चिंतन की धारा मार्क्सवादी कला-चिंतन का आरंभ, बीसवीं शती के चौथे दशक से ही व्यवस्थित रूप से दिखाई पड़ता है⁴ जिसमें एक साथ ही राल्फ फॉक्स, क्रिस्टोफर कॉडवेल, हेनरी बारबूस आदि देखे जा सकते हैं, जिन्होंने मार्क्सवादी आलोचना का नींवधार खड़ा किया। हिंदी साहित्य जगत में भी मार्क्सवादी साहित्य और कला-चिंतन का आरंभ बीसवीं शती के चौथे दशक से ही देखा जा सकता है।⁵ चौथे दशक के मार्क्सवादी चिंतकों का पहला काम मार्क्सवादी अवधारणाओं को साहित्यकला-चिंतन में लागू करना था। उन सिद्धांतों का लागू करके 'मार्क्सवादी सौंदर्यशास्त्र' की रूपरेखा विकसित करना था। दूसरे, मार्क्सवादी चिंतन का आधारभूत समस्या समाजवाद, साम्यवाद की स्थापना करना रहा है, जिसके लिए साहित्य को एक माध्यम के रूप में प्रयोग करना था। इसका उद्देश्य समाज को बदलना था, समाजवादी व्यवस्था लागू करना था। उसके लिए साहित्य को 'राजनीतिक हथियार' के रूप में देखा गया। इसके अतिरिक्त साहित्य और समाज के संबंध को समझने की कोशिश करना, और मार्क्सवादी अवधारणाओं के संदर्भ में उसकी व्याख्या करना तथा शोषणकारी-उत्पीड़नकारी शक्तियों की पहचान

कर उसकी चरित्र को स्पष्ट करना आदि कुछ महत्वपूर्ण कार्य भी थे।⁶ साहित्य और कला-चिंतन में मार्क्सवादी अवधारणाओं को लागू करने का परिणाम यह हुआ कि उससे 'मार्क्सवादी सौंदर्यशास्त्र' की रूपरेखा निकलकर सामने आई। जिसमें आगे चलकर 'मार्क्सवादी चिंतन-पद्धति' ने साहित्य और कलाओं को समझने में अपनी सार्थकता को स्पष्ट किया। "इससे साफ ज़ाहिर हुआ कि ऐसे मार्क्सवादी सौंदर्यशास्त्र की आवश्यकता है जो आधारभूत समस्याओं का समाधान प्रस्तुत कर बता सके कि 1. साहित्य क्या है, 2. इसका सामाजिक कार्य क्या है और 3. समूचे मानव परिवेश में साहित्य कहाँ स्थित है?"⁷ किंतु मार्क्सवादी आलोचना के आरंभ में मार्क्सवादी अवधारणाओं को साहित्य और समीक्षा में 'ज्यों का त्यों' लागू करने का कार्य किया गया। जिसमें साहित्य-कला आदि को 'अधिरचना' के रूप में ही स्वीकार किया गया तथा कला-साहित्य आदि को 'आधार' का प्रतिबिंब अथवा दर्पण रूप मान लिया गया। इसके अतिरिक्त "कला को राजनीतिक औज़ार के रूप में प्रस्तुत करने की कोशिश का तकाज़ा था कि कला के कार्य पर व्यापक बहस की जाए लेकिन अधिकांश आलोचकों ने साहित्य के तात्कालिक कार्य (अर्थात् समाजवाद के संघर्ष की सहायता करना) को ही सामने रखा। इन लोगों की दृष्टि में साहित्य का कार्य सामान्यतः यही था।"⁸ मार्गोलीज इस संदर्भ में स्पष्ट करते हैं कि "साहित्य के कार्य संबंधी यह अवधारणाएँ बहुत दूर तक राजनीतिक थी।"⁹ इसीप्रकार पूँजीवादी और सामंती व्यवस्था को उच्चवर्गीय देन स्वीकारते हुए उसके शोषणकारी दमन-चक्र के उद्घाटन करते हुए; उस काल की समस्त कला और साहित्य को शोषणकारी व्यवस्थाओं की देन कहकर खारिज किया गया। मार्क्सवादी चिंतन को यांत्रिक रूप से लागू करते हुए कई सरलीकृत निष्कर्ष निकाले गए। जिनमें आधार-अधिरचना के संबंध को नींव और इमारत के संबंध के रूपक की तरह स्थिर एवं जड़ रूप में देखा गया। उत्पादक और उत्पादन संबंधों की परिकल्पना को रूढ़ अर्थों में प्रयुक्त किया गया जिसको कलाकार और कलाकृति के संबंधों की व्याख्या में लागू करने की कोशिश की गई। इस प्रकार मार्क्सवादी अवधारणाओं

‘द्वंद्वात्मक भौतिकवाद’, ‘ऐतिहासिक भौतिकवाद’, ‘वर्ग’ की अवधारणा और ‘वर्ग-संघर्ष’ को ही साहित्य-कला पर लागू किया गया। “चौथे दशक के वामपंथी आलोचकों ने साहित्य पर मार्क्सवादी अवधारणाओं को लागू तो किया किंतु मार्क्सवादी पद्धति का ज्यादा उपयोग नहीं किया।”¹⁰ जिससे मार्क्सवादी आलोचकों की साहित्य और कला संबंधी समझ यांत्रिक रूप में दिखाई पड़ी। मार्गोलीज का तो यहाँ तक कहना है कि

“इस काल के आलोचकों में साहित्य के कार्य संबंधी समझ की कमी थी और साहित्य की जिम्मेदारियों और समस्याओं पर इनके विचार सतही होते थे।”¹¹ स्पष्ट है कि साहित्य को राजनीतिक हथियार अथवा उद्देश्य तक सीमित होने, साहित्य को वर्ग-संघर्ष के औजार के रूप में गणना करने, औ साहित्य और समाज संबंधी यांत्रिक व्याख्या के कारण मार्क्सवादी आलोचना की एक रूढ़ प्रवृत्ति के रूप में ही दृष्टिगत किया गया।¹² इस प्रकार की यांत्रिक आलोचना-सिद्धांत से ‘साहित्य की समस्याओं’ का हल नहीं ढूँढा जा सकता है। साहित्य को मात्र राजनीति के औजार रूप में देखने से ‘साहित्य और समाज’ का एकरैखिक संबंध ही स्पष्ट होता है, उसके द्वंद्वात्मक और अंतर्द्वंद्वात्मक संबंधों को स्पष्ट नहीं किया जा सकता है। साहित्य का समाज में क्या अस्तित्व है, सामाजिक जीवन में उसका कार्य क्या है और वह कहाँ स्थित है? इसे स्पष्ट करना ज़रूरी है। इसके अतिरिक्त ‘कला और विचारधारा’ के बीच किस प्रकार का संबंध होता है? यह भी स्पष्ट करना ज़रूरी है विचारधारा किस प्रकार विषयवस्तु को बदलती है और उसका ‘रूप’ से क्या संबंध होता है? यह देखना भी अत्यावश्यक है। ‘रूप और अंतर्वस्तु’ के बीच किस प्रकार का संबंध होता है? ‘समाज का व्यक्ति’ से व्यक्ति का उत्पादन संबंधों के बीच इन उत्पादन संबंधों में साहित्य की अवस्थिति कहाँ पर है, इसे भी जानना अत्यंत आवश्यक है। कला में सौंदर्य की स्थिति कहाँ होती है? सौंदर्य का स्वरूप क्या है? कला-साहित्य का सर्वहारा से और सर्वहारा के लिए साहित्य की उपयोगिता क्या है? ‘कला की स्वायत्तता’ का प्रश्न तथा साहित्येतर मूल्य और प्रतिमान की महत्व

क्या है? आधार और अधिरचना के बीच किस प्रकार का संबंध होता है? उसमें साहित्य आएगा या नहीं अथवा क्या वह उसका अंग या संस्था है? अंतर्वस्तु और रूप में किसका महत्व सर्वाधिक है अथवा रूप और अंतर्वस्तु एक हैं अथवा दोनों को द्वित्व रूप में देखा जाए?

उपर्युक्त प्रश्नों के उत्तर प्रारंभिक मार्क्सवादी आलोचना के पास नहीं थे, ये सभी प्रश्न उस दौर की साहित्य चिंतन में उठाए जा रहे थे। इन प्रश्नों के उत्तर व्यवस्थित ढंग से न देकर उन्हें मार्क्सवादी अवधारणाओं को यांत्रिक ढंग से लागू करके दिए जा रहे थे। स्पष्ट है कि मार्क्सवादी आलोचना अपने समय के इन प्रश्नों उत्तर नहीं दे सकी। और मार्क्सवादी आलोचकों और गैरमार्क्सवादी आलोचकों के बीच मुठभेड़ में मार्क्सवादी आलोचना को कई स्तरों पर 'व्यावहारिक लाचारी' का सामना करना पड़ा। इसका सर्वोत्तम उदाहरण अंग्रेजी समीक्षा में 'स्कूटिनी' गुट की विजय में देखा जा सकता है। "“स्कूटिनी’ और इंग्लैंड के मार्क्सवादियों के बीच समीक्षा के क्षेत्र में हुई इस मुठभेड़ में पीछे मुड़कर देखने पर हमें तनिक भी संदेह नहीं रह जाता है ‘स्कूटिनी’ गुट विजयी हुआ।”¹³ इसके कारणों की पड़ताल करते हुए रेमंड विलियम्स इसे 'व्यावहारिक समीक्षा' के स्तर की कमजोरी के रूप में देखते हैं और सवाल उठाते हैं कि "क्या इसलिए कि 'स्कूटिनी गुट' के आलोचक साहित्य के अधिक नजदीक थे और वे साहित्य को इतर प्रकार के मुख्यतया आर्थिक प्रकार के साक्ष्यों से संकलित सिद्धांत विशेष के चौखटे में केवल जल्दी-जल्दी बैठा नहीं रहे थे। मेरा विश्वास है कि ऐसा था, किंतु इसका यथार्थ कारण और भी अधिक बुनियादी था। वह यह कि मार्क्सवाद अपने जिस रूप में उस समय सामान्यतया समझा गया था, उसी निर्णायक दायरे में कमजोर था, जहाँ 'व्यावहारिक समीक्षा' सबल थी।"¹⁴ यही कारण है कि जार्ज लूकाच ने न सिर्फ साहित्य की मार्क्सवादी समझ की, बल्कि मार्क्सवादी चिंतन-पद्धति के नवीनीकरण की आवश्यकता पर बार-बार बल दिया। नवीकरण से उनका "तात्पर्य है वियतनाम युद्ध से संयुक्त राज्य के नस्ल विषयक संकट से बर्तानिया के साम्राज्योत्तर भूमिका पाने की असमर्थता से, फ्रांस के, जर्मनी के,

इटली के संकट से। दूसरे शब्दों में विश्व-इतिहास के परिदृश्य में हम विश्व संकट के दरवाजे पर खड़े हैं... इससे मार्क्सवाद के नवीकरण के लिए बड़ा व्यवहार संगत प्रोत्साहन मिलता दीखता है, मैं फिर अपनी बात पर आता हूँ, पाश्चात्य और अपने देशों में पूँजीवाद के उपार्जन के आर्थिक और सामाजिक विश्लेषण करने के लिए मार्क्सवादी पद्धति का नवीकरण करना होगा।... हम उन ठोस समस्याओं का बिलगाने में असमर्थ हैं जिनका समाधान ज़रूरी है।... यही कारण है कि मार्क्सवाद के नवीकरण को मैं इतना बड़ा मसला मानता हूँ।'¹⁵

इसी प्रकार स्पष्ट है कि चौथे दशक की और स्तालिनकाल की मार्क्सवादी चिंतन और उससे जुड़ा साहित्य-चिंतन और समीक्षा छठे दशक के प्रश्नों के उत्तर नहीं दे पा रही थी, जिसके कारण मार्क्सवादी चिंतन से अनुप्रेरित साहित्य-समीक्षा संबंधी चिंतन को रूपवादी, भाषावादी, संरचनावादी, नई समीक्षा पद्धति आदि के समक्ष उसे कई मोर्चे पर पराजय का सामना करना पड़ावस्तुतः मार्क्सवादी चिंतन एवं साहित्य और कला-संबंधी अध्ययन हेतु उसे नवीन आयामों से जोड़ने उसकी नवीन व्याख्या करने की आवश्यकता महसूस की गई। साथ ही जो मार्क्सवादी आलोचक स्तालिनकालीन दबावों एवं अन्य रूढ़िगत मार्क्सवादी चिंतन के कारण उपक्षित कर दिए गए थे। उनकी भी पुनरुद्धार की आवश्यकता महसूस की गई। जिसके परिणामस्वरूप मार्क्सवादी चिंतन और साहित्य-कला संबंधी अध्ययन में नए मुद्दे, नए प्रश्नों के उत्तर खोजने के लिए मार्क्स की कृतियों से ही उन मान्यताओं को पुनर्व्याख्यायित किया गया, जो मार्क्सवादी चिंतन एवं अध्ययन पद्धति की यांत्रिक समझ के कारण उपेक्षित थे अथवा कर दिए गए थे नवीन परिस्थितियों के दबाव(मुख्यतः शीतयुद्ध कालीन) नवीन अध्ययन पद्धतियों के विकास (जैसे भाषावादी चिंतन, 'नई समीक्षा' आदि) की चुनौतियों के कारण उनका उत्तर दिया जाना आवश्यक था; जिसके फलस्वरूप मार्क्सवादी चिंतन में नवीन आयाम और बहस हमें दिखाई पड़ती हैं, जिन्हें नामवर सिंह संपादित 'आलोचना' में हम स्पष्टतः देख सकते हैं। लूकाच, ग्राम्शी, हरबर्ट मारकूस, बाल्टर

बेंजामिन, ब्रेख्त, रेमंड विलियम्स जैसे विद्वानों ने मार्क्सवादी चिंतन एवं अध्ययन-पद्धति में नवीन आयाम जोड़े और मार्क्सवादी कला-चिंतन से अपने युग के प्रश्नों के उत्तर देने का प्रयास किया। इन चिंतकों समीक्षकों ने मार्क्सवादी कला-चिंतन एवं समीक्षा की नवीन, अर्थपूर्ण व्याख्या की बल्कि; 'मार्क्सवाद का सर्जनात्मक विकास' का भी मार्ग प्रशस्त किया। इस प्रकार, 1960 के आसपास, पश्चिमी साहित्य-चिंतन में मार्क्सवादी कला और साहित्य-संबंधी चिंतन में नवीन उभार स्पष्ट रूप से लक्षित किया जा सकता है। जिसकी प्रकृति चौथे और पाँचवें दशक की मार्क्सवादी चिंतन की प्रकृति से बिल्कुल ही भिन्न है। इस संदर्भ में नामवर सिंह ग्राम्शी की तीसवीं पुण्यतिथि की श्रद्धांजलि में लिखित अपने संपादकीय में स्पष्ट करते हैं कि "स्तालिनोत्तर काल के मुक्त वातावरण में पिछली रूढ़िवादिता और संकीर्णता के विरुद्ध चलने वाले संघर्ष में ग्राम्शी की रचनाएँ अत्यधिक सहायक साबित हुई हैं।"¹⁶ और इसीलिए विद्वानों, चिंतकों के पूरे एक वर्ग ने "ग्राम्शी में अपनी गहरी रुचि दिखलाकर यह प्रमाणित कर दिया कि मार्क्सवाद के सर्जनात्मक विकास के लिए आज कितना दृढ़संकल्प है।"¹⁷ इसके साथ ही "मार्क्सवाद के सर्जनात्मक विकास की दिशा में ग्राम्शी के अतिरिक्त अन्य मार्क्सवादी क्लासिकों के भी पुनरुद्धार तथा पुनर्व्याख्या के प्रयास से हो रहे हैं और इस दृष्टि से युवा विचारकों की भूमिका विशेष रूप से उल्लेखनीय है।... जो मार्क्सवाद के प्रति 'तीसी' के दौर के मार्क्सवादियों से भिन्न रुख रखते हैं। इस नई पीढ़ी के अनेक सदस्यों ने मार्क्सवाद को एक बौद्धिक पद्धति के रूप में स्वीकार किया है,... लेकिन वे एक संपूर्ण दर्शन के रूप में इसके प्रति प्रतिबद्ध नहीं हैं। जिस हद तक यह दुनिया को समझने के लिए उपयोगी है उसी हद तक उन्होंने इसे स्वीकार किया है।"¹⁸ नामवर सिंह अपने संपादकीय में इस मार्क्सवाद के नवीन उन्नायकों पर विस्तार से चर्चा करते हुए मार्क्सवाद की दो पीढ़ियों की चर्चा करते हैं एक, मार्क्सवाद की पुरानी पीढ़ी और दूसरी - नई पीढ़ी। दोनों पीढ़ियों के बीच के व्यापक संघर्ष को भी स्पष्ट करते हैं। और दोनों के बीच के पारस्परिक आदान प्रदान को भी स्पष्ट करते हैं।

ध्यान देने की बात है कि नामवर सिंह जिस दौर के मार्क्सवादी चिंतकों को 'नई पीढ़ी' के मार्क्सवादी चिंतक कहते हैं। उसी पीढ़ी को मातीलाल रैना 'मार्क्सवादी चिंतन की दूसरी परंपरा' कहते हैं। और स्पष्ट करते हैं कि 'यह दूसरी परंपरा परंपरागत मार्क्सवादी परंपरा की चिंतन-पद्धति से अलग है।' उनका मत है कि "कला के प्रति मार्क्सवादी दृष्टिकोण में दिलचस्पी के उदय के स्रोत परंपरागत साम्यवादी स्रोतों से भिन्न हैं। दरअसल, रुचि के इस पुनः प्रवर्तन की गति मार्क्सवाद की दूसरी परंपरा ने दी, जो कि प्रारंभिक मार्क्स से शुरू होकर फ्रैंकफर्ट स्कूल तक जाती है, जिसके प्रमुख पुरस्कर्ताओं ने युद्ध के दौरान व उसके बाद अमरीका में काम किया। इस दूसरी परंपरा ने प्रारंभिक लूकाच के कृतित्व की पुनर्परीक्षा की तथा सार्त्र के अतिरिक्त एंटोनियो ग्राम्शी, एडोर्नो, मार्क्यूस, वाल्टर बेंजामिन एवं लूसिए गोल्डमान के कृतित्व को समाहित किया।" ¹⁹ इसमें रेमंड विलियम्स का भी एक महत्वपूर्ण नाम हमें अवश्य जोड़ना होगा। इससे स्पष्ट है कि मार्क्सवादी आलोचना की नई बहसों मार्क्सवादी चिंतकों की इस दूसरी परंपरा से ही संबद्ध है। जिसमें एक तरफ तो उन मार्क्सवादी चिंतकों एवं आलोचकों का 'पुनरुद्धार और पुनर्ब्याख्या' की कोशिश की गई, जो 'रूढ़िबद्ध और कट्टरमार्क्सवादी चिंतन की वेगधारा में उपेक्षित पड़े हुए थे। दूसरी तरफ दूसरी परंपरा के इन आलोचकों-चिंतकों ने मार्क्सवादी विश्वदर्शन से संबंधित उठाए गए सवालों का नवीन आलोक और स्रोतों से उत्तर देने का प्रयास किया। इन्हीं प्रयासों से पश्चिम में मार्क्सवादी आलोचना की नवीन प्रवृत्तियों बहसों को रूपाकार मिला और मार्क्सवादी चिंतन को नवीन ऊर्जा और नूतन रूप में प्रस्तुत किया जा सका। ध्यान देने की बात है कि नामवर सिंह द्वारा संपादित 'आलोचना' पत्रिका में 'मार्क्सवादी' चिंतकों की इसी 'दूसरी परंपरा' का प्रसार देखा जा सकता है। इसी दूसरी परंपरा के चिंतकों को ही 'आलोचना' पत्रिका में वरीयता दी गई है। इन दूसरी परंपरा के चिंतकों के विविध प्रश्नों एवं मुद्दों पर लिखे गए शोधपरक आलेख, निबंध, व्याख्या और इंटरव्यू आदि के अनुवाद 'आलोचना' में सर्वाधिक संख्या में प्रकाशित किए गए हैं। उदाहरण के लिए

नवांक-03 में ग्राम्शी की तीसरी पुण्यतिथि पर श्रद्धांजलि दी गई है, और दूसरी परंपरा के चिंतकों को केंद्र में रखते हुए संपादकीय लिखा गया है। नवांक-13 में डेविड एन. मार्गोलीज का लेख 'काडवेल और साहित्य की सामाजिक वृत्ति' का अनुवाद प्रकाशित है। मार्गोलीज को काडवेल के साहित्यिक चिंतक रूप का उद्धारकर्ता माना जाता है।²⁰ इसी नवांक-13 में अर्नस्ट फिशर का लेख 'पार्टी, साहित्य और समाजवाद' देखा जा सकता है। इसी अंक में 'जार्ज लूकाच के साथ एक इंटरव्यू' का अनुवाद प्रकाशित किया गया है। नवांक-14 में भी 'जार्ज लूकाच का एक साक्षात्कार 'जार्ज लूकाच से भेंट' शीर्षक से प्रकाशित है। 'स्टेफान मोराव्स्की' के दो लेख एक नवांक -10 में 'लेनिन: एक साहित्यिक सिद्धांतकार के रूप में' तथा नवांक-15 में दूसरा लेख 'मार्क्स-एंगेल्स के सौंदर्यशास्त्रीय विचार' शीर्षक से प्रकाशित हुआ है। नवांक-17 में वाल्टर बेंजामिन का लेख 'लेखक उत्पादक के रूप में', प्रकाशित है। नवांक-21 में हरबर्ट मारकूस के लेख का अनुवाद 'कला और क्रांति' शीर्षक से प्रकाशित है। रेमंड विलियम्स का लेख का अनुवाद 'साहित्य और समाजशास्त्र' शीर्षक से नवांक-25 में प्रकाशित किया गया है। नवांक-31 में रेमंड विलियम्स के ही एक लेख का अनुवाद 'संस्कृति के मार्क्सवादी सिद्धांत में आधार और ऊपरी ढाँचे की सार्थकता' शीर्षक से प्रकाशित है। नवांक-32 में बर्टोल्ट ब्रेख्त के लेख का अनुवाद 'जार्ज लूकाच का विरोध' शीर्षक से प्रकाशित है। इसी तरह नवांक-37 में लुसिएं गोल्डमान के लेख का अनुवाद 'द्वंद्वात्मक भौतिकवाद और साहित्यिक इतिहास' नाम से प्रकाशित है। नवांक-70 में वाल्टर बेंजामिन के एक लेख का अनुवाद यात्रिक पुनरुत्पादन के युग में कलाकृति' शीर्षक से छपा है।

इसके अतिरिक्त 'आलोचना' में इस दूसरी परंपरा के मार्क्सवादी चिंतकों पर कई गंभीर आलेख' शोधपरक लेख आदि भी प्रकाशित किए गए हैं, जिसमें नवांक-30 में प्रकाशित अलखनारायण का लेख 'जार्ज लूकाच: समकालीन यथार्थ, प्रतिफलन के तत्व और परिदृश्य बोध' उल्लेखनीय है। अलखनारायण के ही दो लेख लू-शुन पर केंद्रित हैं जिसमें से एक नवांक-40 में

प्रकाशित है और दूसरा लेख नवांक-54-55 में प्रकाशित है। नीलकांत का एक लेख लू-शुन पर केंद्रित है जो नवांक-58 में प्रकाशित किया गया है। नवांक-71 में बच्चन सिंह का एक लेख 'अंतोनियो ग्राम्शी और साहित्य का समाजशास्त्र' शीर्षक से प्रकाशित है। मैनेजर पांडेय का रेमंड विलियम्स की श्रद्धांजलि में लिखित लेख 'लंबी क्रांति' पर लंबी बहस' शीर्षक से नवांक-87 में प्रकाशित है। इस लेख से रेमंड विलियम्स के चिंतन के बारे में सारगर्भित जानकारी प्राप्त हो जाती है। इसी अंक में अलखनारायण का 'ग्राम्शी पर लिखा गया लेख 'हेगेमनी, आधार और अधिरचना: अंतोनियो ग्राम्शी की अवधारणाएँ' शीर्षक से प्रकाशित है।

ध्यान देने की बात है 'आलोचना' में न केवल इन चिंतक-समीक्षकों के आलेखों के हिंदी अनुवाद और इनके ऊपर हिंदी में लेख लिखवाकर प्रकाशित किया गया, बल्कि जार्ज लूकाच, लूसिए गोल्डमान आदि पर नामवर सिंह ने 'आलोचना' पत्रिका में विशेषांक संपादित किए हैं। उदाहरणस्वरूप नवांक-18 'जार्ज लूकाच' पर केंद्रित विशेषांक है। दूसरी तरफ नवांक-20 में लूसिए गोल्डमान पर विशेष सामग्री और 'संपादकीय' प्रकाशित किया गया है। नवांक-31 का संपादकीय मुख्य रूप से रेमंड विलियम्स के मतों का ही स्पष्टीकरण है, उसके विचारों की महत्ता का प्रतिपादन है।

वस्तुतः स्पष्ट है कि नामवर सिंह द्वारा संपादित 'आलोचना' पत्रिका में मार्क्सवादी चिंतकों की 'दूसरी परंपरा' की ही मान्यताओं एवं सैद्धांतिक बहसों को ही मुख्य रूप से वरीयता दी गई है। स्वयं नामवर सिंह मार्क्सवादी आलोचना की दूसरी परंपरा से संबंध जोड़ते हैं अपने को मार्क्सवाद की इस परंपरा से जुड़े होने में गर्व महसूस करते हुए देखे जा सकते हैं "दूसरी परंपरा पश्चिम की लगभग एक सदी से विकसित होनेवाली मार्क्सवादी आलोचना है जो मेरा अमूल्य रिक्त है। इसमें स्वयं मार्क्स-एंगेल्स-लेनिन के अलावा सबसे उल्लेखनीय नाम अंतोनियो ग्राम्शी, जार्ज लूकाच और वाल्टर बेंज्यामिन के हैं।"²¹ इनसे स्वयं को जोड़ने का कारण स्पष्ट करते हुए नामवर सिंह कहते हैं कि "1956 तक जिस तरह की मार्क्सवादी आलोचना लिखी गई, चाहे वह सोवियत संघ

में हो, पश्चिमी यूरोप के देशों में, चाहे अन्यत्र, वह बहुत ही यांत्रिक, स्केमेटिक और कट्टरपंथी राजनीतिक दृष्टि से परिचालित थी और आज यह माना जाने लगा है कि इस दौर की साहित्यिक आलोचनाएँ मार्क्सवाद की बहुत उथली और कच्ची समझ का परिणाम थीं। 1956 के बाद 'साहित्य और समाज', साहित्य और राजनीति के संबंधों की जटिलता का अहसास हुआ और उसकी गहराई में जाने की कोशिश शुरू हुई। मेरी आलोचना-दृष्टि को इसी परिवर्तित संदर्भ में देखा जाना चाहिए।²² 'आलोचना' पत्रिका में भी उनका यही विकसित और परिवर्तित होता हुआ रूप परिलक्षित किया जा सकता है। 'आलोचना' पत्रिका का संपादन करते हुए मार्क्सवादी चिंतन की इस दूसरी परंपरा को ही उन्होंने रूपाकार प्रदान किया और उस परंपरा पर विशेष रूप से सामग्री प्रकाशित करते हुए हिंदी आलोचना को समृद्धतर करने का कार्य किया। और हिंदी आलोचना की मार्क्सवादी समीक्षा की परंपरा को नए रूप में विकसित करने का कार्य किया और उसे पश्चिमी मार्क्सवादी चिंतन की रूढ़ हो गई परंपरा से न जोड़कर उसे अद्यतन रूप में विकसित करने का प्रयास किया। उनके इस कार्य में 'आलोचना' पत्रिका ने एक महत्वपूर्ण माध्यम की भूमिका का निर्वाह किया।

यहाँ यह भी देख लेना आवश्यक है मार्क्सवादी कला-साहित्य चिंतन की नवीन प्रवृत्तियाँ और मान्यताएँ क्या हैं? इस संदर्भ में अध्ययन करते हुए हमें उन नवीन प्रवृत्तियों, मान्यताओं, बहसों को अलग-रखकर देखना होगा, जिससे उन बहसों एवं मान्यताओं का सामान्य परिचय हमें प्राप्त हो सकेगा। यहाँ उल्लेखनीय है कि निम्न पंक्तियों में आनेवाली मान्यताओं को मात्र अध्ययन की सुविधा हेतु अलग रूपों में देखा गया है, जबकि वस्तुस्थिति यह है कि ये सभी मान्यताएँ एवं बहसों एक-दूसरे से अंतर्गुफित, परस्परावलंबित हैं उन्हें एक-दूसरे से काटकर देखे जाने के कारण अवधारणाओं की एक गलत समझ बनने का खतरा भी रहता है, बावजूद इसके इस अध्ययन पद्धति के अपनाने से उन नवीन मान्यताओं के सामान्य रूप से अवगत हो सकेंगे।

2.1.1 साहित्य और समाज का संबंध

साहित्य और समाज के बीच संबंध को प्रायः सभी ने स्वीकार किया है दृष्टि भेद मूलतः साहित्य और समाज के संबंध के स्वरूप को लेकर है। एक दृष्टि साहित्य व समाज के बीच के संबंध को 'दर्पणवादी' रूप में ग्रहण करती है,²³ आरंभिक मार्क्सवादियों ने इस मत का खंडन किया कि साहित्य समाज का हूबहू प्रतिबिंब नहीं होता है, बल्कि उसके बीच में द्वंदात्मक संबंध कार्य करता हैवे मार्क्स के इस मत को स्पष्टतः उद्धृत करते थे कि "भौतिक जीवन की उत्पादन पद्धति जीवन की आम सामाजिक, राजनीतिक और बौद्धिक प्रक्रिया को निर्धारित करती है। मनुष्यों की चेतना उनके अस्तित्व को निर्धारित नहीं करती, बल्कि उल्टेउनका सामाजिक अस्तित्व उनकी चेतना को निर्धारित करता है।"²⁴ किंतु यह स्पष्ट नहीं कर पाते थे कि साहित्य और समाज के संबंध का स्वरूप क्या है? उनके इस आपसी संबंध का स्वरूप क्या है? उनके बीच के आपसी संबंध को किस रूप में व्याख्यायित किया जाए। साहित्य की सामाजिक सार्थकता क्या है अथवा साहित्य समाज में किस रूप में अपना कार्य करता है?? और 'साहित्य क्या है? और उसका सामाजिक अस्तित्व कहाँ स्थित है? और हमारे जीवन में उसकी सार्थकता क्या है? आदि प्रश्नों का उत्तर नहीं दे पाते थे। दरअसल "इस काल के आलोचकों में साहित्य के कार्य संबंधी समझ की कमी थी और साहित्य की जिम्मेदारियों और समस्याओं पर इनके विचार सतही होते थे।"²⁵ ज्ञातव्य है कि क्रिस्टोकर काडवेल ने इस प्रश्नों का उत्तर देने का प्रयास किया था, किंतु चौथे दशक की उनकी इन प्रश्नों के उत्तर की अवहेलना की गई, जिसका पुनरुद्धार करने का कार्य डेविड एन. मार्गोलीज ने किया और उन्होंने स्पष्ट किया कि काडवेल ने इन प्रश्नों के उत्तर ढूँढने का कार्य 'साहित्य के सामाजिक कार्य' नामक सिद्धांत देकर किया साहित्य के अस्तित्व को स्वीकार करते हुए स्पष्ट किया कि "साहित्य का अस्तित्व है तो उसके अस्तित्व के कारण है साहित्य का अस्तित्व है तो उसकी सामाजिक सार्थकता होगी।"²⁶ साथ ही "साहित्य और कला के अस्तित्व के कारणों की

समस्या का समाधान साहित्य के पूर्ण सामाजिक दृष्टिकोण को अपनाकर खोजा। यह उनकी केवल व्यक्तिगत बौद्धिक उपलब्धि नहीं थी... मार्क्सवादी आलोचक के रूप में उनकी यह महान शक्ति थी।... उन्होंने साहित्य, समाज की छाया के रूप में नहीं समाज के अंदर रखकर देखा-परखा।”²⁷

इस ‘सामाजिक कार्य के सिद्धांत’ तक पहुँचने के लिए काडवेल ने साहित्य और समाज के द्वंदात्मक संबंधों की गहराई से पड़ताल की, और “साहित्य को ‘स्थिर’ कृतियों के रूप में नहीं, प्रक्रिया के रूप में देखा। साहित्य और समाज की सत्ता द्वंदात्मक एकता पर आधारित है... उन्होंने साहित्य की परीक्षा जीवन चर्या, समाज के जीवन के संदर्भ में की और पाया कि अन्य सामाजिक उत्पादनों की भाँति साहित्य भी कुछ करता है मनुष्य के जीवन में साहित्य का भी एक कार्य है।”²⁸

काडवेल ने साहित्य के सामाजिक कार्य को स्पष्ट करते हुए बताया कि “साहित्य की क्रियात्मकता का उद्देश्य ‘मनुष्य की स्वतंत्रता का विस्तार है।’ जिस साहित्य का कार्य उचित है, वह मनुष्य और समाज की स्वतंत्रता का विस्तार करता है; जो साहित्य स्वतंत्रता का विस्तार नहीं करता, उसका कार्य उचित नहीं है या फिर ऐसा साहित्य अधम है।”²⁹ काडवेल की इस मान्यता से ‘प्रगतिशील’ साहित्य की अवधारणा का स्वरूप स्पष्ट होता हुआ दिखाई पड़ता है। जो उससे पूर्व यह स्पष्ट नहीं कर पाते थे कि तोलस्तोय उच्चवर्गीय होते हुए भी प्रगतिशील रचनाकार क्यों हैं? इस प्रकार काडवेल ने इसे ‘साहित्य के सामाजिक कार्य’ के सिद्धांत के माध्यम से स्पष्ट करने का प्रयास किया। काडवेल ने यह भी स्पष्ट किया कि “साहित्य के रूप में ही मनुष्य जीवन अपना कार्य करता है, इसके लिए उसे समाजशास्त्र नहीं बनना पड़ता।”³⁰ ध्यान देने की बात है कि काडवेल के साहित्य और समाज संबंधी ये विचार चौथे दशक के ही हैं किंतु मार्क्सवादी चिंतन के प्रारंभिक दौर में उनके इन विचारों की उपेक्षा ही हुई। काडवेल का पुनरुद्धार 1960 के दशक के चिंतन के परिप्रेक्ष्य के कारण ही संभव हो पाया। उनके इन विचारों को पुनर्जीवित करने का श्रेय डेविड एन. मार्गोलीज को जाता है। ध्यान देने की बात है कि डेविड एन. मार्गोलीज के उस महत्वपूर्ण शोधालेख का अनुवाद ‘आलोचना’

पत्रिका के नवांक-13 (लेनिन विशेषांक) में प्रकाशित किया गया है। साहित्य और समाज के संबंध में काडवेल के उपर्युक्त विचार अपने पूर्णरूप में नहीं प्राप्त होते हैं, साथ ही उनमें प्रारंभिक मार्क्सवादी सौंदर्यशास्त्र की सीमाएँ भी निहित थीं, इन संदर्भों को मार्गोलीज ने इस लेख में स्पष्ट किया है।

दूसरी परंपरा के मार्क्सवादी चिंतकों ने साहित्य और समाज के संबंध की व्याख्या का आधार मार्क्स की यह उक्ति है जिसमें कहा गया है कि 'सामाजिक सत्ता हमारी चेतना को निर्धारित करती है।' इसी उक्ति के संदर्भ में जार्ज लूकाच, की 'समग्रता' की; लूसिएं गोल्डमान की 'उत्पत्तिमूलक संरचनावाद' की, तथा रेमंड विलियम्स की 'अनुभूति की संरचना' की अवधारणा को समझा जा सकता है। इस दूसरी परंपरा के चिंतकों ने अधिकांशतः मार्क्स के आरंभिक कथनों के आधार पर अपने सैद्धांतिक-चिंतन और दृष्टि को विकसित किया।

जार्ज लूकाच मार्क्सवादी चिंतन की दूसरी परंपरा के सबसे अग्रणी चिंतक है। जार्जलूकाच ने समाज के साहित्य में प्रतिफलन के प्रकृतवादी स्वरूप का खंडन करते हुए "जीवन-समृद्ध यथार्थवाद की स्थापना की, क्योंकि उनकी दृष्टि में यथार्थवाद ही साहित्य में द्वंद्वात्मक भौतिकवाद का वास्तविक प्रतिनिधित्व करता है। इस प्रकार उन्होंने साहित्य में भी द्वंद्ववाद की केंद्रीय अवधारणा 'समग्रता' (टोटैलिटी) की स्थापना की।"³¹ यह 'समग्रता' की अवधारणा मूलतः हीगेल की 'विच्छिन्नता' (एलियनेशन) की अवधारणा के संदर्भ में समझी जा सकती है। जिसको मार्क्स ने श्रम की विच्छिन्नता से जोड़कर नवीन संदर्भों में उसकी व्याख्या की। जार्ज लूकाच ने इसी 'अलगाव' और 'समग्रता' को केंद्रीय अवधारणा के रूप में विकसित किया और उसे 'वस्तुपरक सत्य' व चेतना संबंधी तात्त्विक संदर्भों से जाड़ते हुए अपनी अवधारणा का विकास किया। जार्ज लूकाच ने स्पष्ट किया कि "प्राकृतिक या सामाजिक यथार्थ के किसी भी सही ज्ञान का आधार बाह्य जगत की वस्तुपरकता अर्थात् इसके मानव-चेतना-निरपेक्ष अस्तित्व की मान्यता है। बाह्य जगत का कोई भी

बोध चेतना-निरपेक्ष जगत् के अस्तित्व का चेतना में प्रतिबिंब के अतिरिक्त कुछ नहीं है। चेतना से सत्त्व के संबंध का यह बुनियादी तथ्य यथार्थ के कलात्मक प्रतिबिंब के बारे में भी मौजू हैं।³² स्पष्ट है कि जार्ज लूकाच समाज और साहित्य के संबंध अथवा 'बाह्य जगत' और 'यथार्थ के कलात्मक प्रतिबिंब' को 'चेतना-निरपेक्ष जगत के अस्तित्व के चेतना में प्रतिबिंब के अतिरिक्त कुछ नहीं' स्वीकारते हैं। किंतु उसकी यह धारणा खंड-खंड रूप न होकर 'समग्रता' के रूप में आती है और विच्छिन्नता या अलगाव को दूर किया जा सकता है जो पूँजीवादी समाज की देन है और जिसे मार्क्सवादी सचेतनता के द्वारा ही दूर किया जा सकता है।³³ इसके लिए वर्ग-चेतना की अलग-अलग संबंध नहीं बल्कि 'समग्रता' की धारणा की आवश्यकता होती है। जहाँ साहित्य और समाज और अन्य सामाजिक व्यवहारों को 'समग्रता' के संदर्भ में प्रस्तुत किया जा सके।

साहित्य और समाज के संबंध को और भी स्पष्ट करने और द्वंद्वात्मक भौतिकवाद को संरचनात्मक पद्धति से जोड़कर देखने का काम 'लूसिएँ गोल्डमान ने किया। और "गोल्डमान की संरचना संबंधी अवधारणा और चेतना के प्रकार का उनका विभाजन जो प्रायः लूकाच पर निर्भर होते हुए भी अपेक्षाकृत अधिक विकसित है... उनका सर्वाधिक महत्व साहित्यिक और सामाजिक अध्ययन के बीच के संबंध के लिए है।"³⁴ इस प्रकार साहित्य और समाज के संबंध में लूसिएँ गोल्डमान ने संरचना संबंधी अवधारणा को विकसित किया। यह संरचना "चेतना की पदावली और प्रणाली है, अतः साहित्य और समाज विज्ञान के बीच का संबंध एक ओर विभिन्न व्यष्टि कृतियों और दूसरी ओर विभिन्न अनुभवाश्रित तथ्यों के बीच का संबंध नहीं है अपितु उनका यथार्थ संबंध चेतना की समग्रता के भीतर है।"³⁵ इस प्रकार गोल्डमान के यहाँ साहित्य और समाज के संबंध "वस्तुतत्त्व का विषय नहीं अपितु मानसिक संरचनाओं का विषय है। ये मानसिक संरचनाएँ ऐसी वैचारिक कोटियाँ हैं, जो किसी सामाजिक गुप विशेष की अनुभवमूलक चेतना और लेखक द्वारा निर्मित काल्पनिक जगत् को एक ही समय में संगठित करती है। स्वभावतः ये संरचनाएँ पृथक-पृथक

व्यष्टि रूप में निर्मित न होकर सामूहिक रूप से निर्मित होती हैं। लगभग एक अननुवाद्य पदावली में इसे एक प्रकार का 'उत्पत्तिमूलक संरचनावाद' (जेनेटिक स्ट्रक्चरलिज़्म) कहा जा सकता है।³⁶ इस 'उत्पत्तिमूलक संरचनावाद' का संबंध लूसिएँ गोल्डमान की अन्य महत्वपूर्ण अवधारणा 'विश्व दृष्टि' से जुड़ा हुआ है। मूलतः यह "विश्वदृष्टि एक विचार-व्यावस्था है जो कुछ परिस्थितियों में समान सामाजिक और आर्थिक परिस्थितियोंवाले मानव समूहों पर स्वयं को आरोपित करती है, अर्थात् कुछ सामाजिक वर्गों पर।"³⁷ इन दोनों का संबंध किस प्रकार का है इसे रेमंड विलियम्स के इस मत द्वारा समझा जा सकता है कि "इस उपागम का आधार यह विश्वास है कि समस्त मानवीय क्रियाएँ वस्तुगत परिस्थिति विशेष के प्रति महत्वपूर्ण प्रतिक्रिया का प्रयास होती है। यह प्रश्न उठता है कि यह प्रतिक्रिया करता कौन है? गोल्डमान के अनुसार न तो कोई व्यक्ति और न ही कोई अमूर्त गुप अपितु तमाम व्यक्ति अपने यथार्थ सामूहिक सामाजिक संबंधों के भीतर यह प्रतिक्रिया करते हैं। यह महत्वपूर्ण प्रतिक्रिया एक संगठनकारी और विशेष 'विश्वदृष्टि' होती है। संगठन का यही तत्व साहित्य में एक महत्वपूर्ण सामाजिक तथ्य है। संगठन और संरचना संबंधी यह संबंध किसी लेखक और उसकी रचना संसार के वस्तुतात्विक संबंध से अधिक महत्वपूर्ण हो सकती है।"³⁸ इस प्रकार साहित्य और समाज का संबंध अलग-अलग विषयवस्तुपरक न होकर मानसिक संरचनाओं की निर्मित की देन है, जिसका प्रतिफलन 'विश्वदृष्टि' के रूप में दिखाई पड़ता है। ध्यातव्य है कि गोल्डमान की साहित्य और समाज के संबंध की अवधारणा में संरचनावाद को अधिक महत्व दिया गया है, वहीं द्वंद्वात्मक भौतिकवाद और अन्य मार्क्सवादी अवधारणाओं पर विशेष बल नहीं है बल्कि गोल्डमान के साहित्य और समाजविज्ञान के संबंध के अध्ययन को 'विश्वदृष्टि' और मानसिक संरचना की 'उत्पत्तिमूलक संरचनावाद' में समाहित कर लिया गया है। वस्तुतः गोल्डमान का अध्ययन भी, सामान्य रूप में कहा जा सकता है 'सामाजिक सत्ता चेतना को निर्धारित करती है' की अवधारणा पर काम करती हुई देखी जा सकती है। जो उनकी 'विश्वदृष्टि' की अवधारणा

की संगठनकारी मानसिक संरचनाओं के माध्यम से परिचालित होती है 'विश्वदृष्टि' जो मूलतः "एक विचार व्यवस्था है जो कुछ परिस्थितियों में समान सामाजिक और आर्थिक परिस्थितियोंवाले मानव समूहों पर स्वयं को आरोपित करती है, अर्थात् कुछ सामाजिक वर्गों पर।"³⁹ 'सामाजिक वर्ग' और परिस्थितियाँ मूलतः सामाजिक सत्ता ही हैं जो मानसिक संरचना को निर्धारित करती हैं।

इस प्रकार साहित्य और समाज का संबंध अन्योन्याश्रित है। जिस प्रकार मानव को उसकी मानसिक चेतना से पृथक नहीं देखा जा सकता है, उसी प्रकार साहित्य को समाज से पृथक रखकर नहीं देखा जा सकता है। इसलिए गोल्डमान की दृष्टि में "महानतम साहित्यक कृतियाँ निश्चय ही वे होती हैं, जो एक विश्वदृष्टि को उसके अपने अधिकतम संगत पर्याप्त और उच्चतम संभव स्तर पर साधा करती हैं। तो हमें बाह्य संबंधों अर्थात् वस्तुतत्त्व की पृष्ठभूमि की अनुरूपता और लेखकों और पाठकों के बीच ऊपरी सामाजिक संबंधों के अध्ययन को प्रमुख नहीं माना जाना चाहिए। महानतम साहित्य में हमें उन संगठनकारी वैचारिक कोटियों तथा तात्त्विक संरचनाओं का अध्ययन करना चाहिए, जो उन कृतियों को अपनी निजी अन्विति, अपना विशिष्ट सौंदर्यात्मक चरित्र और अपना निश्चित साहित्यिक गुण प्रदान करती हैं, तथा साथ-ही-साथ हमारे समक्ष उस सामाजिक गुप की अधिकतम संभव चेतना को भी यथार्थ पदावली में उद्घाटित करती है, जो विभिन्न लेखकों के ज़रिए अंततः उनकी रचना में"⁴⁰ आती है।

इस प्रकार जार्ज लूकाच ने साहित्य और समाज के संबंध को 'समग्रता' की अवधारणा से स्पष्ट करने का प्रयास किया, वहीं लूसिएँ गोल्डमान ने उसे 'विश्वदृष्टि' के संदर्भ में व्याख्यायित करने का कार्य किया। इन दोनों अवधारणाओं से यह स्पष्ट हो जाता है कि साहित्य और समाज का संबंध 'समग्रता' में रखकर देखा जाना चाहिए और वह किसी-न-किसी रूप में प्रत्येक महानतम कृति का संबंध अपनी 'विश्वदृष्टि' से होता है। किंतु 'समग्रता' की अवधारणा में एक निश्चित 'विश्वदृष्टि' का अभाव देखा जा सकता है, वहीं इस 'विश्वदृष्टि' की अवधारणा में स्पष्ट नहीं हो

पाता है कि एक समूह किस प्रकार प्रभुत्वशाली संस्कृति में तब्दील हो जाता है और सभी सांस्कृतिक प्रक्रियाओं में अपना किस प्रकार 'आधिपत्य' स्थापित करने का प्रयास करता है। इन प्रश्नों का उत्तर नहीं मिलता है। इसके लिए अंतोनियों ग्राम्शी की 'हेगेमनी' अर्थात् 'प्रभुत्व' की धारणा सर्वाधिक उपयोगी है। और ग्राम्शी द्वारा प्रस्तुत " 'प्रभुत्व' की धारणा नितांत बुनियादी है। क्योंकि यह समाज की चेतना में गहरे स्तर तक संपृक्त है। इसके अतिरिक्त 'समग्रता' की धारणा से यह इस बात में भी बेहतर है कि इससे 'आधिपत्य' का तथ्य उभरकर आता है।"⁴¹ ग्राम्शी की " 'प्रभुत्व' की अवधारणा एक ऐसी वास्तविक समग्रता के अस्तित्व को स्वीकारती है जो केवल गौण या ऊपरी ढाँचे की चीज नहीं है जैसा कि 'विचारधारा' की इस क्षीण धारणा से सूचित होता है, उसे तो ऐसी गहराई तक जिया जाता है और वह इस हद तक समाज को संयुक्त कर देती है कि अधिकांश जन के लिए सहज ज्ञान की सीमा बन जाती है; वह सामाजिक अनुभव की वास्तविकता के इतने निकट होती है कि आधार-अधिरचना के फार्मूले से निकलने वाली कोई धारणा उसकी छाया भी नहीं छू सकती।"⁴² और यह स्थिति 'प्रभुत्वशाली संस्कृति' की स्थिति को स्पष्ट करती है जो प्रकारांतर से 'संस्कृति' के रूप में ही स्वयं को प्रतिबिंबित करने लगता है। आकस्मिक नहीं कि रेमंड विलियम्स ने 'संस्कृति' के अध्ययन में 'प्रभुत्व' की धारणा को महत्वपूर्ण माना है। और उनके यहाँ साहित्य और कला के प्रश्न मात्र साहित्य या कला के प्रश्न नहीं रहकर 'संस्कृति' के प्रश्न बनकर आते हैं और रेमंड विलियम्स साहित्य और कला की व्याख्या 'संस्कृति' के प्रचलित रूपों के संदर्भ में करते हैं। ध्यान देने की बात है कि उन्होंने 'संस्कृति' के अध्ययन को मार्क्सिय सिद्धांत के अंतर्गत रखकर उसकी समस्याओं का अध्ययन करते हैं। 'आलोचना' के नवांक-31 में प्रकाशित रेमंड विलियम्स के लेख का अनुवाद 'संस्कृति के मार्क्सिय सिद्धांत में आधार और ऊपरी ढाँचे की सार्थकता' शीर्षक से प्रकाशित है। इस लेख में वे 'संस्कृति' के संदर्भ में साहित्य और समाज के आपसी संबंध को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि 'साहित्य और समाज में वैसे अमूर्त ढंग से कोई संबंध नहीं है। समाज

में साहित्य प्रारंभ से ही एक व्यवहार के रूप में विद्यमान है। वास्तव में जब तक ऐसे और ऐसे ही दूसरे व्यवहार समाज में पूरी तरह से प्रकट न हों तब तक समाज पूर्णतः संगठित नहीं कहा जा सकता।... हो सकता है कि अपने व्यक्त रूप में उनकी निजी विशेषताएँ हों लेकिन उन्हें सामान्य-सामाजिक प्रक्रिया से अलग नहीं किया जा सकता”⁴³ और साहित्य को व्यापक संस्कृति के अंग के रूप में स्वीकार करते हुए कहते हैं कि “लेखन में चिंतन की पद्धति और भाषा, कविताओं, उपन्यासों, नाटकों और सिद्धांतों की रचना, ये सारे कार्य-कलाप संस्कृति के संपूर्ण क्षेत्र में ही घटित होते हैं।”⁴⁴

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि साहित्य और समाज के संबंध को मार्क्सवादी चिंतकों की नई पीढ़ी ने पूर्ववर्ती पीढ़ी के समान एक रैखिक सरलीकरण करते हुए यह कहा कि ‘साहित्य समाज का दर्पण है’ अथवा ‘साहित्य समाज को बदलने का हथियार है’, बल्कि उन्होंने स्पष्ट किया कि “यदि साहित्य की मार्क्सवादी आलोचना को अच्छी आलोचना होना है तो उसे साहित्य को साहित्य के रूप में देखना पड़ेगा। साहित्य को समाजशास्त्र समझने से काम नहीं चलेगा।”⁴⁵ उसे राजनीतिक हथियार के रूप में देखकर उसकी ‘सामाजिक वृत्ति’ की व्याख्या करनी होगी। उसे व्यापक सांस्कृतिक प्रक्रिया के अंतर्गत रखकर उसके सामाजिक कार्य और उसकी सार्थकता को स्पष्ट करना होगा। उसके संबंध को ‘परिणाम’ के रूप में न देखकर ‘प्रक्रिया’ के रूप में देखना होगा। उसका अस्तित्व क्यों होता है? उसको हमारी चेतना कैसे बदलती है और हमारी चेतना उससे कैसे प्रभावित होती है आदि प्रश्नों का उत्तर ‘साहित्य समाज को बदलने का हथियार है’ जार्जन से नहीं मिल सकता था, उसके लिए कुछ बुनियादी अवधारणाओं के स्पष्टीकरण की ज़रूरत थी। मार्क्सवादी चिंतन की दूसरी परंपरा ने इन प्रश्नों के उत्तर देने का प्रयास मार्क्सवादी अवधारणाओं और अध्ययन-पद्धति के प्रयोग के माध्यम से किया। और ‘मार्क्सवादी सौंदर्यशास्त्र’ की रूपरेखा प्रस्तुत की। इन मार्क्सवादी चिंतकों की नई पीढ़ी ने ‘द्वंद्वात्मक भौतिकवाद’ को आधार बनाते हुए

मार्क्स की आरंभिक स्थापनाओं के आधार पर अपनी मान्यताओं को नवीन संदर्भों और परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत किया। और उपेक्षित पड़े हुए सूत्रों का पुनरुद्धार करते हुए 'साहित्य और समाज' के संबंध को विश्लेषित करने का कार्य किया। इसके संबंध की व्याख्या जार्ज लूकाच, काडवेल, लूसिएँ गोल्डमान, रेमंड विलियम्स, ग्राम्शी आदि ने 'सामाजिक सत्ता हमारी चेतना को निर्धारित करती है; को मुख्य रूप से अपनाया और मार्क्सवादी नजरिए से साहित्यिक समस्याओं के समाधान ढूँढ़ने की कोशिश की, और 'मार्क्सवादी सौंदर्यशास्त्र' को विकसित करने का कार्य किया। यहाँ महत्वपूर्ण यह स्पष्ट करना है कि उपर्युक्त 'समाज और साहित्य' संबंधी बहस की सामग्री नामवर सिंह संपादित 'आलोचना' में प्रकाशित लेखों, निबंधों, साक्षात्कार आदि से ही ग्रहण की गयी है।

2.1.2 आधार और अधिरचना का संबंध एवं उसकी सार्थकता

पश्चिमी देशों की मार्क्सवादी चिंतन की दूसरी परंपरा के मार्क्सवादियों ने सबसे अधिक प्रश्नचिह्न 'आधार और अधिरचना' संबंधी अवधारणा पर ही लगाए हैं। साहित्य-चिंतन संबंधी अध्ययन में शायद ही कोई अन्य मार्क्सवादी अवधारणा हो जिसकी सार्थकता पर बार-बार बहस की गई हो और उसको स्पष्ट करने का प्रयास किया गया हो, जितना कि इस 'आधार और अधिरचना' की अवधारणा को। मार्क्सवादी चिंतकों की इस दूसरी धारा ने अपनी पूर्ववर्ती मार्क्सवादी चिंतकों की 'आधार और अधिरचना' के स्वरूप की फार्मूलेबद्ध-सरलीकृत मान्यता के रूप में ही स्वीकार कर लेने की मान्यताओं की सीमाओं को ही स्पष्ट किया है। इस आधार और अधिरचना की अवधारणा को मार्क्सवादी पद्धति और उसकी बुनियादी संकल्पनाओं के परिप्रेक्ष्य में ही स्पष्ट करने का कार्य किया गया है।

ध्यातव्य है कि मार्क्सवादी चिंतन में 'आधार और अधिरचना' की अवधारणा को केंद्रीयता हासिल है और "मार्क्स से मार्क्सवाद की यात्रा में और स्वयं मार्क्सवाद के मुख्य स्वरूप के विकास में निर्धारक और निर्धारित ऊपरी ढाँचे की स्थापना को संस्कृति के मार्क्सवादी विश्लेषण का

सामान्यतः मूल सिद्धांत माना गया है।⁴⁶ और संस्कृति, जिसमें कि साहित्य और अन्य कला रूपों की गणना होने लगी है, के अध्ययन में अन्य मार्क्सवादी अवधारणाओं और मान्यताओं की अवहेलना की गई। यही नहीं आधार और अधिरचना संबंधी “स्थानिक संबंध के कारण कुछ हाथों में पड़कर एक विशिष्ट और कभी-कभी सामाजिक परिवेश और चेतनावाली स्थापना का ही अस्वीकार्य रूप धारण कर लेती है।”⁴⁷ इस प्रकार मार्क्सवादी सिद्धांत के प्रारंभिक व्याख्याकारों ने व्यवहार में ‘आधार’ को ‘नींव’ अथवा ‘बुनियाद’ के ‘स्थिर रूप’ की संकल्पना के रूप में तथा ‘अधिरचना’ अथवा ऊपरी ढाँचे को ‘आधार’ की प्रतिच्छवि या प्रतिबिंब के रूप में ही स्वीकार किया। और इसीलिए नामवर सिंह नवांक- 31 के संपादकीय में स्पष्ट करते हैं कि जब “समाज-व्यवस्था और दूसरी ओर अन्य उसकी विचारधाराओं तथा तत्संबंधी संस्थाओं को जब आधार और अधिरचना के रूपों द्वारा व्यक्त किया जाता है तो एक विशाल इमारत का चित्र सामने आता है जो संपूर्ण क्रिया-व्यापार को स्थिर और जड़ बना देता है।”⁴⁸ नवांक-31 में प्रकाशित रेमंड विलियम्स के लेख में स्पष्ट किया गया है कि “अब तक प्रचलित ऊपरी ढाँचे की सरलतम धारणा का सारांश यह है कि ऊपरी ढाँचे के रूप कमोबेश प्रत्यक्ष तौर पर बुनियाद का प्रतिबिंब, अनुकरण अथवा पुनरुत्पादन होता है। निस्संदेह प्रतिबिंबन या पुनरुत्पादन की विधेयवादी धारणा से इसको समर्थन मिला है। लेकिन चूँकि अनेक सांस्कृतिक क्रियाओं में इस प्रकार का संबंध अध्ययन की सामग्री को तोड़-मरोड़ कर ही सायास स्थापित किया जा सकता है।... इसके सहारे प्राथमिक आर्थिक क्रियाओं से सुदूर स्थित दर्शन जैसी सांस्कृतिक क्रियाओं की व्याख्या की गई। ऊपरी ढाँचे की परिसीमन की यह पहली अवस्था थी जो वास्तव में एक कामचलाऊ परिसीमन था।”⁴⁹

इस धारणा के परिसीमन के परिणाम की पड़ताल अर्न्स्ट फिशर ने अपने एक लेख ‘कला और सैद्धांतिक बाह्य संरचना’ में किया है, इस लेख का अनुवाद ‘प्रेमेंद्र’ ने किया है। यह लेख ‘आलोचना’ के नवांक-03 में प्रकाशित है। अर्न्स्ट फिशर स्पष्ट करते हैं कि “रूढ़िग्रस्त मार्क्सवादियों

ने व्यक्ति के सिद्धांत उसके विचार, भावना, स्वप्न, नैतिक और सौंदर्य संबंधी दृष्टिकोण का सरलीकरण कर दिया है और उन्हें सामाजिक और भौतिक अवस्था का ही श्रमफल समझते हैं। कला और साहित्य एक प्रकार का घोंघावरण ही समझे जाते रहे हैं; हरेक सामाजिक वर्ग या सामाजिक पद्धति अपनी पीठ पर घोंघावरण ही ढो रही है और कला और साहित्य उसी घोंघों की उपज हैं किसी अन्य घोंघों की नहीं।⁵⁰ अपने लेख में इस प्रकार के अतिसरलीकृत निष्कर्षों का विरोध करते हैं और स्पष्ट करते हैं कि “अगर साहित्य और कला एक निश्चित आर्थिक सामाजिक संबंधों की सैद्धांतिक बाध्य संरचना मात्र है तो वे अपनी सामाजिक पूर्वावस्थाओं के साथ ही मृत हो जाएंगे। ऐसी स्थिति में प्राचीन गुफा चित्र, होमर के महाकाव्य गॉथिक कुसीविक्सन और पुनर्जागरण काल के सृजनात्मक कलाकृतियाँ आज हमें जीवंत नहीं दिखाई पड़तीं।”⁵¹ यह समस्या यहीं तक सीमित नहीं रह जाती, बल्कि इस आधार-अधिरचना की प्रतिबिंबवादी समझ के कारण इस प्रश्न का उत्तर भी नहीं मिल पाता है कि “जब हम देखते हैं कि गहरे आर्थिक संकट के बावजूद इस व्यवस्था का महल ढह नहीं जाता। ... इसी प्रकार जब हम व्यवस्था की पोषक विचारधाराओं की असंगतियों को अनावृत करके तर्क से खंड-खंड करने के बाद भी समाज के बीच जीते-जागते पाते हैं”⁵² और पूँजीवादी धारणाओं की शोषणकारी रूप और सामंती मान्यताओं को स्पष्टतः उजागर कर देने के बावजूद इसको खत्म करने में असमर्थ पाते हैं। तो उससे स्पष्ट होता है कि ‘आधार और अधिरचना’ की प्रतिबिंबवाली मान्यता में ही कुछ खामियां हैं और जैसा कि नामवर सिंह यह “सोचने के लिए बाध्य होते हैं कि जिसे हम ऊपरी ढाँचा समझकर गौण अथवा अपेक्षाकृत उपेक्षणीय मान बैठे हैं, कहीं वही तो इसे नहीं संभाले हैं। ... इस बात का पता लगाए बिना नहीं रह सकते कि उन्हें जिलाए रखने वाली जड़े समाज के किस कोने से रस सींच रही हैं। कहने की आवश्यकता नहीं कि ये सवाल हमें व्यवस्था को उसकी ‘समग्रता’ में देखने को बाध्य करते हैं और हम अनिवार्य ‘आधार’ और अधिरचना की अवधारणाओं की बुनियाद में उतरे बिना नहीं रह सकते।”⁵³

रेमंड विलियम्स इस आधार और अधिरचना की बुनियादी अवधारणाओं में उतरते हुए साहित्य और संस्कृति संबंधी अध्ययन की शुरुआत उस स्थापना से करना चाहते हैं जिसमें कहा गया है 'सामाजिक सत्ता हमारी चेतना को निर्धारित करती हैं।' उनका मानना है कि यदि संस्कृति संबंधी अध्ययन की शुरुआत इस स्थापना से करेंगे तो "यह एक बेहतर स्थिति होगी, क्योंकि यह स्थापना मूलतः आधार और ऊपरी ढाँचे की स्थापना के समान ही केंद्रीय और प्रामाणिक थी। ऐसा नहीं है कि ये दोनों स्थापनाएँ एक-दूसरे को काटती हों या परस्पर विरोधी हों। लेकिन आधार और ऊपरी ढाँचेवाली स्थापना अपने आलंकारिक स्वरूप और निश्चित तथा निर्धारित स्थानिक संबंध के कारण कुछ हाथों में पड़कर एक विशिष्ट और कभी-कभी सामाजिक परिवेश और चेतनावाली स्थापना का ही अस्वीकार्य रूप धारण कर लेती हैं।"⁵⁴ रेमंड विलियम्स का तो यहाँ तक कहना है कि "आधार और ऊपरी ठाठ का यह सूत्र ही सर्वोपरि वह वस्तु है, जिसने साहित्य-चिंतन के मार्क्सवादी आकलन (मूल्यांकन) को व्यवहार में प्रायः अधिक दुर्बल बना दिया। फिर भी यह सूत्र तमाम लोगों के लिए आज भी मार्क्सवाद का केंद्र है।... अपनी तरफ से मैंने हमेशा "आधार और ऊपरी ठाठ" सूत्र का विरोध किया है। इसका प्रमुख कारण इसकी पद्धति संबंधी दुर्बलताएँ नहीं अपितु इसका सख्त, अमूर्त, और स्थिर चरित्र रहा है।"⁵⁵ रेमंड विलियम्स इस स्वीकृत सूत्र को इंग्लैंड में 'स्कूटिनी गुट' द्वारा मार्क्सवाद के पराजय तक से जोड़ते हैं, और इस आधार-अधिरचना की धारणा की सीमाओं का उल्लेख करते हैं। और 'आधार' को 'स्थिर' अथवा निश्चित अवस्था के रूप में ने देखकर उसे एक गतिशील प्रक्रिया के रूप में देखने की बात करते हैं "सर्वाधिक महत्वपूर्ण बात यह है कि आधार का मूल्यांकन एक निश्चित आर्थिक या तकनीकी अमूर्तन की धारणा से अलग करना होगा, और इसे वास्तविक, सामाजिक तथा आर्थिक संबंधों में सक्रिय मनुष्यों की ऐसी विशिष्ट क्रियाशीलता के रूप में समझना होगा, जहाँ मूलभूत अंतर्विरोधों और परिवर्तनों के साथ-साथ एक गतिशील प्रक्रिया क्रियाशील होती है।"⁵⁶ ऊपरी ठाठ को लेकर रेमंड विलियम्स की

मान्यता है कि “हमें ऊपरी ढाँचे को एक प्रतिबिंबित, पुनरुत्पादित या विशिष्ट निहित अंतर्वस्तु से अलग सांस्कृतिक व्यवहारों के संबद्ध क्षेत्र रूप में समझना होगा।”⁵⁷ वह ‘ऊपरी ढाँचे’ को बहुवचन के रूप में विशिष्ट गतिविधियों के रूप में और ‘परवर्ती मार्क्सवादी परंपरा में ऊपरी ढाँचे से संबद्ध अनेक विशिष्ट क्रियाओं के निर्धारित चरित्र की शर्तों की चर्चा’ का भी उद्घाटन करते हैं। ध्यान देने की बात है कि ‘आलोचना’ के नवांक-13 में रमेशकुंतल मेघ भी ‘इंसान की विमुक्ति तथा कला की अनिवार्यता’ शीर्षक लेख में ‘आधार’ और अधिरचना’ की गतिशील और अंतर्विरोध पूर्ण स्थितियों पर विस्तार से चर्चा करते हैं। और स्पष्ट करते हैं कि “नींवाधार-सुपरिगठन के इस विराट रूपक में न तो कोई बिंब-प्रतिबिंब न्यायवाला संबंध है (अर्थात् सुपरिगठन अकेला बिंब नहीं है); और न ही बीज-फूलवाला विकासवाद है; बल्कि इसमें अंतर्विरोध भी है।”⁵⁸

रेमंड विलियम्स ‘आधार और अधिरचना’ की परत-दर परत वाली धारणा से अधिक जार्ज लूकाच की ‘समग्रता’ (टोटैलिटी) की अवधारणा को संस्कृति के अध्ययन में सहायक मानते हैं किंतु उनका मत है कि “‘समग्रता’ की अवधारणा के साथ यह संभावना बनी हुई है कि इसके मूल मार्क्सवादी तात्पर्य से अलग कर दिया जाए... समग्रता की अवधारणा में सामाजिक अभिप्राय के तथ्यों तथा किसी समाज के वर्गगत चरित्र आदि की अवहेलना होती है।”⁵⁹ इसीलिए रेमंड विलियम्स लूकाच की इस अवधारणा को कुछ सीमा तक स्वीकार करते हुए उसे अंतोनियो ग्राम्शी की ‘प्रभुत्व’ (हिगेमनी) की अवधारणा से जोड़ते हैं और ‘ऊपरी ढाँचे और बुनियाद’ की अवधारणा से अधिक व्यापक अवधारणा के रूप में रेखांकित करते हैं... “प्रभुत्व की अवधारणा... आधार और ऊपरी ढाँचे की किसी भी अवधारणा से स्पष्टता के साथ सामाजिक अनुभव की वास्तविकता की पहचान कराने में सक्षम”⁶⁰ मानते हैं। इसप्रकार हम देखते हैं कि मार्क्सवादी साहित्य की नई बहसों में ‘आधार और ऊपरी ढाँचे’ की अवधारणा की सार्थकता पर जमकर बहस हुई है। जिसका संबंध, सामाजिक सत्ता हमारे अस्तित्व को निर्धारित करती है, उससे जोड़ते हुए मार्क्सवादी पद्धति के

आधार पर उसकी बुनियादी मान्यताओं पर विचार किया गया है। इस ऊपरी ढाँचा और बुनियाद की समस्या को स्पष्ट करने में लूकाच की 'समग्रता' की अवधारणा, ग्राम्शी की 'प्रभुत्व' की धारणा तथा रेमंड विलियम्स की 'उपभोग के सिद्धांत' आदि सिद्धांत अपनी महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। वस्तुतः ये अवधारणा ही मूलतः मार्क्सवादी साहित्य-चिंतन की नवीन प्रवृत्तियाँ हैं जिसे 'आलोचना' पत्रिका के अंकों में देखा जा सकता है।

2.1.3 कला और क्रांति

मार्क्सवादी कला-साहित्य चिंतन की दूसरी परंपरा में 'कला और क्रांति' के संबंध को लेकर भी जमकर बहस हुई है। 'आलोचना' पत्रिका में 'कला और क्रांति' के संबंध पर कई लेख, निबंध, शोधालेख आदि का अनुवाद और मूल लेख भी प्रकाशित हैं। कुछ अंकों के संपादकीय टिप्पणियों में इस संबंध के स्वरूप को स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है।

मार्क्सवादी चिंतन में 'वर्ग-संघर्ष' और 'समाजवादी क्रांति' 'सशस्त्र क्रांति' के स्वरूप पर गंभीरता से विचार किया गया है। मूलतः हमारा अध्ययन यहाँ कला-साहित्य और क्रांति के संबंध तक सीमित है। कलाकार या साहित्यकार की क्रांति अथवा वर्ग-युद्ध में क्या भूमिका होती है? कला या साहित्य का क्रांति में क्या योगदान होता है? साहित्य का वर्ग-संघर्ष और समाजवादी क्रांति करने में किस प्रकार सहायक हैं? क्रांतिकारी और साहित्यकार दोनों एक साथ हुआ जा सकता है अथवा नहीं? क्रांति के संदर्भ में कला का स्वरूप क्या है? क्या समाजवादी व्यवस्था के निर्माण के बाद भी 'क्रांति' संभव है? आदि प्रश्नों के उत्तर 'आलोचना' के अंकों में प्रकाशित लेखों, निबंधों आदि में देख सकते हैं।

सामान्यतः पूर्ववर्ती मार्क्सवादी कला-साहित्य-चिंतन में यह धारणा रही है "समाजवादी कलाकार की दृष्टि में कला हमेशा वर्ग-संघर्ष का हथियार होती है। वह कला के अनेकानेक माध्यमों का उपयोग... सभी क्षेत्रों में सैन्यवाद की आक्रामक शक्तियों के कुचक्रों के प्रतिरोध में करेगा।"⁶¹

इस प्रकार से मार्क्सवादी चिंतकों के सामने एक ही लक्ष्य रहा है “कम्युनिज्म के लिए क्रांतिकारी संघर्ष का लक्ष्य।”⁶² और यह भी कि “ब्रिटिश लेखकों की काफी बड़ी संख्या आज यह अनुभव करती है कि लेखकों और मज़दूर वर्ग के बीच अधिक घनिष्ठ सहयोग के बिना अंग्रेज़ी साहित्य का कोई भविष्य नहीं है।... कला, यदि वह राजनीति का यंत्र नहीं बनती, तो समय का अपव्यय है।”⁶³ इस प्रकार आरंभिक मार्क्सवादी चिंतन में कला की सार्थकता, क्रांति अथवा वर्ग-संघर्ष के उद्देश्य की प्राप्ति के लिए, एक राजनीतिक हथियार के रूप में स्वीकार किया गया। मार्क्सवादी चिंतकों की नई पीढ़ी, जिसने मार्क्सवादी चिंतन की दूसरी परंपरा का निर्माण किया है, कला और क्रांति संबंधी इस धारणा का विरोध करती है। इस संदर्भ में अर्न्स्ट फिशर नवांक-13 में प्रकाशित अपने लेख में व्यंग्य करते हैं कि “अवसर आने पर कड़ाही भी वर्ग युद्ध में हथियार का काम कर सकती है। फिर कलाओं के बारे में कहना ही क्या? जिनके साधन और संभावनाएँ कड़ाही से कहीं अधिक बहुविध हैं।”⁶⁴ अर्न्स्ट फिशर स्पष्ट करते हैं कि “कलाएँ यह काम तब भी कर सकती हैं जब उन्हें ऐसा करने का उपदेश न दिया जाए।”⁶⁵ कला को हथियार के रूप में स्वीकार करते हुए भी कला और वर्ग-संघर्ष के संबंध को स्पष्ट करते हैं कैसा हथियार? ... कला को हमेशा ‘वर्ग-संघर्ष का हथियार’ बना देने का केवल लाक्षणिक अर्थ हो सकता है। यह न शत्रु पर चोट करती है और न उसे भयाक्रांत करती है, बल्कि लड़ाकू लोगों को अपनी तरफ करने में मदद देती है।”⁶⁶ और फिशर खेद व्यक्त करते हुए स्पष्ट करते हैं “कला शायद ही कभी ही या संभवतः आंशिक रूप में ही ‘साम्राज्यवादी और सैन्यवादी आक्रमक शक्तियों के कुचक्रों के प्रतिरोध’ में समर्थ है।”⁶⁷ अर्न्स्ट फिशर लेनिन की महत्वपूर्ण रचना ‘पार्टी संगठन और पार्टी साहित्य’ के और ‘क्रुप्सकाया’ के पत्रों के संदर्भ में स्पष्ट करते हैं कि वहाँ “सामान्य साहित्य का सवाल नहीं था बल्कि पार्टी-कार्य के साहित्यिक पक्ष का, पार्टी-साहित्य का, राजनीतिक लेखन का सवाल था।”⁶⁸ इस प्रकार मार्क्सवादी चिंतकों की नई धारा ने ‘कला और क्रांति’ के संबंध में नए ढंग से विचार रखे हैं। इस संदर्भ में

सर्वाधिक महत्वपूर्ण स्थापनाएँ हरबर्ट मारकूस की हैं। ध्यातव्य है कि पूर्ववर्ती मार्क्सवादियों ने कला को वर्ग-युद्ध या विद्रोह के हथियार के रूप में स्वीकृत किया था यहाँ तक कि अर्न्स्ट फिशर ने भी 'कला हथियार है' कह कर कला को प्रकारांतर से हथियार के रूप में ही देखते हैं, जबकि हरबर्ट मारकूस अपने लेख, जिसका अनुवाद 'कला और क्रांति' शीर्षक से 'आलोचना' पत्रिका के नवांक-21 में प्रकाशित है, में स्पष्ट करते हैं कि "क्रांति कला के मूल में निहित है।" ⁶⁹ मारकूस कला में नकारने की शक्ति को स्वतः स्फूर्त मानते हैं, उसमें ध्वंसकारी शक्ति स्वयं निहित होती है। उसे किसी क्रांति के हथियार के रूप में प्रयोग करने से 'अपना राजनीतिक अर्थ खो बैठती है'। मारकूस स्पष्ट करते हैं कि कला अपने आप में, व्यावहारिक रूप में वास्तविकता को नहीं बदल सकती और कला बिना अपना निषेध किए क्रांति की वास्तविक आवश्यकताओं की पूर्ति भी नहीं कर सकती है; लेकिन कला अपनी प्रेरणा और अपना प्रारूप अपने समय के क्रांतिकारी आंदोलनों से ग्रहण ज़रूर कर लेती है। और करती रहेगी। क्योंकि क्रांति कला के मूल में निहित होती है।" ⁷⁰

फिर कला किस प्रकार विद्रोही स्वरूप धारण किए हुए होती है इस संदर्भ में मारकूस का विचार है कि "कला हर प्रकार के अभियोजनों से अलग होती है और साहित्य को केवल साहित्य के रूप में रखने की माँग करती है। साहित्य रूप रचना केवल एक संदेश देती है: वस्तुओं जैसी वे हैं: उन्हें उसी रूप में निर्मित करने का संदेश। जैसे कि बर्टोल्ट ब्रेख्त के गीतों में क्रांति उसके राजनैतिक नाटकों की अपेक्षा तथा अलबान वर्ग के बोज्जेक में आज के फासिस्ट विरोधी 'ऑपेरा' की अपेक्षा अधिक श्रेष्ठ तथा पूर्णरूप से व्यक्त हुई है।" ⁷¹ अपने इस लेख में मारकूस सर्वहारा क्रांति, सर्वहारा का स्वरूप और 'वर्ग-संघर्ष' के स्वरूप की भी पड़ताल करते हैं। कला की क्रांतिकारी भूमिका को विविध प्रकार से स्पष्ट करने का कार्य करते हैं। इस प्रकार स्पष्ट है कला-कला रहते हुए भी अपनी विद्रोही भूमिका निभा सकती है उसे राजनीतिक उद्देश्य की प्राप्ति के लिए उपयोग में लाने से राजनीतिक अभिप्राय युक्त रचना होगी, उसे कलात्मक साहित्य कहना संगत नहीं है, इसके

अतिरिक्त 'राजनीतिक विचार प्रत्यक्षरूप में आक्रामक ढंग से प्रकट होने से अपना राजनीतिक अर्थ खो बैठता है'।

कला और क्रांति संबंधी 'लूशुन' के विचार भी बड़े ही प्रभावशाली हैं, आप चीनी साहित्य के संदर्भ में कला और क्रांति संबंध की व्याख्या करते हैं। 'आलोचना' पत्रिका ने उन पर कई लेख प्रकाशित किए हैं नवांक-58 में नीलकांत का लेख- 'लू-शुन का साहित्य: एक तूर्यनाद', नवांक-40 में प्रकाशित अलखनारायण की द्वारा 'लू:शुन की नातिदीर्घ टिप्पणी' प्रस्तुत की गई है। नवांक-55-56 में अलखनारायण ने ही लूशुन का प्रेमचंद और गोर्की के साथ तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया है। लू-शुन स्पष्ट करते हैं कि क्रांतिकारी, विध्वंसकारी "साहित्यकार बनना तो बहुत सरल है, किंतु संकट के समय में ये सारे क्रांतिकारी मुहावरे भूल जाते हैं। दरअसल ये उच्चमध्यवर्ग और मध्यवर्ग के कुछ ऐसे तत्व होते हैं जो अल्प-आर्थिक कष्ट को भी नहीं बर्दाश्त करपाते। और फौरन कलम को बंदूक बना लेते हैं। क्रांति के लिए ऐसा गैर क्रांतिकारी उतावलापन ठीक नहीं होता क्योंकि मनोवादी दृष्टि से यथार्थ का मूल्यांकन संभव नहीं है।"⁷² लूशुन की मान्यता है कि "क्रांति की विभिन्न मंजिलों का वर्ग शक्तियों और क्रांति की वस्तुगत शर्तों की ठीक जानकारी ने होने पर वामपंथी लेखकों में भटकाव पैदा होते हैं। कवि-लेखक बहुधा क्रांति को रोमांस समझ लेते हैं मगर यह रोमांस कड़ुआ होता है।"⁷³

'आलोचना' पत्रिका में 'क्रांतिकारी' साहित्य पर कई लेख प्रकाशित हैं। नवांक-13 में ही जोआ कारतीम के लेख का अनुवाद 'रेजीदेब्रें और सशस्त्र क्रांति की समस्याएँ' शीर्षक से प्रकाशित है। नवांक-16 में 'दर्शन: एक क्रांतिकारी अस्त्र के रूप में' शीर्षक लेख प्रकाशित है। नवांक 69, में पीटर वाइस पर विशेष लेख 'पेटरवाइस और प्रतिरोध का सौंदर्यशास्त्र' शीर्षक से प्रकाशित है। इसीप्रकार पश्चिमी जगत में क्रांति और कला के संबंध में क्या मान्यताएँ रही हैं, ये क्रांतिकारी मान्यताएँ किस प्रकार रोमांटिसिज्म की तरह काम करने लगती हैं इसे लेनिन विशेषांक (नवांक-13)

के संपादकीय में देखा जा सकता है। उपर्युक्त लेखों, निबंधों में 'सर्वहारा क्रांति' के स्वरूप को भी स्पष्ट किया गया है।

उपर्युक्त लेखों-निबंधों के माध्यम से 'आलोचना' पत्रिका ने 'कला और क्रांति' की एक यांत्रिक समझ की सीमाओं से पाठकों-समीक्षकों को अवगत कराया। 'क्रांति और कला' के संबंध के स्वरूप को स्पष्ट करने का प्रयास किया। ध्यातव्य है उपर्युक्त लेखों में मार्क्सवादी चिंतकों की नई धारा ने 'कला और क्रांति' के संबंध में अपने पूर्ववर्ती मार्क्सवादी चिंतकों की उस धारणा का विरोध है जिसमें कला को क्रांतिकारी अस्त्र' के रूप में स्वीकार किया गया था, इस धारणा में साहित्य साहित्य नहीं रहकर क्रांतिकारी अस्त्र-शस्त्र दिखाई पड़ता था, उसका विरोध किया गया है। 'क्रांति और कला' के संबंध में नए विचार व धारणाएँ प्रस्तुत की गईं। कला को कला के रूप की रक्षा करते हुए उसके विद्रोही और क्रांतिकारी स्वरूप की व्याख्या की है। 'आलोचना' पत्रिका ने इस लेखों को प्रकाशित कर हिंदी आलोचना के स्वरूप के विकास में अपना महत्वपूर्ण योग दिया है।

2.1.4 कला और विचारधारा

कला और विचारधारा के संबंध पर मार्क्सवादी कला और साहित्य-चिंतन के आरंभ से ही बहस होती आ रही है। ध्यान देने की बात है कि प्रारंभिक मार्क्सवादी चिंतकों के यहाँ कला विचारधारा को प्रस्तुत करने का माध्यम थी। कला को वैचारिक युद्ध वर्ग-युद्ध के हथियार के रूप में ही देखा समझा गया। कला को राजनीतिक विचारधारा के प्रस्तुत करने के औजार के रूप में ही देखा गया। जबकि मार्क्स एवं एंगेल्स ने साहित्य और कला में विचारधारा के प्रतिबिंब के रूप में स्वीकार नहीं किया, बल्कि वह कला को 'सोद्देश्य' स्थिति को स्वीकार करते हैं। "मार्क्स एंगेल्स का मानना था कि 'कला को सोद्देश्य' होना चाहिए। यह सोद्देश्यता कला के अंदर सहज रूप से विकसित होकर आए कला में विचारधारा को आरोपित किए जाने के वे सख्त खिलाफ थे।"⁷⁴ किंतु अधिकांशतः भ्रमपूर्ण स्थिति लेनिन की पुस्तक 'पार्टी संगठन और पार्टी साहित्य' से बनी जिसमें कहा

गया है कि “साहित्य को अनिवार्यतः सर्वहारा के सामान्य लक्ष्य का अंग होना चाहिए, मजदूर-वर्ग के तमाम राजनीतिक रूप से सचेत अग्रिम दस्ते के द्वारा जो महान ‘सोशल-डिमोक्रेटिक’ मशीन गतिमान कर दी है, उसका अभिन्न पहिया होना चाहिए।”⁷⁵ इसके अतिरिक्त उसमें यह भी कहा गया है कि “समाचार-पत्रों को विविध पार्टी संगठनों का मुखपत्र होना चाहिए और उनके लेखकों को हर तरह से इन संगठनों का सदस्य होना चाहिए। प्रकाशन और वितरण केंद्र, किताब की दुकाने और वाचनालय, पुस्तकालय और इसी तरह के अन्य प्रतिष्ठान सबको अनिवार्य रूप से पार्टी के नियंत्रण में होना चाहिए।”⁷⁶ किंतु, अर्न्स्ट फिशर अपने शोधालेख में स्पष्ट करते हैं कि “यहाँ सामान्य साहित्य का सवाल नहीं था बल्कि ‘पार्टी-कार्य के साहित्यिक-पक्ष’ का, पार्टी-साहित्य का, राजनीतिक-लेखन का सवाल था।”⁷⁷ स्पष्ट है कि लेनिन ने उक्त पुस्तक को ‘पार्टी संगठन और पार्टी साहित्य’ के संदर्भ को स्पष्ट करने के लिए लिखा था। जिसे ‘सामान्य साहित्य’ के भ्रामक अर्थ में स्वीकार कर लिया गया और गैर मार्क्सवादी पक्ष और कुछ मार्क्सवादियों ने भी इसी भ्रामक समझ को ही वास्तविक साहित्यिक समझ के रूप में प्रचारित प्रसारित किया। ध्यान दें तो ‘विचारधारा’ संबंधी मिथ्या धारणा का उद्घाटन और भ्रम को अनावृत करने का कार्य मार्क्सवादी चिंतन की नई धारा ने ही किया। अर्न्स्ट फिशर का उक्त लेख ‘आलोचना’ के नवांक-13 में प्रकाशित है, जिसमें ‘पार्टी, साहित्य और समाजवाद’ संबंधी धारणा को स्पष्ट किया गया है। मार्क्सवादी चिंतन की नवीन धारा ने स्पष्ट किया कि “कला में विचारधारात्मक अधिरचना के अतिरिक्त और कुछ न देखना और यह मानना कि कला अपने बाहर पूर्वनिर्मित वास्तविकता का प्रतिबिंब मात्र है। प्रतिबिंबन की यह यान्त्रिक अवधारणा कलाओं के लिए उतनी ही घातक है जितनी विज्ञान के लिए।”⁷⁸ रोज़र गारोदी मार्क्सवादी चिंतन में कला की स्थिति को स्पष्ट करते हैं कि “कोई भी मार्क्सवादी यह संदेह नहीं करेगा कि कला अधिरचना का अंश है और इस तरह वर्गहितों से बंधी हुई है; किंतु कला को विचारधारा के घटकों तक सीमित कर देना, न केवल इसकी सापेक्ष स्वायत्तता

से भी मुँह मोड़ना है और यह भूल जाना है कि कला अपना विकास समाज के साथ-कदम से कदम मिलाकर नहीं करती।”⁷⁹

ध्यान देने की बात है कि रोज़र गारोदी के उक्त विचार उनके लेख के अनुवादजो ‘यथार्थवाद, मिथक और सृजनशीलता’ शीर्षक से ‘आलोचना’ के नवांक-13 में प्रकाशित है। इससे स्पष्ट होता है कि ‘आलोचना’ पत्रिका किस प्रकार मार्क्सवादी अवधारणाओं की भ्रामक व्याख्याओं के निराकरण में सहायता पहुँचाती रही है और मार्क्सवादी आलोचना की नवीन मान्यताओं से भी हिन्दी-जगत को अवगत कराती है। ‘आलोचना’ के नवांक-18 में फ्रेडरिक क्रूज के लेख का अनुवाद ‘साहित्यानुशीलन में विचारधारा की स्थिति’ शीर्षक से प्रकाशित है। इस लेख में उन्होंने यह स्पष्ट किया है कि साहित्य पर राजनीतिक विचारधारा किस प्रकार हावी होती है और उससे आलोचना किस प्रकार प्रभावित होती है?

नवांक-42 में प्रकाशित मोतीलाल रैना अपने लेख में स्पष्ट करते हैं कि मार्क्सवादी आलोचना की नवीन धारा में “विचारधारा और कलाकार की निजी प्रतिबद्धता की कड़ी जाँच की जाती है।”⁸⁰ जिसमें “कला के मासूम प्रतिबिम्बन सिद्धांत का अस्वीकार तथा विचारधारा को मात्र एक सामाजिक-आर्थिक संबंध की बुद्धिसंगत व्याख्या के रूप में न देखकर एक ऐसे पर्दे जो कि अधिक स्थायी एवं वास्तविक मानवीय संबंधों को छिपा लेता है, के रूप में देखने के प्रयास।”⁸¹ मोतीलाल रैना जार्ज हुआकों का संदर्भ देते हुए स्पष्ट करते हैं कि “मार्क्स के लिए विचारधारा के दो आयाम हैं: असत्यता का आयाम, जिसके तहत वास्तविक चेतना झुठला दिया जाता है, तथा भूमिकाओं का आयाम जिसके तहत वर्गहितों की रक्षा होती है। ‘इतिहास और वर्ग चेतना’ में लूकाच विचारधारा को पहले अर्थ में लेते हैं तथा विचारधारा को ‘भ्रांतिपूर्ण चेतना’ के रूप में देखते हैं, यद्यपि अपने परवर्ती लेखन में वह विचारधारा को अपनी संपूर्णता की अवधारणा में शामिल कर लेते हैं।”⁸² इस प्रकार जार्ज लूकाच भी ‘विचारधारा’ और ‘कला’ संबंधी अध्ययन में ‘विचारधारा’

के स्थान पर यथार्थ को महत्व देते हैं और स्पष्ट करते हैं कि “कला विचारधारा से ऊपर की चीज़ है और यह ऐतिहासिक यथार्थ के असत्यीकरण को नष्ट कर देती है।”⁸³ मोतीलाल रैना अपने अध्ययन में ‘विचारधारा’ के हवाले से रूढ़िबद्धता के निहितार्थ स्पष्ट करते हुए लिखते हैं “विचारधारा हमारी यथार्थ-दृष्टि पर आरोपण है जो कि हमें जीवन में अनुभववाद से, तथा यथार्थ के विविध, बहुरूपी तथा मूर्त अनुभवों से, जिसे मार्क्स ‘विभिन्न निर्धारकों तथा संबंधों का समृद्ध समुच्चय’ कहने, से वंचित करती है।”⁸⁴

इसी प्रकार पश्चिम के मार्क्सवादी चिंतन में कला और राजनीति संबंधी बहस को जिसका संबंध प्रकारांतर से ‘कला और विचारधारा’ संबंधी बहस से जुड़ा हुआ है उसके स्वरूप को भी ‘आलोचना’ पत्रिका ने परिसंवाद आयोजित करके स्पष्ट किया। ‘कविता और राजनीति’ संबंधी बहस प्रथम अध्याय के ‘प्रमुख साहित्यिक बहसों’ शीर्षक में विस्तार से चर्चा की गई है अतः उसे ‘कला और विचारधारा’ के संबंध के स्वरूप के एक अन्य आयाम के रूप में ग्रहण किया जा सकता है।

इसप्रकार स्पष्ट है कि ‘आलोचना’ पत्रिका ने ‘कला और विचारधारा’ के बीच के संबंध के स्वरूप की नवीन व्याख्या को अपने अंकों में स्थान दिया है। जिससे मार्क्सवादी आलोचना की नई धारा की ‘कला और विचारधारा’ संबंधी बहस की रूपरेखा को स्पष्ट किया जा सके और मार्क्सवादी आलोचना साहित्य-चिंतन को उन सीमाओं से मुक्त करने का प्रयास किया जा सके, जो कि पूर्ववर्ती पीढ़ी के मार्क्सवादी कला चिंतकों की मान्यताओं में निहित थी।

ग्राम्शी ने ‘विचारधारा’ को ‘प्रभुत्व की अवधारणा’ के संदर्भ में रखकर देखा, परखा है, जिसकी व्याख्या रेमंड विलियम्स ने अपने लेखों में की है। उनके अनुवाद भी ‘आलोचना’ पत्रिका में प्रकाशित हो चुके हैं।

2.1.5 वस्तु और रूप

मार्क्सवादी कला और साहित्य संबंधी चिंतन में 'वस्तु और रूप' के संबंध में गंभीरतापूर्वक विचार किया गया है। किंतु इस 'वस्तु और रूप' संबंधी बहस को प्रारंभिक मार्क्सवादी समीक्षकों-चिंतकों की मान्यताओं और 1960 के आस-पास मार्क्सवादी मान्यताओं को बिल्कुल ही एक नहीं समझना चाहिए। मार्क्सवादी चिंतकों की प्रारंभिक पीढ़ी ने जब कला और साहित्य को एक विशेष उद्देश्य की प्राप्ति के रूप में देखा। किसी विशेष उद्देश्य और विचारधारा की मान्यताओं को कला में अनिवार्य उपस्थिति की घोषणा की तो यह स्वाभाविक ही था कि कला में मार्क्सवादी चिंतकों के यहाँ 'वस्तु' को प्रमुखता मिलती। इसप्रकार मार्क्सवादी चिंतक की प्रारंभिक दौर में कला में शिल्प पक्ष की प्रायः उपेक्षा की गई और 'वस्तु' को प्रधानता मिली। इस प्रकार प्रारंभिक मार्क्सवादी कला "समीक्षकों में साहित्य के 'कला-पक्ष और सामाजिक पक्ष' के संबंध में एक द्वैतभावना बनी हुई थी और वे इस बात का निर्णय न करपाते थे कि किसी रचना में इन दोनों तत्वों का समावेश किस मात्रा और अनुपात में होता है, अथवा उनमें किसका आत्यंतिक महत्व है।"⁸⁵ इस प्रकार प्रारंभिक मार्क्सवादी चिंतकों ने 'वस्तु' और 'रूप' को अलग-अलग खंडों में बाँटकर देखा। उन्हीं रचनाओं को सर्वोत्कृष्ट माना जिनमें विशेष विचारधारा की केंद्रीयता प्राप्त थी, उन रचनाओं में कई बार शिल्प पक्ष का बिल्कुल ही ध्यान नहीं रखा गया अथवा उसकी उपेक्षा हुई। स्पष्ट है कि इस बहस की परिणति दो बड़े विभाजनों में हुई- जिसमें एक वर्ग 'कला कला के लिए' जाना गया तो दूसरे ने 'कला समाज के लिए' की कला के उद्देश्य की घोषणा की।

दोनों ने ही अपने प्रारंभिक चरण में आत्यंतिक रूपों पर बल दिया। इस प्रकार उनमें से एक ने 'रूप' पक्ष पर इतना बल दिया कि उसे भाषा, शिल्प आदि तक सीमित करके उसे 'रूपवादी' और कलावादी चिंतन की परिणति तक पहुँचाया। और दूसरे धड़े ने समाज पक्ष पर इतना बल दिया कि उसे साहित्य को सचेत ढंग से सामाजिक परिवर्तन का हथियार बताते हुए उसे 'समाजशास्त्र'

की कैटेगरी में लाकर रख छोड़ा। और इस पक्ष की प्रायः उपेक्षा हुई कि मार्क्स और एंगेल्स “कृति में कथ्य को प्राथमिक मानते हैं, साथ ही रूप का भी वस्तु के साथ अंतः संबंध स्वीकार करते हैं। वे रूप को वस्तु से नहीं मानते और न ही ‘वस्तु’ को ‘रूप’ से रहित स्वीकार करते हैं। ‘वस्तु’ और ‘रूप’ का अन्योन्याश्रित संबंध”⁸⁶ ही उन्होंने स्वीकार किया। किंतु यहाँ ध्यान देना होगा कि ‘रूप और वस्तु’ के अन्योन्याश्रित संबंध के आधार पर ही कला और साहित्य के विविध प्रकारों को नहीं समझा जा सकता। और नहीं रूपवादी मान्यताओं के प्रश्नों के उत्तर ही दिए जा सकते हैं। हम इस अन्योन्याश्रित संबंधों के आधार पर यह नहीं बता सकते कि कला पाठकों की चेतना पर किस प्रकार अपना प्रभाव छोड़ती है? व साहित्य की कोई विधा एक समाज से किस प्रकार से संबद्ध है। किसी विशेष प्रभुत्वशाली विचारधारा को ही कला-साहित्य में क्यों निरूपित करती है और किस प्रकार वह अपने तत्कालीन समाज की सीमा से मुक्त होकर अन्य विकसित समाजों के लिए आकर्षण का केंद्र बनती हैं? और प्रभुत्वशाली वर्ग उस कला रूप को किसप्रकार उपभोक्तावादी संस्कृति में रूपांतरित करता है और रूप और वस्तु का प्रश्न तब कहीं दृष्टिगोचर न होकर वह क्यों सांस्कृतिक प्रक्रिया का अंग बन जाता है। वस्तुतः इस प्रकार के प्रश्नों का उत्तर मार्क्सवादी चिंतन की उस ‘रूप’ और ‘वस्तु’ को अलग-अलग खानों में बाँटकर देखने वाली चिंतन प्रणाली से नहीं मिल पाया। और न ही इस अन्योन्याश्रित संबंधों की धारणा से। जाहिर है कि मार्क्सवादी चिंतकों की नई धारा के चिंतकों ने इस तरह के प्रश्नों को ‘वस्तु और रूप’ के संदर्भ में जोड़ा और उनके उत्तर पाने के लिए सार्थक बहसें चलाई। कहने की आवश्यकता नहीं कि मार्क्सवादी कला-चिंतन और मार्क्सवादी सौंदर्यशास्त्र को विकसित करने का कार्य किया। नामवर सिंह ने ‘आलोचना’ पत्रिका के माध्यम से इन प्रश्नों और बहसों पर प्रचुर मात्रा में समग्री उपलब्ध कराते हैं, और हिंदी की मार्क्सवादी आलोचना को भी इन प्रश्नों और बहसों से जोड़ने का महत्वपूर्ण कार्य ‘आलोचना’ पत्रिका के माध्यम से करते हैं। ध्यातव्य है कि इन चिंतकों ने ऐतिहासिक भौतिकवाद, द्वंद्वात्मक

भौतिकवाद आदि मार्क्सवादी पद्धति का ही प्रयोग करते हुए अपने निष्कर्ष दिए-इस समस्याओं का उत्तर देने का कार्य किया है।

मार्क्सवादी आलोचना की दूसरी परंपरा के प्रमुख चिंतक जार्ज लूकाच ने 'रूप और वस्तु' के संबंध को 'समग्रता' (टोटैलिटी) और 'विच्छिन्नता' (एलियनेशन) के परिप्रेक्ष्य में रखकर स्पष्ट करने का कार्य किया है। ध्यातव्य है कि मार्क्स ने 'अपने' आरंभिक दिनों में 'समग्रता' को महत्वपूर्ण अवधारणा के रूप में स्वीकार किया था।⁸⁷ जार्ज लूकाच इस 'समग्रता' के परिप्रेक्ष्य में वस्तु और रूप के संबंध को स्पष्ट करते हैं कि "समग्र के हू-ब-हू प्रतिफलन के ऊपर ही निर्भर है यथार्थ शैलिक प्रतिफलन की वस्तुमयता।"⁸⁸ यथार्थ के स्वरूप को वस्तु और रूप से जोड़ते हुए कहते हैं कि "यथार्थ तो बहुत कुछ को छोड़ता चलता है। नित्य नई-नई घटनाएँ अथवा उपादान अथवा मात्रा घटती-बढ़ती रहती है। वह रचनाकार ही है जिसको इनमें से चुनना है, किंतु रचनाकार को इस तरह चुनना चाहिए जिससे यह सिद्ध हो सके कि यह 'छिन्न' अंश वस्तुतः छिन्न नहीं है, समग्रता का प्रतिफलन है। यह 'कर सकने' या 'नहीं कर सकने' का प्रश्न है। प्रौढ़ शिल्प अर्थात् विषय के साथ अनिवार्यतः प्रासंगिक शिल्प, यह चुनने का कार्य करता है और निर्दोष रूप में करता है। मतलब जब शिल्प सुगठित होता है तब यह छँटनी प्रतीत नहीं होती, 'विच्छिन्न' प्रतीत नहीं होता, मात्र 'समग्रता' के प्रतिरूप की अनुभूति होती है। शिल्प का अर्थ ही होता है खंडित यथार्थ को स्थान तथा काल के सही संदर्भ में एकत्रित करना ताकि विच्छिन्नता अथवा खंडन का बोध हो ही नहीं। अतएव प्रतिफलन तथा समग्रता का प्रतिफलन इन तत्वों से ही 'विषय' एवं शिल्प की परस्परता का प्रश्न उठाता है। लूकाच के अनुसार शिल्प का असलीकार्य है विषय को संक्षिप्ति प्रदान करना। .. इस संक्षिप्ति के अभाव में तो शिल्प-सृष्टि ही असंभव होगी, अतः शिल्प की वस्तुमयता वस्तुतः सृष्टि क्रिया के अंतर्गत ही है।"⁸⁹

लूकाच ने एंगेल्स के मत को स्पष्ट करते हुए बताया है कि "समाज के साधारण विकास

की गति से शिल्प-साहित्य का विकास नहीं होता, अनेक बार एकदम विपरीत स्थिति होती है।⁹⁰ इसलिए 'वस्तु और रूप' में और सामाजिक विकास में एकदम यांत्रिक समीकरण नहीं होता। ध्यान देने की बात है कि जार्ज लूकाच की मान्यताओं का विरोध बर्टोल्ट ब्रेख्त ने किया। उन्होंने रूप व वस्तु की समस्या को 'यथार्थवादी रूपवाद' के संदर्भ में देखा है। और उन्होंने कथ्य के ही यथार्थवादी होने की बात नहीं करके-रूप के भी यथार्थवादी चरित्र का उद्घाटन किया है। 'आलोचना' के नवांक-32 में बर्टोल्ट ब्रेख्त के लेख का अनुवाद 'जार्ज लूकाच के विरोध' शीर्षक से प्रकाशित है। उसमें लूकाच की वस्तु और रूप संबंधी मान्यताओं का विवेचन विस्तार से किया है। 'रूप और वस्तु' संबंधी बहस को नवीन आयाम लूसिएँ गोल्डमान ने दिया है। गोल्डमान ने रूप और वस्तु के संबंधों की पड़ताल 'उत्पत्तिमूलक संरचनावाद' के परिप्रेक्ष्य में करते हुए उसे 'विश्वदृष्टि' से जोड़ा है। वह 'वस्तु और रूप' को अलग कोटियों में बाँटकर नहीं बल्कि 'मानसिक संरचनाओं' के संदर्भ में स्पष्ट करते हैं वह साहित्य और समाज के संबंध को मानसिक संरचनाओं का संबंध मानते हैं, "ये मानसिक संरचनाएँ ऐसी वैचारिक कोटियाँ हैं, जो किसी सामाजिक ग्रुप विशेषों की अनुभवमूलक चेतना और लेखक द्वारा निर्मित काल्पनिक जगत को एक ही समय में संगठित करती हैं। स्वभावतः ये संरचनाएँ पृथक-पृथक व्यष्टि रूप से निर्मित न होकर सामूहिक रूप से निर्मित होती हैं।"⁹¹ इसीलिए गोल्डमान के यहाँ संबंध किसी रचनाकार और उसके रचना संसार के वास्तविक संबंधों और 'वस्तु और रूप' के संबंधों से कहीं अधिक बढ़कर है। और यह संबंध मानसिक धरातल पर होता है। इस मानसिक संरचनाओं के संबंध को 'इंसेंशियल रिलेशनशिप' के रूप में देखते हैं और "इंसेंशियल रिलेशनशिप स्ट्रक्चरल होती है... स्ट्रक्चरल रिलेशन को उन्होंने 'फार्म ऑफ द कंटेन्ट' कहा है।"⁹² इस प्रकार गोल्डमान के यहाँ रूप और अंतर्वस्तु का द्वैत नहीं रह जाता है बल्कि वह 'अंतर्वस्तु का रूप' के रूप में दिखाई पड़ता है। इसीलिए "किसी कृति की अंतर्वस्तु का विश्लेषण नहीं करना चाहिए। बल्कि 'अंतर्वस्तु के रूप' का विश्लेषण करना

चाहिए।¹⁷⁹³

रेमंड विलियम्स ने 'रूप और वस्तु' के संबंध को उपभोगवादी सिद्धांत के सहारे स्पष्ट किया है। वे स्पष्ट करते हैं कि "समकालीन लगभग सभी आलोचनात्मक सिद्धांत उपभोग के सिद्धांत हैं। .. 1920 के लगभग रिचर्ड्स के सिद्धांतों और उसके बाद नई समीक्षा के परिणामस्वरूप 'उपभोग के प्रभाव के अनुशीलन को आलोचना समझा गया। वस्तु के रूप में स्वीकृत कलाकृति की भाषा की महत्ता बढ़ गई।... परवर्ती उपभोग सिद्धांतों में कलाकृति विशेष का अर्थ, वस्तु के रूप में, पाठ के रूप में और एकांकी शिल्प-तथ्य के रूप में केंद्रीय हो उठा।"¹⁷⁹⁴ इस प्रकार रेमंड विलियम्स ने 'वस्तु और रूप' के संबंधों के अध्ययन की पड़ताल करते हुए स्पष्ट किया है। इस बहस को कभी साहित्य संबंधी उत्पादन संबंधों एवं उसके व्यवहारों की प्रायः उपेक्षा हुई; कलाकृति को वस्तु का प्रतिबिंब माना गया है या जैसा कि वस्तु है वही माना गया। किंतु उसका संबंध उत्पादन संबंधों तथा उन संबंधों के व्यवहार से भी इस पर ध्यान नहीं दिया गया। इस प्रकार रूप और वस्तु के संबंध को अपने लेख में साहित्य के उत्पादन और व्यवहार तथा सक्रिय परंपराओं आदि से जोड़ते हुए स्पष्ट करते हैं कि "किसी कलाकृति के सर्जन और उसके आस्वादन का पारस्परिक संबंध सदैव सक्रिय और परंपराबद्ध होता है। और ये परंपराएँ सामाजिक संगठनों और संबंधों की देन होती हैं। और सर्जन आस्वादन की यह प्रक्रिया किसी वस्तु के उत्पादन और उपभोग की प्रक्रिया से मूलतः भिन्न किस्म की होती है। यह वास्तव में क्रिया और व्यवहार हैं"¹⁷⁹⁵ इसके अतिरिक्त मोतीलाल रैना ने फ्रेडरिक जेम्सन के हवाले से 'रूप और वस्तु' के संबंध में विचार किया है, मोतीलाल रैना के मतानुसार 'रूप व वस्तु' पर जेम्सन के विचार रेमंड विलियम्स आदि के विचारों से मुठभेड़ में विकसित है। मोतीलाल रैना का लेख 'आलोचना' के नवांक-42 में प्रकाशित है।

वस्तुतः 'वस्तु और रूप' के संबंध का विश्लेषण मार्क्सवादी कला चिंतकों और समीक्षकों ने रूपवादी चिंतन का राजनीति को उद्घाटित करने के लिए भी किया। और इसके संबंधों की

पड़ताल करते हुए मार्क्सवादी चिंतकों का पक्ष इस संबंध में स्पष्ट किया। ध्यातव्य है कि 'आलोचना' पत्रिका ने मार्क्सवादी कला समीक्षा-एवं चिंतन में 'वस्तु और रूप' संबंधी नवीन अध्ययन एवं आयामों से हिंदी पाठकों एवं समीक्षकों को अवगत कराया, जिससे हिंदी समीक्षा में उभरते हुए 'कलावाद' के खंडन में सहायता मिली और साहित्य के उपभोगवादी चिंतन की पद्धतियों की सीमाओं को स्पष्ट किया गया। कहने की ज़रूरत नहीं है कि यह विश्लेषण साहित्य को साहित्य के रूप में रख कर किया गया है। किंतु इसका सैद्धांतिक आधार 'ऐतिहासिक भौतिकवाद और द्वंद्वात्मक भौतिकवाद ही रहा है जिसके आधार पर 'मार्क्सवादी सौंदर्यशास्त्र' की रूपरेखा निर्मित की गई है। यहाँ साहित्य के संबंध में 'साहित्येतर' का प्रश्न ही नहीं है, बल्कि साहित्य की प्रकृति स्वयं अपना यह पक्ष प्रकट करती है।

2.2 हिंदी की मार्क्सवादी आलोचना की नई बहसों और मुद्दे

मार्क्सवाद एक विश्वदृष्टि है, जिसने विश्व के प्रत्येक देशों और उसकी भाषाओं के साहित्य को किसी-न-किसी रूप में प्रभावित अवश्य किया है। हिंदी भाषा और साहित्य भी मार्क्सवादी दर्शन से अपने को प्रभावित हुए बिना नहीं रख सका है। हिंदी साहित्य-समीक्षा में मार्क्सवादी समीक्षा की व्यवस्थित शुरुआत 1936 में प्रगतिशील लेखक संघ की स्थापना और इसी वर्ष इलाहबाद की संगोष्ठी में पढ़ा गया शिवदानसिंह चौहान का लेख "भारत में प्रगतिशील साहित्य की आवश्यकता" से माना जा सकता है। ध्यातव्य है कि इससे पहले से मार्क्सवादी चेतना से प्रेरित काव्य-समीक्षाएँ इक्का-दुक्का मिलती हैं, किंतु 1936 के बाद ही मार्क्सवादी दृष्टि पर जमकर बहस होती है, उसकी भारत में आवश्यकता महसूस की जाने लगती है।⁹⁶

"हिंदी में मार्क्सवादी आलोचना के विकास के लिए आवश्यक पृष्ठभूमि का निर्माण शुक्ल और द्विवेदी के आलोचना कर्म से हुआ।"⁹⁷ ध्यान दें तो "इनकी समीक्षा ने कविता, साहित्य एवं समीक्षा के समाज से संबंध को निरूपित किया और काव्य के प्रयोजन को विश्लेषित करते हुए यह

स्थापना दी कि साहित्य न तो स्वातंत्र्य हो सकता है और न ही साहित्य का लक्ष्य सिर्फ मनोरंजन करना, बल्कि काव्य का प्रयोजन जन-जन की चेतना का विकास करना, मनुष्य को गलत भावों के विरोध में उत्प्रेरित करना एवं स्वस्थ कलामूल्यों एवं भावबोध का निर्माण करना है।... इसी समीक्षा की आधार भूमि पर मार्क्सवादी समीक्षा ने काव्य समीक्षा के सिद्धांतों का विकास किया।”⁹⁸

हिंदी की मार्क्सवादी समीक्षा के प्रारंभ में “सबसे पहला और महत्वपूर्ण सवाल यही था कि अपनी सांस्कृतिक-साहित्यिक विरासत के प्रति इस आलोचना का क्या सुलूक होना चाहिए।”⁹⁹ अर्थात् अपनी ‘परंपरा का मूल्यांकन’ किस प्रकार हो? इसी के साथ “रूप और अंतर्वस्तु की समस्या साहित्य और विचारधारा का अंतः संबंध, साहित्य के मूल्यांकन में पार्टी नीतियों की भूमिका और वर्चस्व लेखकों का संयुक्त मोर्चा आदि कुछ ऐसे ही मुद्दे थे जिन पर मार्क्सवादी आलोचना में गहरे मतभेद थे। बहसों और विवादों के बीच ही इस आलोचना को अपना स्वरूप स्पष्ट करते हुए अपने मुख्य प्रकार्य सुनिश्चित करने थे।”¹⁰⁰ ध्यान देने की बात है कि हिंदी की मार्क्सवादी आलोचना के प्रारंभिक चरण में उपर्युक्त मुद्दों पर “दो खेमें बन गए थे। एक खेमें में हिंदी प्रगतिशील लेखक संघ के मंत्री रामविलास शर्मा थे तो दूसरे खेमे में शिवदान सिंह चौहान, अमृतराय, प्रकाशचंद्र गुप्त, रांगेय राघव और रामगोपाल सिंह चौहान और पहाड़ी।”¹⁰¹ प्रारंभिक मार्क्सवादी चिंतकों में विभिन्न मुद्दों पर साहित्यिक बहसों अपनी साहित्यिकता की सीमा को छोड़कर व्यक्तिगत रागद्वेष की परिणति को पहुँच गया। एक ने दूसरे को ‘संशोधनवादी’ व विसर्जनवादी कहा तो दूसरे ने पहले को ‘कुत्सित समाजशास्त्री’ के रूप में अभिहित किया। मार्क्सवादी आलोचना अपने प्रारंभ में कुत्सित समाजशास्त्रीयता, विसर्जनवादी, संशोधनवादी, त्रास्कीवादी आदि के आरोप-प्रत्यारोप से ही गुजरी।¹⁰² जिसमें एक महत्वपूर्ण घटना ने इन बहसों को और भी मज़बूत किया वह था ‘भारत की स्वाधीनता और उसका विभाजन’। इससे मार्क्सवादी चिंतकों के बीच स्वतंत्रता के स्वरूप को लेकर बहस हुई; जिसमें दो खेमे स्पष्ट दिखाई दिए एक खेमा पार्टी लाइन अर्थात् कम्युनिस्ट पार्टी

के विचारों का अनुगमन कर रहा था तो दूसरा खेमा स्वतंत्र भारत को नई सरकार पर भरोसा करने की बात कर रहा था। इस संदर्भ में भी मतभेद बड़े गहरे स्तर पर हुए।¹⁰³

मार्क्सवादी आलोचकों की प्रारंभिक पीढ़ी में 'प्रगतिशील साहित्य की अवधारणा' और 'हिंदी और उर्दू विवाद' पर जमकर बहसें हुईं जिसमें अधिकांशतः साहित्यिक बहसों पार्टी लाइन और गैरपार्टी लाइन और वर्गीय पक्षधरता तक सीमित थीं। इसकी परिणति कई स्तरों में व्यक्तिगत आरोप-प्रत्यारोप तक पहुँचकर आपसी कटुता में हुई। ध्यातव्य है कि मार्क्सवादी आलोचकों के बीच की आपसी बहस में समकालीन साहित्य के मूल्यांकन का प्रश्न भी 'प्रगतिशील अथवा प्रतिक्रियावादी' अवधारणा के बीच सिमट कर रह गया था। स्वयं मार्क्सवादी रचनाकार-समीक्षक एक दूसरे को 'प्रतिक्रियावादी', 'विसर्जनवादी', 'संशोधनवादी', 'कुत्सित समाजशास्त्री' सिद्ध कर रहे थे, तो 'प्रयोगवाद', 'नई कविता' और 'नई कहानी' जिसका संबंध किसी-न-किसी रूप में व्यक्तिवादी अस्तित्ववादी चिंतन से जुड़े होने, अधिकांश रचनाकारों के मध्यवर्गीय मानसिकता से युक्त होने के कारण बड़ी सरलता से प्रतिक्रियावादी कलावादी-व्यक्तिवादी घोषित कर दिया गया।¹⁰⁴ इन समकालीन साहित्यिक प्रवृत्तियों की जिनसे कि वह जीवन से कई स्तरों पर गहराई से जुड़ा हुआ था, आरंभिक मार्क्सवादी आलोचना ने स्पष्ट उपेक्षा की।

उदाहरणस्वरूप एक मत देखा जा सकता है। "प्रयोगवाद का कला-सिद्धांत है कला कला के लिए। उसकी विषय वस्तु पराजय और कुंठा के रस में डूबी हुई है, उसका रूप कुरूपता का पर्याय है।... प्रयोगवाद भयग्रस्त प्राणियों की पुकार है।"¹⁰⁵ इस प्रकार प्रयोगवाद, नई कविता, नई कहानी आदि कोपलायनवादी, कुंठाग्रस्त, पराजयबोध, साहित्यिक अराजकता, प्रतिक्रियावादी आदि कहकर आरंभिक आलोचना ने उसकी अवहेलना की; साथ ही आपसी तर्क-कुतर्क ने स्पष्टतः कलावादी रुझान, अस्तित्ववादी चिंतन के लिए ज़मीन भी तैयार की। इन नए रचनाकारों-चिंतकों ने अपनी रचनाओं का मूल्यांकन एक तरफ स्वयं किया; दूसरी तरफ ऐसे आलोचक भी हुए जो नए

रचनाकारों के मूल्यांकन में प्रवृत्त हुए। उदाहरण स्वरूप विजयदेव नारायण साही, लक्ष्मीकांत वर्मा, धर्मवीर भारती आदि ने नई कविता आदि को सहानुभूति से देखा किंतु उसके मूल्यांकन में उन्होंने अस्तित्ववादी चिंतन, व्यक्तिवादी प्रवृत्तियाँ कुंठा, संत्रास, पीड़ा, क्षणवाद, लघुमानव, नवरोमानी रुझान, आदि को ही लक्षित किया और उसे आधुनिकतावादी रुझानों से स्पष्टतः जोड़ा। साहित्य की स्वायत्तता, कला-सौंदर्य लेखक की स्वतंत्रता तथा साहित्येतर प्रतिमानों का विरोध और रूपवादी-कलावादी प्रवृत्तियों को ही इन नई प्रवृत्तियों के मूल्यांकन में उपयोग में लिया गया। जाहिर है कि इस नवीन प्रवृत्तियों और उनके साहित्यानुशीलन में प्रवृत्त इस समीक्षा के प्रश्नों का उत्तर आरंभिक मार्क्सवादी चिंतकों के पास से नहीं मिला सिवाय इसके कि ये 'प्रतिक्रियावादी हैं' अथवा इनका कला-सिद्धांत है कला कला के लिए।' यही कारण है कि 'परिमल समूह', अथवा नए समीक्षकों की किसी ज़माने में इतनी धूम रही कि 'आलोचना' पत्रिका जिसका संपादन शिवदान सिंह चौहान कर रहे थे, जो इस पत्रिका के संस्थापक भी थे, जिसकी मूल प्रवृत्ति ही प्रगतिवादी चिंतन की पक्षधरता थी, उसे उनके संपादन दायित्वों से मुक्त करते हुए उसे 'परिमल समूह' के हाथों में दे दिया गया। जिसके माध्यम से परिमल समूह ने अपनी कला संबंधी मान्यताओं एवं पक्ष को स्पष्ट किया और मार्क्सवादी चिंतन और आलोचना पर कड़े प्रहार किए।

ध्यान देने की बात है कि अपनी समकालीन समीक्षा की चिंताजनक दशा से मुक्तिबोध इतने विचलित हुए कि उन्हें एक दीर्घ निबंध 'समीक्षा की समस्याएँ' लिखना पड़ा। वस्तुतः अपने समकालीन समीक्षा की दशा की दिशाहीन स्थिति के असंतोष से उत्पन्न एक कवि-आलोचक की पीड़ा की अभिव्यक्ति थी। और यह पीड़ा सिर्फ 'समीक्षा की समस्याएँ' में ही व्यक्त नहीं हुई, बल्कि मुक्तिबोध ने इसे भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी के महासचिव कामरेड श्रीपाद अमृत डांगे को पत्र लिखकर भी व्यक्त किया। अपने समकालीन समय की मार्क्सवादी चिंतन तथा कला-समीक्षक से जिस प्रकार जार्ज लूकाच कभी असंतुष्ट थे, औ उन्होंने चिंतन व अध्ययन-पद्धति की नवीकरण के

लिए बार-बार आग्रह किया।¹⁰⁶ उसी प्रकार मुक्तिबोध ने हिंदी की मार्क्सवादी साहित्य-चिंतन की पुनर्समीक्षा और उसे समकालीन साहित्य से जोड़ने और उसका स्वस्थ मूल्यांकन करने का आग्रह बार-बार किया है। यही कारण है कि हिंदी की मार्क्सवादी आलोचना की बहस के केंद्र में मुक्तिबोध आते हैं। और हिंदी की मार्क्सवादी आलोचना की नई बहस की शुरुआत मुक्तिबोध की रचनात्मक और समीक्षात्मक समस्याओं से जुड़कर ही आगे बढ़ती है।

ध्यान देने की बात है कि हिंदी की मार्क्सवादी आलोचना की नई बहस के केंद्र में मुक्तिबोध को रखने का कार्य नामवर सिंह ने 'आलोचना' पत्रिका और 'कविता के नए प्रतिमान' के माध्यम से किया। 'आलोचना' पत्रिका के माध्यम से नामवर सिंह ने मुक्तिबोध के नए सिरे मूल्यांकन करने का कार्य किया। मुक्तिबोध की मृत्यु के उपरांत उनकी इक्यावनवीं जन्मतिथि पर 'आलोचना' पत्रिका का पूरा अंक केंद्रित किया। कहा जा सकता है कि 'आलोचना' का नवांक-06 मुक्तिबोध की रचनात्मक और समीक्षात्मक मूल्यांकन पर केंद्रित महत्वपूर्ण अंक है जो संभवतः किसी पत्रिका द्वारा मुक्तिबोध को केंद्र में रखकर मूल्यांकन करने का पहला सार्थक और महत्वपूर्ण प्रयास है। 'आलोचना' पत्रिका के मुक्तिबोध पर आयोजित इस अंक में 'कविता और राजनीति' पर एक परिसंवाद आयोजित किया गया है, जो मूलतः उनकी रचनागत विषयवस्तु की केंद्रीयता को ही स्पष्ट करता है जो स्पष्टतः 'राजनीति की कविता' को ही नहीं बल्कि 'कविता की राजनीति' को भी स्पष्ट करती है। इसके अतिरिक्त 'मुक्तिबोध' का एक अप्रकाशित 'काव्य की रचना-प्रक्रिया' शीर्षक लेख आलोचना पत्रिका के नवांक-05 में पहलीबार नामवर सिंह के संपादन में ही प्रकाशित है। इसके अतिरिक्त 'आलोचना' का नवांक-14 में मुक्तिबोध के और सैद्धांतिक मूल्यांकन पर विशेष लेखों से युक्त समग्री प्रकाशित की गई है। जिसमें इंद्रनाथ मदान का लेख 'मुक्तिबोध: मूल्यांकन परिचर्चा' शीर्षक से प्रकाशित है। वहीं जगदीश शर्मा के दो लेख 'मुक्तिबोध का आत्मसंघर्ष: अपर पक्ष', और 'मुक्तिबोध शुद्ध प्रगतिवादी' शीर्षक से प्रकाशित है। नवांक-17 में ओमप्रकाश ग्रेवाल

का लेख 'मुक्तिबोध का मानवतावाद' शीर्षक से प्रकाशित है। इसी अंक में आनंदप्रकाश दीक्षित का लेख भी 'काव्य की रचना-प्रक्रिया और मुक्तिबोध' शीर्षक से प्रकाशित है। नवांक-21 में मुक्तिबोध पर मोतीराम वर्मा द्वारा लिखित संपादित पुस्तक 'लक्षित मुक्तिबोध' की मैनेजर पांडेय द्वारा की गई समीक्षा प्रकाशित है। नवांक-38 में लल्लन राय का लेख 'मुक्तिबोध की समीक्षा-दृष्टि: वस्तु और रूप के संदर्भ में।' प्रकाशित है। नवांक-39 में कांतिकुमार ने 'मुक्तिबोध मंडल' के कवियों की संकल्पना, 'मुक्तिबोध-मंडल के कवि' शीर्षक लेख में करते हैं। नवांक-46 में रंजना जोशी का लेख 'मुक्तिबोध: मूल्यांकन के नए आयाम' शीर्षक से प्रकाशित है। परमानंद श्रीवास्तव का लेख-नवांक-48 में 'मुक्तिबोध की कविता एक भयानक वास्तविकता है' शीर्षक से प्रकाशित है। नवांक-54-55 में लल्लन राय मुक्तिबोध की 'फैंटसी' से संबंधित मान्यताओं का विवेचन-विश्लेषण 'फैंटसी का शिल्प बनाम मुक्तिबोध' शीर्षक लेख में करते हैं। नवांक-66 में श्रीराम वर्मा मुक्तिबोध के पत्रों के संदर्भ में मुक्तिबोध का मूल्यांकन करते हुए देखे जा सकते हैं 'नेमिबाबू मेरी कहानी बड़ी उदास है' उर्फ अपने पत्रों में मुक्तिबोध' शीर्षक से प्रकाशित है। नवांक-85 में नंदकिशोर नवल का लेख 'मुक्तिबोध की विश्वदृष्टि' शीर्षक से प्रकाशित है और नवांक-89 में त्रिलोचन से वीरेंद्र मोहन की बातचीत मुक्तिबोध और धूमिल पर ही केंद्रित है। स्पष्ट है कि 'आलोचना' पत्रिका के माध्यम से मुक्तिबोध का मार्क्सवादी आलोचना की नई बहसों को केंद्र में रखने का काम नामवर सिंह ने किया।

आलोचना के नवांक-60-61 (रामविलास शर्मा अंक) में 'मार्क्सवादी आलोचना के बुनियादी सरोकार और डॉ० रामविलास शर्मा' शीर्षक और नवांक-70 (मार्क्स अंक) में प्रकाशित 'मार्क्सवादी आलोचना की समस्याएँ (हिंदी आलोचना के संदर्भ में)' शीर्षक लेख में शिवकुमार मिश्र हिंदी की मार्क्सवादी आलोचना के विषय में विस्तार से चर्चा करते हैं, और स्पष्ट करते हैं कि हिंदी की मार्क्सवादी आलोचना में 'परंपरा के मूल्यांकन' का प्रश्न केंद्रीय प्रश्न है। इसके अतिरिक्त

समकालीन सर्जना के संदर्भ में मार्क्सवादी आलोचना की प्रवृत्तियों की चर्चा करते हैं। इसके अतिरिक्त 'रूप और वस्तु', 'कला और विचारधारा' को प्रश्न, को अत्यंत महत्वपूर्ण मानते हैं हिंदी की मार्क्सवादी आलोचना में जो संशोधनवादी प्रवृत्ति पनप रही थी उसकी चर्चा करते हैं। शिवकुमार मिश्र के समान ही नवांक-86 में प्रकाशित मैनेजर पांडेय अपने लेख 'हिंदी की मार्क्सवादी आलोचना: कितनी मार्क्सवादी: कितनी आलोचना' में स्पष्ट करते हैं कि हिंदी की मार्क्सवादी आलोचना की समस्याएँ कई रूपों में प्रकट हुई हैं जिसमें एक 'परंपरा के मूल्यांकन' को लेकर है, वहीं दूसरी समस्या समकालीन रचना संदर्भों के मूल्यांकन से है। उन्होंने अपने लेख में मार्क्सवाद की दो धाराओं का उल्लेख किया है "मार्क्सवाद को दो तरह की समझदारी के बीच भी चुनाव करना है। एक ओर रूढ़िवादी मार्क्सवाद है तो दूसरी ओर समकालीन मार्क्सवाद। एक ओर परंपरावाद है तो दूसरी ओर समकालीन चेतना।"¹⁰⁷ अपनी धारणा को उन्होंने रामविलास शर्मा का चिंतन और नामवर सिंह की आलोचना से जोड़ा है और अपने लेख में रामविलास शर्मा को 'रूढ़िवादी मार्क्सवाद की श्रेणी में रखते हैं, और नामवर सिंह की आलोचना को समकालीन मार्क्सवाद' की कोटि में रखते हैं। स्पष्ट है कि हिंदी की मार्क्सवादी आलोचना के केंद्र में दो महत्वपूर्ण विचारबिंदु हैं एक- 'परंपरा का मूल्यांकन' और दूसरा समकालीन रचनाशीलता और मार्क्सवादी चिंतन का परिप्रेक्ष्य। ध्यान देने की बात है कि प्रस्तुत शोधकार्य में 'परंपरा का मूल्यांकन' और 'आलोचना' पत्रिका, तथा 'समकालीन रचनाशीलता और आलोचना पत्रिका', शीर्षक से दो अलग-अलग अध्याय हैं हिंदी की मार्क्सवादी आलोचना की इन प्रवृत्तियों पर 'आलोचना' पत्रिका के संदर्भ में उक्त अध्यायों में विस्तार से चर्चा की गई है। 'परंपरा के मूल्यांकन' संबंधी अध्याय में 'दूसरी परंपरा की खोज' का प्रश्न भी महत्वपूर्ण है जिसकी विस्तार से चर्चा की गई है; और उसके मार्क्सवादी परिप्रेक्ष्य का भी उद्घाटन किया गया है। इसलिए हिंदी आलोचना के परिप्रेक्ष्य में उठाए गए अन्य सवालों को यहाँ देखने का प्रयास किया गया है जिससे न सिर्फ हिंदी की मार्क्सवादी

आलोचना नवीनतर हुई है। बल्कि हिंदी आलोचना भी समृद्धतर भी हुई है।

ध्यातव्य है कि हिंदी की मार्क्सवादी समीक्षा पश्चिमी मार्क्सवादी कला-चिंतन और समीक्षा के समान सैद्धांतिक बहसों में प्रवृत्त नहीं हुई। मैनेजर पांडेय का मानना है कि “हिंदी की मार्क्सवादी आलोचना में सैद्धांतिक सवालों के बारे में महत्वपूर्ण आलोचकों के यहाँ जैसी अरुचि और उपेक्षा दिखाई देती है, वैसी मार्क्सवादी आलोचना की परंपरा में और कहीं नहीं मिलती।”¹⁰⁸ बल्कि वह व्यावहारिक समीक्षा से ही अधिकांशतः जुड़कर अपना स्वरूप खड़ा करती चली आ रही है बावजूद इसके “अभी भी हिंदी की मार्क्सवादी आलोचना का अपना कोई स्वतंत्र साहित्यशास्त्र निर्मित नहीं करती है।”¹⁰⁹

‘आलोचना’ पत्रिका ने समय-समय पर पश्चिमी मार्क्सवादी चिंतकों की सैद्धांतिक बहसों पर कई लेखों के अनुवाद; साक्षात्कार आदि प्रकाशित किए हैं। इस प्रकार ‘आलोचना’ पत्रिका ने हिंदी की मार्क्सवादी आलोचना के साहित्यशास्त्र निर्मित करने के प्रयास तो किए हैं जैसे त्रिलोचन के काव्य के मूल्यांकन के संदर्भ में नए काव्यशास्त्र की तीव्र आवश्यकता नामवर सिंह महसूस करते हैं। नवांक-82 के संपादकीय ही ‘एक नया काव्यशास्त्र त्रिलोचन के लिए’ शीर्षक लिखते हैं। बावजूद इसके हिंदी की मार्क्सवादी समीक्षा के स्वतंत्र साहित्यशास्त्र की कमी खटकती है। ‘आलोचना’ पत्रिका द्वारा पश्चिमी मार्क्सवादी चिंतकों की सैद्धांतिक मान्यताओं पर ढेर सारे-निबंध आदि प्रकाशित हैं, जिनका विवेचन इस अध्याय के आरंभ में किया जा चुका है, किंतु एक तरफ सैद्धांतिक चिंतन का बिल्कुल ही अभाव और दूसरी तरफ पश्चिमी चिंतन में उसकी प्रचुरता देखने को मिलती है। उसी पश्चिमी चिंतन के अनुकरण द्वारा उस अभाव की पूर्ति करने पर शिवकुमार मिश्र और मैनेजर पांडेय जैसे आलोचकों ने अपना आक्रोश व्यक्त किया है। मैनेजर पांडेय स्पष्ट करते हैं कि “सैद्धांतिक सवाल जिस सांस्कृतिक संदर्भ और व्यवहार से पैदा होते हैं, उसके भीतर से ही उनके उत्तर खोजने की कोशिश भी सार्थक होती है। आखिर यह कब तक चलेगा सवाल यहाँ

पैदा हो और उनके उत्तर जार्ज लूकाच वाल्टर बेंयामिन और अडोर्नो से मिलें।”¹¹⁰

शिवकुमार मिश्र उन सैद्धांतिक बहसों के अनुवाद-प्रकाशित करने के पीछे की दृष्टि को स्पष्ट करना चाहते हैं। उनकी मान्यता है कि “अन्स्ट फिशर, रेमंड विलियम्स आदि की अनेक मान्यताएँ अभी विवादास्पद हैं उन्हें ही मार्क्सवाद और मार्क्सवादी कला चिंतन की प्रामाणिक व्याख्या मानने से पहले हमें यह सोचना चाहिए कि वे जिस ज़मीन पर खड़े हैं क्या उस ज़मीन पर खड़े होकर हम मार्क्सवाद को ही तो संशोधित नहीं कर रहे हैं।”¹¹¹ स्पष्ट है कि हिंदी की मार्क्सवादी आलोचना में सैद्धांतिक चिंतन का अभाव दिखाई पड़ता है। यहाँ जो कुछ भी सैद्धांतिक बहस ‘कला और विचारधारा’ अथवा ‘कविता और राजनीति’, ‘रूप और वस्तु’ आदि मुद्दों पर पश्चिमी मार्क्सवादी चिंतन से हद दर्जे तक प्रभावित है। ‘कला और विचारधारा’ संबंधी हिंदी के मार्क्सवादी चिंतकों की बहस देखकर मैनेजर पांडेय ने अपना विक्षोभ शब्दों में प्रकट किया है “मार्क्सवादी साहित्य चिंतन का एक बुनियादी सवाल कला और विचारधारा के संबंध का है। इसके बारे में हिंदी में जितना भ्रम फैला हुआ है, उतना शायद ही कहीं मिले।”¹¹² इस प्रकार हिंदी की मार्क्सवादी आलोचना ने अपने चिंतन का आधार व्यावहारिक समीक्षा के धरातल पर खड़ा किया। ‘आलोचना’ पत्रिका ने ‘मुक्तिबोध’ के अतिरिक्त हिंदी की मार्क्सवादी आलोचना के केंद्र में जिन रचनाकारों को महत्वपूर्ण माना, जिससे मार्क्सवादी रचनाशीलता अपना विकास कर सकी उसमें ‘नागार्जुन’ और ‘त्रिलोचन’ के महत्व के विशेष रूप से रेखांकित कर सकी। उन्हें मार्क्सवादी समीक्षा के केंद्र में रखने का गंभीर प्रयास किया। इस संदर्भ में ‘आलोचना’ का नागार्जुन विशेषांक (नवांक-56-57) तथा ‘त्रिलोचन’ पर केंद्रित अंक (नवांक-82) दृष्टव्य है।

हिंदी की मार्क्सवादी आलोचना ने जिन मुद्दों पर अपना ध्यान केंद्रित किया है उसमें ‘साहित्य का इतिहास-लेखन और इतिहास दृष्टि’ प्रमुख बहस का मुद्दा है। ‘आलोचना’ पत्रिका में इस पक्ष में कई लेख प्रकाशित हैं। विशेषरूप से मैनेजर पांडेय के कई लेख आलोचना में धारावाहिक

रूप में प्रकाशित हैं जो उनकी पुस्तक 'साहित्य और इतिहास-दृष्टि' में संकलित हैं। उदाहरणस्वरूप नवांक-36 में प्रकाशित- 'साहित्य का इतिहास क्या है?' शीर्षक लेख तथा नवांक-37 में 'समकालीन इतिहास विरोधी साहित्य-चिंतन' प्रकाशित है। इसी अंक में लूसिऐं गोल्डमान के लेख का अनुवाद 'द्वंद्वात्मक भौतिकवाद और साहित्यिक इतिहास' प्रकाशित है। नवांक-38 में मैनेजर पांडेय का लेख 'संरचनावाद और साहित्य का इतिहास' दृष्टव्य है। नवांक-48 में प्रकाशित स्वातंत्र्योत्तर साहित्य के इतिहास-लेखन की समस्याएँ भी दृष्टव्य हैं इस प्रकार मार्क्सवादी आलोचना की नई प्रवृत्तियों में 'साहित्य के इतिहास लेखन' और मार्क्सवादी इतिहास-दृष्टि को महत्वपूर्ण प्रवृत्ति के रूप में देखा जा सकता है।

हिंदी के मार्क्सवादी आलोचकों ने 'प्रगतिशीलता की अवधारणा' पर समय-समय पर अपने विचार प्रकट किए हैं। मार्क्सवादी साहित्य-समीक्षा के प्रारंभिक चरण में भी 'प्रगतिशीलता' के स्वरूप को लेकर शिवदानसिंह चौहान और रामविलास शर्मा के बीच जमकर बहस चली थी। 'आलोचना' पत्रिका ने भी प्रगतिशीलता के स्वरूप को लेकर एक परिसंवाद का आयोजन किया। इस परिसंवाद का शीर्षक 'आज के युग में प्रगतिशीलता' था। इस संवाद में व्यक्त विचारों, लिखित आलेखों, टिप्पणियों को 'आलोचना' के नवांक-29 (अप्रैल-जून 1974 ई.) में संकलित किया गया है। इस विषय पर दो विचार गोष्ठियाँ हुई थीं। "विचारगोष्ठी का आरंभ श्री मुरलीमनोहर प्रसाद सिंह के लेख से हुआ। जिस पर विश्वनाथ त्रिपाठी, शिवमंगल सिद्धांतकार, गंगाप्रसाद विमल, सुरेंद्रनाथ तिवारी और भीष्म साहनी ने लिखित रूप में अपनी टिप्पणियाँ प्रस्तुत कीं तथा सर्वश्रीराजीव सक्सेना, शमशेरबहादुर सिंह, सुशील पचौरी, मोहम्मद हसन आदि ने मौखिक रूप से अपने विचार व्यक्त किए- डॉ. माहेश्वर और सुरेंद्र चौधरी ने भी लिखित विचार प्रस्तुत किए।"¹¹³

इस परिसंवाद में मुरलीमनोहरप्रसाद सिंह की उल्लेखनीय स्थापनाएँ निम्न हैं 1. यह जनवादी क्रांति का दौर है जिसका सारतत्व कृषिक्रांति है। 2. इस दौर का रचनात्मक लेखन अनेक

प्रकार के विरोधाभासों और सही-गलत रुझानों का संगम है। 3. इस दौर के लेखन की दिशा को स्पष्ट करने के लिए आज यह आवश्यक हो गया है कि प्रगतिशील आंदोलन की उन विशिष्टताओं को उभारकर रखा जाए जिनका संबंध हिंदुस्तान की क्रांति के भविष्य से है। इस दृष्टि से सन् 46-51 के बीच के दौर की कृषि क्रांति एवं उसकी परिपूरक शक्तियों के रूप में उभर रहे जनवादी संघर्षों के चित्रणों से भरी साहित्यिक निधि की रक्षा ज़रूरी है। 4. आज जनवादी क्रांति की वस्तुगत प्रक्रिया के विकास की नई मंजिल पर 'प्रगतिशीलता' का नारा अतीत की मोहासक्ति के अलावा कुछ नहीं है अतः पुराने ढंग के प्रगतिशील लेखक संघ को जीवित करने का नारा एक तरह का अतीतोन्मुख नारा है।¹¹⁴ इस प्रकार की प्रगतिशीलता के स्वरूप की अवधारणा के पीछे तत्कालीन नक्सलवादी विद्रोह तथा कृषि क्रांति आदि केंद्र में थे। जिसे जनवादी क्रांति के रूप में देखा गया है। लेखकों और रचनाकारों से उसकी पक्षधरता की बात की गई है। इसके अतिरिक्त प्रगतिशीलता का अर्थ वर्गीय पक्षधरता तथा जनता के साथ अनुभवों की साझेदारी को 'नया प्रोग्रेसिविज्म' माना माना गया है। इस संदर्भ में कुछ विचार-वक्तव्यों में 'मध्यवर्ग की भूमिका' को भी अत्यंत महत्वपूर्ण माना गया है। जनता से गहराई से जुड़ाव किस प्रकार से लेखकों का हो मूलतः किसान और मज़दूरों से इस पर कई वक्तव्यों में चिंता प्रकट की गई है।

इसीप्रकार प्रगतिशील लेखक संघ की पच्चासवीं वर्षगाँठ के उपलक्ष्य में 'आलोचना' पत्रिका ने प्रगतिशील साहित्य के स्वरूप, उसके निर्धारण एवं विकास में 'प्रगतिशील लेखक संघ' की निर्णायक भूमिका आदि के महत्व का प्रतिपादन किया गया है। इस अंक में तीन महत्वपूर्ण लेखों में प्रगतिशील साहित्य के स्वरूप का 1986 में क्या रूप हो इसे स्पष्ट किया गया है। जिसमें परमानंद श्रीवास्तव का एक लेख है-जो 'भारतीय साहित्य में प्रगतिशीलता की अवधारणा' शीर्षक से प्रकाशित है। मैनेजर पांडेय का लेख 'प्रगतिवाद का इतिहास या इतिहास कैसे न लिखें', तथा नामवर सिंह का लेख 'साहित्य में प्रगतिशील आंदोलन की ऐतिहासिक भूमिका' शीर्षक से प्रगतिशील लेखक

संघ पर केंद्रित अंकनवांक-77 (अप्रैल-जून 1986) में प्रकाशित है।

इसके अतिरिक्त मार्क्सवादी आलोचना को जीवंतता प्रदान करने वाले और भी महत्वपूर्ण अंक प्रस्तुत किए गए हैं जो यहाँ उल्लेखनीय हैं जिनमें एक लेनिन जन्मशती के उपलक्ष्य में केंद्रित लेनिन विशेषांक (नवांक-13 अप्रैल-जून, 1970) तथा कार्लमार्क्स की जन्मशती के उपलब्ध में प्रकाशित मार्क्स अंक (नवांक-70 जुलाई-सितं., 1984 ई0) भी महत्वपूर्ण अंक है। ध्यातव्य है कि इन अंकों के माध्यम से हिंदी की मार्क्सवादी आलोचना को अपने समय संदर्भ में तथा मार्क्सवादी चिंतन की दशा व दिशा देखा जा सकता है। चिंताओं और भावी नीतियों को भी इन अंकों में देखा जा सकता है।

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि 'आलोचना' पत्रिका में नामवर सिंह के संपादन में पश्चिमी और हिंदी की मार्क्सवादी आलोचना की नवीन बहसों को न केवल प्रस्तुत किया बल्कि उन नई बहसों से हिंदी जगत को पूरी संलग्नता व तत्परता से परिचित कराया और हिंदी आलोचना को समृद्ध किया उसके अध्ययन के नवीन आयाम जोड़े। इस प्रकार नामवर सिंह संपादित 'आलोचना' पत्रिका ने मार्क्सवादी आलोचना की नई बहसों से हिंदी पाठकों को परिचित कराया, बल्कि मार्क्सवादी आलोचना की उन बहसों को प्रस्तुत करने का माध्यम बनी। हिंदी में मार्क्सवादी आलोचना के नवीन आधार दिए, जिससे हिंदी आलोचना के विकास में अन्यतम सहायता मिली। हिंदी की मार्क्सवादी आलोचना के इतिहास में नामवर सिंह संपादित 'आलोचना' पत्रिका के ऐतिहासिक महत्त्व को भविष्य में सदैव रेखांकित किया जाता रहेगा।

संदर्भ :

1. नामवर सिंह की मार्क्सवादी चिंतन में आस्था पर संदेह नहीं किया जा सकता है, किंतु 'घोषित रूप से मार्क्सवाद में आस्था' हेतु इस संदर्भ की आवश्यकता है। इसके लिए उनका आत्मकथ्य जो 'तद्भव' पत्रिका में प्रकाशित हुआ था, उसे देखना चाहिए। अखिलेश. सपां. 'तद्भव' (02) सितंबर- 1999.
उन्हें मार्क्सवादी आलोचना का प्रमुख स्तंभ सभी ने स्वीकार किया है उदाहरण के लिए नंदकिशोर नवल की पुस्तक 'हिंदी आलोचना का विकास', 'मधुरेश-हिंदी आलोचना का विकास'; 'विश्वनाथ त्रिपाठी-हिंदी आलोचना; आदि पुस्तकें दृष्टव्य हैं।
2. शिवदानसिंह चौहान को हिंदी की मार्क्सवादी आलोचना के प्रथम पुरस्कर्ता के रूप देखे जाने का आधार 'विशाल भारत' 1937 ई. में प्रकाशित उनका लेख 'भारत में प्रगतिशील साहित्य की आवश्यकता' है। जिसे 'सितंबर- 1936 ई. में इलाहबाद में 'हिंदुस्तानी लेखक सम्मेलन' में पढ़ा गया था। अधिक जानकारी के लिए देखें मधुरेश जी की पुस्तक 'मार्क्सवादी आलोचना और शिवदान सिंह चौहान' पंचकूला: आधार प्रकाशन, 2011.
'आलोचना' पत्रिका का नंवांक- 77 (अप्रैल-जून-1986 ई.) (संपादक- नामवर सिंह) इस अंक में शिवदान सिंह चौहान पर पुरुषोत्तम अग्रवाल का लेख, और शिवदान सिंह चौहान का वक्तव्य 'सिंहावलोकन' भी देख सकते हैं।
3. 'विजयदेवनारायण साही' 'धर्मवीर भारती', 'ब्रजेश्वर वर्मा', 'रघुवंश' के संपादकीय मंडल ने 'आलोचना' पत्रिका का संपादन किया है। इनके यहाँ अस्तित्ववादी साहित्य चिंतन, कलावादी चिंतन तथा व्यक्तिवादी दृष्टिकोण की पक्षधरता रही है। इन्होंने मार्क्सवादी चिंतन को साहित्य की साहित्यिकता एवं स्वायत्तता के लिए खतरे के रूप देखा है।
इनके अतिरिक्त नंददुलारे वाजपेयी भी कुछ समय के लिए 'आलोचना' के संपादक रहे हैं। जिन्हें हिंदी आलोचना में मूलतः सौष्ठववादी/स्वच्छंदतावादी आलोचक के रूप में देखा जाता है।
4. डेविड एन. मार्गोलीज ने अपने लेख 'काडवेल और साहित्य की सामाजिक वृत्ति' में जार्ज थामसन के हवाले से अंग्रेजी साहित्य-चिंतन और समीक्षा में मार्क्सवादी सिद्धांतों को लागू करनेवाला प्रथम मार्क्सवादी चिंतक कहा है। इसके अतिरिक्त इस लेख में मार्क्सवादी अवधारणाओं एवं चिंतन को साहित्य में लागू करने का कार्य चौथे दशक से ही हुआ है, इसे स्पष्ट करते हैं।

- दृष्टव्य:- विश्वनाथ त्रिपाठी. 'आलोचना', (नवांक-13) अप्रैल-जून, 1970, पृ. सं. 30-36.
5. संदर्भ संख्या- दो देखें। इसके अतिरिक्त मार्क्सवादी विचारधारा एवं चिंतन को हिंदी में व्यवस्थित रूप से लागू करने का काम चौथे दशक में ही देखा जा सकता है। प्रगतिशील लेखक संघ में अधिकांश संस्थापक सदस्य मार्क्सवादी चिंतक थे, जिन्होंने साहित्य में मार्क्सवादी चिंतन को लागू करने का प्रयास किया।
 6. दृष्टव्य-संदर्भ संख्या. 04. डेविड एन. मार्गोलीज काडवेल की समीक्षा के संदर्भ में इस लेख में चौथे दशक की अंग्रेजी की मार्क्सवादी आलोचना की स्थिति को विस्तृत अध्ययन प्रस्तुत करते हैं।
 7. मार्गोलीज, डेविड. एन. "काडवेल और साहित्य की सामाजिक वृत्ति." अनु-विश्वनाथ त्रिपाठी. 'आलोचना' (नवांक-13) अप्रैल-जून, 1970: पृ. सं. 35.
 8. वही. पृ. सं. 35.
 9. वही. पृ. सं. 35.
 10. वही. पृ. सं. 34.
 11. वही. पृ. सं. 35.
 12. वही. पृ. सं. 35 के मतों से यही धारणा स्पष्ट होती है।
 13. विलियम्स, रेमंड. "साहित्य और समाजशास्त्र" अनु. रामकृपाल पांडे. 'आलोचना' (नवांक-25) अप्रैल-जून, 1973: पृ. सं. 31.
 14. वही. पृ. सं. 31.
 15. लूकाच, जार्ज. साक्षात्कार, "जार्ज लूकाच से एक भेंट" अनु. प्रज्ञ. न्यू-लेफ्ट रिव्यू- 60 से साभार. 'आलोचना' (नवांक-14) जुलाई-सितं, 1970: पृ. सं. 53.
 16. सिंह, नामवर. संपादकीय. "मार्क्सवाद का सर्जनात्मक विकास", 'आलोचना' (नवांक-03) अक्टू. दिसं., 1967: पृ. सं. 01.
 17. वही. पृ. सं. 01.
 18. वही. पृ. सं. 01-02.
 19. रैना, मोतीलाल. "मार्क्सवादी समीक्षा: समसामयिक परिदृश्य पर कुछ टिप्पणियाँ". 'आलोचना' (नवांक-42) जुलाई-सितं., 1977, पृ. सं. 84.

20. सिंह, नामवर. संपादकीय. 'आलोचना' (नवांक-03) अक्टू-दिसं., 1967: पृ. सं. 01.
21. सिंह, नामवर. साक्षात्कार, "विवेक की पक्षधरता". साक्षात्कारकर्ता- अशोक वाजपेयी, सुदीप बनर्जी, और उदय प्रकाश. संकलित 'कहना न होगा: संपा. समीक्षा ठाकुर. नई दिल्ली: वाणी प्रकाशन, 1994. पृ. सं. 29.
22. वही. पृ. सं. 21.
23. दृष्टव्य-मैनेजर पांडेय की पुस्तक-साहित्य के समाजशास्त्र की भूमिका का अध्याय तीन - का भाग - एक-"इपालित अडोल्फ तेन का साहित्य का समाजशास्त्र: साहित्य समाज का दर्पण है।" पृ. सं. 115-131 तक. पांडेय, मैनेजर. साहित्य के समाजशास्त्र की भूमिका. चंडीगढ़: हरियाणा साहित्य अकादमी. 1989.
24. द्वारा उद्धृत मार्क्स का विचार डेविड. एन भार्गोलीज़. "काडवेल और साहित्य की सामाजिक वृत्ति". अनु. विश्वनाथ त्रिपाठी. 'आलोचना' (नवांक-13) अप्रैल-जून, 1970: पृ. सं. 31-32.
25. वही. पृ. सं. 35.
26. वही. पृ. सं. 32.
27. वही. पृ. सं. 32.
28. वही. पृ. सं. 32.
29. वही. पृ. सं. 32.
30. वही. पृ. सं. 33.
31. सिंह, नामवर. संपादकीय, "जार्ज लूकाच". 'आलोचना' (नवांक-18) जुलाई-सितं., 1971: पृ. सं. 07.
32. लूकाच, जार्ज. "कला और वस्तुपरक सत्य". अनु. कमलेश. 'आलोचना' (नवांक-18) जुलाई-सितं.; 1971: पृ. सं. 28.
33. अलखनारायण. "जार्ज लूकाच: समकालीन यथार्थ, प्रतिफलन के तत्व और परिदृश्यबोध". 'आलोचना' (नवांक-30) जुलाई-सितं., 1974. पृ. सं. 13 पर इस मत को और स्पष्ट ढंग से देखा जा सकता है।
34. विलियम्स, रेमंड. "साहित्य और समाजशास्त्र". अनु. रामकृपाल पांडे. 'आलोचना' (नवांक-25) अप्रैल-जून, 1973: पृ. सं. 34.

35. वही. पृ. सं. 34.
36. वही. पृ. सं. 35.
37. गोल्डमान, लुसिऐ. "द्वंद्वात्मक भौतिकवाद और साहित्यिक इतिहास". अनु. कुलदीप कुमार. 'आलोचना' (नवांक-37) अप्रैल-जून, 1976: पृ. सं. 13.
38. विलियम्स, रेमंड. "साहित्य और समाजशास्त्र". अनु. रामकृपाल पांडे. 'आलोचना' (नवांक-25) अप्रैल-जून 1973: पृ. सं. 35.
39. गोल्डमान, लुसिऐ. "द्वंद्वात्मक भौतिकवाद और साहित्यिक इतिहास", अनु. कुलदीप कुमार. 'आलोचना' (नवांक-37) अप्रैल-जून, 1976: पृ. सं. 13.
40. विलियम्स, रेमंड. "साहित्य और समाजशास्त्र". अनु. रामकृपाल पांडे. 'आलोचना' (नवांक-25) अप्रैल-जून, 1973: पृ. सं. 36.
41. सिंह, नामवर. संपादकीय. 'आलोचना' (नवांक-31) अक्टू-दिसं, 1974: पृ. सं. 03.
42. वही. पृ. सं. 03.
43. विलियम्स, रेमंड. "संस्कृति के मार्क्सिय सिद्धांत में आधार और ऊपरी ढाँचें की सार्थकता". अनु. मैनेजर पांडे, दिनेशचंद्र शर्मा 'आलोचना' (नवांक-31) अक्टू-दिसं. 1974: पृ. सं. 13-14.
44. वही. पृ. सं. 14.
45. मार्गोलीज, डेविड. एन. "काडवेल और साहित्य की सामाजिक वृत्ति" अनु. विश्वनाथ त्रिपाठी. 'आलोचना' (नवांक-13) अप्रैल-जून 1970: पृ. सं. 33.
46. विलियम्स, रेमंड. "संस्कृति के मार्क्सिय सिद्धांत में आधार और ऊपरी ढाँचें की सार्थकता", अनु. मैनेजर पांडे, दिनेशचंद्र शर्मा 'आलोचना' (नवांक-31) अक्टू-दिसं. 1974: पृ. सं. 05.
47. वही. पृ. सं. 05.
48. सिंह, नामवर. संपादकीय. 'आलोचना' (नवांक-31) अक्टू-दिसं. 1974: पृ. सं. 01.
49. विलियम्स, रेमंड. "संस्कृति के मार्क्सिय सिद्धांत में आधार और ऊपरी ढाँचें की सार्थकता". अनु. मैनेजर पांडे, दिनेशचंद्र शर्मा 'आलोचना' (नवांक-31) अक्टू-दिसं, 1974: पृ. सं. 06.
50. फिशर, अन्स्ट. "कला और सैद्धांतिक बाह्य संरचना" अनु. प्रेमेंद्र. 'आलोचना' (नवांक-07) अक्टू-दिसं, 1967: पृ. सं. 36.
51. वही. पृ. सं. 37.
52. सिंह, नामवर. संपादकीय. 'आलोचना' (नवांक-31) अक्टू-दिसं, 1974: पृ. सं. 01.

53. वही. पृ. सं. 01.
54. विलियम्स, रेमंड. "संस्कृति के मार्क्सिय सिद्धांत में आधार और ऊपरी ढाँचों की सार्थकता". अनु. मैनेजर पांडेय, दिनेशचंद्र शर्मा 'आलोचना' (नवांक-31) अक्टू-दिसं, 1974: पृ. सं. 05.
55. विलियम्स, रेमंड. "साहित्य और समाजशास्त्र". अनु. रामकृपाल पांडे. 'आलोचना' (नवांक-25) अप्रैल-जून, 1973: पृ. सं. 32
56. विलियम्स, रेमंड, "संस्कृति के मार्क्सिय सिद्धांत में आधार और ऊपरी ढाँचों की सार्थकता". अनु. मैनेजर पांडेय, दिनेशचंद्र शर्मा 'आलोचना' अक्टू-दिसं, 1974: पृ. सं. 07.
57. वही. पृ. सं. 07.
58. मेघ, रमेशकुंतल. "इंसान की विमुक्ति तथा कला की अनिवार्यता". 'आलोचना' (नवांक-13) अप्रैल-जून, 1970: पृ. सं. 98.
59. विलियम्स, रेमंड. "संस्कृति के मार्क्सिय सिद्धांत में आधार और ऊपरी ढाँचों की सार्थकता". अनु. मैनेजर पांडेय, दिनेशचंद्र शर्मा 'आलोचना' अक्टू-दिसं, 1974: पृ. सं. 08.
60. वही. पृ. सं. 09.
61. अर्न्स्ट फिशर द्वारा उद्धृत- 'सोशल डेमोक्रेटिक' पार्टी के एक अधिकारी का ग्यारहवें प्लेनम के समय भाषण- अंश: अर्न्स्टफिशर "पार्टी, साहित्य और समाजवाद", अनु. मुरलीमनोहरप्रसाद सिंह 'आलोचना' (नवांक-13) अप्रैल-जून, 1970: पृ. सं. 43-44.
62. फॉक्स, राल्फ. उपन्यास और लोकजीवन. 1957 अनु. नरोत्तम नागर. चौथा संस्करण. नई दिल्ली: पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस, फरवरी-2008. पृ. सं. 149.
63. वही. पृ. सं. 155.
64. फिशर, अर्न्स्ट, "पार्टी, साहित्य और समाजवाद" अनु. मुरलीमनोहरप्रसाद सिंह. 'आलोचना' (नवांक-13) अप्रैल-जून, 1970: पृ. सं. 44.
65. वही. पृ. सं. 44.
66. वही. पृ. सं. 44.
67. वही. पृ. सं. 44.
68. वही. पृ. सं. 47.
69. मारकूस, हर्बर्ट, "कला और क्रांति". 'आलोचना' (नवांक-21) अप्रैल-जून, 1972: पृ. सं. 76.
70. वही. पृ. सं. 76.

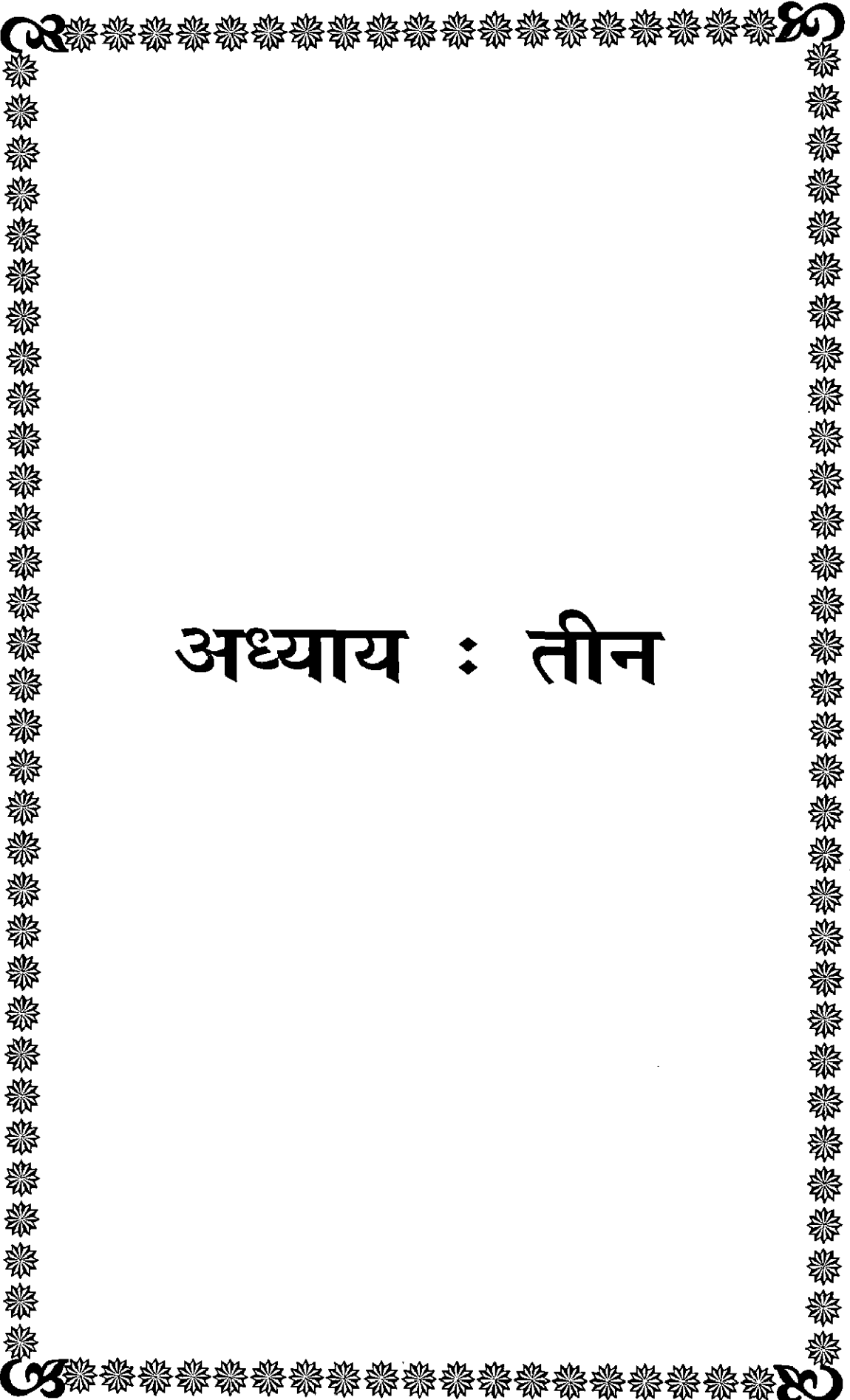
71. वही. पृ. सं. 77.
72. नीलकांत "लूथुन का साहित्य: एक तुर्यनाद" 'आलोचना' (नवांक-58) जुलाई-सितं, 1981: पृ. सं. 45.
73. वही. पृ. सं. 45.
74. चतुर्वेदी, जगदीश्वर. मार्क्सवाद और आधुनिक हिंदी कविता. नई दिल्ली: राधा पब्लिकेशंस, 1994 पृ. सं. 153.
75. लेनिन का मत, अन्स्ट फिशर द्वारा उद्धृत. "पार्टी, साहित्य और समाजवाद", अनु. मुरली मनोहर प्रसाद सिंह. 'आलोचना' (नवांक-13) अप्रैल-जून, 1970: पृ. सं. 46 पर.
76. वही. पृ. सं. 47 पर लेनिन का मत उद्धृत.
77. फिशर, अन्स्ट. का मत वही. पृ. सं. 47.
78. गारोदी, रोजर, "यथार्थ, मिथक और सृजनशीलता". अनु. विनोद खुराना. 'आलोचना' (नवांक-13) अप्रैल-जून, 1970: पृ. सं. 40.
79. वही. पृ. सं. 40.
80. रैना, मोतीलाल, "मार्क्सवादी समीक्षा: समसामयिक परिदृश्य पर कुछ टिप्पणियाँ". 'आलोचना' (नवांक-42) जुलाई-सितं, 1977: पृ. सं. 85.
81. वही. पृ. सं. 87.
82. वही. पृ. सं. 87.
83. वही. पृ. सं. 88.
84. वही. पृ. सं. 88.
85. चौहान, शिवदान सिंह. साहित्यानुशीलन. दिल्ली: आत्माराम एंड संस, 1955. पृ. सं. 11.
86. चतुर्वेदी, जगदीश्वर. मार्क्सवाद और आधुनिक हिंदी कविता. नई दिल्ली: राधा पब्लिकेशंस, 1994 पृ. सं. 163.
87. अलखनारायण. "जार्ज लूकाच: समकालीन यथार्थ, प्रतिफलन के तत्व और परिदृश्य बोध". 'आलोचना' (नवांक-30) जुलाई-सितं., 1974
इस लेख में उन्होंने आरंभिक मार्क्स की मान्यताओं को भी स्पष्ट किया है।
88. वही. पृ. सं. 18.
89. वही. पृ. सं. 18.

90. वही. पृ. सं. 19.
91. विलियम्स, रेमंड. "साहित्य और समाजशास्त्र". अनु. रामकृपाल पांडे. 'आलोचना' (नवांक-25) अप्रैल-जून, 1973: पृ. सं. 35.
92. सिंह, नामवर. आलोचना और विचारधारा. संपा. आशीष त्रिपाठी. नई दिल्ली: राजकमल प्रकाशन, 2012. पृ. सं. 74.
93. वही. पृ. सं. 63.
94. विलियम्स, रेमंड. "संस्कृति के मार्क्सिय सिद्धांत में आधार और ऊपरी ढाँचों की सार्थकता". अनु. मैनेजर पांडेय, दिनेशचंद्र शर्मा 'आलोचना' (नवांक-31) अक्टू-दिसं, 1974: पृ. सं. 15.
95. वही. पृ. सं. 16.
96. सन् 1936 के पूर्व 1914 में प्रकाशित- श्री जनार्दन भट्ट का 'हमारे गरीब किसान एवं मज़दूर' शीर्षक लेख 'सरस्वती' में प्रकाशित हुआ था. जनेश्वर वर्मा अपने शोधकार्य 'हिंदी काव्य में मार्क्सवादी चेतना' में इसी लेख से हिंदी में मार्क्सवादी समीक्षा की शुरुआत मानते हैं। द्वारा उद्धृत, जगदीश्वर चतुर्वेदी. मार्क्सवाद और आधुनिक हिंदी कविता. नई दिल्ली: राधा पब्लिकेशंस, 1994. पृ. सं. 52-53.
रेखा अवस्थी अपने शोधकार्य 'प्रगतिवाद और समानांतर साहित्य' में मार्क्सवादी समीक्षा की शुरुआत 1930 के दशक से ही मानती हैं। देखें- रेखा अवस्थी. प्रगतिवाद और समानांतर साहित्य. नई दिल्ली: मैकमिलन, 1978.
97. आशुतोष कुमार. समकालीन कविता और मार्क्सवाद. दिल्ली: शिल्पायन, 2010 भूमिका से उद्धृत.
98. चतुर्वेदी, जगदीश्वर. मार्क्सवाद और आधुनिक हिंदी कविता. नई दिल्ली: राधा पब्लिकेशंस, 1994. पृ. सं. 51-52.
99. मधुरेश. हिंदी आलोचना का विकास. इलाहबाद: सुमित प्रकाशन, 2004. पृ. सं. 142.
100. वही. पृ. सं. 143.
101. अवस्थी, रेखा. प्रगतिवाद और समानांतर साहित्य. नई दिल्ली: मैकमिलन, 1978. पृ. सं. 76.
102. दृष्टव्य, प्रदीप सक्सेना का लेख. "अर्थात् मार्क्सवादी आलोचना के उन भूले-बिसरे पन्नों पर ऐसा क्या लिखा है?" संपा. प्रदीप सक्सेना. 'पहल' (मार्क्सवादी आलोचना पर केंद्रित अंक) अप्रैल-जून, 2000: पृ. सं. 287-311.

103. दृष्टव्य, रेखा. अवस्थी की पुस्तक, प्रगतिवाद और समानांतर साहित्य. का आरंभिक अध्यायजिसमें उन्होंने देश विभाजन के संदर्भ में मार्क्सवादी चिंतकों की राय को प्रस्तुत किया है।
104. दृष्टव्यमार्क्सवादी आलोचना की तीन प्रारंभिक कृतियाँ
 रामविलास शर्माप्रगतिशील साहित्य की समस्याएँ (1952 ई.)
 शिवदान सिंह चौहानसाहित्य की समस्याएँ (1959 ई.)
 रांगेय राघवप्रगतिशील साहित्य के मानदंड (1954 ई.)
 ध्यातव्य है कि इन पुस्तकों के प्रथम संस्करण ही देखें जाएँ। तब मार्क्सवादी आलोचना की प्रारंभिक स्थिति स्पष्ट होगी।
105. शर्मा, रामविलास. प्रगतिशील साहित्य की समस्याएँ. आगरा: विनोद पुस्तक मंदिर, 1954. पृ. सं. 116.
106. दृष्टव्य: संदर्भ संख्या-15 का उद्धरण
107. पांडेय, मैनेजर. "हिंदी की मार्क्सवादी आलोचना. कितनी मार्क्सवादी कितनी आलोचना." 'आलोचना' (नवांक-86) जुलाई-सितं, 1988: पृ. सं. 12.
108. वही. पृ. सं. 13.
109. वही. पृ. सं. 14.
110. वही. पृ. सं. 14.
111. मिश्र, शिवकुमार. "मार्क्सवादी आलोचना की समस्याएँ: हिंदी आलोचना के संदर्भ में". 'आलोचना' (नवांक-70) जुलाई-सितं. 1984. पृ. सं. 50.
112. पांडेय, मैनेजर. "हिंदी की मार्क्सवादी आलोचना. कितनी मार्क्सवादी कितनी आलोचना." 'आलोचना' (नवांक-86) जुलाई-सितं. 1988: पृ. सं. 14.
113. संपादकीय टिप्पणी 'आलोचना' (नवांक-29) अप्रैल-जून 1974: पृ. सं. 08 पर लिखित रूप में प्रकाशित।
114. मुरलीमनोहर प्रसाद सिंह के विषय-प्रवर्तन की प्रमुख मान्यताएँ हैं आज की स्थिति में प्रगतिशीलता (संवाद) 'आलोचना' (नवांक-29) अप्रैल-जून, 1974; पृ. सं. 08.



अध्याय : दो



अध्याय : तीन

अध्याय : तीन

परंपरा का मूल्यांकन और 'आलोचना' पत्रिका

3.1 परंपरा के मूल्यांकन संबंधी अध्ययन की दशा और दिशा

हिंदी आलोचना की प्रमुख बहसों में 'परंपरा के मूल्यांकन' को सबसे ज्वलंत एवं विचारोत्तेजक बहस के रूप में देखा जा सकता है। इसका प्रमाण डॉ० रामविलास शर्मा के 'परंपरा का मूल्यांकन' नामक पुस्तक में देखा जा सकता है। वहीं दूसरी तरफ, डॉ० नामवर सिंह की महत्वपूर्ण पुस्तक 'दूसरी परंपरा की खोज' से भी उपर्युक्त मत की पुष्टि होती है।

हिंदी आलोचना में अपनी परंपरा के अन्वेषण की प्रवृत्ति उसके आविर्भाव से ही दिखाई पड़ने लगती है किंतु 'परंपरा के मूल्यांकन' संबंधी इसे प्रारंभिक प्रवृत्ति को मार्क्सवादी आलोचना के प्रादुर्भाव ने तीव्रता प्रदान की। ज्ञातव्य है कि हिंदी की मार्क्सवादी आलोचना का सूत्रपात 1935-36 में स्थापित प्रगतिशील लेखक संघ (लंदन और लखनऊ) की स्थापना के बाद ही व्यवस्थित ढंग से होता है।¹ किंतु इसके घोषणा-पत्र में कुछ ऐसी मान्यताएँ थीं, जिनमें यह कहा गया था कि 'भारतीय साहित्य पुरानी सभ्यता के नष्ट हो जाने के बाद से, जीवन की यथार्थताओं से भागकर उपासना और भक्ति की शरण में जा छुपा है। नतीजा यह हुआ है वह निस्तेज और निष्प्राण हो गया है, रूप में भी और अर्थ में भी। आज हमारे साहित्य में भक्ति और वैराग्य की भरमार हो गई है। भावुकता का ही प्रदर्शन हो रहा है, विचार और बुद्धि का एक प्रकार से बहिष्कार कर दिया गया है। पिछली दो सदियों में विशेषकर इसी तरह का साहित्य रचा गया है, जो हमारे साहित्य का लज्जास्पद काल है।'² इस मत ने यह ध्वनित किया कि प्रगतिशील लेखक संघ अपनी परंपराओं का निषेध करता है। इसके अतिरिक्त इसी घोषणा-पत्र की मान्यताओं से प्रेरित होकर और मार्क्सवादी सिद्धांतों को लागू करते हुए शिवदान सिंह चौहान ने 1936-37 ई. में 'भारत में प्रगतिशील साहित्य

की आवश्यकता' शीर्षक महत्वपूर्ण लेख लिखा। प्रगतिशील लेखक संघ की घोषणा-पत्र के अंश और शिवदान सिंह चौहान के लेख के कुछ अंशों में अपनी परंपरा के प्रति घोर आलोचनात्मक मानदंड अपनाया गया था। घोषणा-पत्र और उक्त लेख में व्यक्त परंपरा संबंधी, साहित्य के इतिहास संबंधी मान्यताओं को लेकर कटु आलोचना हुई। इन परंपरा संबंधी सरलीकृत एवं यांत्रिक मान्यताओं की तीव्र आलोचना के कारण उनके अन्य महत्वपूर्ण पक्षों की ओर ध्यान ही नहीं दिया गया।

बावजूद इसके इस सामग्री ने "हिंदी आलोचना में परंपरा के विषय में एक ऐसे गंभीर बहस की शुरुआत कर दी जो आज सदी के बदल जाने के बाद भी जारी है।"³ हिंदी आलोचना की प्रगतिशील आलोचना द्वारा इस महत्वपूर्ण मुद्दे को न सिर्फ शुरुआत के लिए उठाया गया बल्कि बाकायदे एक गंभीर बहस भी चलाई गई कि अपनी 'परंपरा का मूल्यांकन' कैसे किया जाए? ध्यान देने की बात है कि प्रगतिशील लेखक संघ का घोषणा-पत्र और उक्त लेख के पूर्व अपनी परंपरा को लेकर इस प्रकार के प्रश्न खड़े तो हुए, उनसे अपनी 'जातीय स्मृति' की पहचान की बात भी उठी थी, जिसमें कभी कहा गया था कि 'हम कौन थे, क्या थे, क्या हो गए हैं? अतः अपने इतिहास एवं परंपरा का तो स्पष्ट बोध था। उसकी खोज का प्रश्न अपनी परंपरा की जातीय स्मृति से गहरा संबंध जोड़कर उन्नीसवीं शताब्दी में शुरू हुआ। विशेषकर 1850 ई. के बाद इस परंपरा की खोज का प्रश्न बड़ी गंभीरता से उठाया गया। इस प्रकार उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में अपनी 'अस्मिता की पहचान के लिए औपनिवेशिक शासन सत्ता तथा औपनिवेशिक सांस्कृतिक नीति के बरक्स जिस, 'परंपरा की खोज' हुई, बीसवीं शताब्दी में आकर उसके मूल्यांकन का प्रश्न खड़ा हुआ। आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी और आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने न सिर्फ अपनी 'परंपरा की खोज' की बल्कि 'परंपरा मूल्यांकन' में अपनी महत्वपूर्ण भागीदारी भी दी। जिसकी स्वाभाविक परिणति आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी द्वारा संपादित पत्रिका 'सरस्वती'⁴ और आचार्य रामचंद्र शुक्ल का 'हिंदी साहित्य का इतिहास' है, जिसमें शुक्लजी ने भक्तिकाल, तुलसीदास, जायसी, और सूरदास

को अपनी परंपरा का महत्वपूर्ण स्तम्भ बताया और भारतेंदु युग की महत्ता का प्रतिपादन भी किया।

किंतु मार्क्सवादी चिंतन-पद्धति में जिस वैज्ञानिक चिंतन एवं भौतिकवादी पद्धति, समाजवादी समाज की बात की गई थी उसके सम्मुख परंपरा के मूल्यांकन का प्रश्न नए सिरे से खड़ा हुआ। मार्क्सवादी चिंतन और उसकी मान्यताओं के परिप्रेक्ष्य में 'परंपरा के मूल्यांकन का प्रश्न अन्य उद्देश्यों से युक्त था। जिसमें से महत्वपूर्ण प्रश्न यह था कि 'समाजवादी व्यवस्था में परंपरा का क्या स्थान है? समाजवादी व्यवस्था में अपने प्राचीन अतीत, और उससे निसृत मूल्यों को किस रूप में देखा जाएगा? उस व्यवस्था उन परंपराओं, मूल्यों का कोई महत्व रहेगा या नहीं जो सामंती समाज अथवा पूँजीवादी समाज की देन रही है?? इसके अतिरिक्त पुराने समाज की परंपराओं और मान्यताओं का कोई प्रगतिशील पक्ष भी होता है अथवा नहीं?? ये प्रश्न आरंभिक मार्क्सवादी चिंतकों-आलोचकों के बीच गंभीर मुद्दों के रूप में उपस्थित हुए, जिन पर जमकर बहस हुई और जिन्हें 'परंपरा के मूल्यांकन' के संबंधी बहस के रूप चिह्नित किया जाता है। चूँकि परंपरा के मूल्यांकन के प्रश्न-संबंधी बहस मार्क्सवादी चिंतकों के बीच सैद्धांतिक बहस के रूप में उठाई गई थी, अतः इस प्रश्न को प्रायः मार्क्सवादी चिंतकों समीक्षकों के बीच उठे विवाद से ही संबद्ध करके देखा जाता है। महत्वपूर्ण तथ्य यह है कि 'परंपरा के मूल्यांकन' का प्रश्न जिस प्रकार मार्क्सवादी समीक्षकों-चिंतकों के बीच उठा था, उस पर बहस भी इन्हीं चिंतकों ने बड़ी गंभीरता से की है। नामवर सिंह के शब्दों में कहा जा सकता है कि "हिंदी में यह उल्लेखनीय बात है कि इस परंपरा को खोजने ढूँढने और उससे अपने आपको जोड़ने का काम गैर-मार्क्सवादी आलोचकों की अपेक्षा मार्क्सवादी आलोचकों ने ज़्यादा किया है। इसका श्रेय सबसे ज़्यादा डॉ० रामविलास शर्मा को दिया जाना चाहिए।"⁵

इस प्रकार स्पष्ट है कि मार्क्सवादी चिंतन और "प्रगतिवादी आलोचना के आगे सबसे पहला और महत्वपूर्ण सवाल यही था कि अपनी सांस्कृतिक-साहित्यिक विरासत के प्रति इस आलोचना का

क्या सुलूक होना चाहिए??”⁶ अतः मार्क्सवादी चिंतन एवं दर्शन के संदर्भ में ‘परंपरा के मूल्यांकन’ संबंधी बहस की वस्तुस्थिति को स्पष्ट कराते हुए मधुरेश लिखते हैं कि “पाँचवें और छठे दशकों में परंपरा के मूल्यांकन का सवाल हिंदी की प्रगतिवादी आलोचना का सबसे जटिल सवाल था। इस मुद्दे पर आलोचकों की दृष्टि बहुत साफ न होने से हिंदी की प्रगतिवादी आलोचना की प्रकृति शुरू से कुछ अधिक पोलेमिकल बनती गई। तुलसीदास और आचार्य शुक्ल विशेष रूप से इस लंबी धारावाहिक बहस के केंद्र में दिखाई देते हैं। चूँकि ‘कबीर’ और ‘हिंदी साहित्य की भूमिका’ में हजारीप्रसाद द्विवेदी शुक्ल जी की सामान्य पद्धति और अनेक निष्कर्षों से अपनी असहमति प्रकट कर चुके थे, रामविलास शर्मा शुक्लजी के समर्थन में द्विवेदीजी की अनेक स्थापनाओं का भी उग्र विरोध करते हैं। आगे चलकर नामवर सिंह और द्विवेदीजी के अनेक शिष्यों-समर्थकों द्वारा उनके समर्थन के कारण जैसे आचार्य शुक्ल और आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी दो परस्पर शिविरों में बँट जाते हैं। यह विवाद नामवर सिंह की ‘दूसरी परंपरा की खोज’ (1982 ई.) और रामविलास शर्मा की ‘लोकजागरण और हिंदी साहित्य (1984) और ‘हिंदी जाति का इतिहास’ (1986)”⁷ और उसके आगे भी दिखाई पड़ता है। इस प्रकार स्पष्ट है कि “साहित्य की परंपरा के मूल्यांकन की समस्या आलोचना की महत्वपूर्ण समस्या है।... मार्क्सवादी आलोचना के लिए वह विशेष रूप से महत्वपूर्ण है।”⁸ डॉ० रामविलास शर्मा ‘परंपरा के मूल्यांकन’ को ‘ऐतिहासिक भौतिकवाद’ और ‘समाजवादी व्यवस्था’ के संदर्भ में व्याख्यायित करते हैं और अपनी पुस्तक ‘परंपरा के मूल्यांकन’ में स्पष्ट करते हैं कि “जो महत्व ऐतिहासिक भौतिकवादी के लिए इतिहास का है वही आलोचना के लिए साहित्य की परंपरा का है। इतिहास के ज्ञान से ही ऐतिहासिक भौतिकवाद का विकास होता है, साहित्य की परंपरा के ज्ञान से ही प्रगतिशील आलोचना का विकास होता है।”⁹ साहित्य की परंपरा के ज्ञान से “साहित्य की धारा मोड़ी जा सकती है और नए प्रगतिशील साहित्य का निर्माण किया जा सकता है।”¹⁰ इस प्रकार “प्रगतिशील आलोचना किन्हीं अमूर्त सिद्धांतों का संकलन नहीं है, वह साहित्य

की परंपरा का मूर्तज्ञान है। और यह ज्ञान उतना ही विकासमान है जितना साहित्य की परंपरा।”¹¹ साहित्य की परंपरा के मूल्यांकन के महत्व को रेखांकित करते हुए डॉ० रामविलास शर्मा कहते हैं कि “किसी भी बहुजातीय राष्ट्र के सामाजिक विकास में कवियों की ऐसी निर्णायक भूमिका नहीं रही, जैसी इस देश में व्यास और वाल्मीकि की है। इसलिए किसी भी देश के लिए साहित्य की परंपरा का मूल्यांकन उतना महत्वपूर्ण नहीं है जितना इस देश के लिए।”¹²

साहित्य की ‘परंपरा का मूल्यांकन’ न केवल हिंदी साहित्य के संदर्भ में महत्वपूर्ण है बल्कि संपूर्ण भारतीय साहित्य के परिप्रेक्ष्य में उसका मूल्यांकन होना चाहिए। डॉ० रामविलास शर्मा संस्कृति और परंपरा का समाजवादी व्यवस्था में स्वरूप क्या होगा इसे स्पष्ट करते हुए लिखते हैं कि “यदि समाजवादी व्यवस्था कायम होने पर जारशाही रूस नवीन राष्ट्र के रूप में पुनर्गठित हो सकता है, तो भारत में समाजवादी व्यवस्था कायम होने पर यहाँ की राष्ट्रीय अस्मिता पहले से कितना पुष्ट होगी, इसकी कल्पना की जा सकती है। वास्तव में समाजवाद हमारी राष्ट्रीय आवश्यकता है।... भारत की राष्ट्रीय क्षमता का पूर्ण विकास समाजवादी व्यवस्था में ही संभव है और साहित्य की पूर्ण परंपरा का ज्ञान समाजवादी व्यवस्था में ही संभव है। समाजवादी संस्कृति पुरानी संस्कृति से नाता नहीं तोड़ती, वह उसे आत्मसात करके आगे बढ़ती है।”¹³ इस प्रकार डॉ० रामविलास शर्मा ने हिंदी आलोचना में परंपरा के मूल्यांकन का स्वरूप स्पष्ट किया और “इस दिशा में सारे मार्क्सवादी आलोचकों ने मिलकर भी इतना काम नहीं किया जितना उन्होंने अकेले ही किया है। उन्होंने भवभूति, कालिदास, तुलसीदास सहित आधुनिक काल के भी अनेक लेखकों का स्वतंत्र मूल्यांकन करके परंपरा के प्रति मार्क्सवादी आलोचना का रवैया स्पष्ट किया। वस्तुतः यही उनकी आलोचना का विचारधारात्मक संघर्ष है।”¹⁴

ध्यान देने की बात है कि अपने आरंभिक दौर में मार्क्सवादी आलोचकों में परंपरा के मूल्यांकन को लेकर एक गंभीर विवाद का मुद्दा यह भी बना कि मार्क्सवादी चिंतन और अवधि

गारणाओं को अपनी परंपरा के मूल्यांकन में किस प्रकार प्रयोग किया जाए?? इस संदर्भ में कुछ मार्क्सवादी चिंतकों ने आरंभ में यह धारणा बना ली थी कि “प्राचीन साहित्य शोषक वर्गों के हित में उनके चाकरोں द्वारा रचा हुआ है, इसलिए त्याज्य है, साहित्य समाज का दर्पण है, इसलिए पुरानी व्यवस्था बदल जाने पर वह दर्पण भी बेकार हो जाएगा, सर्वहारा वर्ग के लेखक नया साहित्य रचेंगे जिसमें पुराने मूल्यों का अभाव होगा; इन लेखकों की दृष्टि साहित्य कलात्मक सौंदर्य में भी प्राचीन साहित्य से आगे होगा।”¹⁵ इस प्रकार कुछ आरंभिक मार्क्सवादी चिंतकों ने मार्क्सवादी चिंतन को ज्यों का त्यों यांत्रिक विधि से लागू करते हुए प्राचीन साहित्य को प्रतिक्रियावादी साहित्य घोषित किया। इस संदर्भ में ऐसा प्रतीत होता है कि शिवदान सिंह चौहान के लेख ‘भारत में प्रगतिशील साहित्य की आवश्यकता’ के कुछ अंशों में यांत्रिकता आ गई है। यद्यपि उन्होंने बाद में इस लेख को स्वयं अस्वीकृत कर दिया। रामविलास शर्मा ने ‘परंपरा के मूल्यांकन’ के संदर्भ में यांत्रिक रूप से लागू किए गए सिद्धांतों और उनकी सीमाओं को उजागर किया और उनकी कड़ी प्रतिक्रिया लिखी। और प्राचीन साहित्य की प्रगतिशील परंपरा का बोध कराया उसके गौरवपूर्ण अतीत से परिचित कराया। उसके प्रगतिशील पक्षों को स्पष्ट किया और और ‘हिंदी की जातीय परंपरा’ से उसे जोड़ा। किंतु परंपरा के मूल्यांकन के संदर्भ में “वे कदाचित् इसे स्वीकार करने को तैयार नहीं हैं कि बड़े-से-बड़े लेखक के भी अपने अंतर्विरोध होते हैं और उनके बीच और बावजूद इसके वह बड़ा और युगांतरकारी लेखक हो सकता है। रामविलास शर्मा के विवेचन की पद्धति भी प्रायः ही यांत्रिक और एकांगी हो जाती है क्योंकि विरोध पक्ष को या तो वे अपने हित में अनदेखा करते हैं या फिर उसके तर्कों और आशयों को वे प्रायः ही तोड़-मोड़ और विकृत करके प्रस्तुत करते हैं।”¹⁶ स्पष्ट है कि ‘परंपरा के मूल्यांकन’ के संदर्भ में मार्क्सवादी आलोचना के आरंभिक चरण में कुछ आलोचकों ने यांत्रिक मान्यताओं का प्रयोग किया तो कुछ आलोचकों ने अतीत और उसके महान रचनाकारों के सिर्फ प्रगतिशील पक्ष को ही प्रकट किया उनके अंतर्विरोधों को नज़रअंदाज़ किया।

3.2 परंपरा के मूल्यांकन में 'आलोचना' पत्रिका की भूमिका

इस संदर्भ में हमें यह देखना है कि नामवर सिंह के संपादन में प्रकाशित 'आलोचना' पत्रिका साहित्य की परंपरा के मूल्यांकन को किस रूप में लेकर चली है? 'परंपरा का मूल्यांकन' से 'आलोचना' पत्रिका का तात्पर्य क्या है?? नामवर सिंह संस्कृति और साहित्य की परंपरा को किस दृष्टि से देखते हैं? और संपादक होने के नाते उन्होंने 'आलोचना' पत्रिका के माध्यम से परंपरा के मूल्यांकन के परिप्रक्ष्य में किस दृष्टि का विस्तार किया है? वस्तुतः इस अध्याय में हमें यह देखना है कि 'आलोचना' पत्रिका की साहित्य की परंपरा के मूल्यांकन की अवधारणा क्या है? उसकी नीति क्या है?? और साहित्य की परंपरा के मूल्यांकन में उसने अपनी अवधारणा का विकास किस रूप में किया है? तथा हिंदी आलोचना के विकास के संदर्भ में परंपरा के मूल्यांकन संबंधी उस अवधारणा का प्रदेय क्या है? इन्हीं कुछ प्रश्नों के उत्तर ढूँढने का प्रयास इस अध्याय में किया गया है।

कहने की आवश्यकता नहीं कि साहित्य की परंपरा का महत्व सभी के लिए समान ही होता है, अंतर यह है कि अपनी परंपरा को कोई किस दृष्टि से देखने का प्रयास कर रहा है। यह भी महत्वपूर्ण है कि परंपरा का मूल्यांकन सदा ही एक दृष्टि से नहीं होता है, संदर्भों के सापेक्ष परंपरा का अर्थ, मूल्य तथा उसके प्रतिमान बदलते रहते हैं। परिस्थितियाँ, समय एवं चिंतन की दिशा बदलने से परंपरा का अर्थ वही नहीं रह जाता, जो कभी किसी काल विशेष के संदर्भों में ग्रहण किया जाता रहा है।

ध्यातव्य है कि परंपरा का मूल्यांकन हिंदी समीक्षा के संदर्भ में उठाया जानेवाला एक महत्वपूर्ण सवाल है। "और इसका अंदाज इस बात से लगाया जा सकता है कि पिछले कुछ वर्षों में हिंदी की मार्क्सवादी आलोचना के दो आचार्यों के बीच धुआँधार बहस के केंद्र में परंपरा रही है।"¹⁷ बहस के केंद्र में 'परंपरा' के होने के पीछे पाँचवें और छठे दशक की परिस्थितियाँ न होकर नई परिस्थितियाँ और समस्याएँ रही हैं और 'परंपरा के मूल्यांकन' के संबंध में वे ही मान्यताएँ,

पद्धतियाँ अथवा आधार भूमि नहीं रही है जो पाँचवें और छठे दशक के बीच विद्यमान थी। यहाँ परंपरा के मूल्यांकन का न सिर्फ संदर्भ बदला है, बल्कि परंपरा को लेकर अन्य कोटियों का विनिर्माण हुआ है। परंपरा या सांस्कृतिक विरासत के मूल्यांकन के परिप्रेक्ष्य के अन्य आयामों का उद्घाटन हुआ है साथ ही परंपरा को हस्तगत करने की कोशिश और उसमें परंपरावाद का जड़ अर्थ भरने की कोशिश से 'परंपरा के मूल्यांकन' के संदर्भ में कई परिवर्तन हुए हैं। स्पष्ट है कि 'आलोचना' पत्रिका के 'परंपरा के मूल्यांकन' संबंधी मानदंड और स्वरूप भी पाँचवें और छठे दशक की परंपरा के मूल्यांकन संबंधी अवधारणा और मान्यता से भिन्न रहा है। कहने की आवश्यकता नहीं कि परंपरा और सांस्कृतिक विरासत के प्रति जो भाव किसी में हो सकता है सातवे-आठवें दशक के मार्क्सवादी चिंतकों में उससे वह किसी मायने में कम नहीं है, बल्कि कई स्तरों पर कहीं अधिक गहरा है। अपनी परंपरा में निबद्ध मानवीय स्तरों के अन्य आयामों का उद्घाटन करते हुए, उन पक्षों के लिए लड़ते हुए संघर्ष करते हुए, उन्हें देखा जा सकता है।

परंपरा के मूल्यांकन संबंधी बहस 'आलोचना' पत्रिका के समक्ष नए प्रश्न लेकर उपस्थित होती है। यह बहस अपना कौन-सा रूप ग्रहण कर रही थी, इस संदर्भ में शिवकुमार मिश्र का यह मत उद्धरणीय है कि "आज जबकि एक ओर पुराणपंथी-पुनरुत्थानवादी ताकतें परंपरा-प्रेम के नाम पर समय तथा इतिहास के अग्रगामी चरणों का निषेध करते हुए पूरी तरह अतीत में लौटा ले जाने को तत्पर हैं, और दूसरी ओर अस्तित्ववादी-आधुनिकतावादी कलादृष्टियाँ परंपरा तथा इतिहास को पूरी तरह अमान्य करते हुए हमें न केवल अपने गत से वरन् आगत से भी काटकर, एक अभिशप्त नियति लिए हुए मात्र वर्तमान में ही जीने अथवा मौत के आतंक में जीने का दर्शन दे रही है तथा साहित्य और कला-सर्जना में अपने गहरे निशान छोड़ रही है।"¹⁸ दूसरी तरफ मार्क्सवादी आलोचकों द्वारा परंपरा के मूल्यांकन संबंधी दृष्टि की गलतियों को रेखांकित करते हुए शिवकुमार मिश्र लिखते हैं कि "अब देखिए इस दृष्टि की व्यावहारिक प्रस्तुति में होनेवाली हमारी गलतियों को, कि हमने

या तो गोस्वामी तुलसीदास को इस नाते कि वे सामंती समाज, सामंती युग की अधिरचना से जुड़े हुए हैं, अपने समय के समाज के प्रभुवर्ग की विचारधारा के प्रतिनिधि हैं, हमने शत-शत प्रतिगामी करार दिया या फिर उनकी जन-संपृक्ति के कारण, सामंती समाज के अंतर्विरोधों से टकराते हुए उनके जहाँ-जहाँ उसका अतिक्रमण करने के कारण और भक्ति आंदोलन की मुख्य धारा से जुड़े उनके तमाम सरोकारों के कारण उन्हें एकदम प्रगतिशील सामंत विरोधी जनवादी आदि सिद्ध किया।¹⁹ इस तरह की दृष्टि इतिहास के प्रति पूज्य भाववाली इतिहास दृष्टि ही है, प्रकारांतर से यह इतिहास विरोधी दृष्टि है। इसीलिए 'आलोचना' के नवांक 60-61 में प्रकाशित अपने लेख में शिवकुमार मिश्र स्पष्ट करते हैं कि इसीलिए "ज़रूरी हो जाता है कि इन पतनशील इतिहास-विरोधी, विज्ञान विरोधी, मनुष्य विरोधी जीवन दृष्टियों तथा कलादृष्टियों का विरोध करते हुए उनसे संघर्ष करती हुई तथा साहित्य रचना और साहित्य समीक्षा की गौरवशाली जीवंत परंपरा को विकसित और पुष्ट करने के लिए कृतसंकल्प रचनाकारों-विचारकों की जागरूक नई पीढ़ी को ऐसे सवालों के प्रति मुखातिब किया जाए जो उसे प्रतिगामी-प्रतिक्रियावादी शक्तियों से कारगर तरीके से निपटने में मदद दे सकें और उसके सामने 'परंपरा की सही छवि' को बराबर आलोकित किए रहें।"²⁰

ध्यान देने की बात है कि नामवर सिंह द्वारा संपादित 'आलोचना' पत्रिका 'परंपरा के मूल्यांकन' के संदर्भ में न केवल अपनी मूल्यवान सांस्कृतिक विरासत की सही छवि को बराबर आलोकित करती रही है, बल्कि अपनी सांस्कृतिक विरासत की प्रतिगामी, प्रतिक्रियावादी ताकतों के संगठित अभियान से रक्षा की है तथा उसने 'गौरवशाली जीवंत परंपरा को विकसित और पुष्ट करने के लिए कृत संकल्प रचनाकारों-विचारकों की जागरूक नई पीढ़ी' को तैयार भी किया है।

नामवर सिंह की दृष्टि में 'परंपरा का मूल्यांकन' का क्या अर्थ है उसे अपने एक साक्षात्कार में वे स्पष्ट करते हैं "अपनी अस्मिता और अपनी जड़ों की खोज करते हुए परंपरा के प्रति आलोचनात्मक रुख से परिचित होना चाहिए।"²¹ इसके अतिरिक्त वह स्पष्ट करते हैं परंपरा के

मूल्यांकन के प्रति मार्क्सवाद का अपना एक पूरा नज़रिया है, उसे लागू करना चाहिए“अतीत के साहित्य में और महान साहित्यिक कृतियों में आमतौर से मार्क्सवादी आलोचकों ने अंतर्विरोध या असंगतियाँ दिखाई... अतीत ही नहीं हम देखते हैं कि वर्तमान का भी कौन-सा बड़े से बड़ा कवि या लेखक है जिसमें अंतर्विरोध या असंगति नहीं है।”²² इसीलिए परंपरा के मूल्यांकन के संबंध में उनका विचार है कि हमें परंपरा के समस्त पक्षों उसकी “समस्त असंगतियों, अंतर्विरोधों के साथ इसलिए कि उनकी जो अतीतता है, उनके अंदर विरोध है, उनकी असंगतियाँ, इनका सही-सही वास्तविक ज्ञान हम प्राप्त करें, यानी हम तात्कालिक उपयोग के लिए उनका इस्तेमाल नहीं चाहते हैं, बल्कि उनको अधिक-से-अधिक उनके अपने सही ऐतिहासिक संदर्भ और उनके समस्त अंतर्विरोधों के साथ उपस्थित करके देखें कि वे हमसे दूर हैं, अलग हैं, अपने समय की समस्याएँ उन्होंने हल कीं। हमारी समस्याएँ उन्होंने हल नहीं की, लेकिन ऐसा न करके उन्होंने गलत काम नहीं किया। इस संघर्ष में, उनके अपने संघर्ष में, अपने अंतर्विरोध में भी इतनी शक्ति है कि आज भी वे हमें बता सकते हैं... अतीत की अतीतता को बराबर सुरक्षित रखते हुए वर्तमान और अतीत की उस दूरी को रेखांकित करना, जिसमें वर्तमान की अपनी अस्मिता, अपनी विशिष्टता, अपनी समस्याएँ पूरी ज्वलंतता के साथ मौजूद रहें, वे अतीत से अपना बराबर पार्थक्य समझते रहे।”²³ स्पष्ट है कि नामवर सिंह की दृष्टि में परंपरा ‘अपने समग्र रूप में’ आती है जिसमें उसके अंतर्विरोध, उसके गुण तथा उसकी युगीन सीमाएँ सभी चीजें निहित होती हैं, और वर्तमान में उसकी अर्थवत्ता को उसकी अतीतता को सुरक्षित रखते देखा जाता है।

नामवर सिंह के संपादकत्व में ‘आलोचना’ पत्रिका के लंबे अंतराल में सांस्कृतिक विरासत और परंपरा संबंधी उपर्युक्त दृष्टि ‘आलोचना’ पत्रिका में कई स्तरों पर देखी जा सकती है, और कई अर्थों में इससे भिन्न दृष्टि भी दिखाई पड़ती है। नामवर सिंह के संपादन में ‘आलोचना’ पत्रिका के प्रारंभिक चरण में ‘परंपरा के मूल्यांकन’ का प्रश्न उस रूप में आलोचनात्मक नहीं दिखाई पड़ती

हैं, जिस रूप में उनके संपादन के लगभग दस वर्षों के बाद दिखाई पड़ती है। उनके संपादन के प्रारंभिक वर्षों में अपनी सांस्कृतिक विरासत अथवा परंपरा को सामान्यतः प्रस्तुत करने, उससे अवगत कराने, उसके प्रगतिशील पक्षों को स्पष्टतः उजागर करने में रही है। गौरतलब है कि परंपरा के प्रति 'आलोचना' पत्रिका का आरंभिक चरण अपनी सांस्कृतिक विरासत और परंपरा को अवबोध कराने तथा उसके महत्व को उद्घाटित करने का कार्य करती रही हैं। ऐसा नहीं है कि संपादन के अंतिम चरणों में अपनी परंपरा की वस्तुगत प्रस्तुति से 'आलोचना' ने मुँह मोड़ लिया है। अपनी परंपरा से परिचय और उसके महत्व का प्रकाशन अंतिम चरण के अंकों में भी स्पष्टतः देखी जा सकती है, किंतु 1980 ई. के बाद 'आलोचना' पत्रिका अपनी सांस्कृतिक विरासत और परंपरा को लेकर उपजी पूज्य दृष्टि तथा वर्तमान की समस्या का हल अतीत में ढूँढ़ने की प्रवृत्तियों आदि का प्रतीकार करती हुई, परंपरा की सही समझ के लिए संघर्ष करती हुई देखी जा सकती है। 'आलोचना' पत्रिका के 1980 ई. के बाद के अंकों को देखने पर यह स्थिति और स्पष्ट हो जाती है।

इस प्रकार नामवर सिंह के संपादकत्व में 'परंपरा के मूल्यांकन' के संदर्भ में 'आलोचना' में सामान्यतः चार स्थितियाँ देखी जा सकती हैं

1. साहित्य की परंपरा अथवा सांस्कृतिक विरासत से परिचय तथा उसके नवीन सदस्यों और आयामों से युक्त करके उसकी महत्ता का प्रतिपादन।
2. परंपरा और अतीत की सांस्कृतिक विरासत के गौरवगान में उनकी असंगतियों की अनदेखी तथा उन्हीं में वर्तमान समस्याओं के समाधान ढूँढ़ना तथा परंपरा के मूल्यों को वर्तमान जीवन पर लागू करने की प्रवृत्तियों से संघर्ष इसमें 'परंपरा का सही चेहरा: विगत महत्ता और वर्तमान अर्थवत्ता' के लिए 'आलोचना' पत्रिका का संघर्षपूर्ण²⁴ रवैया देखा जा सकता है।
3. दूसरी परंपरा की खोज का प्रश्न।

4. साहित्य की परंपरा और कैननाइजेशन का पुनर्निर्माण।

उपर्युक्त विभाजन को एक दूसरे से कतई अलग-अलग करके नहीं देखा जाना चाहिए, ये आपस में परस्पर अवलंबित हैं तथा इस प्रकार का विभाजन 'आलोचना' पत्रिका द्वारा 'परंपरा के मूल्यांकन' के परिदृश्य को, वस्तुस्थिति को समझने के लिए किया गया है।

परंपरा के मूल्यांकन के संदर्भ में नामवर सिंह संपादित 'आलोचना' पत्रिका का मानदंड, और स्वरूप क्या है, इसे उपर्युक्त चार आयामों से सामान्यतः समझा जा सकता है, तथा उससे हिंदी आलोचना के विकास में उसके अवदान को भी समझे जाने में सहायता मिलेगी।

3.2.1 साहित्य की परंपरा अथवा सांस्कृतिक विरासत से परिचय तथा उसके नवीन आयाम

नामवर सिंह के संपादन में 'आलोचना' पत्रिका को इस परिप्रेक्ष्य में देखने पर मुख्यतः तीन स्थितियाँ दिखाई पड़ती हैं।

- i. साहित्य में परंपरा और इतिहास की वस्तु हो चुके लेखकों, रचनाकारों के सांस्कृतिक अवदान और महत्ता का प्रतिपादन के लिए उन पर 'विशेषांक' अथवा विशेष सामग्री का प्रकाशन।
- ii. आदिकालीन, मध्यकालीन आदि साहित्यिक प्रवृत्तियों, कृतियों पर विभिन्न अंकों में समग्री प्रकाशित करते हुए उनसे परिचय, नवीन आयामों का उद्घाटन।
- iii. भारतीय काव्यशास्त्र के सांस्कृतिक आधार की महत्ता, मूल्य एवं स्वरूप का नवीन संदर्भों में व्याख्या तथा उसकी महत्ता का उद्घाटन.

नामवर सिंह संपादित 'आलोचना' पत्रिका परंपरा अथवा विरासत का महत्व प्राप्त कर चुके रचनाकारों लेखकों पर विशेषांक या विशेष सामग्री प्रकाशित कर उनका मूल्यांकन करने का प्रयास करती है और साहित्य की परंपरा में उनके अवदान को, महत्व को नए सिरे से रेखांकित करती है इस संदर्भ में पहला महत्वपूर्ण प्रयास 'आलोचना' के नवांक 08 के

‘ग़ालिब विशेषांक’ में ही देखने को मिलता है। यह अंक उर्दू के प्रसिद्ध शायर ‘ग़ालिब’ की सौवीं पुण्यतिथि (1969 ई.) के अवसर पर प्रकाशित किया गया है। गौर करने की बात है कि हिंदी की पत्रिका द्वारा उर्दू शायरी के स्तंभ ‘ग़ालिब’ पर पूरे एक विशेषांक का संपादन करते हुए नामवर सिंह ने ‘आलोचना’ पत्रिका में परंपरा संबंधी अपनी धारणा को स्पष्ट किया। स्पष्ट है कि उनके यहाँ परंपरा का या सांस्कृतिक विरासत का इकहरा या एक ही अर्थ नहीं है वहाँ अन्य “दूसरी परंपराओं” को भी प्रारंभ से ही स्थान दिया गया है अर्थात् वहाँ दूसरी परंपरा को यथोचित स्थान दिलाना उनका महत्वपूर्ण प्रदेय है। जिसे उन्होंने ‘आलोचना’ पत्रिका के संपादन के माध्यम से पूरा किया। यह स्थिति सिर्फ ‘ग़ालिब’ को सांस्कृतिक विरासत के नायक के रूप में ही नहीं उपलब्ध हैं, बल्कि ‘गुरुनानक’ के संदर्भ में भी इस तथ्य का प्रमाण हम देख सकते हैं, जो कि पंजाबी भाषा के साहित्य में उनके अवदान को रेखांकित करने के उद्देश्य से मूल्यांकन किया गया है। नवांक-11 में ‘हजारी प्रसाद द्विवेदी द्वारा लिखित निबंध ‘गुरुनानक देव’ और उत्तर सिंह द्वारा लिखित गुरुनानक देव: एक समसामयिक मूल्यांकन’, शीर्षक से प्रकाशित किया गया है। नवांक-40 में गुरुचरन सिंह सहेंसरा द्वारा लिखित ‘नानकधारा की ऐतिहासिक मूल्य वाचाएँ’ शीर्षक निबंध में गुरुनानक देव को अपनी साहित्य की परंपरा में स्थान देते हैं।

हिंदी के जातीय कवि गोस्वामी तुलसीदास पर तो ‘परंपरा के मूल्यांकन’ का आधार ही खड़ा किया गया। गोस्वामी तुलसीदास पर, उनकी रचनाओं पर, उनके संदर्भ में परंपरा का, भक्तिकाल आदि का मूल्यांकन करते हुए अनेक लेख शोधलेख, निबंध प्रकाशित किए गए हैं जिनमें कुछ महत्वपूर्ण लेख आदि को रेखांकित करना आवश्यक है। नवांक-30 में प्रकाशित रमेशकुंतल मेघ का शोधपरक लेख ‘तुलसी की कवितावली: सामाजिक इतिहास-लेखन का एक प्रामाणिक काव्य-दस्तावेज़’, सावित्रीचंद्र शोभा द्वारा लिखित ‘तुलसी साहित्य में सामाजिक

परिवेश: एक मूल्यांकन', जैसा शोधालेख', तथा परेश द्वारा लिखित 'मानस प्रसंग' शीर्षक आलेख महत्वपूर्ण हैं। नवांक-36 में रमेशकुंतल मेघ का शोधालेखजासू काल को दंड: तुलसी की सामाजिक चेतना' शीर्षक से प्रकाशित है। नवांक-65 में जगदीशचंद्र दीक्षित का शोधपरक लेख 'तुलसी की यमुना तथा तुलसी के राम', शीर्षक से प्रकाशित है जिसमें तुलसीदास जी की जीवन की घटनाओं से जोड़कर उनके साहित्य और समाज का मूल्यांकन किया गया है। नवांक-87 में जितराम पाठक का शोधालेख 'रामचरितमानस की भाषा: एक नया संदर्भ' शीर्षक से प्रकाशित है। गोस्वामी तुलसीदास पर प्रकाशित ये कुछ विशेष लेख हैं जो उनकी कई आयामों को उद्घाटित करते हैं। वैसे गोस्वामी तुलसीदास जी हिंदी साहित्य की परंपरा के मूल्यांकन' के केंद्र में रहे हैं। 'परंपरा के मूल्यांकन' का कोई संदर्भ उनको छोड़कर पूरा नहीं माना जा सकता। नवांक-44 'गोस्वामी सूरदास' पर 'आलोचना' में कुछ महत्वपूर्ण लेख प्रकाशित है। नवांक-45 में शिवकुमार मिश्र का शोधपरक आलेख 'सूरदास की कविता के प्रगतिशील आयाम' सूरदास पर एक गंभीर और महत्वपूर्ण हस्तक्षेप है। नवांक-58 में प्रकाशित नंदकिशोर नवल का लेख 'आचार्य शुक्ल और सूरदास' भी एक महत्वपूर्ण लेख है।

'आलोचना' पत्रिका में जहाँ गोस्वामी तुलसीदास और सूरदास पर विशेष अंक और सामग्री का प्रकाशन परंपरा के मूल्यांकन के परिप्रेक्ष्य में किया गया है। वहीं मलिक मुहम्मद जायसी और मीराबाई पर लेखादि की प्रकाशन की स्थिति अत्यंत शोचनीय है। 'आलोचना' पत्रिका जो कि नामवर सिंह के संपादन में तेइस वर्ष तक प्रकाशित होती रही, उसमें मलिक मुहम्मद जायसी पर मात्र एक लेख प्रकाशित यह लेख दो भागों में वागीश शुक्ल द्वारा लिखित है नवांक-80 और 83 में एक ही शीर्षक से 'तज्जियतुल् पद्मावत उर्फ कहा कि हम्ह किछु और न सूझा' से प्रकाशित है। वहीं मीराबाई परंपरा के मूल्यांकन' के संदर्भ में और भी उपेक्षा की शिकार दिखाई पड़ती है। नवांक-47 में मीराबाई को विश्वनाथ त्रिपाठी- वर्ण व्यवस्था, नारी और भक्ति आंदोलन के संदर्भ में,

प्रकारांतर से याद करते हुए देखे जा सकते हैं। मीराबाई परंपरा के मूल्यांकन के संदर्भ में प्रकारांतर से ही याद की गई हैं। अपना व्यक्तित्व लेकर उनका मूल्यांकन नहीं हुआ है। जायसी की स्थिति भी कमोबेश यही है। कथा-साहित्य के पुरोधा प्रेमचंद को 'आलोचना' पत्रिका में विशेष महत्व दिया गया है, नवांक-51-52 प्रेमचंद के जन्मशताब्दी के अवसर पर 'प्रेमचंद-स्मृति अंक' प्रकाशित है वहीं नवांक-53 और 59 में प्रेमचंद पर कई विशेष आलेख प्रकाशित किए गए हैं। जिसमें खगेंद्र ठाकुर का लेख 'राष्ट्रीय एकता और प्रेमचंद', ब्रजकुमार पांडेय का शोधपरक लेख 'प्रेमचंद और हरिजन समस्या', डॉ० गोपाल का शोधलेख 'रंगभूमि: एक राजनीतिक उपन्यास' शीर्षक से प्रकाशित महत्वपूर्ण लेख हैं।

'आलोचना' का नवांक-73 और नवांक-74 आचार्य रामचंद्र शुक्ल की महान विरासत के मूल्यांकन के प्रयास में निकाला गया शुक्ल अंक एक और शुक्ल अंक- दो है। इसी प्रकार नवांक-79 मैथिलीशरण गुप्त की जन्मशताब्दी तथा भारतेन्दु हरिश्चंद्र की सौवीं पुण्यतिथि पर केंद्रित विशेषांक है, इस अंक के मूल्यांकन का परिप्रेक्ष्य 'हिंदी नवजागरण' की संकल्पना की केंद्रीय भूमिका से जुड़ा हुआ है। नवांक-49-50 सांस्कृतिक विरासत की दूसरी परंपरा के हवाले से आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी पर केंद्रित स्मृति-अंक है। दूसरी तरफ नवांक-60-61 डॉ० रामविलास शर्मा के 70 वर्ष पूरे होने पर उनके संपूर्ण अवदान को स्पष्ट करनेवाला महत्वपूर्ण अंक है परंपरा के मूल्यांकन के संदर्भ में यह अंक विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इस प्रकार 'आलोचना' पत्रिका में सांस्कृतिक विरासत को, साहित्य की परंपरा की अमूल्य निधि को पहचान कराने में उसकी सक्रियता-तत्परता को बड़ी सहजता से लक्षित किया जा सकता है। यह पहचान उनके पारंपरिक और रूढ़ अर्थों को पुनः उपस्थित करके नहीं बल्कि उसमें नवीन अर्थ व आयाम भर कर की गई है, जिससे उस सांस्कृतिक विरासत की 'विगत सार्थकता' और 'वर्तमान अर्थवत्ता' स्पष्ट हो सके।

साहित्य की परंपरा के परिचय और उसके नवीन आयामों के संदर्भ में यह देखना भी

महत्वपूर्ण है कि प्राचीन, मध्यकालीन साहित्य का विकास किस रूप में वर्तमान समय में हुआ है? उनकी प्रमुख प्रवृत्तियाँ और कृतियाँ कौन-सी रही हैं? उनका अपने समय में कितनी सार्थकता रही है, और वर्तमान में वह क्यों मूल्यवान रही है? 'आलोचना' पत्रिका के अंकों में इस पक्ष को बड़ी सहजता से देखा जा सकता है। 'आलोचना' के नवांक-एक से ही इसके पक्ष में प्रमाण मिल जाता है। आधुनिक हिंदी गद्य के विकास में 'भाषा'-योग वासिष्ठ' कृति के महत्व को उद्घाटित करने का महत्वपूर्ण कार्य 'गोविंदनाथ राजगुरु' ने 'आधुनिक हिंदी की प्रथम गद्यकृति: योगवासिष्ठ-भाषा' शीर्षक शोधालेख में किया है। इसीप्रकार जयशंकर प्रसाद की महत्वपूर्ण कृति 'कामायनी' के मूल्यांकन को लेकर 'आलोचना' में बहस को प्रस्तुत किया, जिसमें मुक्तिबोध की कामायनी संबंधी मान्यताएँ कई स्तरों पर वहाँ उपस्थित हैं। नवांक-06 में जगदीश शर्मा 'कामायनी और आधुनिक समीक्षा-दृष्टि' शीर्षक शोधपरक लेख में कामायनी की अध्ययन संबंधी समीक्षा-दृष्टियों का विस्तार से विवेचन करते हैं। नवांक-07 में इंद्रनाथ मदान 'कामायनी' का मूल्यांकन 'एक असफल कृति' के रूप में 'कामायनी एक असफल कृति' शीर्षक लेख के अंतर्गत करते हैं। नवांक-45 में निर्मला जैन- कामायनी का मूल्यांकन 'कामायनी और वर्गहीन साम्यवादी समाज' शीर्षक शोधलेख में करती हैं।

जयशंकर प्रसाद का मूल्यांकन रमेशचंद्र शाह ने अपने दो अलग-अलग लेखों में किया है नवांक-09 में 'विश्वविद्यालय का कवि-प्रसाद' शीर्षक लेख में तथा नवांक-19 में 'आँसू की प्रयोगशाला में प्रसाद' शीर्षक शोधालेख में मूल्यांकन करते हैं। नवांक-05 में डॉ० रामविलास शर्मा का निराला पर लिखा गया जीवनीपरक लेख 'सुर्जकुमार तिवारी' प्रकाशित है। कमलेश का लेख 'इतिहास-चिन्ता और मुक्तिमार्ग', नवांक-21 में प्रकाशित है। सामंती समाज की समझ और मध्यकालीन प्रवृत्तियाँ क्या होती है, उनके प्रगतिशील आयाम क्या होते हैं, इस पर 'आलोचना' में कई लेख, निबंध आदि देखे जा सकते हैं। उदाहरण के लिए नवांक-25 में प्रकाशित नेमिचंद्र जैन

का लेख 'सामंती समझ और स्वायत्त अनुभव खंड' में, तथा प्रेमशंकर' के 'मध्यकालीन परिवेश और भक्तिकाव्य के चरित्रकाव्य' शीर्षक लेख में, नवांक-44 में नरेश जी का लेख 'मध्यकालीन हिंदी कविता में सामाजिक चेतना', नवांक-47 में प्रकाशित विश्वनाथ त्रिपाठी का लेख 'वर्ण व्यवस्था, नारी और भक्ति आंदोलन', नवांक-48 में प्रकाशित सावित्री चंद्र 'शोभा' का शोधालेख 'मध्यकालीन साहित्य में असहमति और विरोध', नवांक-83 में श्री भगवान सिंह का लेख. 'हिंदी साहित्य में वर्ण-विरोधी चेतना', नवांक-76 में प्रकाशित सतीशचंद्र का शोध-आलेख 'उत्तर-भारत में भक्ति आंदोलन के उदय की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि', नवांक-85 में कुँवर नारायण के लेख का अनुवाद 'सदूर अतीत का दबाव: परंपरा-की पुनर्व्याख्या', तथा नवांक-16 में प्रकाशित रमेशकुंतल मेघ का गंभीर आलेख 'सिद्धों का रस सौंदर्य-योगाचार' आदि लेखों, निबंधों, शोधालेखों से भक्तिकालीन समय-समाज तथा प्रवृत्तियों, धारणाओं के स्वरूप पर गंभीर चर्चा 'परंपरा के मूल्यांकन' के संदर्भ में ही अर्थ व्यंजना का विस्तार पाता है। 'आलोचना' इस संदर्भ में सांस्कृतिक विरासत के स्वरूप को उद्घाटित करने, उसके महत्वपूर्ण पक्षों पर गंभीर आलेख, शोधपरक निबंध आदि प्रकाशित करते हुए अर्थात् परंपरा की पहचान, उसकी पृष्ठभूमि के संदर्भ में उसकी व्याख्या करते हुए हिंदी आलोचना को गुणात्मक रूप से समृद्ध करती है।

'कामायनी' जैसी कृति का तो वैसे भी किसी-न-किसी रूप में मूल्यांकन होता रहा है, किंतु 'चंद्रकांता' की उपेक्षा जासूसी-तिलिस्मी साहित्य की कोटि में डाल कर की गई। उसे मनोरंजन प्रधान-लोकप्रिय रचना ही माना जाता था किंतु राजेंद्र यादव के लेख- 'चंद्रकांता: दयनीय महानता की दिलचस्प दास्तान', नवांक-53 तथा प्रदीप सक्सेना के दो लेख 'चंद्रकांता: यथार्थवाद के उत्थान का महाकाव्य', (नवांक-76). 'तिलिस्मी साहित्य का साम्राज्यवाद-विरोधी चरित्र' (नवांक-83) के बाद इस कृति के महत्व का उद्घाटन हुआ इसका श्रेय भी 'आलोचना' को जाता है।

भारतीय काव्यशास्त्र को न सिर्फ हिंदी साहित्य और समीक्षा के लिए, बल्कि संपूर्ण भारतीय

साहित्य की सांस्कृतिक विरासत के रूप चिह्नित किया जा सकता है। आज भी साहित्यशास्त्र के संबंध में भारतीय काव्यशास्त्र की प्रासंगिकता, उपयोगिता पर जोरदार बहस की जाती है। 'आलोचना' पत्रिका भारतीय काव्यशास्त्र की प्रासंगिकता को लेकर आरंभ से ही सक्रिय रही है, उसके अंकों में कई ऐसे महत्वपूर्ण शोधलेख हैं जिनमें काव्यशास्त्र की परंपरा का नवीन अर्थों में उद्घाटन, उसकी प्रासंगिकता, औचित्य का उद्घाटन किया जा सके।

नामवर सिंह के संपादन में 'आलोचना' के नवांक-02 में 'रघुवंश का लेख 'संस्कृत काव्यशास्त्र और संरचनात्मक समीक्षा-पद्धति', नवांक-03 में 'लोठार लुट्से' का लेख 'ब्रेख्त रंगमंच: संस्कृत नाटकों के संदर्भ में', इसके अतिरिक्त नवांक-05 में 'रमेशकुंतल मेघ' का आलेख 'साधारणीकरण का द्वंद्व न्याय', तथा नवांक-10 में प्रकाशित 'राममूर्ति त्रिपाठी' का लेख 'भारतीय काव्यशास्त्र की नई व्याख्या', नवांक-12 में विजेंद्रनारायण सिंह का लेख "वक्रोक्ति सिद्धांत: आधुनिक परिप्रेक्ष्य", नवांक-16 में 'दि. के. बेडेकर' का शोधपरक लेख 'नाट्यशास्त्र एवं सांख्य दर्शन में भाव', एवं इसी अंक में राममूर्ति त्रिपाठी का लेख 'रचनात्मक समीक्षा और भारतीय काव्यशास्त्र' प्रकाशित है। नवांक-20 में राममूर्ति त्रिपाठी का ही लेख भारतीय काव्यशास्त्र के प्रतिमानों का नई संभावनाओं में संचार', शीर्षक से प्रकाशित है। नवांक-21 में अ.र. हार्डीकर का 'संस्कृत वाङ्मय में अश्लीलता विचार', एक महत्वपूर्ण शोधलेख है। नवांक-23 में प्रकाशित 'हरद्वारीलाल शर्मा' लिखित 'न ययौ न तस्यौ', शीर्षक लेख तथा राममूर्ति त्रिपाठी का 'भारतीय काव्यशास्त्र: नई व्याख्या', इस संदर्भ में महत्वपूर्ण लेख हैं। नवांक-41 में प्रकाशित प्रभाकर श्रोत्रिय का लेख 'रस पुनर्दृष्टि की प्रासंगिकता', नवांक-43 में प्रकाशित मनोहर काले का 'अर्थक्रियापेक्षम् काव्य', भी काव्यशास्त्रीय चिंतन के नवीन आयाम को उद्घाटित करनेवाला लेख है। वहीं नवांक-73 में प्रकाशित 'भारतीय काव्यशास्त्र और आचार्य शुक्ल' शीर्षक शोधपरक निबंध में विश्वभरनाथ उपाध्याय शुक्लजी की भारतीय काव्यशास्त्र की व्याख्या की धारणा को स्पष्ट करते हैं। 'आलोचना'

का नवांक-92 तो रस सिद्धांत पर केंद्रित अंक है। यह अंक भारतीय काव्यशास्त्र के महत्वपूर्ण पक्ष-‘रससिद्धांत’ की नवीन व्याख्या प्रस्तुत करने के लिए उल्लेखनीय माना जा सकता है। इस अंक में भारतीय काव्यशास्त्र के अप्रतिम विद्वान ‘दि. के. बेडेकर के लंबे शोध-निबंध ‘रस सिद्धांत का स्वरूप’ का अनुवाद प्रकाशित किया गया है। इस लेख का मराठी से हिंदी अनुवाद प्रभाकर माचवे ने किया है। इसी अंक में अशोक रा0 केलकर के अध्ययनपूर्ण लेख का हिंदी अनुवाद ह. श्री. साने ने किया है, जो ‘प्राचीन भारतीय-साहित्य मीमांसा: ‘एक आकलन’ शीर्षक से प्रकाशित है। इस अंक का संपादकीय नामवर जी ने ‘रस: जस का तस या बस?’ शीर्षक से लिखा है। जो रस सिद्धांत के नवीन अर्थ-संदर्भों और दृष्टि को स्पष्ट करता है। इसके अतिरिक्त महत्वपूर्ण तथ्य यह भी है कि यह अंक भारतीय काव्यशास्त्र के अध्येता दि. के. बेडेकर जी की स्मृति को समर्पित है।

स्पष्ट है कि ‘आलोचना’ पत्रिका भारतीय साहित्यशास्त्र की परंपरा की अमूल्य निधि की प्राचीन महत्ता को स्पष्ट करती है, वहीं आधुनिक संदर्भों में उसकी नवीन संभावनाओं को ढूँढने में प्रयासरत विद्वानों की गंभीर अध्ययनों को उचित स्थान देती है। इस प्रकार ‘आलोचना’ पत्रिका को भारतीय काव्यशास्त्र के नवीन अर्थ-छवियाँ देने का महत्वपूर्ण कार्य करते हुए देखा जा सकता है।

3.2.3 परंपरा का सही चेहरा : विगत महत्ता और वर्तमान अर्थवत्ता

नामवर सिंह के संपादन में ‘आलोचना’ पत्रिका ने ‘परंपरा के मूल्यांकन’ के संदर्भ में सबसे अधिक संघर्ष ‘परंपरा का सही चेहरा: विगत महत्ता और वर्तमान अर्थवत्ता’, के लिए किया है। ‘आलोचना’ पत्रिका का परंपरा के मूल्यांकन के संदर्भ में इस महत्वपूर्ण अवदान को अवश्य रेखांकित किया जाना चाहिए। परंपरा का मूल्यांकन हो इस पर प्रश्न उठता है कि कौन-सी परंपरा? प्राचीनकाल की या अतीत की उन सभी रूढ़िग्रस्त परंपरा को परंपरा कहें, या उस परंपरा में निहित उन प्रगतिशील तत्वों और पक्षों को परंपरा’ के अंतर्गत रखे?? यदि अतीत की सांस्कृतिक विरासत में प्रगतिशील आयाम तथा रूढ़ियुक्त मान्यताएँ, युगीन सीमाएँ एक साथ परिलक्षित हों फिर परंपरा

का मूल्यांकन कैसे किया जाए?? उनके इस अंतर्विरोधपूर्ण तथ्यों को किस प्रकार ग्रहण किया जाए और उसके मूल्यांकन के संदर्भ में मार्क्सवादी नज़रिया क्या हो?? इन प्रश्नों को 'आलोचना' पत्रिका की क्या दृष्टि रही है? नामवर सिंह इन प्रश्नों को कैसे लेते हैं? परंपरा के मूल्यांकन संदर्भ में उठे इन प्रश्नों को 'परंपरा का सही चेहरा: विगत महत्ता और वर्तमान अर्थवत्ता', उपशीर्षक में देख सकते हैं।

'परंपरा के मूल्यांकन' के इस संदर्भ को 'आलोचना' पत्रिका का सबसे संघर्षपूर्ण स्थिति के रूप में रेखांकित किया जा सकता है। और उसकी इस परिप्रेक्ष्य में एक सीधी स्पष्ट मान्यता भी देखी जा सकती है। परंपरा के मूल्यांकन के प्रति यह आयाम तब स्पष्ट होता है, जब 1980 ई० के बाद हिंदी साहित्य के प्रमुख हस्ताक्षरोंजो तब परंपरा की वस्तु हो चुके थेकी जन्मशताब्दियाँ, पुण्यतिथियाँ, आदि मनाई जा रही थीं, और उत्सवों के उत्साह में उनका मूल्यांकन करने हेतु कई पक्ष एक साथ क्रियाशील हो उठे थे। उनमें परंपरावादी-प्रतिक्रियावादी शक्तियाँ थीं, वहीं प्रगतिशील चिंतकों, आलोचकों की मान्यताओं में कुछ विभ्रम की स्थिति बनी हुई थी उनका प्रयोग बहुत सरलता से प्रतिक्रियावादी शक्तियाँ अपने पक्ष में कर रही थीं। इस संदर्भ में 'आलोचना' पत्रिका ने 'परंपरा का सही चेहरा' के सवाल पर अपना हस्तक्षेप किया। जो इस पत्रिका के विभिन्न अंकों के लेखों, निबंधों, संपादकीय टिप्पणियों में देखने को मिलती है, वहीं उन परंपरा का स्थान प्राप्त कर चुके उन्हीं रचनाकारों की जन्मशताब्दियों और पुण्यतिथियों पर 'आलोचना' पत्रिका द्वारा आयोजित विशेषांकों, विशेष सामग्री आदि में भी इसे लक्षित किया जा सकता है। ऐसा प्रतीत होता है कि कई बार ये अंक परंपरा के मूल्यांकन संबंधी मान्यताओं को स्पष्ट करने के लिए ही संपादित किए गए हैं, और उस संदर्भ में परंपरा का मूल्यांकन किया गया है।

परंपरा के मूल्यांकन के संदर्भ में परंपरा का सही चेहरा क्या हो, इसको स्पष्ट करने का महत्वपूर्ण प्रयास 'आलोचना' के नवांक-51-52 प्रेमचंद-स्मृति अंक में देखा जा सकता है। प्रेमचंद

जन्मशताब्दी के अवसर पर आयोजित इस अंक में प्रेमचंद पर उठाए गए प्रश्नों का जवाब दिया गया है, तथा प्रेमचंद की प्रासंगिकता के संदर्भ को स्पष्ट किया गया है। इस संदर्भ में ध्यान देने की बात है कि प्रेमचंद की जन्मशताब्दी के अवसर पर निर्मल वर्मा के लेख में “‘कला की प्रासंगिकता’ के प्रश्न को उठाकर सीधे प्रेमचंद को अप्रासंगिक कहने के बदले परोक्ष रूप से अप्रासंगिक साबित करने की कोशिश की”²⁵ थी। इस प्रकार प्रेमचंद की प्रासंगिकता का सवाल उठाया गया था। प्रासंगिकता के प्रश्न का उत्तर नामवर सिंह ने ‘आलोचना’ के नवांक-51-52 में ‘प्रेमचंद: विगत महत्ता और वर्तमान अर्थवत्ता’, शीर्षक संपादकीय में दिया था। निर्मल वर्मा ने कला के संदर्भ में जिस प्रकार से ‘प्रेमचंद की प्रासंगिकता’ पर प्रश्नचिह्न लगाए थे उनका उत्तर देते हुए नामवर सिंह स्पष्ट करते हैं कि “‘उन्हें न अपने सामाजिक संदर्भ से मतलब है, न प्रेमचंद से। प्रासंगिकता का अर्थ उनके लेखे कलात्मक प्रासंगिकता से है और इसे वे एक अरसे से शब्द बदल-बदल कर कहते आ रहे हैं कि कला की दृष्टि से प्रेमचंद पुराने पड़ गए हैं।”²⁶ नामवर सिंह कलावाद के इस संदर्भ की पड़ताल करते हुए ‘रूप’ के प्रश्न के मिथ को उद्घाटित करते हैं, उसकी सामाजिक अंतर्वस्तु के रूप को उद्घाटित करते हैं। इसके अतिरिक्त उन आलोचकों के मत की तीव्र आलोचना करते हैं जो सिर्फ-व-सिर्फ प्रेमचंद को ही “‘भारत के स्वाधीनता-संग्राम का महागाथाकार मानता है, विचारों में अपने ज़माने के सभी राजनीतिज्ञों और साहित्यकारों से ज़्यादा प्रगतिशील और अग्रगामी भी दिखाया जाता है और इन सबके ऊपर उन्हें भारतीय किसान का पहला और बड़ा पक्षधर लेखक बताया जाता है।”²⁷ दरअसल नामवर सिंह भारतीय परिप्रेक्ष्य को देखते हुए इस स्थिति से अवगत कराते हैं कि “‘प्रेमचंद भारत में किसानों के पहले उपन्यासकार न थे। उड़िया में फ़कीर मोहन सेनापति ने 1897 में किसानों के सवाल को लेकर ‘छमाण आठ गुंठ’ (छै बीघा ज़मीन) नामक उपन्यास लिखा था।”²⁸ इस प्रकार प्रेमचंद को ही ‘भारतीय किसानों का प्रथम उपन्यासकार’ कहने में एक तरफ तो पूरा भारतीय परिप्रेक्ष्य धुँधला होता है, तथा दूसरी तरफ यह खतरा रहता है कि

सिर्फ “किसानों का कथाकार कहने पर प्रेमचंद का महत्व एक दृष्टि से घटाने का भी प्रयास होने लगता है।”²⁹ इसीलिए नामवर सिंह अपने संपादकीय में पूरनचंद्र जोशी के हवाले से स्पष्ट करते हैं कि “जो कल के औपनिवेशिक दासता से ग्रस्त भारत और आज के अर्द्ध सामंती अवशेषों तथा नवोदित पूँजीवादी विकास के अंतर्विरोधों से उद्वेलित भारत के बीच निरंतरता और विच्छिन्नता के द्वंद्वात्मक संबंध को समझते हुए आज कर्म और सृजन की अपार संभावनाओं को देख रहा है। वही प्रेमचंद का सही मूल्यांकन कर सकता है। मुख्य प्रश्न इस व्यापक ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य का है। प्रेमचंद की ‘विगत महत्ता और वर्तमान अर्थवत्ता’ की समस्या का सुलझाव इसी परिप्रेक्ष्य से संभव है।”³⁰ इसी अंक में पूरनचंद्र जोशी ने ‘प्रेमचंद की अमरता के मूल स्रोत’ पर साहित्यिक समाजशास्त्रीय चिंतन पद्धति के माध्यम से प्रेमचंद की प्रासंगिकता को स्पष्ट किया है। तथा कलावादी प्रश्नों का उत्तर देने का कार्य किया है। मैनेजर पांडेय भी इस अंक में ‘प्रासंगिकता का प्रश्न और प्रेमचंद की प्रासंगिकता’ शीर्षक निबंध में आधुनिकतावादी-कलावादी प्रश्नों का उत्तर देते हुए प्रेमचंद की महत्ता का उद्घाटन करते हैं। “किसी कलाकृति की उत्पत्ति, उसकी अस्तित्व और उसका जीवन समाज तथा इतिहास के बाहर नहीं होता। कृतिकार और पाठक भी समाज तथा इतिहास से परे नहीं होते। कलाकृति की प्रासंगिकता-अप्रासंगिकता का निर्णय भी समाज और इतिहास के भीतर ही होता है।... अतीत की सार्थकता और वर्तमान अर्थवत्ता की द्वंद्वात्मकता के कारण रचना की उत्पत्ति का उसके प्रभाव से संबंध स्पष्ट होता है।... कहने का तात्पर्य यह है कि प्रासंगिकता की धारणा केवल सौंदर्यबोधी धारणा नहीं हैं, वह बुनियादी तौर पर सामाजिक और ऐतिहासिक धारणा है।”³¹ स्पष्ट है कि प्रेमचंद की जन्मशताब्दी के अवसर पर ‘आलोचना’ पत्रिका में कलावादी प्रासंगिकता की अवधारणा में निहित मन्तव्यों को उजागर करनेवाले लेख, शोधालेख संपादकीय टिप्पणियाँ आदि देखे जा सकते हैं जिससे अपनी परंपरा के महत्वपूर्ण उन्नायक की विरासत को अतीत में सार्थक और वर्तमान में उसकी अर्थवत्ता की द्वंद्वात्मकता को उद्घाटित किया

जा सके।

ध्यान देने की बात है कि जन्मशताब्दियों के अवसर पर उनकी प्रासंगिकता सिद्ध करने के लिए जब कुछ रचनाकारों की 'विगत महत्ता और वर्तमान अर्थवत्ता' को भुलाकर उनकी समकालीन समस्याओं के संदर्भ में एकदम समकालीन बनाकर प्रस्तुत किया जाने लगा था तब नामवर सिंह ने नवांक-67 के संपादकीय 'प्रासंगिकता का प्रमाद' में यह चिंता व्यक्त की कि "आज यह सवाल उठाना इसलिए ज़रूरी है कि प्रासंगिकता की चिंता प्रमाद की सीमा तक बढ़ गई है। अतीत के हर बड़े लेखक को किसी-न-किसी तरह समकालीन बनाने की कोशिश हो रही है कि अतीत की अतीतता तो सुरक्षित नहीं ही रही वर्तमान की अपनी विशिष्टता भी लुप्त हो रही है यहाँ तक कि अतीत और वर्तमान का अंतर मिटता जा रहा है और इस तरह आज की ज्वलंत समस्याओं से बच निकलने का एक बहाना मिल रहा है।"³² इस प्रकार हिंदी आलोचना के इस दौर में प्रासंगिकता का प्रश्न इस कदर हावी था कि एक पक्ष परंपरा को हथिया लेने की कोशिश कर रहा था, तो कुछ परंपरा की अपनी मनमानी व्याख्या करने में लगे हुए थे। और इस प्रासंगिकता के प्रमाद में "जो महापुरुष जीते-जी अक्षित रह गए वे भी अब बच निकलने के लिए स्वतंत्र नहीं हैं। उन्हें भी प्रासंगिक होना पड़ेगा।"³³ ऐसी स्थिति उत्पन्न हो गई थी। ऐसी स्थिति में "परंपरा को हथिया लेने की इस कोशिश में आश्चर्य नहीं कि अनुकूल व्याख्या द्वारा प्रासंगिकता बनाने का सारा प्रयास ही संदिग्ध हो उठे। आज परंपरा की प्रगतिशील धारा के लिए संघर्ष करनेवालों के सम्मुख सबसे बड़ी चुनौती यही है।"³⁴ इस संदर्भ में उन्होंने प्रगतिशील चिंतकों द्वारा "रूढ़िवादियों से अपने अतीत की रक्षा करके परंपरा की प्रगतिशील धारा को उजागर करने"³⁵ के प्रयास की मजहत्ता को उजागर करते हैं।... उन्होंने प्रगतिशील आलोचकों द्वारा इस दृष्टि से "कबीर, जायसी, भारतेन्दु, महावीरप्रसाद द्विवेदी, रामचंद्र शुक्ल, प्रेमचंद, निराला जैसे महान साहित्यकारों की प्रगतिशील व्याख्याओं"³⁶ को ऐतिहासिक महत्त्ववाला बताते हैं और स्पष्ट करते हैं कि "निश्चय ही इन साहित्यकारों के मूल्यांकन में उनके

अंतर्विरोधों और असंगतियों को भी रेखांकित किया गया है और इसके लिए एक हद तक ऐतिहासिक परिस्थितियों को जिम्मेदार भी ठहराया गया है। किंतु जोर निश्चय ही विधेययात्मक प्रगतिशील तत्वों पर ही³⁷ रहता है। इस पक्ष के होने के बावजूद नामवर सिंह स्पष्ट करते हैं कि “अतीत के लेखकों को प्रासंगिक सिद्ध करने की चिंता में या तो वर्तमान से उनके पार्थक्य को कम करके बताया जाता है या फिर इस अंतर को एकदम भुला ही दिया जाता है... कुछ समान प्रगतिशील तत्वों के कारण अतीत के प्रायः सभी महान लेखक एक रूप से दिखाई पड़ते हैं यहाँ तक कि उनके चेहरे की निजी विशिष्टता भी खो जाती है। इस प्रकार फौरी तौर पर यह ‘प्रगतिवादी रणनीति’ भले ही कारगर प्रतीत हो, किंतु अंततः यह आश्चर्यजनक एकरूपता ही उसे संदिग्ध बना देती है।”³⁸

मार्क्सवादी आलोचकों की ‘प्रगतिवादी रणनीति’ अर्थात् ‘विधेययात्मक प्रगतिशील तत्वों पर ही जोर’ होने के कारण अपनी परंपरा के अंतर्विरोधों असंगतियों को नज़रअंदाज़ किया जाने लगा। इस संदर्भ में मार्क्सवादी चिंतकों ने एकदम सरलीकरण का सहारा लिया। इस प्रकार अपनी परंपरा के महत्वपूर्ण व्यक्तित्वों चाहें वे “व्यक्तित्व प्रेमचंद के हों अथवा निराला, जयशंकर प्रसाद, महादेवी वर्मा अथवा उनके पहले के भारतेन्दु बाबू, महावीर प्रसाद द्विवेदी या फिर और पहले के; इस नाते विवादास्पद रहे हैं कि उनके मूल्यांकन में इन व्यक्तित्वों के प्रगतिशील पक्ष को रेखांकित किया गया है इतर पक्ष की अनदेखी की गई है या उसे उभारा नहीं गया है और इस प्रकार अंतर्विरोधों की चर्चा न करके एक सीधी लकीर में इनकी प्रगतिशीलता का आख्यान किया गया है।”³⁹ इसीलिए शिवकुमार मिश्र साफ शब्दों में कहते हैं कि “परंपरा के मूल्यांकन के हमारे दूसरे प्रयास भी उपर्युक्त कमजोरी से ग्रस्त रहे हैं और इस कारण मार्क्सवादी आलोचना की विश्वसनीयता को भी हमने संदिग्ध बनाया है।”⁴⁰ इस समस्या से उबरने के लिए ‘परंपरा का सही चेहरा’ साफ करने तथा इसकी ‘विगत महत्ता और वर्तमान अर्थवता’ को उजागर करने के लिए नामवर सिंह ने यह धारणा प्रस्तुत की “अपनी अस्मिता और अपनी जड़ों की खोज करते हुए परंपरा के प्रति

आलोचनात्मक रुख से परिचित होना चाहिए।⁴¹ इसके अतिरिक्त नामवर सिंह एक सुझाव और रखते हैं कि “यदि ब्रेष्ठ के ‘अलगाव-प्रभाव’ को आलोचना के क्षेत्र में लागू करें तो अतीत की कृतियों को आज के लिए प्रासंगिक बनाने का सबसे वैज्ञानिक और वस्तुनिष्ठ मूल्य यह है कि अपने और उनके बीच की दूरी को सुरक्षित रखा जाय और इस प्रकार पाठकों में उस आलोचनात्मक विवेक को जाग्रत रखा जाय जिससे वे अतीत की महान से महान कृति के अपने अंतर्विरोध के प्रति सजग रहे। दूरी अथवा अलगाव का विलोम पुराना ‘तादात्म्य’ सिद्धांत है जिसमें भ्रम का खतरा है। इस प्रक्रिया में प्राचीन कृति थोड़ी देर के लिए नितान्त समकालीन भले ही हो जाए, किंतु अंततः उसकी अपनी अस्मिता तो नष्ट होती ही है, हम भी अपनी अस्मिता के लिए खतरा मोल लेते हैं। इस भ्रम से बचने का एक ही उपाय है और वह है ‘पार्थक्य का सतत विवेक’।⁴² नामवर सिंह ने परंपरा के सही चेहरे को स्पष्ट करने के लिए उसकी विगत महत्ता तथा वर्तमान अर्थवत्ता को बनाए रखने के लिए पार्थक्य सिद्धांत के सुझाव को गंभीरता से प्रस्तुत किया है। ‘नामवर सिंह के ‘पार्थक्य का सतत विवेक’ के सुझाव की कड़ी प्रतिक्रिया बच्चन सिंह ने की थी जो ‘आलोचना’ के ही नवांक-68 में “‘प्रासंगिकता’ के प्रश्न पर एक संवाद” शीर्षक के अन्तर्गत प्रकाशित है। इस ‘पार्थक्य के सिद्धांत’ को इतिहास की वस्तु बताते हुए उसे ‘निहायत बेमाकूल’ मानते हैं और तादात्म्य सिद्धांत को ही परंपरा के मूल्यांकन के संदर्भ में उपयुक्त मानते हैं। स्पष्ट करते हैं कि “‘तादात्म्य’ पुराना तो है पर काफी वज़नदार है और प्रासंगिकता के संदर्भ में काफी उपयोगी है। ब्रेष्ठ का ‘एलियनेशन-इफेक्ट’ अब इतिहास की वस्तु बन गया है।⁴³ नामवर सिंह इस ‘सामयिक प्रतिक्रिया’ का उत्तर देते हुए अपने सुझाव को और स्पष्ट करने का काम इसी अंक में ‘संपादक की टिप्पणी’ शीर्षक लिख कर करते हैं। इस ‘पार्थक्य सिद्धांत’ के और भी अन्य आयामों को उद्घाटित करते हैं।⁴⁴

इस प्रकार ‘परंपरा का सही चेहरा’ को स्पष्ट करने तथा ‘विगत महत्ता तथा वर्तमान

अर्थवत्ता' को उजागर करने के लिए नामवर सिंह के उपर्युक्त दोनों सुझाव महत्वपूर्ण हैं और उन्होंने परंपरा के मूल्यांकन के संदर्भ 'आलोचनात्मक रुख' तथा 'पार्थक्य सिद्धांत' का ही प्रयोग किया है। कहने की ज़रूरत नहीं कि 'परंपरा के मूल्यांकन' के संदर्भ में 'आलोचना' पत्रिका में प्रायः इन्हीं दो धारणाओं का उपयोग किया गया है। इस संदर्भ में 'आलोचना' पत्रिका के उन विशेषांकों, लेखों, शोधालेखों को देखा जा सकता है, जो मुख्य रूप से परंपरा के महत्वपूर्ण प्रश्नों पर केंद्रित रहा है।

'आलोचना' पत्रिका के नवांक-51-52 प्रेमचंद-स्मृति अंक में तथा भारतेन्दु हरिश्चंद्र की सौवी पुण्यतिथि और मैथिलीशरण गुप्त की जन्मशताब्दी वर्ष के उपलक्ष्य में 'आलोचना' 'हिंदी नवजागरण' के आलोक में जो अंक (नवांक-79) प्रस्तुत हुआ परंपरा के मूल्यांकन संबंधी इन्हीं दो धारणाओं का उपयोग किया गया है। इस अंक में भारतेन्दु के समस्त कृतित्व का मूल्यांकन इस परिप्रेक्ष्य में करते हुए उनकी 'विगत महत्ता और वर्तमान अर्थवत्ता' को भी स्पष्ट किया गया है। यहाँ उनके अंतर्विरोधों को दबाया नहीं गया है, बल्कि बच्चन सिंह ने एक लेख ही 'भारतेन्दु हरिश्चंद्र: व्यक्तित्व के अंतर्विरोध' शीर्षक से प्रकाशित है। उस लेख में बच्चन सिंह स्पष्ट करते हैं कि "भारतेन्दु के व्यक्तित्व का अध्ययन उस युग के तथा हिंदी जाति के अंतर्विरोधों का अध्ययन है। किंतु स्मरण रखना चाहिए कि किसी भी सचेत व्यक्ति का व्यक्तित्व समाज के अंतर्विरोधों का प्रतिबिंब नहीं होता। दोनों में द्वंद्वात्मक संबंध होता है।... किंतु... जब तक उनकी रूढ़िवादिता और पारंपरिकता नहीं रखी जाएगी. सिक्के का एक ही पहलू सामने आएगा, पूरा सिक्का नहीं और न इससे उस युग का पूरा अंदाज हो सकेगा।"⁴⁵ बच्चन सिंह, भारतेन्दु हरिश्चंद्र के अंतर्विरोधों का अध्ययन करते हुए यह स्पष्ट करते हैं कि "उनका व्यक्तित्व अंतर्विरोधों का एक कांप्लैक्स था। वे विशिष्ट भी थे, सामान्य भी; राजभक्त भी थे, देशभक्त भी; सनातनी वैष्णव भी थे; आडंबर विरोधी भी थे. परंपरावादी भी थे, आधुनिक भी... ये अंतर्विरोध हिंदी समाज के थे, इसलिए भारतेन्दु के भी। इनके आधार पर भी समाज और भारतेन्दु के रिश्ते को समझा जा सकता है।"⁴⁶ इसी प्रकार

शिवकुमार मिश्र भारतेन्दु हरिश्चंद्र के प्रति अपनी श्रद्धा रखते हुए भी उनकी राजभक्ति और राष्ट्रभक्ति के प्रश्न पर स्पष्ट करते हैं कि “भारतेन्दु की राजभक्ति या राष्ट्रभक्ति पर कोई भी रायजनी उनके अपने समय के संदर्भ में और उनके अपने समय के नवजागरण के परिपेक्ष्य में ही होनी चाहिए।”⁴⁷ शिवकुमार मिश्र उन विद्वानों का विरोध करते हैं जो भारतेन्दु का मूल्यांकन वर्तमान समय की मान्यताओं-अवधारणाओं के आधार पर करना चाहते थे। भारतेन्दु हरिश्चंद्र की इस संदर्भ में क्या स्थिति थी उसे स्पष्ट करते हुए शिवकुमार मिश्र कहते हैं कि “भारतेन्दु में जो और जैसी राष्ट्रभक्ति है उसके लिए हमें किसी भी प्रकार की सफाई पेश करने की ज़रूरत नहीं है और न उसके लिए संकुचित होने की ज़रूरत है। वह उनके अपने समय की चीज़ है और उस समय वह उसी रूप में उनकी चेतना का अंग बन सकती थी, जिस रूप में वह है... भारतेन्दु बाबू में कुल मिलाकर राजभक्ति का अंश बहुत गाढ़ा है, वह सत्तर से अस्सी प्रतिशत तक है और जिसे राष्ट्रभक्ति कहेंगे, आज के अर्थवाली राष्ट्रभक्ति, उसका प्रतिशत शायद महज दस प्रतिशत ही होगा, और वह भी एकदम आज जैसा नहीं। देखने की बात यह है कि भारतेन्दु की इस अस्सी प्रतिशत राजभक्ति पर कैसे उनकी अल्पांश की यह राष्ट्रभक्ति अंततः अपना वर्चस्व कायम करती है, और भारतेन्दु अपने समय के एक खरे राष्ट्रभक्त के रूप में हमें अपनी पहचान कराते हैं। किंतु इस मूल्यांकन के लिए हमें भारतेन्दु के गहरे आत्मसंघर्ष से होकर गुज़रना होगा।”⁴⁸ इस उद्धरण के मंतव्य से स्पष्ट हो जाता है कि यहाँ भारतेन्दु हरिश्चंद्र की सांस्कृतिक विरासत को सही परिप्रेक्ष्य में रखकर ग्रहण करना है, उनके गहरे आत्मसंघर्ष से होते हुए उनके सही स्वरूप को उद्घाटित करना है जिससे वर्तमान समय में उनके संघर्षों से प्रेरणा ग्रहण की जा सके। ध्यान देने की बात है कि ‘आलोचना’ के इस अंक में भारतेन्दु का मूल्यांकन इन्हीं संदर्भों में रखकर किया गया है, जिनसे भारतेन्दु की सांस्कृतिक विरासत की सही पहचान कर सके। उनके युगीन सीमाओं को, उनके मूल्यवान् संघर्ष को उद्घाटित किया जा सके। रमेशकुंतल मेघ का लेख ‘भारतेन्दु हरिश्चंद्र और कुछ उपनिवेशीय सवाल’ इस संदर्भ

में एक महत्वपूर्ण लेख है, जो भारतेन्दु हरिश्चंद्र के व्यक्तित्व के कई पक्षों को उद्घाटित करता है। इसी अंक में मैथिलीशरण गुप्त पर भी गंभीर अध्ययन युक्त सामग्री दी गई है। और मैथिलीशरण गुप्त का मूल्यांकन भी उनके युगीन संदर्भ और मान्यताओं के परिप्रेक्ष्य में ही किया गया है, जिससे उनके व्यक्तित्व का सही रूप पाठकों तक पहुँच सके, तथा उनके मूल्यवान योगदान का स्वरूप क्या है उससे अवगत हो सके। मैथिलीशरण गुप्त के अनुवादक रूप, राष्ट्रीय जागरण के कवि रूप, उनकी राष्ट्रीयता, तथा उनका हिंदी भाषा के विकास में क्या योगदान है, आदि मुद्दों को इस अंक के लेखों में स्पष्ट किया गया है।

इसी नवांक-79 में 'हिंदी नवजागरण की संकल्पना' को लेकर नामवर जी ने कुछ प्रश्न उठाए हैं, जो उनके संपादकीय के रूप में 'हिंदी नवजागरण की समस्याएँ' शीर्षक से प्रकाशित हैं वह 'हिंदी नवजागरण' को एक पक्ष द्वारा हथिया लेने की कोशिश के विरोध में लिखा गया है।⁴⁹ मूलतः यह अंक भी इसी तरह परंपरावादियों-रूढ़िवादियों से 'परंपरा के स्वरूप' की रक्षा करता हुआ दिखाई पड़ता है। 'आलोचना' पत्रिका के (नवांक-79) 'नवजागरण' और 'भारतेन्दु हरिश्चंद्र पर केंद्रित अंक के विरोध में कई विरोधी मान्यताएँ भी निकल कर आईं, जिसमें ऐसा प्रतीत होता है कि नवजागरण की, भारतेन्दु हरिश्चंद्र की छवि को उनके वास्तविक संदर्भों से काटकर कोई और छवि बनाई जाने लगी थी; अन्यथा शिवकुमार मिश्र 'आलोचना' के नवांक-82 में प्रकाशित अपने लेख- 'नवजागरणकालीन साहित्य के चरित्र का एक विशिष्ट पहलू', में उन मान्यताओं इतना कड़ा प्रतिवाद नहीं करते जो उस लेख में प्रच्छन्न रूप से आए हैं। जैसे "यह सब हम इसलिए लिख रहे हैं, ताकि हम भारतेन्दु बाबू की विरासत को उसके सही परिप्रेक्ष्य और सही संदर्भों में देख और ग्रहण कर सकें, उससे सीख ले सकें। भारतेन्दु बाबू की यही विरासत हमारे लिए अधिक ग्राह्य और मूल्यवान होगी, बजाए उनके उस रूप के जो उन्हें उनके समय से काटकर, एक श्रद्धाविगलित मानसिकता के तहत हमारे सामने पेश किया जाएगा। हमारा यह कथन उन लोगों के लिए है जो

सचमुच भारतेन्दु को एक मूल्यवान विरासत के रूप में अपनी भाषा तथा साहित्य के हित में पाना, सँजोना और अपने साथ लेकर चलना चाहते हैं, उनके लिए नहीं, जिनकी 'भारतेन्दु-व्याकुल' और 1857 व्याकुल छवि हमें 'आलोचना' के 79 वे अंक के बाद ही देखने को मिली है। ऐसे लोगों के भारतेन्दु-प्रेम और देश-प्रेम को हम अच्छी तरह पहचानते हैं।⁵⁰ इस लेख में मिश्र जी ने बार-बार आग्रह किया है कि भारतेन्दु हरिश्चंद्र के मूल्यवान को अवश्य बताएं "अपने रचनाकारों का सही मूल्यांकन करें, उस पर अपने रुझानों को आरोपित कर उनके चेहरे पर और इतिहास के चेहरे पर धुंध न चढ़ाएँ। भारतेन्दु बाबू को हम भारतेन्दु ही रहने दें तो यह हमारे और हमारे साहित्य के हित में होगा।"⁵¹ और स्पष्ट करते हैं कि "यह काम एक सजग वैज्ञानिक विवेक की अपेक्षा रखता है।

यह वैज्ञानिक विवेक ही हमें परंपरा या इतिहास को उसकी पूरी वस्तुनिष्ठता में देखने परखने और मूल्यांकित करने की आलोचनात्मक दृष्टि देता है, हमें इतिहास या परंपरा के प्रति भावुक, श्रद्धाविगलित, मोहाक्रांत अथवा आतंकाभिभूत होने से बचाया है। हमें सत्य को, वस्तुगत सत्य को, साहस के साथ स्वीकार करने तथा उसके आलोक में आगे का मार्ग तय करने में मदद देता है। वस्तुतः परंपरा का अध्ययन हम इसीलिए करते हैं।"⁵² स्पष्ट है कि परंपरा का मूल्यांकन सांस्कृतिक विरासत की सही पहचान तथा उसकी 'विगत महत्ता एवं वर्तमान अर्थवत्ता' के संदर्भ में करना चाहिए, जिसके लिए 'आलोचनात्मक रुख' अपनाना होता है, साथ ही उसके अतीत की अतीतता को बनाए रखने के लिए उससे अपना 'पार्थक्य' भी बनाना अपेक्षित है। परंपरा के मूल्यांकन के संबंध में वस्तुतः यही वैज्ञानिक दृष्टि है। कहने की ज़रूरत नहीं कि 'आलोचना' पत्रिका ने परंपरा के मूल्यांकन के संदर्भ में इसी दृष्टि को अपना आदर्श बनाया है। जो उसके 'सूरदास' पर केंद्रित विशेष सामग्री, 'तुलसीदास' और मानस पर विशेष सामग्री युक्त अंक, प्रेमचंद स्मृति-अंक, हिंदी नवजागरण, भारतेन्दु हरिश्चंद्र, मैथिलीशरण गुप्त, आदि के मूल्यांकन के संदर्भ में देखा जा सकता है।

इस प्रकार नामवर सिंह द्वारा संपादित 'आलोचना' पत्रिका अपने सांस्कृतिक विरासत की न सिर्फ सही तस्वीर प्रस्तुत करने का कार्य करती है, बल्कि उसकी छवि को धुँधला करनेवालों के विरुद्ध संघर्ष भी करती है। उसके प्रति एक वैज्ञानिक दृष्टिकोण का मार्ग प्रशस्त करती है।

3.2.3. दूसरी परंपरा की खोज का प्रश्न

परंपरा के मूल्यांकन के संदर्भ में परंपरा अथवा सांस्कृतिक विरासत से परिचय के दौरान ही हमें कुछ ऐसी मान्यताओं, मूल्यों, विश्वासों, धारणाओं, प्रवृत्तियों आदि की धाराओं से भी परिचय होता रहता है, जो 'मुख्य धारा' में नहीं होती है, अन्यान्य धारा अथवा धाराएँ होती हैं, जो मुख्यधारा के सांस्कृतिक विरासत के प्रश्नों की सीमाओं से जुड़े रहने के कारण प्रायः उधर ध्यान ही नहीं जा पाता है। या उनके अस्तित्व की उपेक्षा की जाती है। जबकि वास्तविकता यह है कि उन्हीं अवांतर अन्य कही जानेवाली धाराओं से मुख्य धारा को सर्वाधिक चुनौती मिलती है। नामवर सिंह के मतानुसार ये अवांतर धाराएँ, उपेक्षित धाराएँ, दबी हुई धाराएँ मूलतः सांस्कृतिक जीवन और साहित्य की अन्यान्य परंपराएँ हैं जिसे 'दूसरी परंपरा' के नाम से जाना जा सकता है।

'आलोचना' पत्रिका के संपादन के संदर्भ में रेखांकित करने योग्य महत्वपूर्ण तथ्य यह है कि दूसरी परंपराओं के प्रश्न को व्यवस्थित ढंग से उठाने का श्रेय नामवर सिंह को जाता है और यह कार्य उन्होंने 'आलोचना' पत्रिका के माध्यम से किया है। ध्यान देने की बात है कि 'आलोचना' के आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी-स्मृति-अंक (नवांक-49-50) में नामवर सिंह ने "दूसरी परंपरा की खोज" शीर्षक से अपना एक महत्वपूर्ण लेख लिखा। इस लेख से ही यह पदबंध बहस के केंद्र में आया। उन्होंने इस पदबंध का प्रयोग प्रारंभ में आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के कृतित्व के मूल्यांकन के संदर्भ में प्रयुक्त किया। और पहली बार 'आलोचना' पत्रिका में किया। नामवर सिंह इस लेख को विस्तार देते हुए आचार्य हजारीप्रसाद के कृतित्व के मूल्यांकन के लिए इसी शीर्षक से यानी 'दूसरी परंपरा की खोज' (1982 ई.) में पूरी पुस्तक लिखते हैं, जिसमें इस 'दूसरी परंपरा' का

अर्थ-स्वरूप आदि को स्पष्ट किया गया है। इस के उपरान्त यह पदबंध बहस का रूप ग्रहण करता है। जिसके संदर्भ में यह बात कही गई कि इसके “केंद्र में आचार्यहजारी प्रसाद द्विवेदी हैं और प्रतिपक्ष में आचार्य रामचंद्र शुक्ल।”⁵³ और फिर इस बहस की कटु परिणिति हमें डॉ० रामविलास शर्मा की कृति ‘लोकजागरण और हिंदी साहित्य’ (1985 ई०) में दिखाई पड़ती है। वस्तुतः यह आगे चलकर ब्राह्मणवादी और गैरब्राह्मणवादी चिंतन धारा के रूप में अभिहित किया गया। जिसमें पहली परंपरा में वर्चस्वशाली ब्राह्मण आर्य जातियाँ आती हैं, जो वेद शास्त्र ज्ञान आदि से युक्त होती थी। दूसरी परंपरा में अनार्य शूद्र, शोषित, जातियाँ आती हैं, जो वेद शास्त्र आदि ज्ञान से वंचित रह गई थीं।⁵⁴ इस संदर्भ में आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी को ‘कबीर’ का मूल्यांकन करने के कारण तथा नाथ-सिद्धों की साहित्यिक-सांस्कृतिक परंपरा को सहानुभूतिपूर्वक देखने के कारण उन्हें इन दूसरी परंपराओं के खोजी के रूप में देखा गया उन्हें दूसरी परंपरा के उद्गाता आचार्य के रूप में नामवर जी ने प्रतिष्ठित किया। “कबीर के माध्यम से जाति-धर्म-निरपेक्ष मानव की प्रतिष्ठा का श्रेय तो द्विवेदी जी को ही है। एक प्रकार से यह दूसरी परंपरा है।”⁵⁵ और “भारतीय साहित्य की यह दूसरी परंपरा है जो काल प्रवाह में भले ही गौण हो किंतु क्रांतिकारी परंपरा यही है; और द्विवेदी जी ने कबीर के माध्यम से उस क्रांतिकारी परंपरा को पुनः उद्घाटित करके ऐतिहासिक कार्य किया है।”⁵⁶ नामवर सिंह इस संदर्भ में ‘लोक धर्म’ पदबंध का प्रयोग करते हुए स्पष्ट करते हैं कि “‘लोक धर्म’ साधारण जनों के विद्रोह की विचारधारा है। इसे लोक धर्म कहने का कारण तो यह है कि यह उच्च वर्गों के शास्त्र के समान सूक्ष्मातिसूक्ष्म तर्क-पद्धति से सम्पन्न तथा व्यापक विश्व-दृष्टि के रूप में विकसित कोई सुसंगत और सुव्यवस्थित ‘विचार प्रणाली’ नहीं है।”⁵⁷ नामवर सिंह के मतानुसार दूसरी परंपरा की खोज का “प्रयोजन मुख्यतः पंडितों की इकहरी परंपरा की संकीर्णता का निदर्शन है।”⁵⁸ दूसरी परंपरा मूलतः उन ‘हाशिए पर पड़े हुए, दमित, शोषित, शास्त्रवंचित, अनार्य, नाग, गंधर्व आदि की परंपराएँ हैं जो ब्राह्मणवादी परंपरा के प्रभुत्व के कारण खड़ी नहीं हो सकी। नामवर सिंह की

इस दूसरी परंपरा संबंधी मान्यताओं का डॉ० रामविलास शर्मा ने जोरदार प्रत्याख्यान करते हुए दूसरी परंपरा को मुख्यतः पहली परंपरा के रूप में देखते हैं। और स्पष्ट करते हैं कि ‘हिंदी में परंपराएँ तो अनेक हैं पर जो परंपरा गौरवशाली है, जिसे अपनी जातीय परंपरा कहकर हम गर्व कर सकते हैं वह एक ही है।’⁵⁹ और इस परंपरा के सूत्रधार ‘महावीर प्रसाद द्विवेदी हैं, और उसके अंग आचार्य शुक्ल का आलोचना-कर्म है और यही हिंदी की अपनी गौरवशाली परंपरा है।’⁶⁰ इस प्रकार वह आचार्य हजारीप्रसाद की एक प्रकार से उपेक्षा करते हैं। ‘दूसरी परंपरा’ के अस्तित्व को अस्वीकार करते हैं। वहीं दूसरी तरफ, प्रदीप सक्सेना अपने शोध निबंध में दूसरी परंपरा की खोज को प्रारंभ करने का श्रेय रांगेय राघव को देते हैं।⁶¹ शिवकुमार मिश्र दूसरी परंपरा की बात को सही मायने में मार्क्सवादी समीक्षा के संदर्भ में रखकर देखने का आग्रह करते हैं।⁶²

गौरतलब है कि नामवर सिंह अपने ‘आलोचना’ वाले लेख और ‘दूसरी परंपरा की खोज’ पुस्तक में दूसरी परंपरा की बात को जिस प्रकार से उठाते हैं, उससे ऐसी स्थिति बनी कि उसे प्रायः ‘आचार्य रामचंद्र शुक्ल बनाम आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी’ के रूप में ही ग्रहण किया गया नामवर सिंह इस ‘दूसरी परंपरा की खोज’ पुस्तक में प्रकारांतर से ध्वनित भी यही होता है। जब कि उनकी इस दूसरी परंपरा की धारणा का तात्पर्य आचार्य शुक्ल की परंपरा के बरक्स आचार्य द्विवेदी की कोई दूसरी, अलग परंपरा को खड़ा करना नहीं था बल्कि यहाँ इसका संबंध उन परंपराओं से है, जो इकहरी, प्रभुत्वशाली परंपरा के विरुद्ध किसी-न-किसी रूप में चलती रहती हैं, वह एकसाथ कई परंपराएँ भी हो सकती हैं। वह प्रभुत्वशाली परंपरा के प्रभाव के कारण उठ ही नहीं पाती हैं पर लोक से, जन से जुड़कर अपनी सत्ता को बचाए रखती हैं, जो कई बार विद्रोह करती हैं, और प्रभुत्वशाली परंपरा के समक्ष चुनौती पेश करती हैं। नामवर सिंह का मत है कि ‘परंपरा इकहरी चीज़ नहीं है, कभी नहीं रही है, बल्कि परंपराएँ रही हैं, बहुवचन के रूप में परंपरा को लिया जाए और देखा जाए कि जो मूल्य जो मान्यताएँ, जो प्रतिमान, जो निष्कर्ष प्रभुत्वशाली रहे हैं... हम प्रभुत्वशाली

परंपरा को ही अपनी परंपरा कहते हैं, उसी की व्याख्या कुछ लोकोन्मुख बनाकर अपने अनुकूल उसमें थोड़ा सुधार और परिष्कार करते हुए उसे अपनी परंपरा कहते जा रहे हैं।”⁶³ और यह परंपरा इतनी प्रभुत्वशाली होती है, वही हमारे सहजबोध का, ‘कॉमनसेंस’ का अंग बन जाता है, जिसको चुनौती देना मुश्किल होता है। इसीलिए नामवर सिंह बार-बार कहते हैं कि दूसरी परंपरा का तात्पर्य “उस प्रभुत्वशाली निकष को चुनौती देने”⁶⁴ से है, उस प्रभुत्वशाली विचारधारा के कॉमनसेंस से “कितनी दूर तक मुक्त होने का प्रयास करता है और कहाँ मुक्त होने के प्रयास में वह पूर्णतः मुक्त नहीं हो पाता।”⁶⁵ उनकी “मुख्य चिंता यह है कि जब तक उस प्रभुत्वशाली विचारधारा को हम चुनौती नहीं देते तब तक जनता के कवि... निचले या दूसरे दर्जे पर स्थान पाकर रह जाएँगे।”⁶⁶ और “यह चुनौती ऐतिहासिक स्तर पर भी दी जानी चाहिए; लेकिन उनकी पूरी सार्थकता आज के संघर्ष में ही संभव होगी। इसलिए मैंने दूसरी परंपरा का सवाल उठाया, जिसका नक्शा अभी पूरा नहीं हुआ है।”⁶⁷ स्पष्ट है कि नामवर सिंह के दूसरी परंपरा का तात्पर्य शुक्ल जी के विकल्प द्विवेदी जी को खड़ा करना उतना नहीं है जितना कि प्रभुत्वशाली विचारधारा के विरुद्ध चुनौती है। वह चुनौती किसी को भी दी जा सकती है और यह स्थिति तब स्पष्ट होती है जब नामवर सिंह ‘आलोचना’ के नवांक-83 (अक्टूबर-दिसं-1987 ई.) की संपादकीय - ‘कविता की दूसरी परंपरा’ के माध्यम अपनी अवधारणा को स्पष्ट करते हैं।

‘सुभाषितरत्न कोश’ और ‘सदुक्तिकर्णामृत’ के हवाले से संस्कृत के प्रभुत्वशाली काव्य संसार के सम्मुख संस्कृत कविता की ही लोकधर्मी परंपरा को ढूँढ़कर सामने लाते हैं। उसका संबंध योगेश्वर आदि कवियों से जोड़कर दिखाते हैं जिसको संस्कृत काव्य की आभिजात्य धारा में स्थान नहीं मिल पाया था। उन संस्कृत कवियों की लोकधर्मी परंपरा का संबंध नागार्जुन, त्रिलोचन से जोड़ते हैं। इस प्रकार ‘आलोचना’ पत्रिका ने ‘परंपरा के मूल्यांकन’ के संबंध में उस पक्ष को भी महत्ता देने का काम किया है, जो किसी समय की प्रभुत्वशाली विचारधारा, काव्य-प्रवृत्तियों के

कारण विलुप्त हो रहे थे। उन्हें दूसरी परंपरा के रूप में चिह्नित किया। उनका प्रभुत्वशाली विचारधारा के विरुद्ध विद्रोही काव्यप्रवृत्ति के रूप में चिह्नित किया, जिसका मूल्यांकन किसी-न-किसी कारण से हो नहीं पाया था। इसके अतिरिक्त दूसरी परंपरा का सवाल उठाकर नामवर सिंह ने उन परंपराओं की खोज और उनके अध्ययन का मार्गप्रशस्त किया जो पहली परंपरा या प्रभुत्वशाली विचारधारा में अंतर्भुक्त हो गई हैं। साथ ही उन परंपराओं को अपनी पहचान दिलाने में महत्वपूर्ण भूमिका भी निभायी जो अब तक अपनी ही संभावनाओं से अनभिज्ञ हैं। यहाँ कहा जा सकता है कि 'आलोचना' पत्रिका ने हिंदी आलोचना में इस संदर्भ में एक युगांतरकारी प्रदेय को प्रस्तुत करने का महत्वपूर्ण माध्यम बनी।

3.2.3 साहित्य की परंपरा और कैनन का पुनर्निर्माण

परंपरा के मूल्यांकन संबंधी तीसरे आयाम यानी 'दूसरी परंपरा की खोज का प्रश्न' के अंतर्गत यह स्पष्ट किया गया है कि परंपरा इकहरी नहीं होती 'बहुवचनीय' होती है। सिर्फ एक परंपरा नहीं होती बल्कि 'परंपराएँ' होती हैं। मानव समाज में जिस प्रकार परंपराएँ एक नहीं हुआ करतीं, उसी प्रकार साहित्य की परंपरा भी एक नहीं हुआ करतीं, बल्कि साहित्य की भी अनगिनत परंपराएँ होती हैं। "जैसे रचना के क्षेत्र में हर सार्थक रचनाकार कहीं-न-कहीं अपने लिए एक परंपरा ढूँढता है, चिंतन के क्षेत्र में भी अपने लिए एक परंपरा ढूँढने की ज़रूरत आलोचक को महसूस होती है।"⁶⁸ इस प्रकार स्पष्ट है कि प्रत्येक रचनाकार अथवा आलोचक के लिए साहित्य की परंपरा से जुड़ने के लिए उसे खुद का अपने रचनाकारों और आलोचकों की परंपरा से अपने लिए 'कैनन' का निर्माण करता है। इस प्रकार यहाँ स्पष्ट है प्रत्येक रचनाकार या आलोचक के पास 'परंपरा विरासत में अपने आप सहज ही प्राप्त होनेवाली वस्तु नहीं है, बल्कि उसे आयास करके अर्जित करना पड़ता है। अर्जन के इस प्रयास में चयन अनिवार्य है। वस्तुतः यह चयन-वृत्ति स्वयं परंपरा की अवधारणा में अंतर्निहित है।"⁶⁹ इसलिए प्रत्येक रचनाकार अपने को किसी परंपरा के महत्वपूर्ण रचनाकार से

जोड़ता है, उसी प्रकार आलोचक भी अपने लिए किसी या कुछ आलोचकों के 'कैनन' का निर्माण करता है। हिंदी साहित्य की परंपरा में प्रत्येक महत्वपूर्ण आलोचक ने अपने लिए किसी-न-किसी तरह के 'कैनन' का निर्माण अवश्य किया है, यह अलग बात है कि उस कैनन को वह कितनी अच्छी प्रकार से निर्मित कर पाया है, क्योंकि उसकी प्रवृत्ति स्वयं उसकी 'कैनन' की निर्माण-प्रक्रिया में लक्षित होती है। नामवर सिंह का मत है कि 'हिंदी आलोचना के क्षेत्र में इस तरह का पहला प्रयास है 'हिंदी नवरत्न'। यह 'नवरत्न' एक तरह का 'कैनन' ही है: श्रेष्ठ कवियों की तालिका।'⁷⁰ इसी क्रम में आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने 'हिंदी साहित्य के इतिहास' में बहुत ही व्यवस्थित ढंग से हिंदी साहित्य की परंपरा से तीन महत्वपूर्ण रचनाकारों को अपने कैनन में जगह देते हैं जिसमें तुलसीदास, जायसी और सूरदास हैं। इसी प्रकार आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी 'साहित्य की परंपरा से 'कबीर' को चुनकर अपने कैनन का निर्माण करते हैं। हिंदी साहित्य की परंपरा में रचनाकारों और आलोचकों की दूसरे सबसे सशक्त 'कैनन' का निर्माण डॉ० रामविलास शर्मा ने किया है। भारतेन्दु हरिश्चंद्र, महावीरप्रसाद द्विवेदी, आचार्य रामचंद्र शुक्ल, प्रेमचंद, निराला आदि रचनाकारों-आलोचकों से उनके कैनन का निर्माण पूरा होता है। डॉ० रामविलास शर्मा से पूर्व इन रचनाकारों की 'छवि' महज रचनाकार अथवा धार्मिक प्रवृत्ति वाला रचनाकार, अथवा उपन्यासकार आदि के रूप में रही है जबकि रामविलास शर्मा ने इस बनी हुई या स्थापित प्रतिमा में उन्होंने नवीन प्रगतिशील आयाम भर दिए जो आज किसी भी आलोचक के लिए चुनौती है।⁷¹ इसी प्रकार हमें यह देखना है कि 'आलोचना' ने भी अपने संपादकीय विवेक के आधार पर किस प्रकार के 'कैनन' का निर्माण किया है।

ध्यान देने की बात है 'आलोचना' पत्रिका के माध्यम से नामवर सिंह जिस कैनन का निर्माण करते हैं, उसमें प्रमुख आलोचक के रूप में आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी (नवांक-49-50) देखे जा सकते हैं। कवि-आलोचक के रूप में 'आलोचना' पत्रिका ने मुक्तिबोध की महत्ता को

उद्घाटित करने में अपनी महत्वपूर्ण निभाई। नामवर सिंह के 'कैनन' के सबसे सशक्त पक्ष के रूप में भी इसे देखा जा सकता है। नामवर सिंह ने 'नागार्जुन' और 'त्रिलोचन' जैसे कवियों को संस्कृत कविता की दूसरी लोकोन्मुख, लोकधर्मी, काव्यपरंपरा जोड़कर दो महत्वपूर्ण कवियों को अपने 'कैनन' में स्थान दिया।

मध्यकालीन कवियों में आचार्य हजारी प्रसाद के प्रेरक रचनाकार कबीर इनके 'कैनन' के ही प्रतिमान रचनाकार हैं। 'आलोचना' पत्रिका का नागार्जुन विशेषांक (नवांक-56-57) जिसमें नामवर सिंह ने 'कविता की ज़मीन और ज़मीन की कविता' शीर्षक से संपादकीय लिखकर उनके महत्व को प्रतिष्ठित किया, वहीं अपने 'कैनन' को सुव्यवस्थित किया। इसी प्रकार अपने 'कैनन' का विस्तार 'त्रिलोचन' की कविता पर अपना संपादकीय 'एक नया काव्यशास्त्र त्रिलोचन के लिए' (नवांक-82) लिख कर की। इस प्रकार 'आलोचना' पत्रिका साहित्य की परंपरा से कई रचनाकारों-लेखकों को नये ढंग से जोड़ने का काम करती है उसका माध्यम बनती है। जिसमें 'धूमिल', निर्मल वर्मा, श्रीकांत वर्मा हैं, वहीं पश्चिमी मार्क्सवादी चिंतकों में जार्ज लूकाच, रेमंड विलियम्स, लूसिए गोल्डमान, हर्बर्ट मारकूस आदि से हिंदी साहित्य की परंपरा को जोड़कर हिंदी आलोचना को समृद्ध बनाने का कार्य करती है।

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि नामवर सिंह के संपादन में 'आलोचना' पत्रिका ने 'परंपरा के मूल्यांकन' के संदर्भ में सबसे अधिक संघर्ष 'परंपरा का सही चेहरा: विगत महत्ता और वर्तमान अर्थवत्ता', के लिए किया है। स्पष्ट है कि परंपरा का मूल्यांकन सांस्कृतिक विरासत की सही पहचान तथा उसकी 'विगत महत्ता एवं वर्तमान अर्थवत्ता' के संदर्भ में करना चाहिए, जिसके लिए 'आलोचनात्मक रुख' अपनाना होता है, साथ ही उसके अतीत की अतीतता को बनाए रखने के लिए उससे अपना 'पार्थक्य' भी बनाना अपेक्षित है। परंपरा के मूल्यांकन के संबंध में वस्तुतः यही

वैज्ञानिक दृष्टि है। कहने की ज़रूरत नहीं कि 'आलोचना' पत्रिका ने परंपरा के मूल्यांकन के संदर्भ में इसी दृष्टि को अपना आदर्श बनाया है। 'आलोचना' पत्रिका का परंपरा के मूल्यांकन के संदर्भ में इस महत्वपूर्ण अवदान को अवश्य रेखांकित किया जाना चाहिए। इसके अतिरिक्त उपरोक्त अध्ययन से हमें स्पष्ट हुआ है कि नामवर सिंह संपादित 'आलोचना' अपनी सांस्कृतिक विरासत की न सिर्फ सही तस्वीर प्रस्तुत करने का कार्य करती है, बल्कि उसकी छवि को धुँधला करने वालों के विरुद्ध संघर्ष भी करती है। इसके लिए दूसरी परंपराओं की खोज एवं अपने सांस्कृतिक विरासत से परिचय कराने का कार्य करती है। उसके प्रति एक वैज्ञानिक दृष्टिकोण का मार्ग प्रशस्त करती है। इस प्रकार नामवर सिंह संपादित 'आलोचना' पत्रिका का वैज्ञानिक चिंतन एवं उसके लिए वैज्ञानिक वातावरण निर्माण की प्रक्रिया में अपना महत्तम योगदान देती है।

संदर्भ :

1. इस संदर्भ में द्वितीय अध्याय 'मार्क्सवादी आलोचना की नई बहसें और 'आलोचना' में मार्क्सवादी आलोचना के उद्भव पर विस्तार से चर्चा की गई है, विस्तार के लिए द्वितीय अध्याय दृष्टव्य है।
2. अवस्थी, रेखा. प्रगतिवाद और समानांतर साहित्य. नई दिल्ली: मैकमिलन, 1978. प्रगतिशील लेखक संघ-लंदन के घोषणा-पत्र का अंश- परिशिष्ट-1 पृ. सं. 315-316. पर देखें- यहाँ लंदन में तैयार हुए 'प्रगतिशील लेखक संघ के घोषणा-पत्र के सारांश रूप को प्रकाशित किया गया है।
3. आशुतोष कुमार. समकालीन कविता और मार्क्सवाद. नई दिल्ली: शिल्पायन, 2010 पृ. सं. 27.
4. डॉ० रामविलास शर्मा ने अपनी पुस्तक 'महावीरप्रसाद द्विवेदी और हिंदी नवजागरण', में 'सरस्वती' पत्रिका को 'हिंदी की जातीय पत्रिका' कहा है। और 'सरस्वती' पत्रिका पर पूरा एक अध्याय लिखकर हिंदी नवजागरण में उसकी महत्वपूर्ण भूमिका को स्पष्ट किया है। रामविलास शर्मा, महावीरप्रसाद द्विवेदी और हिंदी नवजागरण. नई दिल्ली: राजकमल प्रकाशन, 1977. द्रष्टव्य- महावीरप्रसाद द्विवेदी और सरस्वती' शीर्षक अध्याय
5. सिंह, नामवर. साक्षात्कार. "विवेक की पक्षधरता". साक्षात्कारकर्ता. अशोक वाजपेयी, सुदीप बनर्जी, उदय प्रकाश, संकलित- कहना न होगा. संपादन- समीक्षा ठाकुर. नई दिल्ली: वाणी प्रकाशन, 1994. पृ. सं. 28.
6. मधुरेश. हिंदी आलोचना का विकास. द्वितीय संस. इलाहाबाद: सुमित प्रकाशन, 2004. पृ. सं. 143.
7. वही. पृ. सं. 146.
8. शर्मा, रामविलास. परंपरा का मूल्यांकन. नई दिल्ली: राजकमल प्रकाशन, 1981. भूमिका से उद्धृत.
9. वही. पृ. सं. 09.
10. वही. पृ. सं. 09.
11. वही. पृ. सं. 09.
12. वही. पृ. सं. 15.
13. वही. पृ. सं. 15.

14. मधुरेश. हिंदी आलोचना का विकास. द्वितीय संस. इलाहाबाद: सुमित प्रकाशन, 2004. पृ. सं. 146.
15. शर्मा, रामविलास. मार्क्सवाद और प्रगतिशील साहित्य. द्वितीय संस- नई दिल्ली: वाणी प्रकाशन, 2002. पृ. सं. 266-267.
16. मधुरेश. हिंदी आलोचना का विकास. द्वितीय संस. इलाहाबाद: सुमित प्रकाशन, 2004. पृ. सं. 146-147.
17. पांडेय, मैनेजर. "हिंदी की मार्क्सवादी आलोचना: कितनी मार्क्सवादी कितनी आलोचना". 'आलोचना' (नवांक-86) जुलाई-सित, 1988: पृ. सं. 12.
18. मिश्र, शिवकुमार. "मार्क्सवादी आलोचना के बुनियादी सरोकार और डॉ० रामविलास शर्मा." 'आलोचना' (नवांक-60-61) जनवरी-जून 1982: पृ. सं. 136.
19. मिश्र, शिवकुमार. "मार्क्सवादी आलोचना की समस्याएँ." 'आलोचना' (नवांक-70) जुलाई-सित. 1984: पृ. सं. 45.
20. मिश्र, शिवकुमार, "मार्क्सवादी आलोचना के बुनियादी सरोकार और डॉ० रामविलास शर्मा." 'आलोचना' (नवांक-60-61) जनवरी-जून, 1982: पृ. सं. 136.
21. सिंह, नामवर. साक्षात्कार, "अब तक क्या किया, जीवन क्या जिया". साक्षात्कारकर्ता. असद जैदी और मंगलेश डबराल. कहना न होगा. में संकलित. संपादक-समीक्षा ठाकुर-नई दिल्ली: वाणी प्रकाशन, 1994. पृ. सं. 141.
22. सिंह, नामवर. "परंपरा और मूल्यांकन का मार्क्सवादी पक्ष" -(व्याख्यान) 'पहल'-अंक फरवरी, 1984: पृ. सं. 98 नामवर सिंह ने यह व्याख्यान डॉ० रामविलास शर्मा की अध्यक्षता में दी थी. जिसका अविकल रूप में प्रस्तुती 'ज्ञानरंजन' जी के संपादन में 'पहल' में किया गया है।
23. वही. पृ. सं. 100-101.
24. 'विगत महत्ता और वर्तमान अर्थवत्ता' पदविन्यास नामवर सिंह का है। प्रेमचंद- स्मृति अंक (नवांक-51-52) की संपादकीय का शीर्षक है। वहाँ से इसे ग्रहण किया गया है।
25. पांडेय, मैनेजर. "प्रासंगिकता का प्रश्न और प्रेमचंद की प्रासंगिकता". 'आलोचना' (नवांक-51-52) अक्टू-1979, मार्च 1980 : पृ. सं. 137.
26. सिंह, नामवर, संपादकीय. "प्रेमचन्द: विगत महत्ता और वर्तमान अर्थवत्ता" 'आलोचना'

(नवांक-51-52) : पृ. सं. 01.

27. वही. पृ. सं. 03.
28. वही. पृ. सं. 03.
29. वही. पृ. सं. 03.
30. वही. पृ. सं. 04.
31. पांडेय, मैनेजर. "प्रासंगिकता का प्रश्न और प्रेमचंद की प्रासंगिकता". 'आलोचना' (नवांक-60-61) : पृ. सं. 140-141.
32. सिंह, नामवर. संपादकीय. "प्रासंगिकता का प्रमाद". 'आलोचना' (नवांक-67) अक्टू-दिसं., 1983 : पृ. सं. 05.
33. वही. पृ. सं. 05.
34. वही. पृ. सं. 05.
35. वही. पृ. सं. 05.
36. वही. पृ. सं. 05.
37. वही. पृ. सं. 05-06.
38. वही. पृ. सं. 06.
39. मिश्र, शिवकुमार. "मार्क्सवादी आलोचना की समस्याएँ: हिंदी आलोचना के संदर्भ में". 'आलोचना' (नवांक-70) जुलाई-सितं., 1984 : पृ. सं. 46.
40. वही. पृ. सं. 46.
41. सिंह, नामवर. साक्षात्कार. "अब तक क्या किया, जीवन क्या जिया". साक्षात्कारकर्ता. असद जैदी और मंगलेश डबराल. कहना न होगा. संपा. समीक्षा ठाकुर-नई दिल्ली: वाणी प्रकाशन, 1994. पृ. सं. 141.
42. सिंह, नामवर. संपादकीय. "प्रासंगिकता का प्रमाद". 'आलोचना', (नवांक-67) अक्टू-दिसं., 1983: पृ. सं. 06.
43. सिंह, बच्चन. "प्रासंगिकता के प्रश्न पर एक संवाद" 'आलोचना' (नवांक-68) जनवरी-मार्च, 1984 : पृ. सं. 111.
44. नामवर सिंह ने 'पार्थक्य के सिद्धांत' का सुझाव डॉ० रामविलास शर्मा की अध्यक्षता में दिए गए

- व्याख्यान के अंतर्गत भी दिया था। दृष्टव्य-‘पहला’-26 संपा. ज्ञानरंजन. फरवरी, 1984 में “परंपरा और मूल्यांकन का मार्क्सवादी पक्ष”- रामविलास शर्मा और नामवर सिंह के दुर्लभ व्याख्यान”. शीर्षक स्तंभ- पृ. सं. 83-119 तक.
45. सिंह, बच्चन. “भारतेन्दु हरिश्चंद्र : व्यक्तित्व के अंतर्विरोध”. ‘आलोचना’ (नवांक-79) अक्टू-दिसं- 1986 : पृ. सं. 15.
 46. वही. पृ. सं. 16.
 47. मिश्र, शिवकुमार. “राष्ट्रीय नवजागरण और भारतेन्दु” ‘आलोचना’ (नवांक-79) अक्टू-दिसं., 1986 : पृ. सं. 28.
 48. वही. पृ. सं. 29.
 49. इस संदर्भ में नामवर सिंह का साक्षात्कार “अब तक क्या किया, जीवन क्या जिया” शीर्षक से- ‘कहना न होगा’ पुस्तक में संकलित हैदेखेंउन्होंने कहा है कि हिंदी नवजागरण को कुछ लोग हिंदू नवजागरण’ के रूप में चित्रित कर रहे हैं. उसका प्रव्याख्यान करने के लिए उन्होंने यह संपादकीय लिखा था। पृ. सं. 140 पर.
 50. मिश्र, शिवकुमार. “नवजागरणकालीन साहित्य के चरित्र का एक विशिष्ट पहलू”. ‘आलोचना’ (नवांक-82) जुलाई-सितं., 1987 : पृ. सं. 54.
 51. वही. पृ. सं. 53.
 52. वही. पृ. सं. 49.
 53. मधुरेश. हिंदी आलोचना का विकास. द्वि. संस. इलाहाबाद : सुमित प्रकाशन, 2004. पृ. सं. 186.
 54. दृष्टव्य, वीरभारत तलवार की ‘सामना’ पुस्तक में आचार्य हजारी प्रसाद की आलोचना-दृष्टि पर लिखा गया लेख. स्वयं नामवर सिंह की ‘दूसरी परंपरा की खोज’ पुस्तक में इस तथ्य को आसानी से देखा जा सकता है।
 55. सिंह, नामवर. दूसरी परंपरा की खोज. चौथी आवृत्ति-पेपर बैक्स. नई दिल्ली : राजकमल प्रकाशन, 2003, पृ. सं. 13.
 56. वही. पृ. सं. 55.
 57. वही. पृ. सं. 81.
 58. वही. पृ. सं. 90.

59. शर्मा, रामविलास. भूमिका. लोकजागरण और हिंदी साहित्य. संपा. रामविलास शर्मा. नई दिल्ली: वाणी प्रकाशन, 1985, पृ. सं. 93.
60. देखें- वही. पृ. सं. 93.
61. दृष्टव्य- प्रदीप सक्सेना का लेख “अर्थात् मार्क्सवादी आलोचना के उन भूले-बिसरे पन्नों पर ऐसा क्या लिखा है?”. संपा. प्रदीप सक्सेना. ‘पहल’ ‘मार्क्सवादी आलोचना अंक : (64-65) अप्रैल-जून-2000 : पृ. सं. 287-350 तक.
62. मिश्र, शिवकुमार. हिंदी आलोचना की परंपरा और आचार्य रामचंद्र शुक्ल. नई दिल्ली : वाणी प्रकाशन, 2002. पृ. सं. 25.
63. सिंह, नामवर. साक्षात्कार. “दूसरी परंपरा का प्रश्न”. साक्षात्कार कर्ता. सुधीर रंजन सिंह. संकलित कहना न होगा. संपा. समीक्षा ठाकुर, नई दिल्ली : वाणी प्रकाशन, 1994. पृ. सं. 181.
64. वही. पृ. सं. 186.
65. वही. पृ. सं. 204.
66. वही. पृ. सं. 184.
67. वही. पृ. सं. 184.
68. सिंह, नामवर. साक्षात्कार. “विवेक की पक्षधरता”. साक्षात्कारकर्ता. अशोक वाजपेयी, सुदीप बनर्जी और उदय प्रकाश. कहना न होगा. में संकलित पृ. सं. 28.
69. सिंह, नामवर. संपादकीय. “प्रासंगिकता का प्रमाद”. ‘आलोचना’, (नवांक-67) अक्टू-दिस; 1983 : पृ. सं. 05.
70. सिंह, नामवर. साक्षात्कार. “रूपवाद, परंपरा और प्रतिबद्धता. ” साक्षात्कारकर्ता. वीरेशचंद्र. संकलित, बात बात में बात. संपा. समीक्षा ठाकुर. नई दिल्ली : वाणी प्रकाशन, 2006 : पृ. सं. 191.
71. दृष्टव्यनामवर सिंह का व्याख्यान. “परंपरा और मूल्यांकन का मार्क्सवादी पक्ष”. पहल-26 फरवरी-1984, संपा. ज्ञानरंजन इस व्याख्यान में डॉ० रामविलास शर्मा ने अपने कैमन को किस प्रकार बनाया उसमें कौन से अर्थ भरे हैं उसे विस्तार समझाया गया है। देखें- पृ. सं. 83-119 तक.

અધ્યાય : ચાર

अध्याय : चार

समकालीन रचनाशीलता और 'आलोचना' पत्रिका

डॉ० नामवर सिंह ने 'आलोचना' पत्रिका का संपादन दायित्व अप्रैल-जून 1967 ई० से ग्रहण किया और उनके संपादन में वह अप्रैल-जून 1990 ई० तक निकलती रही। इस बीच केवल एक वर्ष (अप्रैल-जून 1978 से जनवरी-मार्च 1979 ई० तक) वह इसका संपादन नहीं कर पाए। किंतु, किसी-न-किसी प्रकार से 'आलोचना' से उनका जुड़ाव बना रहा।¹ इस प्रकार नामवर सिंह के संपादन में 'आलोचना' पत्रिका लगभग चौबीस वर्षों तक निकलती रही। अपने संपादन के इतने लंबे अंतराल में 'आलोचना' पत्रिका का अपनी समकालीन रचनाशीलता से किस प्रकार का संबंध रहा है? अथवा 'आलोचना' ने समकालीन रचनाशीलता को किस रूप में ग्रहण किया है? यह देखना अत्यंत ही महत्वपूर्ण है।

इससे न केवल 'आलोचना' पत्रिका का अपनी समकालीन रचनाशीलता से संबंध स्पष्ट हो सकेगा बल्कि 'आलोचना' पत्रिका में अपना स्वरूप ग्रहण करती हिंदी आलोचना को देखा जा सकेगा। जिससे 'आलोचना' पत्रिका के माध्यम से विकास कर रही हिंदी आलोचना की समकालीन प्रवृत्तियों से भी हमारा परिचय हो सकेगा।

4.1 समसामयिक साहित्यिक-संदर्भ और पत्र-पत्रिकाओं का महत्त्व

पत्र-पत्रिकाओं का अपने समकालीन सामाजिक-राजनीतिक सांस्कृतिक परिदृश्य से अत्यंत गहरा जुड़ाव रहता है। पत्र-पत्रिकाएँ अपने समकालीन समाज "के उन सब रूपों विशेष स्थितियों, विविध घटनाओं, जीवंत प्रसंगों से जुड़े व्यक्ति व व्यक्ति-समूहों की अविकृत दर्पण होती है। इसमें न केवल युग जीवन की अभिव्यक्ति होती है, वरन् युग सत्त्यों से साक्षात्कार भी होता है। बदलते हुए व्यक्ति और समाज को चित्रित करने में इसकी महती भूमिका है। इतना ही नहीं ये समाज को

आंदोलित कर नए समाज की रचना की नई दिशा और दृष्टि से संवलित करती है। देश के भाग्य के निर्माण में पत्र-पत्रिकाओं की अहम भूमिका को नकारा नहीं जा सकेगा।¹² इस उद्धरण से स्पष्ट है कि देश और समाज के भाग्य के निर्माण में पत्र-पत्रिकाओं की अहम भूमिका होती है, ठीक उसी प्रकार साहित्य और संवेदना के विकास में भी 'साहित्यिक पत्रकारिता' की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। इस संदर्भ में महत्वपूर्ण तथ्य यह है कि "हिंदी के श्रेष्ठ साहित्यकार भारतेन्दु, प्रतापनारायण मिश्र, महावीरप्रसाद द्विवेदी, गुलेरी, प्रसाद, निराला, प्रेमचंद से लेकर अज्ञेय, नामवर सिंह, राजेंद्र यादव आदि ने श्रेष्ठ पत्रिकाओं का प्रकाशन, संचालन, संपादन, लेखन आदि करके पत्रकारिता की नवगणिता और दिशा दी है। नवीन साहित्यकार पत्र-पत्रिकाओं के माध्यम से ही प्रौढ़ साहित्य का सृजन कर पाते हैं तथा नित नवीन कल्पनाओं, टटके भावों और विचार आंदोलनों का प्रसार करते हैं।"¹³

19वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में राष्ट्रीय जनजागरण के दौर में पत्र-पत्रिकाओं की महत्वपूर्ण भूमिका को नज़रअंदाज नहीं किया जा सकता है। "भारतेन्दु और उनकी पीढ़ी के साहित्यिकों ने हिंदी साहित्य और भाषा को पुराने ढर्रे से निकालकर उसे नव-युग और नव-जीवन से जोड़ा। इसके लिए उन्होंने स्वयं पत्र-पत्रिकाएँ प्रकाशित कर ऐसे जानदार धारा प्रवाह निर्मल गद्य और गद्य-वृत्तों को जन्म दिया।"¹⁴ इसके अतिरिक्त "उस समय के जनमानस को राष्ट्रीय स्वाभिमान, नैतिकता, ईमानदारी और स्वदेशी मर्यादा का पाठ पढ़ाना भी समय की परमावश्यक माँग थी और इस कार्य को पूरा किया भारतेन्दु जी ने पत्र-पत्रिकाओं के माध्यम से।"¹⁵ इसीलिए भारतेन्दुयुगीन पत्रकारिता के संबंध में अथवा अन्य किसी भी युग में प्रकाशित पत्र-पत्रिका का मूल्यांकन और "उसके प्रभावों का विश्लेषण एवं मूल्यांकन तत्कालीन जीवन, युगीन साहित्यिक परिवेश और राष्ट्रीय दशाओं के ऐतिहासिक परिपार्श्व को ध्यान में रखकर ही किया जाना चाहिए।"¹⁶ उपर्युक्त उद्धरणों से स्पष्ट है कि पत्र-पत्रिकाओं का समकालीन परिवेश और समकालीन रचनाशीलता से गहरा संबंध होता है।

वस्तुतः साहित्यिक पत्र-पत्रिकाओं का अपना स्वरूप तभी स्पष्ट होता है, जब वह अपने समकालीन रचनाशीलता से जुड़ी हुई हों। इसे आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी द्वारा संपादित 'सरस्वती', प्रेमचंद द्वारा संपादित 'हंस', सुमित्रानंदन पंत द्वारा संपादित 'रूपाभ', निराला द्वारा संपादित 'मतवाला' आदि पत्र-पत्रिकाओं के माध्यम से देख सकते हैं। इनका व्यापक स्वरूप तभी उभरकर आया जब इन पत्रिकाओं ने अपनी समकालीन रचनाशीलता को नवीन दिशा देने का कार्य किया। रचनाशीलता को सामान्यतः रचनात्मक लेखन अथवा सृजनात्मक साहित्य के अर्थ में ही ग्रहण किया जाता है, उसे आलोचनात्मक लेखन अथवा आलोचना से भिन्न माना जाता है। किंतु इस मान्यता में अब धीरे-धीरे परिवर्तन हो रहा है, आलोचना को भी कुछ विद्वान सृजनात्मक-प्रक्रिया के सांस्कृतिक संदर्भों के व्यापक परिप्रेक्ष्य में रख कर देखने का आग्रह करते हैं।¹⁷ यदि इन दिनों की अर्थात् रचनात्मक साहित्य और आलोचनात्मक लेखन के मूलभूत अंतर को अपने पारंपरिक अर्थ में ही ग्रहण करें तो भी "आलोचना-प्रक्रिया का संबंध कई रूपों में साहित्यिक पत्रकारिता से रहता है।... आलोचना समकालीन साहित्य से टकराहट में विकसित होती है, और इसीलिए बहुत बार उसका प्रथम प्रकाशन किसी-न-किसी साहित्यिक पत्रिका में होता है।... यों आलोचना-कर्म के लिए साहित्यिक मानसिकता बनाने में साहित्यिक पत्र-पत्रिकाओं का विशिष्ट योगदान रहता है।"¹⁸ इस प्रकार समकालीन रचनाशीलता और आलोचना के विकास का भी गहरा संबंध पत्र-पत्रिकाओं से कई स्तरों से जुड़ा रहता है। इसीलिए समकालीन रचनाशीलता एवं आलोचना के स्वरूप को नवीन दिशा एवं गति देने में साहित्यिक पत्र-पत्रिकाएँ महत्वपूर्ण माध्यम बनती हैं।

समकालीन रचनाशीलता और पत्रिकाओं के संबंध में किए गए इस विवेचन से स्पष्ट है कि पत्र-पत्रिकाओं का अपने समकालीन रचनाशीलता से प्रत्यक्ष संबंध होता है, साहित्यिक पत्र-पत्रिकाओं का प्रकाशन का कई बार अर्थ ही यह होता है समकालीन रचनाशीलता को पाठकों के सम्मुख प्रस्तुत करना। यदि पत्रिका अपने समकालीन रचनाधर्मिता से नहीं जुड़ी है, तो वह पत्रिका नहीं कोई अन्य

ग्रंथ होगा। चूँकि कहने का आशय यह है कि पत्र-पत्रिकाओं का समकालीन संदर्भों से किसी-न-किसी रूप में जुड़ाव अवश्य रहता है। भले ही उसमें अध्ययन प्राचीन काल के विषय में हो किंतु उसका संदर्भ समकालीन संदर्भों से अवश्य जुड़ा रहता है। आरंभिक विवेचन से यह स्पष्ट हो चुका है कि भारतेन्दुयुगीन महत्वपूर्ण साहित्य का पहले पहल प्रकाशन अधिकांशतः उस युग की पत्रिकाओं 'कविवचन सुधा', 'हरिश्चंद्र चंद्रिका', 'ब्राह्मण', 'हिंदी प्रदीप' आदिमें ही हुआ था। आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी द्वारा संपादित 'सरस्वती' पत्रिका के प्रकाशन के समय के सृजनशील रचनाकार 'सरस्वती' में 'अपनी रचनाएँ छपाने के लिए आतुर और उत्सुक रहा करते थे।' समकालीन रचनाशीलता और पत्रिका के क्या संबंध होते हैं, उसमें संपादक और रचनाकारों के बीच क्या रिश्ता होता है, इसे 'सरस्वती' पत्रिका के अध्ययन के माध्यम से डॉ० रामविलास शर्मा स्पष्ट करते हैं कि "उस समय कोई ऐसा लेखक नहीं जो बाद में प्रसिद्ध हुआ हो और पहले उसकी रचनाएँ 'सरस्वती' में न छपी हों। प्रसिद्ध हो, चाहे अज्ञात नाम, द्विवेदी जी अपना ध्यान इस बात पर केंद्रित करते थे कि वह लिखता क्या है इसलिए 'सरस्वती' में रचना छपने का मतलब यह था कि वह एक निश्चित स्तर की है।"¹⁰

इस संदर्भ में महत्वपूर्ण तथ्य यह भी है कि 'कविवचन सुधा', 'हरिश्चंद्र चंद्रिका', 'हिंदी प्रदीप', 'ब्राह्मण', 'सरस्वती', 'हंस', 'प्रभा', 'मतवाला', 'चाँद', 'रूपाभ', 'प्रतीक', 'विशाल भारत', 'कल्पना' आदि पत्र-पत्रिकाएँ मूलतः अपने समय के रचनात्मक साहित्य को व्यापक पाठकों से जोड़नेवाली, साहित्यिक संवेदना को विकसित करनेवाली तथा समकालीन रचनाशीलता को ही केंद्र में रखकर चलनेवाली पत्रिकाएँ थीं। इस प्रकार ये पत्रिकाएँ न केवल महत्वपूर्ण रचनाकारों द्वारा संपादित की गई बल्कि समकालीन रचनाधर्मिता को नवदृष्टि एवं नवीन दिशा देने का कार्य किया।

4.2 समकालीन रचनाशीलता और 'आलोचना' पत्रिका : अध्ययन का स्वरूप और दिशाएँ

इस अध्याय में हमें यही देखना है कि 1. नामवर सिंह संपादित 'आलोचना' पत्रिका का

समकालीन रचनाशीलता से किस प्रकार का संबंध रहा है? 2. समकालीन रचनाशीलता को 'आलोचना' पत्रिका किस दिशा में ले जाने का कार्य करती है? 3. 'आलोचना' पत्रिका के संदर्भ में समकालीन रचनाशीलता का क्या तात्पर्य है? 4. 'आलोचना' पत्रिका अपने समकालीन रचनाशीलता से किस प्रकार टकराकर हिंदी आलोचना के स्वरूप में नवीन आयाम जोड़ती है? 5. समकालीन रचना-संदर्भों में उसने कौन-से साहित्यिक विवादों को जन्म दिया अथवा साहित्यिक विवादों पर जमकर बहस चलाई? 6. समकालीन संदर्भों में समकालीन आलोचना को किस रूप में तथा कितने रूपों में ग्रहण करती है? 'समकालीन रचनाशीलता और 'आलोचना' पत्रिका शीर्षक इस अध्याय में हमें उपर्युक्त प्रश्नों और अन्य महत्वपूर्ण बिंदुओं के उत्तर ढूँढने का कार्य करना है।

उपर्युक्त प्रश्नों के अध्ययन में संलग्न होने से पूर्व यहाँ एक स्पष्टीकरण करना अतिआवश्यक है, जिससे कि भ्रम की कोई गुंजाइश न रह जाए। इस अध्याय के शीर्षक में 'समकालीन' शब्दबंध का तात्पर्य 1980 ई0 के आस-पास स्वरूप ग्रहण करनेवाली 'समकालीन कविता' आंदोलन¹¹ अथवा 'समकालीन कहानी' या 'समकालीन उपन्यास' आदि पारिभाषिक अर्थों में ग्रहण नहीं किया गया है। बल्कि यहाँ 'समकालीन' पद का तात्पर्य "सिर्फ काल बोधक है... समकालीन अपने शाब्दिक अर्थ में स्पष्ट हैवक्ता या कि लेखक के समय का जीवन, समाज, साहित्य जो भी अभिप्रेत हो" ¹² उससे है। यानी "समकालीन रचनाशीलता और 'आलोचना' पत्रिका" का अर्थ यह है कि 'आलोचना' पत्रिका के प्रकाशन-काल की पूरी अवधि में 'आलोचना' द्वारा समकालीन साहित्य सृजन को किस रूप में ग्रहण किया गया है? तथा उस अवधि में 'आलोचना' पत्रिका का समकालीन रचनाधर्मिता से किस प्रकार का संबंध रहा है? और यह संबंध कितने रूपों और आयामों में हमारे सम्मुख उपस्थित होते हैं? वस्तुतः इस अध्ययन में हमें यह देखना ही अभीष्ट है कि 'आलोचना' पत्रिका अपने प्रकाशन काल के समानांतर चलनेवाली रचनाशीलता को किस रूप में ग्रहण करती है?

साहित्यिक पत्र-पत्रिकाओं की समकालीन रचनाशीलता से गहराई से जुड़ने उनका प्रतिनिधित्व करते हुए देखते हैं और साहित्यिक पत्रकारिता की परंपरा में 'आलोचना' पत्रिका को रखकर देखते हैं तो यह महत्वपूर्ण तथ्य स्पष्ट होता है कि 'आलोचना' पत्रिका उपर्युक्त पत्रिकाओं के समान समकालीन रचनाशीलता पर केंद्रित पत्रिका न होकर समकालीन आलोचनात्मक विवेक की पत्रिका है। जो अपनी समकालीन रचनाशीलता की विविधतापूर्ण स्थिति से टकराकर, उससे कई स्तरों पर जुड़कर अपना विकास कर सकी है। वस्तुतः 'आलोचना' पत्रिका आलोचना-केंद्रित पत्रिका है, उसमें रचनात्मक लेखन के नाम पर सिर्फ-व-सिर्फ 'कविता' की उपस्थिति ही देखी जा सकती है, अन्य साहित्यिक विधाओं को 'आलोचना' में कोई स्थान नहीं दिया गया है। 'कविता' को छोड़कर कहानी उपन्यास, नाटक आदि विधाओं की कोई कृति 'आलोचना' में प्रकाशित ही नहीं किया गया। 'आलोचना' में सर्जनात्मक साहित्य के रूप में सिर्फ कविता को स्वीकार करने से इस तथ्य की पुष्टि होती है कि हिंदी आलोचना मुख्यतः कविता केंद्रित है। हिंदी आलोचना के प्रमुख प्रकाशस्तंभ आलोचक आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी, आचार्य रामचंद्र शुक्ल, आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, डॉ० रामविलास शर्मा के अध्ययन का प्राथमिक केंद्र 'कविता' ही रही है। हिंदी आलोचना की इस परंपरा को नामवर सिंह की कविता केंद्रित आलोचना पद्धति ने और भी मज़बूती प्रदान की है। नामवर सिंह द्वारा संपादित 'आलोचना' पत्रिका ने साहित्य की वैविध्यपूर्ण विधाओं में से केवल 'कविता' को ही प्रकाशित करते हुए काव्य-केंद्रित हिंदी साहित्य की परंपरा का ही निर्वाह किया है। यहाँ यह देखना आवश्यक है कि 'आलोचना' पत्रिका में काव्य रचनाओं को किस रूप में प्रस्तुत किया गया है?

4.3 'आलोचना' पत्रिका में प्रकाशित प्रमुख कविताएँ

नामवर सिंह के संपादन में 'आलोचना' पत्रिका में, रचनात्मक साहित्य में से, केवल काव्य-रचनाओं को ही प्रकाशित किया गया है। 'आलोचना' के प्रकाशन के लंबे अंतराल में यदि समस्त कविताओं को ही एकत्रित कर दिया जाए तो एक बहुत भारी काव्यग्रंथ ही तैयार हो जाएगा,

जिसकी संख्या हजार पृष्ठों से भी अधिक होगी। यह स्थिति न केवल परिमाण के आधार पर महत्वपूर्ण है, बल्कि अपने समय का प्रतिनिधित्व करनेवाली युगांतरकारी रचनाएँ हैं।

‘आलोचना’ पत्रिका में केवल हिंदी कविताओं को ही प्रकाशित नहीं किया गया है, बल्कि विभिन्न विदेशी भाषाओं—स्पेनिश, रूसी, जापानी, अफ्रीकी, हंगेरियन, पोलिश, जर्मन आदि के प्रमुख एवं प्रसिद्ध रचनाकारों की रचनाओं का हिंदी अनुवाद प्रकाशित किया गया है। इसके माध्यम से पाठकों को विश्व की प्रमुख भाषाओं की समकालीन रचनाधर्मिता से परिचय कराया गया है, और उनके रचनाकारों को भी हिंदी पाठकों से परिचित कराने का कार्य किया गया है। इस प्रकार यह हिंदी रचनाशीलता को विश्वसंदर्भ से जोड़ने का महत्वपूर्ण उद्यम है। इसके अतिरिक्त अन्य भारतीय भाषाओं—तमिल, गुजराती, मराठी, बंगला, मलयाली आदिके प्रमुख रचनाकारों की कविताओं का हिंदी अनुवाद भी कई अंकों में प्रकाशित किया गया है। जिससे हिंदी के पाठक और रचनाकार अन्य भारतीय भाषाओं की रचनाधर्मिता से परिचित हो सकें। वस्तुतः यह हिंदी रचनाशीलता को भारतीय संदर्भ से जोड़ने का ही अत्यंत महत्वपूर्ण कार्य है।

इस संदर्भ में यहाँ एक तथ्य ध्यान देने योग्य है कि ‘आलोचना’ पत्रिका का प्रकाशन एक लंबे समय तक होता रहा, जिसके समानांतर समकालीन हिंदी कविता में कई काव्य आंदोलन चले हैं, और उनका स्पष्ट प्रभाव इन कविताओं में तो मिलता ही है, इसके अतिरिक्त इसमें प्रकाशित कई कविताओं को हिंदी काव्य-आंदोलनों में युगांतरकारी माना गया है। जिससे ‘आलोचना’ में प्रकाशित कवियों और उनकी कविताओं की स्तरीयता तथा युग परिवर्तनकारी भूमिका का स्पष्टतः एवं सहज बोध हो जाता है।

नामवर सिंह संपादित ‘आलोचना’ के संपूर्ण अंकों में समकालीन हिंदी कविता के प्रतिनिधि रचनाकार और उनकी रचनाएँ प्रमुखता से प्रकाशित हुई हैं। उदाहरणस्वरूप नवांक-01 (अप्रैल-जून 1967) में केदारनाथ सिंह, धूमिल और भारतभूषण अग्रवाल की कविताएँ प्रकाशित हैं। जिसमें

‘केदारनाथ सिंह’ और ‘धूमिल’ की रचना स्वाधीनता के बीस वर्ष बाद भारतीय राजनीति की स्थिति को ही दर्शाती है। नवांक-2 में रघुवीर सहाय की ‘गिरीश की मृत्यु’ और श्रीकांत वर्मा की ‘छूट’ कविता प्रकाशित है। नवांक-3 में डॉ० रामविलास शर्मा जैसे प्रखर चिंतक की दस कविताएँ प्रकाशित हैं, इसी अंक में कुँवर नारायण की ‘असल बात’ नामक कविता भी प्रकाशित है। नवांक-4 में ‘धूमिल’ की सर्वाधिक चर्चित लंबी कविता ‘पटकथा’ का प्रकाशन हुआ है। इसी अंक में श्रीकांत वर्मा, प्रयाग शुक्ल, दूधनाथ सिंह, प्रभात और देवेन्द्र कुमार की भी कविताएँ प्रकाशित हैं। इसी अंक में रूसी भाषा के ‘विद्रोही युवा कवियों में अन्यतम’ रचनाकार ‘आंद्रेइ वोज़्नेसेंस्की’ की कविताओं का हिंदी-अनुवाद प्रकाशित किया गया है। नवांक-5 में कैलाश वाजपेयी, लीलाधर जगूड़ी और श्रीराम तिवारी की रचनाएँ प्रकाशित हैं। नवांक-06 में मुक्तिबोध की एक अप्रकाशित कविता ‘विशुद्ध बुद्धि के मारक’ जैसी प्रसिद्ध रचना और विश्वनाथ त्रिपाठी की ‘देखो न हकीकत हमारे समय की’ प्रकाशित है। इसी अंक में विदेशी भाषा की कविता के अंतर्गत आँतिला योज़ेफ की कविता का अनुवाद ‘जिंदगी के शिखरों से’ शीर्षक से प्रकाशित है। नवांक-8 में कैलाश वाजपेयी की उर्दू के प्रसिद्ध कवि ‘ग़ालिब’ पर ‘एक खत ग़ालिब के नाम’ शीर्षक से एक कविता प्रकाशित है। नवांक-9 में विद्यानिवास मिश्र द्वारा ‘चार अफ्रीकी कविताओं’ की प्रस्तुति हुई है। नवांक-11 में अशोक वाजपेयी की कविता ‘अब वक़्त आ गया है’ शीर्षक से प्रकाशित है। इस अंक में पोलिश कवि ‘जिग्निएव’ की पाँच कविताओं के अनुवाद प्रकाशित हैं। इन कविताओं का अनुवाद गिरिधर राठी ने किया है। नवांक-12 में ‘मलयज’ की पाँच कविताएँ प्रकाशित हैं। नवांक-13 में लेनिन पर विश्वनाथ त्रिपाठी की कविता ‘जो शब्दों को घटनाओं से सुलगाता था’ प्रकाशित है। इसी अंक में दो युवा रूसी कवियों अलेक्सांदर सेकोविच और निकोलाई ज़िनोव्येव की कविताओं का अनुवाद प्रकाशित किया गया है। निकोलाई ज़िनोव्येव की कविताओं का अनुवाद ‘विष्णु खरे’ ने किया है। नवांक-14 में नाज़िम हिकमत की दो कविताएँ, विजयदेवनारायण साही की दो कविताएँ तथा

कृष्णकुमार की 'एक-आध बार' कविता प्रकाशित है। नवांक-15 में लीलाधर जगूड़ी की 'घर संभालते हुए' कविता और कुमार विमल, श्रीराम वर्मा, त्रिनेत्र जोशी की कविताएँ भी प्रकाशित हैं। नवांक-16 में 'कमलेश' की चार कविताएँ और विष्णु खरे द्वारा 'निकानोर पारा' की कविताओं की प्रस्तुति हुई है। नवांक-17 में विष्णुकांत शास्त्री द्वारा बांग्लादेश के कवि शमसुर्रहमान की तीन कविताएँ, मंगलेश डबराल द्वारा 'हांस माग्नस एंजेसबर्गर की पाँच कविताओं की प्रस्तुति हुई है। इसके साथ-साथ लामोश कॉशशॉक की कविता 'लावारिश चीजें' शीर्षक से प्रकाशित है। इसी अंक में 'चंद्रकांत देवताले' और परमानंद श्रीवास्तव की कविताएँ भी प्रकाशित हैं। नवांक-18 में विष्णुचंद्र शर्मा की चारु मजूमदार' शीर्षक कविता प्रकाशित है। नवांक-19 में पाब्लो नेरुदा की आठ कविताओं का अनुवाद प्रकाशित है, इसका अनुवाद 'कमलेश' ने किया है। इसी अंक में श्रीकांत वर्मा (प्रजापति)', नरसिंह रेड्डी (समुद्र) सुधीरचंद्र की कविताएँ प्रकाशित हैं। नवांक-20 में ज्ञानेंद्रपति की तीन कविताएँ, और अन्य भारतीय भाषाओं के लंकेश कंबार की कविताओं का अनुवाद प्रकाशित है। विदेशी भाषा के अंतर्गत हावियेवर हेरोद की तीन कविताओं को अनुवाद प्रकाशित किया गया है। लातिनी अमेरिकी कवि 'पाब्लो नेरुदा की कविता का अनुवाद कमलेश द्वारा 'मच्चू-पिच्चू के शिखर' शीर्षक से किया गया है, जो नवांक-21 में प्रकाशित है। नवांक-23 में मलयज की कविता 'चीख से उतरकर' प्रकाशित है। नवांक-24 में त्रिलोचन' की अत्यंत प्रसिद्ध लंबी कविता 'नगई महरा' प्रकाशित है। विजेंद्र का मानना है कि 'समकालीन कविता' की धारा का आरंभ त्रिलोचन की इसी कविता से माना जा सकता है।¹³ नवांक-26 में गिरिधर राठी की चार कविताएँ प्रकाशित हैं। इसी अंक में मराठी की कविताओं का अनुवाद चंद्रकांत पाटिल द्वारा किया गया है, उसे 'आज की मराठी कविता: एक संचयन' शीर्षक देकर प्रकाशित किया गया है। यह भारतीय संदर्भ से हिंदी पाठकों को परिचित कराने का ही कार्य है। नवांक-28 में लीलाधर जगूड़ी की 'बलदेव खटिक' शीर्षक कविता प्रकाशित है, रमेश गौड़ की कविता 'पहचान', प्रभाती नौटियाल

की कविता 'जंगली मुर्गे से' प्रकाशित है। पंजाबी कवि 'पाश' की कविता का 'सिपाही के नाम' शीर्षक से प्रकाशित है। नवांक-30 में मंगलेश डबराल की दो कविताएँ और पंकज सिंह की 'एक इंतज़ार और दूसरे इंतज़ार के बीच' शीर्षक कविता प्रकाशित है। नवांक-31 में महमूद दरवेश की कविता 'मैं आ रहा हूँ तुम्हारी आँखों की छाँह में' शीर्षक से अनूदित होकर प्रकाशित है। नवांक-32 में केदारनाथ सिंह की लंबी कविता 'जमीन' प्रकाशित है। नवांक-33 धूमिल विशेषांक में 'धूमिल' की सात अप्रकाशित कविताएँ प्रकाशित की गई हैं। नवांक-36 में सर्वेश्वरदयाल सक्सेना की पाँच कविताएँ और सोमदत्त की 'मुझसे मत पूछ' शीर्षक कविता और नवांक-38 में 'माँ' पर कुलदीप कुमार की दो कविताएँ प्रकाशित हैं। इसी अंक में विष्णु खरे द्वारा अनूदित पाब्लो नेरुदा की चार कविताएँ प्रकाशित की गई हैं। त्रिलोचन की 'चित्रा जाम्बोरकर' शीर्षक कविता नवांक-39 प्रकाशित है। इसी अंक में मलयज और चंद्रकांत देवताले की भी कुछ कविताएँ छपी हैं। नवांक-40 में नागार्जुन की कुछ कविताएँ और मोहन थपलियाल द्वारा अनूदित बर्तोल्त ब्रेख्त की कविताओं का प्रकाशन हुआ है। नवांक-41 में ओदोलेन स्मेकेल द्वारा पाँच चेक कविताएँ प्रस्तुत की गई हैं। इसी अंक में पंकज सिंह की कविता 'हम इतिहास के बेटे हैं' भी प्रकाशित है। नवांक-42 में विश्वनाथ त्रिपाठी की कविता 'बेकार नौजवान' प्रकाशित है, नारायण सुर्वे की कविता 'मेरा विद्यापीठ' शीर्षक से प्रकाशित है। नवांक-43 में ऋतुराज की प्रसिद्ध लंबी कविता 'हसरूद्दीन' छपी है। नवांक-44 में इब्बार रब्बी की कविता 'मेज का गीत' का प्रकाशन हुआ है। नवांक-45 में कृष्णा सोबती की 'प्यारे खास' कविता प्रकाशित है। नवांक-49-50 में आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी की दो आरंभिक कविताएँ प्रकाशित हैं। नवांक-56-57 में नागार्जुन की कुछ कविताओं को प्रकाशित किया गया है। नवांक-67 में विष्णु खरे द्वारा अनूदित यान्निस रित्सोस की नौ कविताएँ छपी हैं। नवांक-77 में नागार्जुन की तीन कविताएँ, त्रिलोचन की दो कविता, शमशेर बहादुर सिंह की 'डायरी के पृष्ठों' में अंकित कुछ कविताएँ और। इसी अंक में युवा पीढ़ी में 'अरुण कमल' और कुमार विकल की दो-दो कविताएँ

प्रकाशित हैं। इसके अतिरिक्त बीच की पीढ़ी में केदारनाथ सिंह और कुँवर नारायण की कविताएँ भी प्रकाशित हैं। नवांक-78 में श्रीकांत वमा की चार कविताएँ प्रकाशित हैं। नवांक-82 में त्रिलोचन की सात कविताएँ प्रकाशित हैं। नवांक-83 में सुल्तान अहमद की 'दीवार के इधर-उधर' शीर्षक लंबी कविता और शमशेर बहादुर सिंह की दो कविताएँ भी प्रकाशित हैं। नवांक-84 में मंगलेश डबराल की छः कविताएँ तथा पुरुषोत्तम अग्रवाल की भी दो कविताएँ प्रकाशित हैं। नवांक-85 में पंजाबी कवि 'पाश' की सात कविताओं का अनुवाद प्रकाशित किया गया है। इसके अनुवादक चमनलाल हैं। नवांक-86 में देवीप्रसाद मिश्र की दस कविताएँ प्रकाशित हुई हैं, वहीं वीरेंद्र कुमार बरनवाल ने बोलेशोरियंका की कविताओं का अनुवाद प्रकाशित कराया है। नवांक-88 में 'बोधिसत्व' की कुछ कविताएँ प्रकाशित हैं। और इसी अंक में रणधीर सिन्हा की भी कविताएँ प्रकाशित हैं। ध्यातव्य है कि देवीप्रसाद मिश्र और बोधिसत्व की जब 'आलोचना' में कविताएँ प्रकाशित हुई थीं तब वे बिल्कुल ही युवा थे, 'बोधिसत्व तो उस समय बी. ए. के छात्र थे।'⁴ नवांक-89 में गोरख पांडेय की कविता 'स्वर्ग से विदाई' प्रकाशित हैं, वहीं इसी अंक में 'ऐरिश फ्रीड' और 'लैंगस्टन ह्यूज' की कविताओं का अनुवाद छपा है। नवांक-90 में रामकुमार कृष्ण की कविता 'एक चिथड़ा सुख' प्रकाशित है। यह कविता 'निर्मल वर्मा के लिए सादर' लिखी गई है। देवीप्रसाद मिश्र की 'मुसलमान' शीर्षक प्रसिद्ध लंबी कविता नवांक-91 में प्रकाशित है। इसी अंक में लीलाधर जगूड़ी की 'मंदिर लेन' शीर्षक लंबी कविता भी प्रकाशित है। नवांक-93 में केदारनाथ सिंह की तीन कविताएँ प्रकाशित हैं। इस अंक में मोहन थपालियाल द्वारा अनूदित बर्टोल्ट ब्रेख्त की कविताएँ प्रकाशित हैं।

'आलोचना' के अंकों में कविताओं के प्रकाशन पर विहंगम दृष्टि डालने से ही कई चीजें स्पष्ट होती हैं। यह स्पष्ट हो जाता है कि 'आलोचना' पत्रिका में प्रकाशित कवि और कविताएँ अपने समकालीन समय के प्रतिनिधि रचनाकार और रचनाएँ हैं। 'आलोचना' अपनी समकालीन रचनाशीलता में से उन्हीं महत्वपूर्ण कवियों का चुनाव करती हुई देखी जा सकती हैं, जिसका हिंदी

कविता के विकास में अपना कुछ महत्वपूर्ण प्रदेय की संभावना रही हो अथवा उनका अपना कुछ महत्वपूर्ण प्रदेय रहा हो। यदि किसी कवि में कुछ महत्वपूर्ण प्रदेय की संभावना रही है, तो उसे 'आलोचना' में कई बार प्रकाशित होने का अवसर मिला है उन्हीं प्रकाशित कवियों में अधिकांश कवि आज हिंदी काव्य-जगत के कीर्ति स्तंभ हैं। इन कवियों में प्रमुख रूप से लीलाधर जगूड़ी, केदारनाथ सिंह, 'चंद्रकांत देवताले', 'अरुण कमल', 'देवी प्रसाद मिश्र', 'पंकज सिंह', बोधिसत्त्व, 'कैलास वाजपेयी', 'दूधनाथ सिंह', 'धूमिल', 'ऋतुराज', 'मंगलेश डबराल', 'मलयज' आदि कुछ प्रमुख नाम हैं। इसके अतिरिक्त 'आलोचना' में वे कवि भी प्रकाशित हैं, जो पूर्व स्थापित थे, जिनकी प्रौढ़ और पकी हुई रचनाएँ प्रकाश में आ रही थीं। इन कवियों में नागार्जुन, त्रिलोचन, शमशेरबहादुर सिंह महत्वपूर्ण नाम हैं। 'आलोचना' ने अपने समकालीन युवा कवियों के साथ इन कवियों को प्रकाशित कर अपने समय के युवा कवियों को हिंदी काव्य-परंपरा से जोड़ने का महत्वपूर्ण कार्य किया है। इसका सर्वोत्कृष्ट उदाहरण हमें नागार्जुन विशेषांक (नवांक-56-57) में देखने को मिलता है। इसी अंक की आधी सामग्री नागार्जुन पर है तो आधी सामग्री समकालीन कविता की प्रमुख काव्य-संग्रहों की समीक्षा से युक्त है। जैसे परंपरा और समकालीनता को एकत्रित कर दिया गया है। आशुतोष कुमार अपनी पुस्तक 'समकालीन कविता और मार्क्सवाद' में नागार्जुन पर केंद्रित इस अंक में आधी सामग्री 'समकालीन कविता' पर केंद्रित होने के कारण समकालीन कविता की नव-प्रगतिशील धारा के अध्ययन के संदर्भ में महत्वपूर्ण विभाजक रेखा के रूप में स्वीकार करते हैं, अपने अध्ययन में स्पष्ट करते हैं नागार्जुन, त्रिलोचन, केदारनाथ अग्रवाल, और शमशेरबहादुर सिंह समकालीन कविता के प्रेरणा-शिखर हैं।¹⁵ वस्तुतः 'आलोचना' ने इन तीन रचनाकारों की रचनाओं के साथ केदारनाथ अग्रवाल को हिंदी कविता की समकालीन युवा पीढ़ी के रचनाकारों के साथ प्रकाशित करते हुए युगांतरकारी परिवर्तन करने की दूरदर्शिता का परिचय दिया है। इस संदर्भ में इसके संपादक नामवर सिंह का महत्व स्पष्ट होता है। उन्होंने 'आलोचना' में उन कवियों को

प्रमुखता दी, युवा कवियों को उनके प्रेरणा-स्रोतों से जोड़ने का काम किया। इन रचनाकारों और पाठकों को विश्व की प्रमुख भाषाओं में रची जा रही प्रमुख काव्यधाराओं से जोड़ने का काम किया। और हिंदी रचनाशीलता को संपूर्ण भारतीय परिप्रेक्ष्य से भी अवगत कराने का काम किया। वस्तुतः 'आलोचना' पत्रिका ने ऐसे कवियों की पूरी एक पीढ़ी तैयार की है, जिस पर हिंदी कविता गर्व कर सकती है। इसके अतिरिक्त, इसके माध्यम से उसने आलोचनात्मक विवेक संपन्न ऐसा पाठक-वर्ग तैयार किया है, जिसे 'आलोचना' के स्तर से तुलनीय निम्न स्तर की रचनाएँ ही पसंद नहीं आएँगीं। कहा जा सकता है कि 'आलोचना' पत्रिका ने अपनी समकालीन रचनाशीलता को जिस सीमित स्तर पर प्रस्तुत किया है, वह हिंदी जगत में अपना स्वयमेव स्थान बना चुकी है।

'आलोचना' पत्रिका और 'समकालीन रचनाशीलता' संबंधी इस अध्याय के आरंभ में यह स्पष्ट किया जा चुका है कि 'आलोचना' पत्रिका समकालीन रचनात्मक लेखन की पत्रिका नहीं है, बल्कि समकालीन आलोचनात्मक लेखन की दशा और दिशा निर्धारित करनेवाली, 'आलोचनात्मक विवेक' का मार्ग प्रशस्त करनेवाली पत्रिका है। यह आलोचना को ही केंद्र में रखनेवाली पहली (व्यवस्थित) पत्रिका है, जिसका इतने लंबे समय तक प्रकाशन हुआ है। नामवर सिंह के संपादन से ही इस पत्रिका में रचनात्मक साहित्य का प्रवेश हुआ है। यह भी स्पष्ट किया जा चुका है, 'आलोचना' में रचनात्मक साहित्य के अंतर्गत सिर्फ-व-सिर्फ 'कविता' को ही प्रकाशित किया गया है उसमें 'कथा-साहित्य', 'नाट्य-साहित्य' का सर्वथा अभाव है। इसलिए इस पक्षों पर हमें अपना ध्यान केंद्रित करना है कि 'आलोचना' पत्रिका अपनी समकालीन रचनाशीलता को किस रूप में ग्रहण करती है तथा समकालीन रचनाशीलता से उसका 'बर्ताव' और संबंध क्या है?? यह आरंभ में ही स्पष्ट किया जा चुका है कि कोई भी पत्रिका तभी अर्थपूर्ण और सार्थक है जब उसका गहरा जुड़ाव अपने समकालीन संदर्भों और रचनाशीलता से होगा। इसी के साथ कोई भी आलोचना तभी सही अर्थों में आलोचना होगी जब वह अपनी समकालीन रचनाशीलता से टकराए, उसके भूल्यांकन

का प्रयास करे तथा समकालीन रचना संदर्भों के बहुआयामी परिदृश्य में किसी कृति अथवा रचना का स्थान, महत्त्व और उसकी सार्थकता को स्पष्ट करे। ध्यान दें तो 'आलोचना' पत्रिका समकालीन रचना संदर्भों से टकराकर, उसका मूल्यांकन करते हुए उसकी अर्थवत्ता का उद्घाटन करती हुई अपने 'आलोचना' नाम को सार्थक करती है, वहीं समकालीन रचनाशीलता से जुड़कर अपने 'पत्रिका' होने की सार्थकता सिद्ध करती है।

समकालीन रचनाशीलता से जुड़ने का महत्वपूर्ण परिप्रेक्ष्य समसामयिक परिस्थितियाँ और उसके अनेक आयामी रचना संदर्भ कई स्तरों पर ज़िम्मेदार होते हैं। इसलिए यह देखना आवश्यक है कि 'आलोचना' पत्रिका ने अपने प्रकाशन काल के सामाजिक-राजनीतिक एवं सांस्कृतिक परिपार्श्व में कार्य करनेवाले रचना संदर्भों को किस रूप में देखा है??

4.4 समकालीन राजनीतिक-सांस्कृतिक प्रश्न और 'आलोचना' पत्रिका

नामवर सिंह के संपादन में आते ही 'आलोचना' पत्रिका अपने समय के राजनीतिक-सांस्कृतिक प्रश्नों से टकराती हुई देखी जा सकती है। 'आलोचना' पत्रिका का नवांक-01 ही 'चुनाव के बाद का भारत' शीर्षक 'संवाद' स्तंभ का आयोजन कर जैसे अपनी भावी दिशा को ही सूचित करता है, भविष्य की 'आलोचना' को इन राजनीतिक-सांस्कृतिक प्रश्नों से अवश्य टकराना पड़ेगा। स्वाधीनता प्राप्ति के बीस वर्ष बाद यानी 1967 ई0 के चौथे आम चुनाव के बाद के भारतीय राजनीतिक परिवेश को समझने का प्रयास 'आलोचना' के इस संवाद के आयोजन के माध्यम से किया गया है। ध्यान देने योग्य तथ्य यह है कि 'आलोचना' के इस संवाद में, सहभागिता देने वाले, वक्तव्य देने वाले सभी साहित्यकार, आलोचक और सर्जनशील चिंतक हैं जिसमें डॉ0 रामविलास शर्मा, रमेशकुंतल मेघ, शिवप्रसाद सिंह, विद्यानिवास मिश्र, राजकमल चौधरी, विष्णुप्रभाकर, भगवतीचरण वर्मा, अमृतलाल नागर, मन्मथनाथ गुप्त, राजेंद्र अवस्थी, ओमप्रकाश दीपक, आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी जैसे विद्वान हैं जिन्होंने अपने मूल्यवान विचार व्यक्त किए हैं। डॉ0 रामविलास शर्मा ने 1967 ई0

में ही कहा था कि अब सामने 'फासिस्ट तानाशाही खतरा' है और उससे वामपक्ष कैसे लड़े। विद्यानिवास मिश्र ने स्पष्ट किया था कि 'अब तटस्थता की गुंजाइश नहीं', राजकमल चौधरी के लिए 'अप्रत्याशित कुछ भी नहीं' था, राजेंद्र अवस्थी के मत में 'क्रांति अवश्यंभावी' हो गई थी। ओम प्रकाश दीपक ने 'नए विकल्प की संभावना' जताई थी। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी का वक्तव्य 'निकटे जागर्ति जाह्नवी' शीर्षक से प्रकाशित है।

अमरीकी साम्राज्यवाद की शोषणकारी रवैये के कारण हान्समागनुस एन्त्संस बर्गर को अमरीका छोड़ना पड़ा और उन्होंने ने अपना एक लंबा पत्र लिखा था, उसका अनुवाद नवांक-04 में प्रकाशित है। कार्ल मार्क्स की 150 वीं जयंती पर मोहित सेन के लेख का अनुवाद नवांक-05 में प्रकाशित है। नवांक-06 में 'कविता और राजनीति' के संबंध को लेकर 'आलोचना' ने पूरा एक परिसंवाद का ही आयोजन किया था। विश्वविद्यालयी परिवेश साहित्य एवं सांस्कृतिक अध्ययन को किस रूप में लेते हैं और क्या होना चाहिए इस संबंध में 'नामवर सिंह ने एक 'संवाद' का आयोजन 'आलोचना' के नवांक-11 में किया था। नवांक-13 लेनिन जन्मशताब्दी पर केंद्रित अंक हैं। इस अंक में राजनीतिक आंदोलन और सशस्त्र क्रांति के संबंध में नामवर सिंह ने अपना विस्तृत संपादकीय लिखा था। इसी अंक में जोआ कारातीस के लेख का अनुवाद 'रेजी देब्रे और सशस्त्र क्रांति की समस्याएँ' शीर्षक से प्रकाशित है। इस अंक में प्रभात कुमार त्रिपाठी का लेख 'सांप्रदायिकता और सांप्रदायिक दंगे' पर और नवांक-15 में विली थामसन का महत्वपूर्ण लेख 'क्रांतिकारी स्वच्छंदतावाद' शीर्षक से अनूदित होकर प्रकाशित है। नवांक 16 में श्रीकांत वर्मा के लेख में 'आधुनिक भारतीय लेखन का संकट' जैसे भारतीय लेखन की समस्याओं पर विचार किया गया है। इसी समस्या पर नवांक-18 में शिवदान सिंह चौहान का अत्यंत सारगर्भित और विचारोत्तेजक लेख 'भारतीय लेखक की समस्या' शीर्षक से ही प्रकाशित है। नवांक-19 में मैक्सिम गोर्की की प्रासंगिकता पर कुछ लेखकों और विद्वानों के विचार उपलब्ध हैं। 'आलोचना' का नवांक-24

सांस्कृतिक संदर्भ के अध्ययन की दृष्टि से महत्वपूर्ण है। पश्चिमी देशों के 'सांस्कृतिक ह्रास के प्रश्न पर' एक परिसंवाद आयोजित किया गया था, उसमें 'ज्याँ पाल सार्त्र, 'अन्स्ट फिशर, एडवर्ड गोल्ड स्टुइकेर, मीलाँ कुदेरा' ने अपने विचार व्यक्त किए थे, उसका अनुवाद इस अंक में प्रकाशित किया गया है। नवांक-26 में ज्योतिस्वरूप सक्सेना का लेख 'एक सांस्कृतिक नीति के आयाम' उल्लेखनीय है। यशदेव शल्य अपने लेख में 'भारत संक्रांति में: संदर्भ दार्शनिक परिस्थिति' पर विचार करते हैं, जो नवांक-27 में प्रकाशित है। नवांक-28 को पूरनचंद्र जोशी का लेख 'भारत का वर्तमान संकट और सांस्कृतिक आयाम' महत्वपूर्ण बनाता है। इसी अंक में गंगाप्रसाद विमल का 'आज की सामाजिक स्थिति और लेखक की सत्ता' शीर्षक लेख प्रकाशित है।

1974 की राजनीतिक सांस्कृतिक स्थितियों में प्रगतिशीलता का स्वरूप क्या हो इस संबंध में 'आलोचना' ने नवांक-29 में "आज की स्थिति में प्रगतिशीलता" विषय पर एक परिसंवाद ही आयोजित किया था। इस परिसंवाद में विषय प्रवर्तन मुरलीमनोहर प्रसाद सिंह ने किया था। उनका वक्तव्य 'प्रगतिवाद मूल्य और आंदोलन: नए संदर्भ शीर्षक से प्रकाशित है। इस वक्तव्य के संदर्भ में विश्वनाथ त्रिपाठी, शिवमंगल सिद्धांतकर, डॉ० माहेश्वर, सुरेंद्र तिवारी, भीष्म साहनी, गंगा प्रसाद विमल, सुरेंद्र चौधरी, डॉ० मुहम्मद हसन, सुधीश पचौरी और राजीव सक्सेना ने अपने विचार, टिप्पणी और प्रतिक्रिया आदि व्यक्त किए थे जिसे इस अंक में प्रकाशित किया गया है।

नवांक-32 में रामबक्ष ने 'वर्तमान सांस्कृतिक-साहित्यिक स्थिति' शीर्षक लेख में सांस्कृतिक साहित्यिक स्थिति पर गंभीरता से विचार किया है। नवांक-34-35 में प्रकाशित उ. रा. अनंतमूर्ति का लेख 'भारतीय लेखक: अस्मिता की खोज' इस संदर्भ में अत्यंत मूल्यवान है। नवांक-42 में प्रकाशित पूरनचंद्र जोशी का लेख "राष्ट्रीय विकास के सांस्कृतिक आयाम" एक गंभीर निबंध है। नामवर सिंह ने नवांक-62-63 का संपादकीय सुब्रह्मयम भारती की स्मृति में लिखा है 'जातीय अस्मिता और राष्ट्रीय एकता के प्रतीक : भारती' शीर्षक से प्रकाशित है। इस संपादकीय में उन्होंने भारती जी की

राष्ट्रीय एकता के संदर्भ में उनके महत्त्व और योगदान की चर्चा की है। नवांक-64-65 का संपादकीय 'उपन्यास और राजनीति' शीर्षक से प्रकाशित है, इस संपादकीय में बंगला के प्रसिद्ध उपन्यासकार बंकिमचंद्र चटर्जी और उनके उपन्यास पर होनेवाली राजनीति पर अपने विचार प्रकट किए हैं। इसी अंक में कार्तिकचंद्र दत्त का एक शोधालेख 'आनंदमठ और वंदेमातरम: एक शताब्दी परिचर्चा' शीर्षक से प्रकाशित है और इस लेख में 'आनंदमठ' के राजनीतिक निहितार्थों को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया गया है। पूरनचंद्र जोशी का ही एक अन्य महत्वपूर्ण लेख 'वैज्ञानिक और औद्योगिक युग में मूल्यों का प्रश्न' शीर्षक से नवांक-76 में प्रकाशित है।

'आलोचना' पत्रिका ने 1975 में भारतीय आपातकाल के दौरान लेखकीय स्वतंत्रता पर, अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता पर जो प्रतिबंध लगाए गए थे उनके संबंध में 'एक विशेष आयोजन' में 'मैनेजर पांडेय' का मत 'लेखक और लोकतंत्र' शीर्षक से प्रकाशित किया है, तथा 'माहेश्वर' के विचार 'बुर्जुआ लोकतंत्र और अभिव्यक्ति संकट' शीर्षक से प्रकाशित है।

'आलोचना' पत्रिका के नवांक-77 को 'प्रगतिशील लेखक संघ' के पचास वर्ष पूरे होने पर, उसके ऐतिहासिक सांस्कृतिक योगदान पर विशेष रूप से आयोजित किया गया है। वहीं 'हिंदी नवजागरण' जिसे सांस्कृतिक संदर्भों में ही ग्रहण किया जाता है, इस नवजागरण की संकल्पना को कई रूपों में देखा गया है। कुछ विद्वान इसे बिल्कुल ही सांप्रदायिक रूप देते हैं तो कुछ इसकी अंतर्विरोधी संरचना से इसके वास्तविक रूप के उद्घाटन के लिए प्रयासरत है। इन सभी पक्षों को 'आलोचना' पत्रिका के दो अंकों में नवांक-79 और नवांक-93 में देखा जा सकता है। नामवर

है, इसलिए यहाँ राजनीतिक एवं सांस्कृतिक प्रश्न साहित्यिक अध्ययन की सीमाओं में ही उठाए गए हैं। इसका कारण यह है कि साहित्यिक पत्रिकाओं का स्वरूप राजनीतिक और मुख्यतः सांस्कृतिक प्रश्नों पर केंद्रित पत्रिकाओं से बिल्कुल भिन्न होता है। साहित्यिक पत्रिकाएँ सांस्कृतिक आयाम का अंग होती हैं। किंतु इसकी अपनी सीमाएँ होती हैं इस संबंध में अलग से अध्ययन की ज़रूरत होगी और यहाँ विस्तार में जाना इस शोध प्रबंध की दृष्टि से अनावश्यक होगा।

नामवर सिंह के संपादन में 'आलोचना' पत्रिका जहाँ अपने समकालीन रचनाशीलता के परिपार्श्व में सक्रिय राजनीतिक-सांस्कृतिक प्रश्नों से साक्षात्कार करती है, वहीं साहित्यिक आलोचना की पत्रिका होने के कारण अपने समकालीन रचनाशीलता के स्वरूप को स्पष्ट करने का भी कार्य करती है। 'आलोचना' पत्रिका तभी आलोचना की पत्रिका होगी जब वह अपनी समकालीन रचनाशीलता के विविध पक्षों का स्तरीय मूल्यांकन प्रस्तुत करे उसकी वर्तमान सार्थकता को भी स्पष्ट करें। उसके साहित्यिक मूल्य और महत्ता का उद्घाटन प्रस्तुत करे- जिससे आलोचनात्मक विवेक को भी विकसित किया जा सके। डॉ० रामस्वरूप चतुर्वेदी का मानना है कि साहित्यिक आलोचना का मुख्य प्रकार्य अपनी समकालीन रचनाशीलता से टकराते हुए उसके स्वरूप का उद्घाटन करना है। इसी तरह साहित्यिक पत्रिकाओं का अटूट संबंध समकालीन रचनाशीलता से होता है। 'इसीलिए बहुत बार आलोचना का प्रकाशन किसी-न-किसी साहित्यिक पत्रिका में होता है।' इसके अतिरिक्त, समकालीन साहित्यिक कृतियों-रचनाओं की समीक्षाएँ भी सबसे पहले पत्रिकाओं में ही छपती हैं। इस प्रकार स्पष्ट है कि साहित्यिक पत्रकारिता का आलोचना-प्रक्रिया से गहरा जुड़ाव कई रूपों में रहता है।¹⁶ यह स्थिति सामान्यतः उन सभी साहित्यिक पत्रिकाओं की रहती है जिसमें सर्जनात्मक लेखन का अधिक प्रकाशन होता है; जबकि देखना यह है कि जब पत्रिका पूर्णतया आलोचना की हो तब क्या स्थिति होती है और वह आलोचना की पत्रिका अपने समय के रचनात्मक लेखन पर केंद्रित आलोचना को किस रूप में ग्रहण करती है। वस्तुतः 'आलोचना'

पत्रिका के माध्यम से हमें यही देखना है कि उसने समकालीन हिंदी साहित्य के विविध रूपों का समीक्षात्मक आकलन किस रूप में प्रस्तुत किया है। यानी 'आलोचना' पत्रिका में 'समकालीन काव्य संबंधी आलोचना', 'कथालोचना', 'नाट्यालोचना' तथा 'पुस्तक समीक्षाओं' का क्या स्वरूप रहा है? इसके अतिरिक्त 'आलोचना' पत्रिका में 'समकालीन आलोचना' को किस रूप में प्रस्तुत किया गया है यह देखना भी महत्वपूर्ण होगा।

4.5 'आलोचना' पत्रिका और समकालीन काव्य-संबंधी चिंतन और आलोचना

'आलोचना' ने अपने प्रकाशन के लंबे दौर में हिंदी कविता में आए कई उतार-चढ़ावों को, दौरों को देखा है। 'आलोचना' पत्रिका के प्रकाशन के समानांतर चलनेवाली समकालीन कविता संबंधी चिंतन, एवं आलोचनात्मक अध्ययन आदि की 'आलोचना' के अंकों में प्रकाशित समकालीन कविता संबंधी लेखों, निबंधों, शोधलेखों-टिप्पणियों आदि के माध्यम से उसके स्वरूप का पता चलता है। इसके अतिरिक्त उन काव्य-संबंधी आलोचनात्मक लेखों एवं चिंतन से हिंदी कविता की परंपरा में होनेवाले युगपरिवर्तन का स्पष्ट बोध भी होता है, तथा समकालीन कविता संबंधी विभिन्न विचारसरणियों का हिंदी काव्य परंपरा में उसकी परिवर्तनकारी भूमिका, काव्य-संबंधी पुराने विचारों से मत विभिन्नता, उसकी सार्थकता तथा युगीन महत्ता का भी पता चलता है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि 'आलोचना' पत्रिका अपने समकालीन समय में चलनेवाली विभिन्न काव्य-संबंधी मान्यताओं, आंदोलनों से टकराती है एवं उस पर विविध दृष्टियों से विचार करनेवाले लेख, निबंध 'संवाद' आदि का आयोजन करते हुए उसके स्वरूप को जानने की कोशिश करती है उसे हिंदी साहित्य-चिंतन पटल पर प्रस्तुत करती है।

ध्यातव्य है कि 'आलोचना' पत्रिका जब नामवर सिंह के संपादन में आयी उस दौर को हिंदी कविता में कई नामों से जाना जाता है जैसे युवा लेखन का दौर, भूखी-विद्रोही पीढ़ी, अकविता, साठोत्तरी पीढ़ी, बीटनिक कविता आदि।¹⁷ इस पीढ़ी की रचना-प्रक्रिया और उनकी सामाजिक

पृष्ठभूमि की पड़ताल करने का कार्य 'आलोचना' पत्रिका में प्रकाशित कई लेखों, शोधालेख, वक्तव्यों आदि में किया गया है। नामवर सिंह के संपादन के आरंभिक दिनों में 'युवा पीढ़ी' की कविता को समझने का प्रयास किया गया है। नामवर सिंह ने 'आलोचना' पत्रिका के संपादन के आरंभिक दिनों में इस युवा पीढ़ी के लेखन पर जितने वैविध्यपरक लेख आदि का प्रकाशन किया है इससे उन दौर की साहित्यिक विवाद की तीव्रता का पता चलता है।

'आलोचना' पत्रिका के नवांक-01 से ही 'युवापीढ़ी' पर गंभीरता से विचार किया गया है वस्तुतः यह नामवर सिंह के संपादन के आरंभिक दिनों की समकालीन रचनाधर्मिता से टकराव है, जिसमें युवा पीढ़ी या 'अकविता' कही जानेवाली पीढ़ी को समझा जा सके। 'आलोचना' के नवांक-01 में अशोक वाजपेयी का एक लेख 'आज के साहित्य में आक्रामकता' शीर्षक से प्रकाशित है, इस लेख में युवा पीढ़ी की विद्रोही प्रवृत्ति की पड़ताल की गई है। इसी अंक में ओमप्रकाश दीपक का लेख 'नवलेखन में राजनीतिक रुझान' शीर्षक से प्रकाशित है। नवांक-02 में सुरेंद्र चौधरी का लेख 'आक्रोश की भाषा और भाषा का आक्रोश' शीर्षक से प्रकाशित है। गौरतलब है कि साठोत्तरी पीढ़ी को उसके आक्रोश और विद्रोही तेवर के लिए सर्वाधिक याद किया जाता है। नवांक-03 में 'रोमांटिक बनाम आधुनिक' शीर्षक से 'आलोचना' में एक संवाद का आयोजन किया गया है। युवा पीढ़ी अथवा अकविता के कवियों को 'आधुनिकतावादी प्रवृत्तियों से प्रभावित रचनाकार भी कहा जाता है।¹⁸ युवालेखन की आधुनिकतावादी प्रवृत्तियों की पड़ताल भी प्रकारांतर से इस 'संवाद' में की गई है। इसी अंक में नित्यानंद तिवारी का लेख 'वर्तमान सर्जना और दायित्व-बोध' शीर्षक से प्रकाशित है।

समकालीन युवा रचनाशीलता को समझने की दृष्टि से 'आलोचना' पत्रिका का सर्वाधिक महत्वपूर्ण प्रयास 'युवालेखन पर एक बहस' शीर्षक 'संवाद' नवांक-04 में देखा जा सकता है। नामवर सिंह ने 'आलोचना' पत्रिका के माध्यम से अपनी समकालीन रचनाशीलता के स्वरूप को

स्पष्ट करने का कार्य किया। 'युवा लेखन' पर आयोजित इस संवाद में विषय-प्रवर्तन स्वयं नामवर सिंह ने किया। इस संदर्भ में अन्य आयाम जोड़नेवालों में 'सुरेंद्र चौधरी' (युवालेखन: रचना-दृष्टि पर बहस); विजयमोहन सिंह (वक्तव्यों एवं वक्तव्यों की लड़ाई); केदारनाथ सिंह (प्रतिपक्ष का साहित्य); जगदीश चतुर्वेदी (भारतीय युवजन: सामाजिक विश्लेषण) के विचार उल्लेखनीय और महत्वपूर्ण हैं। 'आलोचना' पत्रिका ने नवांक-05 से एक अन्य तथ्य उद्घाटन हिंदी साहित्य जगत के सम्मुख 'अपने भारतीय परिप्रेक्ष्य' स्तंभ के माध्यम से किया। आलोचना' पत्रिका के इस स्तंभ में मराठी, तेलुगू और बंगला जैसे प्रमुख भारतीय भाषा में होने वाले युवा-विद्रोही लेखन संबंधी मान्यताओं को स्पष्ट किया गया है। ध्यातव्य है कि अन्य भारतीय भाषाओं में भी हिंदी साहित्य की तरह अकवितावादी विद्रोही पीढ़ी के समान ही साहित्य लेखन का कार्य कर रही थी वस्तुतः यह एक भारतीय संदर्भ को ही स्पष्ट करने का महत्वपूर्ण प्रयास था। इस स्तंभ में प्रभाकर माचवे ने 'मराठी नव-लेखन और विद्रोह'; निखिलेश्वर ने 'तेलुगू की दिगंबर पीढ़ी : एक ऐतिहासिक आवश्यकता'; संदीपन चट्टोपाध्याय के लेख का अनुवाद '50 के लेखक, एस्टाब्लिशमेंट और खाली नाव' शीर्षक से प्रकाशित है।

नवांक-06 में 'कविता और राजनीति' विषय पर एक उल्लेखनीय संवाद आयोजित है। मूलतः यह योजना उस दौर में युवा कवियों के राजनीतिक रुझान की नवीन प्रवृत्तियों के उद्घाटन के लिए साथ ही कविता और राजनीति की समझ को स्पष्ट करने के लिए यह परिसंवाद आयोजित किया गया था। इसी अंक में काशीनाथ सिंह का लेख 'आज की कविता का व्याकरण: कुछ संकेत सूत्र; तथा विष्णुचंद्र शर्मा का लेख- 'विद्रोह की वास्तविकता और विद्रोह की कविता' भी प्रकाशित है। नवांक-07 में ऋषीकेश का लेख 'प्रासंगिकी' स्तंभ में 'युवा पीढ़ी : आहत होते जाने और किए जाने की प्रतिसिद्ध जिजीविषा का नामांकन' शीर्षक से प्रकाशित है।

ध्यान देने की बात है कि 'परमानंद श्रीवास्तव', 'विश्वंभरनाथ उपाध्याय', 'विश्वनाथ प्रसाद

तिवारी' और 'आशुतोष कुमार' जिसे अकवितावादी रुझान के उपरांत की कविता के लिए 'समकालीन कविता'¹⁹ पदबंध का प्रयोग करते हैं। इसी पदबंध का प्रयोग करते हुए नामवर सिंह ने 'आलोचना' पत्रिका में एक 'स्तंभ' प्रारंभ किया था। चूँकि यह 'स्तंभ' अपने समकालीन समय की कविताओं के विषय में लेख, निबंध आदि के प्रकाशन के लिए किया गया था, जबकि उपर्युक्त विद्वानों द्वारा जिस मूल्यपरक पारिभाषिक अर्थ में 'समकालीन कविता' पदबंध प्रयोग किया गया है, वह 'समकालीन कविता' पदबंध स्तंभ से बिल्कुल ही भिन्न है। दरअसल 'समकालीन कविता' पदबंध जिसका प्रयोग पारिभाषिक अर्थ में प्रयोग किया गया है उससे एक भ्रमपूर्ण-स्थिति का बोध होता है, जिससे हमेशा उलझन बनी रहती है कि प्रत्येक दौर की कविता अपने समय की समकालीन कविता ही होती है। यह नाम इन विद्वानों ने स्वीकार किया है, इसके बावजूद इस नाम पर विचार करने की आवश्यकता बनी हुई है। इसकी भी संभावना जताई जा सकती है कि कहीं इस 'समकालीन कविता' नामकरण के पीछे 'आलोचना' पत्रिका का समकालीन कविता' शीर्षक 'स्तंभ' तो नहीं है??

बहरहाल, 'आलोचना' पत्रिका 'समकालीन कविता' 'स्तंभ' में समसामयिक कविता संबंधी अध्ययन-चिंतन एवं आलोचना को प्रकाशित करती थी। इसीलिए 'समकालीन कविता' शीर्षक इस 'स्तंभ' में युवा लेखन पर प्रचुर सामग्री प्रकाशित की गई है जिसे उपर्युक्त 'समकालीन कविता' के पारिभाषिक पदबंध के प्रयोक्ता इस पदबंध की सीमा से अलग, खारिज करते हुए दीखते हैं²⁰ 'आलोचना' पत्रिका अपने इस 'स्तंभ' को एक-दो अंकों से अधिक अंकों में नहीं बढ़ाती है, किंतु सामग्री की प्रचुरता उसी समकालीन कविता से ही संदर्भित है। जनवरी-मार्च, 1969 (नवांक-08) से 'समकालीन कविता' शीर्षक स्तंभ भी ध्यानाकर्षक है। इस स्तंभ में सुरेंद्र चौधरी का लेख 'समकालीन कविता : अंधेरे से साक्षात्कार', मलयज का लेख 'सर्जनात्मक तनाव और अंतर्निष्ठा', तथा परमानंद श्रीवास्तव का लेख 'कविता की भाषा', शीर्षक से प्रकाशित है। मूलतः ये तीनों

लेख अपने समय की कविताओं के परिप्रेक्ष्य में लिखे गए हैं।

नवांक-09 में रामदेव आचार्य का लेख 'आज की कविता कुछ मौलिक सवाल' शीर्षक से प्रकाशित है। इसी अंक में 'प्रासंगिकी' 'स्तंभ' में अशोक वाजपेयी का लेख 'समकालीन कविता एक दृश्यालेख' प्रकाशित है। नवांक-10 में 'प्रासंगिकी' स्तंभ में प्रभातकुमार त्रिपाठी का लेख 'युवा कविता की भाषा' है। नवांक-11 में विजयमोहन सिंह का लेख 'मुद्राओं की भाषा तथा विद्रोह की व्यावसायिकता' शीर्षक से है। नवांक-12 में प्रकाशित आशोक वाजपेयी का लेख 'विचारों से विदाई पर एक अभिभाषण', 'आलोचना' की गोष्ठी में 16 जनवरी 1970 में पढ़ा गया था, यह निबंध भी युवा लेखन पर ही केंद्रित है। इसी प्रकार नवांक-14 में प्रकाशित गोविंद प्रसाद बहुगुणा ने अशोक वाजपेयी के उपर्युक्त लेख के विरोध में 'युवा कविता की समृद्ध मिज़ाजी और नया तेवर' शीर्षक से लेख लिखा है, जिसमें युवा लेखन की व्याख्या की मानसिकता को स्पष्ट करने का कार्य करते हैं। नवांक-15 में प्रकाशित विजेंद्र का लेख 'कविता की सही भाषा की तलाश' भी युवा लेखन की भाषा पर केंद्रित है और 'पटना युवा लेखन सम्मेलन', 1970 में पढ़ा गया था। नवांक-17 में इंद्रनाथ मदान का एक लेख 'आधुनिकता और समकालीन कविता' शीर्षक से प्रकाशित है, जिसमें आधुनिकतावादी मूल्य के आधार पर तत्कालीन कविता का मूल्यांकन किया गया था। नवांक-22 में भारतभूषण अग्रवाल के प्रकाशित लेख का शीर्षक 'समकालीन कविता में आज़ादी की तस्वीर' है जिसमें समकालीनता का अर्थ तत्कालीन रचना संदर्भों से है। नवांक-23 में श्रीकांत वर्मा का लेख 'समकालीन रचना में स्वतंत्रता का अर्थ' शीर्षक से प्रकाशित है। इस लेख में श्रीकांत वर्मा समकालीन रचना का अर्थमुक्तिबोध के बाद की रचना से लेते हैं जोकि युवा पीढ़ी की कविता के रूप में अभिहित किया जाता है। नवांक-25 में प्रकाशित नंदकिशोर नंदन (नवल) का लेख 'समकालीन कविता का सही चेहरा' में समकालीन कविता अर्थ 1960 के बाद की कविता के अर्थ में ग्रहण किया गया है। यहाँ समकालीन कविता का अर्थ उस समय के अधिकांशतः युवा लेखन

से ही हैं। नवांक-30 में शिवमंगल सिद्धांतकार का लेख 'आज की कविता का चरित्र' शीर्षक से प्रकाशित है, जिसमें नक्सलवादी आंदोलन से प्रेरित कवियों को वो सहृदयता से देखते हैं। नवांक-32 में नंदकिशोर नवल ने 'राजनीति और समकालीन कविता' शीर्षक से लेख लिखा है जिसमें युवा लेखन के अधिकांश समकालीन कवियों की राजनीति को कविता में किस रूप में ग्रहण किया है, इसे देखने का प्रयास करते हैं। नवांक-34-35 में 'समकालीन हिंदी कविता और जनभाषा का सवाल' शीर्षक आलेख में नंदकिशोर नवल ने समकालीन लेखन का सही चेहरा युवा लेखन को ही स्वीकार करते हैं किंतु स्पष्ट करते हैं 1975 के आसपास युवा कवियों में एक स्पष्ट जनवादी रुझान दिखाई पड़ता है। इसी अंक में कुमारेंद्र पारसनाथ सिंह का लेख 'काव्य-भाषा का वामपक्ष' शीर्षक से एक दीर्घ किंतु अत्यंत संतुलित एवं विचारोत्तेजक आलेख प्रकाशित है।

नवांक-37 में विजेंद्र के लेख 'समकालीन कविता और सामाजिक यथार्थ' शीर्षक लेख में 'समकालीन कविता' पदबंध को लेकर असमंजस की स्थिति दिखाई पड़ती है कि 'समकालीन कविता' किसे कहें? किंतु 'समकालीन कविता' पदबंध का जिस अर्थ में 1975 के बाद की कविता के लिए प्रयोग किया गया है, उसका स्पष्ट स्वरूप इस लेख में विद्यमान है। इसी लेख में 'आलोचना' नवांक-24 में प्रकाशित त्रिलोचन की कविता 'नगई महारा' को 'समकालीन कविता' के प्रस्थान बिंदु के रूप में देखते हैं। परमानंद श्रीवास्तव का लेख 'कविता और मनुष्य के प्रति रुख : संदर्भ समकालीन कविता नवांक-36 में प्रकाशित हुआ है- इस लेख में परमानंद श्रीवास्तव विजेंद्र के समान स्पष्ट करते हैं कि 1975 के आसपास हिंदी कविता त्रिलोचन, नागार्जुन, केदारनाथ अग्रवाल की 'कलापूर्ण प्रगतिशीलता' की और लौट रही है। इस लेख में युवा विद्रोह से कविता के उतरने का स्पष्ट संकेत कर दिया गया है।

'आलोचना' का नवांक-56-57 'समकालीन कविता' पदबंध के मूल्यपरक अर्थ को स्वीकृति देता हुआ दिखाई पड़ता है। इस अंक को समकालीन कविता के पारिभाषिक अर्थ के निहितार्थ को

स्पष्ट करते हुए देखा जा सकता है। 'आलोचना' पत्रिका का यह अंक नागार्जुन के सत्तर वर्ष पूरे करने पर विशेष रूप से आयोजित है तथा समकालीन कवियों के लगभग 20 महत्वपूर्ण काव्यसंग्रहों की समीक्षाएँ भी इसी अंक में संयुक्त रूप से प्रकाशित हैं। इसी अंक में शमशेर, त्रिलोचन और केदारनाथ अग्रवाल केदारनाथ सिंह, कुँवर नारायण पर भी विशेष आलेख प्रकाशित किए गए हैं। और इसी अंक में श्याम कश्यप द्वारा 'पूर्वग्रह' पत्रिका के अंक- 39-40 की समीक्षा- 'नए कलावाद का उत्थान' शीर्षक से प्रकाशित है वहीं, नंदकिशोर नवल द्वारा 'कंक' पत्रिका की समीक्षा भी इसी अंक में प्रकाशित है। इस संयुक्तांक को 'समकालीन कविता' के अध्ययन के संदर्भ में अत्यंत महत्वपूर्ण और 'मानीखेज' अंक के रूप में स्वीकार किया गया है।²¹ स्पष्ट है कि नागार्जुन के साथ त्रिलोचन, शमशेर और केदारनाथ अग्रवाल का समकालीन कवियों के साथ प्रकाशन सिद्ध करता है, ये चारों कवि समकालीन कविता के 'प्रेरणा-स्तंभ' हैं; समकालीन कविता का वृहत्तर आयाम इन्हें छोड़कर अधूरा ही रहेगा।

'आलोचना' पत्रिका के इसके बाद के अंकों में समकालीन कविता का मूल्यपरक पारिभाषिक अर्थ ही केंद्र में रहा है। नवांक-58 में प्रकाशित परेश अपने लेख 'विपक्ष में केवल कविता है' में 1975 के बाद हिंदी कविता में स्पष्ट बदलाव को रेखांकित करते हुए देखे जा सकते हैं। नवांक-67 में रामस्वरूप चतुर्वेदी का लेख 'समकालीन कविता की दिशा' प्रकाशित है। ध्यातव्य है कि रामस्वरूप चतुर्वेदी इस पदबंध को पारिभाषिक अर्थ में ही स्वीकार करते हुए देखे जा सकते हैं, उन्होंने अपनी पुस्तक 'समकालीन हिंदी साहित्य : विविध परिदृश्य' जो कि चार खंडों में विभक्त है, प्रत्येक खंड में एक युग के अंत और दूसरे युग के आरंभ का संकेत मिलता है। दूसरा खंड 'युवा लेखन' पर समाप्त है तथा तीसरा खंड 'समकालीन कविता' पर केंद्रित है। स्पष्ट है कि रामस्वरूप चतुर्वेदी भी प्रकारांतर से इस पदबंध को स्वीकार करते हैं। नवांक-75 में प्रेमशंकर के लेख 'समकालीन कविता और जीवन यथार्थ' में भी 'समकालीन कविता' को पारिभाषिक अर्थ में स्वीकार

किया गया है। इसके अतिरिक्त परमानंद श्रीवास्तव का लेख 'समकालीन कविता और काव्यमूल्य' नवांक-83 में प्रकाशित है।

इस प्रकार 'आलोचना' पत्रिका अपनी समकालीन रचनाशीलता को स्पष्ट करने के लिए आरंभ से ही कटिबद्ध रही है वह चाहे युवा लेखन हो या 'समकालीन कविता' हो। इसके अतिरिक्त 'आलोचना' में नामवर सिंह 'समकालीन कविता' संबंधी अन्य आयामों को स्पष्ट करने के लिए समय-समय पर उससे जुड़े प्रश्नों पर महत्वपूर्ण आलेख, निबंध आदि सामग्री का प्रकाशन भी करते हैं। उदाहरणस्वरूप 'काव्य-भाषा के प्रश्न पर' 'आलोचना' में कई लेख प्रकाशित हैं। नवांक-08 में परमानंद श्रीवास्तव द्वारा लिखित 'कविता की भाषा', शीर्षक लेख इस संदर्भ में महत्वपूर्ण आलेख है। नवांक-15 में रमेशचंद्र शाह का लेख 'भाषा की काव्यमुक्ति' तथा विजेंद्र का लेख 'कविता की सही भाषा की तलाश' प्रकाशित है। नवांक-34-35 में नंदकिशोर नवल का लेख 'समकालीन हिंदी कविता और जनभाषा का सवाल' तथा कुमारेंद्र पारसनाथ सिंह का लेख 'काव्यभाषा का वामपक्ष' इसी कविता की भाषा का अन्यतम पक्ष है। इसके अतिरिक्त नवांक-23 में 'काव्य-भाषा के प्रश्न' पर दो आलेख प्रकाशित हैं एक आलेख रमेशचंद्र शाह का है, जो 'काव्य-भाषा का प्रश्न : पाश्चात्य प्रभावों के प्रसंग में' शीर्षक से प्रकाशित है। दूसरा आलेख विजयदेवनारायण शाही द्वारा लिखित है जो 'पाश्चात्य प्रभावों में वर्तमान काव्य-भाषा की समस्याएँ' शीर्षक से प्रकाशित है।

इसी प्रकार भाषा से ही जुड़ी 'कविता' की एक समस्या 'प्रेषणीयता' की रही है, इस संदर्भ में 'आलोचना' पत्रिका में कुछ लेख प्रकाशित हैं। जैसे:- नवांक-30 में विश्वनाथ त्रिपाठी द्वारा लिखित 'आज का साहित्य और प्रेषणीयता' प्रकाशित है। इसके ठीक बाद नवांक-31 में नंद भारद्वाज का लेख 'समकालीन लेखन प्रेषणीयता का नया संदर्भ' प्रकाशित किया गया है। इस प्रकार उपर्युक्त अध्ययन से स्पष्ट है कि 'आलोचना' पत्रिका अपने प्रकाशन-काल की समकालीन कविता का न

केवल प्रश्न उठाती है, बल्कि उन प्रश्नों को व्यापक परिप्रेक्ष्य में स्पष्ट करने के लिए उन पर परिसंवाद का भी आयोजन करती है। उपर्युक्त विवेचन में आए 'युवा लेखन' संबंधी बहस, 'कविता और राजनीति' के संबंधों पर 'रोमांटिक बनाम आधुनिक' संबंधी प्रश्नों पर आयोजित 'परिसंवाद' के माध्यम से समकालीन रचनाशीलता से उसके गहरे संबंध को स्पष्टतः समझा जा सकता है। इसके अतिरिक्त नामवर जी ने 'आलोचना' पत्रिका में अपने समय के महत्वपूर्ण कवियों पर विशेषांक आदि को संपादित किया, साथ ही उन कवियों की कविताओं के स्वरूप का स्पष्टीकरण के लिए उन पर कई लेख, निबंध आदि प्रकाशित किया गया है इसका सर्वोत्तम उदाहरण 'मुक्तिबोध', 'नागार्जुन', 'त्रिलोचन', 'शमशेर बहादुर सिंह', 'श्रीकांत वर्मा', 'रघुवीर सहाय', 'गोरखनाथ पांडेय', 'सोमदत्त' आदि कवियों पर प्रकाशित विशेषांक अथवा उन पर, कई अंकों में प्रकाशित लेख आदि देख सकते हैं। इसके अतिरिक्त अपने समय के महत्वपूर्ण-रचनाकारों की काव्य-कृतियों पर प्रकाशित समीक्षाओं के माध्यम से भी इस मत की पुष्टि होती है। कविता केंद्रित आलोचना इसलिए अपने समकालीन कवियों की कविताओं का प्रकाशन (हिंदी तथा अन्य भाषाओं की) और उन पर गंभीर आलेख, निबंध, और परिसंवाद का आयोजन और प्रकाशन यह स्पष्ट करता है 'आलोचना' पत्रिका कितनी गंभीरता से अपनी समकालीन रचनाशीलता से जुड़ी हुई थी।

4.6 'आलोचना' पत्रिका और समकालीन कथालोचना

इस अध्याय के काव्य संबंधी चिंतन एवं आलोचना के संदर्भ में यह मत प्रकट किया गया है कि हिंदी आलोचना मुख्यतः कविता केंद्रित रही है, इसलिए 'आलोचना' पत्रिका में कविता संबंधी आलोचना ही प्रभावी है। इसके बावजूद हिंदी साहित्य में कथा साहित्य के प्रति जिस प्रकार से रुझान बढ़ा है, कथा साहित्य का भारी संख्या में प्रकाशन हो रहा है उसे हिंदी आलोचना अपने को कविता के दायरे तक सीमित नहीं रख सकती थी, न ही इस पक्ष को उपेक्षा का शिकार बनाया जा सकता है। यदि आलोचना को आलोचना नाम चरितार्थ करना है तो उसे अपने समकालीन रचनाशीलता

के इस पक्ष पर गंभीरता से ध्यान देना ही था। हिंदी कथा साहित्य को लेकर जिस तरह से आलोचनात्मक लेखन हुआ है, उससे हिंदी आलोचना में एक कथालोचना की धारा का सूत्रपात हुआ, बल्कि उसके विकास से हिंदी आलोचना अत्यंत समृद्ध हुई है। हिंदी कथा साहित्य के प्रति आलोचकों की दृष्टि के झुकाव की डॉ० गोपाल ने प्रशंसा भी की है और उन्होंने आशा भी व्यक्त की है ‘यह प्रसन्नता की बात है कि समकालीन प्रतिष्ठित आलोचकों का ध्यान कथालोचना की ओर आकृष्ट हो रहा है और कविता के प्रति उनके पूर्वग्रह ढीले हो रहे हैं। ‘आलोचना’ का प्रेमचंद विशेषांक और आगामी उपन्यासालोचन अंक की योजना या ‘पूर्वग्रह’ का उपन्यास अंक इसका प्रमाण है। इससे लगता है कि हिंदी कथालोचना अब आलोचना के मंच पर काव्यालोचना के समकक्ष स्थान पानेवाली है। वस्तुतः इसके अभाव में हिंदी काव्यालोचना अधूरी और एकांगी है।’²²

‘आलोचना’ पत्रिका में हिंदी काव्य के प्रति अत्यधिक झुकाव देखने को मिलता है, किंतु इसका तात्पर्य यह बिल्कुल ही नहीं है कि वहाँ कथा साहित्य के प्रति उपेक्षा बरती गई है। ‘आलोचना’ में प्रकाशित कहानी-संग्रहों और उपन्यासों की समीक्षाएँ, कथा-साहित्य से जुड़ी अन्य बहसों एवं प्रश्नों पर प्रकाशित शोधपरक आलेख, निबंध आदि देखने से स्पष्ट होगा कि नामवर सिंह द्वारा संपादित ‘आलोचना’ पत्रिका का हिंदी कथालोचना के विकास में अत्यंत महत्वपूर्ण योगदान है। सबसे पहले ‘आलोचना’ पत्रिका में उपस्थित उपन्यास संबंधी चिंतन, आलोचना एवं समीक्षाओं को हम देखेंगे। उसके उपरान्त ‘कहानी’ संबंधी आलोचना एवं चिंतन आदि को देखा जाएगा। इससे ‘आलोचना’ में समकालीन कथा-साहित्य संबंधी बहस का स्वरूप स्पष्ट हो सकेगा।

4.6.1. ‘आलोचना’ पत्रिका में उपन्यास संबंधी अध्ययन-चिंतन का स्वरूप

‘आलोचना’ में नामवर सिंह के संपादन के आरंभिक दिनों से ही समकालीन उपन्यासों की गंभीर समीक्षाएँ प्रकाशित होने लगी थीं। महेंद्र भल्ला के उपन्यास ‘एक पति के नोट्स’ की समीक्षा प्रयाग शुक्ल ने की थी जो ‘आलोचना’ के नवांक-01 में प्रकाशित है। वहीं नवांक-04 में भारतभूषण

अग्रवाल द्वारा की गई अमृतलाल नागर के उपन्यास 'अमृत और विष' की समीक्षा प्रकाशित है। कमलेश द्वारा की गई 'रागदरबारी' की समीक्षा नवांक-07 में 'कला रूपों की नैतिकता का सवाल' शीर्षक से प्रकाशित है। विजयदेवनारायण साही द्वारा शिवप्रसाद सिंह के उपन्यास 'अलग-अलग वैतरणी' की समीक्षा 'सलीके से किस्सा कहने की दुर्लभ कला' शीर्षक से नवांक-09 में प्रकाशित है। इसी प्रकार नवांक-22 में मधुरेश का एक महत्वपूर्ण आलेख 'नागार्जुन के उपन्यास' शीर्षक से प्रकाशित है। इसी अंक में राजेंद्र यादव का उपन्यास विधा पर लिखा गया विचारात्मक निबंध भी 'रक्तबीज' शीर्षक से प्रकाशित है। हेमेंद्र कुमारी पानेरी के उपन्यास पर लिखित शोधालेख 'स्वातंत्र्योत्तर हिंदी-उपन्यासों में व्यक्ति-प्रतिष्ठा' शीर्षक से प्रकाशित है। इसी अंक में कृष्णा सोबती के उपन्यास 'सूरजमुखी अंधेरे के' की दो समीक्षाएँ प्रकाशित हैं। नवांक-31 में इंदुप्रकाश पांडेय का एक शोधालेख 'राही का आधा गाँव और भारतीय मुसलमानों का संकट' प्रकाशित है। नवांक-34-35 में गिरिराज किशोर द्वारा लिखित 'प्रेमचंद का यथार्थ' शीर्षक लेख प्रकाशित है। इंद्रनाथ मदान का एक अत्यंत विस्तृत एवं लंबा शोधालेख 'समकालीन हिंदी उपन्यास : दशा और दिशा' 'वे दिन' से 'मुरदाघर' तक प्रकाशित है। यह आलेख समकालीन हिंदी उपन्यास की दशा और दिशा से बहुत हद तक परिचित कराता है। बीना श्रीवास्तव का शोधालेख 'महाकाव्य और उपन्यास : संरचना के नूतन संदर्भ' शीर्षक से नवांक-45 में प्रकाशित है। राजेंद्र यादव का एक आलेख 'हिंदी उपन्यास का भविष्य' नवांक-47 में प्रकाशित है। नवांक-48 में एन. रवींद्रनाथ का शोधपरक आलेख 'हिंदी के समाजवादी उपन्यास : उपलब्धियाँ एवं सीमाएँ' शीर्षक से प्रकाशित है।

'आलोचना' का नवांक-51-52 हिंदी कथा सम्राट प्रेमचंद की जन्मशताब्दी पर ही आयोजित था नवांक-53 में भी प्रेमचंद पर पूरक सामग्री प्रकाशित है। इसके अतिरिक्त नवांक-53 मूलतः विविध उपन्यासकारों पर चर्चा-परिचर्चा तथा समीक्षा युक्त अंक हैं। इसी अंक राजेंद्र यादव का तिलिस्मी उपन्यास पर लिखा गया अत्यंत महत्वपूर्ण आलेख 'चंद्रकांता: दयनीय महानता की

दिलचस्प दास्तान' शीर्षक से प्रकाशित है। इसी अंक में चंद्रेश्वर कर्ण का आलेख 'नागार्जुन के उपन्यास : प्रतिबद्ध जीवन-दृष्टि की शक्ति और सीमा' शीर्षक से उपलब्ध है। तथा इसी अंक में अर्चना वर्मा का आलेख 'कृष्णा सोबती की कथा-दृष्टि' पर प्रकाशित है। गिरिराज किशोर का लेख 'एक चिथड़ा सुख: किसका सुख किसका दुख' भी हमारा ध्यान आकृष्ट करता है। नवांक-59 में 'प्रेमचंद' पर विशेष सामग्री प्रकाशित की गई है जिसमें खगेंद्र ठाकुर का आलेख- 'राष्ट्रीय एकता और प्रेमचंद' ब्रजकुमार पांडेय का लेख 'प्रेमचंद और हरिजन समस्या' और गोपाल का लेख- 'रंगभूमि: एक राजनीतिक उपन्यास' शीर्षक से प्रकाशित है।

समकालीन महत्वपूर्ण उपन्यासों की समीक्षा पर पूरा एक विशेषांक 'उपन्यास अंक' (नवांक-64-65) शीर्षक से प्रकाशित है। 'आलोचना' पत्रिका के इस 'उपन्यास अंक' में मनोहरश्याम जोशी के उपन्यास 'कसप' पर तीन महत्वपूर्ण समीक्षात्मक आलेख प्रस्तुत किए गए हैं। विजयमोहन सिंह ने 'धराशायी गू से गर्वोन्नत हिमाशिखर तक' शीर्षक आलेख में 'कसप' पर विचार किया है। वागीश शुक्ल ने 'अहं कै लियो जजमान' शीर्षक से उस पर विचार करते हैं। बटरोही उसमें 'मध्यवर्गीय कुमाँउनी समाज के बहाने अतीत की अनुभव-यात्रा' करते हुए देखे जा सकते हैं। इस अंक में श्याम कश्यप ने अमृतलाल नागर के उपन्यास 'नाच्यौ बहुत गोपाल' की समीक्षा 'यथार्थ और कल्पना का सर्जनात्मक द्वंद्व' शीर्षक किया है। 'गोपाल' ने अमृतलाल नागर के ही 'खंजन नयन' उपन्यास की समीक्षा 'अंधे गायक की कथा' शीर्षक से की है। परमानंद श्रीवास्तव गिरिराज किशोर के तीन उपन्यास 'इंद्र सुने', 'यथा प्रस्तावित' और 'तीसरी सत्ता' पर अपना आकलन 'मानवीय स्थिति से उलझाव भरा संपर्क' शीर्षक से प्रस्तुत करते हैं। खगेंद्र ठाकुर ने भीष्म साहनी के उपन्यास 'बसंती' पर अपनी समीक्षा 'जिजीविषा और व्यवस्था का टकराव' शीर्षक से लिखते हैं, तो अजय तिवारी, मन्नू भंडारी के उपन्यास 'महाभोज' पर 'घर में लगी आग की दास्तान' शीर्षक से प्रकाशित करते हैं। चारुमित्र की मार्कंडेय के उपन्यास 'अग्निबीज' पर समीक्षा प्रकाशित है।

शैलेश्वर सतीप्रसाद ने रवींद्र कालिया के उपन्यास 'खुदा सही सलामत है' की समीक्षा 'परिपाटीबद्ध लेखन का नमूना' शीर्षक से प्रस्तुत है। इसी अंक में कुलानंद मिश्र ने गोविंद मिश्र के उपन्यास 'हुजूर दरबार' की समीक्षा- 'रजवाड़े से रजवाड़े तक की यात्रा' शीर्षक से की है, वहीं विजेन्द्रनारायण सिंह का प्रेमचंद पर विस्तृत अध्ययनपरक शोधालेख 'प्रेमचंद : सवर्ण से अवर्ण तक की यात्रा का समाजशास्त्र' शीर्षक से प्रकाशित है। इस लेख में विजेन्द्रनारायण सिंह इस तथ्य की पड़ताल करते हैं कि प्रेमचंद की कथा साहित्य में उपस्थित किसान विद्रोह क्यों नहीं करते हैं, इसके अतिरिक्त यह भी पड़ताल करते हैं कि प्रेमचंद के यहाँ अवर्ण इतने विद्रोही क्यों हैं?

इसी 'उपन्यास अंक' में भारतीय उपन्यास का परिप्रेक्ष्य स्पष्ट करते हुए गुजराती के उपन्यासकार रघुवीर चौधरी की कथात्रयी 'उपरवास', 'सहवास' और 'अंतरवास' पर समीक्षात्मक आकलन-महावीरसिंह चौहान ने किया है, और उसमें 'लोक चेतना की तलाश' करते हैं। इसी अंक में बंगला के प्रसिद्ध उपन्यासकार 'बंकिमचंद्र चटर्जी की सर्वाधिक विवादित कृति 'आनंदमठ' पर एक शताब्दी परिचर्चा 'कार्तिकचंद्र दत्त' द्वारा 'आनंदमठ और वंदेमातरम : एक शताब्दी परिचर्चा' शीर्षक से करते हैं जिसमें 'आनंदमठ' के प्रथम संस्करण और द्वितीय तथा तृतीय संस्करण में हुए परिवर्तन की चर्चा करते हुए उसके निहितार्थ को स्पष्ट किया गया है, और क्यों और कैसे वह सांप्रदायिक रंग लेने लगता है इसे स्पष्ट किया गया है। ध्यान देने की बात है कि इस अंक का संपादकीय 'उपन्यास और राजनीति' शीर्षक से नामवर सिंह ने लिखा है, जिसमें बंकिमचंद्र चटर्जी के उपन्यास 'आनंदमठ' को लेकर चलनेवाली राजनीति का कड़ा प्रतिकार किया गया है। सांप्रदायिक रंग देनेवाली राजनीति की पड़ताल नामवर सिंह इस संपादकीय में करते हैं।

इस अंक को देखने से स्पष्ट होता है यह अंक सिर्फ हिंदी उपन्यास को केंद्र में नहीं रखता, बल्कि उपन्यास का 'भारतीय परिप्रेक्ष्य' स्पष्ट करने का कार्य करता है। इसके अतिरिक्त इस अंक में कमलेश्वर, राजेंद्र यादव के उपन्यासों में से इस अंक में समीक्षा के लिए किसी उपन्यास को

नहीं लिया गया है। यहाँ 'रेणु' की छवि भी हमें देखने को नहीं मिलती है। यहाँ श्रीलाल शुक्ल गायब हैं लेखिकाएँ मन्नु भंडारी को छोड़कर कोई नहीं है। इसके साथ-साथ इस अंक में उन्हीं उपन्यासों का दर्शन होता है, जो अधिकांश मध्यवर्गीय जनसमाज के जीवन को व्यक्त करता है, जिसमें अधिकांश उपन्यासों के नायक-नायिका स्वाधीनता के उपरांत सामाजिक-राजनीतिक विघटन के दंश को झेलते हुए देखे जा सकते हैं। अथवा अपनी सामाजिक विसंगतियों के शिकार हैं।

नवांक-68 में विश्वनाथप्रसाद तिवारी ने 'कसप' पर अपने विचार 'पत्र' लिखकर दिए हैं, जिसका प्रत्युत्तर मनोहरश्याम जोशी ने दिया है जो इसी अंक में प्रकाशित है। नवांक-69 भी उपन्यास की आलोचना की दृष्टि से अत्यंत महत्वपूर्ण है। इस अंक में वीरभारत तलवार का अत्यंत गंभीर शोधालेख 'प्रेमचंद-शरतचंद्र विवाद 1922-23 ई०' शीर्षक से प्रकाशित है। इसी अंक में विवेकीराय का लेख 'हिंदी आंचलिक उपन्यास बनाम लोकचेतना' शीर्षक से प्रकाशित है। इस अंक का सबसे आकर्षक लेख सत्यकाम का है जो 'भारतीय उपन्यास के उदय' के संदर्भ में अत्यंत गंभीर कार्य है यह लेख 'भारतीय भाषाओं में उपन्यास का उदय' शीर्षक से प्रकाशित है।

'आलोचना' पत्रिका के अंकों में भारतीय उपन्यास के उदय के परिप्रेक्ष्य में और भी कई लेख प्रकाशित हैं जो 'भारतीय उपन्यास के परिप्रेक्ष्य' को तो स्पष्ट करते ही हैं, साथ ही जिनके माध्यम से 'भारतीय उपन्यास की आरंभिक स्थिति का भी जायजा लिया जा सकता है। इस संदर्भ में 'आलोचना' का नवांक-84 पर्याप्त महत्वपूर्ण अंक है। इस अंक का आकर्षण मराठी के इतिहासाचार्य, साहित्य मर्मज्ञ एवं गंभीर चिंतक श्री विश्वनाथ काशीनाथ राजवाड़े का 1902 में मराठी में प्रकाशित 'उपन्यास' शीर्षक निबंध का अनुवाद है। गोविंद पुरुषोत्तम देशपांडे ने इस 'उपन्यास' शीर्षक निबंध पर अपनी सारगर्भित टिप्पणी लिखी है, वहीं ह. श्री. साने ने इस विस्तृत लेख का अनुवाद किया है, इसमें उनकी बतौर अनुवादक टिप्पणी भी है। ध्यातव्य है कि यह लेख तब लिखा गया था जब भारतीय भाषाओं में उपन्यास अपना प्रादुर्भाव की दशा में था। 'आलोचना' पत्रिका ने इस लेख के

अनुवाद को प्रकाशित कर हिंदी उपन्यास के परिप्रेक्ष्य का विस्तार भारतीय संदर्भों में किया है।

हिंदी उपन्यास अपनी आरंभिक अवस्था में किस प्रवृत्तियों से युक्त था उसे जानने का एक माध्यम तिलिस्मी-जासूसी उपन्यास और उसके सामाजिक विश्लेषण अध्ययन-चिंतन से ही स्पष्ट होकर उपस्थित होगा। 'आलोचना' पत्रिका ने यह कार्य देवकीनंदन खत्री के तिलिस्मी उपन्यास 'चंद्रकांता' के माध्यम से किया। इस संदर्भ में राजेंद्र यादव का प्रसिद्ध लेख 'दयनीय महानता की दिलचस्प दास्तान' (नवांक-53) शीर्षक से प्रकाशित है, वहीं प्रदीप सक्सेना के 'चंद्रकांता पर नवीन निष्कर्षों से युक्त दो गंभीर शोधालेख 'चंद्रकांता : यथार्थवाद के प्रथम उत्थान का महाकाव्य', (नवांक-76) तथा 'तिलिस्मी साहित्य का साम्राज्यवाद-विरोधी चरित्र' (नवांक-83) में प्रकाशित है।

'आलोचना' पत्रिका ने हिंदी उपन्यास की पड़ताल यथार्थवाद की दृष्टि से करने का भी कार्य किया है। इस संदर्भ में नवांक-76 में ही प्रकाशित शिवकुमार मिश्र का लेख 'यथार्थवाद के परिप्रेक्ष्य में ग्राम केंद्रित उपन्यास और आंचलिक उपन्यास' प्रकाशित है। इसी अंक में विवेकीराय का लेख 'आज के हिंदी उपन्यासों में चित्रित जीवन का स्वरूप और दर्शन' इस दृष्टि से एक महत्वपूर्ण आलेख है। इसी अंक में प्रकाशित प्रदीप सक्सेना का चंद्रकांता पर लिखा गया गंभीर शोधालेख यथार्थवादी दृष्टि से ही इसका विश्लेषण करता है और नवीन यथार्थवाद को इतिहास में ट्रेस करता है।

इस प्रकार नामवर सिंह संपादित 'आलोचना' में अपने समकालीन उपन्यासों पर न केवल समीक्षाएँ प्रकाशित हैं, बल्कि 'उपन्यास' संबंधी अन्य महत्वपूर्ण मुद्दों को भी गंभीर विचारोत्तेजक समर्थन प्रदान करती है। अर्थात् हिंदी उपन्यास को भारतीय परिप्रेक्ष्य के संदर्भ में रखकर पड़ताल करने का कार्य करती है। भारत के आरंभिक उपन्यासों पर सामग्री प्रस्तुत करते हुए भारतीय उपन्यास के उद्भव पर हिंदी पाठकों एवं समीक्षकों की दृष्टि स्पष्ट करना चाहती है। इस प्रकार 'आलोचना' पत्रिका ने कथा-साहित्य की सबसे महत्वपूर्ण विधा 'उपन्यास' पर अत्यंत गंभीरता से

विचार किया है।

4.6.2 'आलोचना' पत्रिका में 'कहानी' संबंधी चिंतन और अध्ययन का स्वरूप

जिस प्रकार 'आलोचना' पत्रिका ने 'उपन्यास' विधा पर गंभीरता से विचार प्रस्तुत करती है, हिंदी कहानी पर उसी गंभीरता और दमदार ढंग से बहस करते हुए नहीं देखा जा सकता है। इसके बावजूद हिंदी कहानी पर जितनी गंभीर सामग्री आलोचनात्मक लेख एवं समीक्षाएँ आदि प्रकाशित हैं उससे हिंदी कथालोचना न केवल समृद्ध होती है, उससे हिंदी कथालोचना को 'आलोचना' पत्रिका का अन्यतम योगदान का भी पता चलता है। 'आलोचना' के नवांक 19 में प्रकाशित इंद्रनाथ मदान का लेख 'आधुनिकता और समकालीन कहानी', शीर्षक शोधपरक आलेख समकालीन हिंदी कहानी का 'आधुनिकतावाद की दृष्टि से मूल्यांकन करने का अत्यंत महत्वपूर्ण प्रयास है। इसी अंक में काशीनाथ सिंह ने 'हिंदी कहानी पर विदेशी शोधकर्तागार्डन रोडारमल' के विचारों को प्रस्तुत किया है। नवांक-22 में बटरोही का लेख 'आधुनिक कहानी' शीर्षक से प्रकाशित है। नवांक-23 में डॉ० रमेश तिवारी का लेख- 'हिंदी कहानी का सातवाँ दशक : नया जीवन-बोध, नई सोच तथा नई मानसिकता' शीर्षक से प्रकाशित है। विजयमोहन सिंह की समीक्षा 'राजा निरबंसिया' से 'राजा निरबंसिया तक नवांक-26 में प्रकाशित है। नवांक-28 में परेश का 'कहानी का अतीत और वर्तमान' शीर्षक आलेख समकालीन हिंदी कहानी को समझने के लिए कुछ महत्वपूर्ण सूत्र देता है। पवन कुमार मिश्र का लेख 'कहानी परत-दर-परत' शीर्षक से नवांक-32 में प्रकाशित हुआ है।

नवांक-38 हिंदी कहानी पर आलोचनात्मक दृष्टि से उल्लेखनीय अंक है। इस अंक में हिंदी कहानी की समकालीन स्थिति पर तीन आलेख प्रकाशित हैं, वही हिंदी कहानी पर हुई एक 'गोष्ठी' की प्रस्तुति रमेश उपाध्याय द्वारा की गई है इस अंक में इंद्रनाथ मदान द्वारा 'आज की हिंदी कहानी', उदय प्रकाश द्वारा 'समकालीन कहानी', तथा रामबक्ष द्वारा लिखित 'नई कहानी का सांस्कृतिक परिवेश' शीर्षक आलेख प्रकाशित है। नवांक-41 में श्रीमती जगन सिंह का

आलेख 'समकालीन कहानी : संरचना' शीर्षक से प्रकाशित हैं, वहीं इसी अंक में विजयमोहन सिंह ने 'अमरकांत की कहानियाँ' शीर्षक से उनकी कहानियों का मूल्यांकन किया है। वहीं मधुरेश 'अमरकांत के बहाने हिंदी कहानी पर बातचीत' करते हुए देखे जा सकते हैं। नवांक-46 में गिरिराज किशोर ने 'कहानी के बदलते समीकरण और अज्ञेय' के संदर्भ में पूरी हिंदी कहानी पर बातचीत की है। नवांक-47 में अचला शर्मा का आलेख 'हिंदी कहानी का अजनबी संसार और मानवीय अस्तित्व का संकट' शीर्षक से प्रकाशित है। नवांक-58 में नित्यानंद तिवारी का लेख 'कथानक की ज़रूरत' शीर्षक से प्रकाशित है। नवांक-68 में विश्वनाथ त्रिपाठी अपने लेख, 'रेणु की कहानी तीसरी कसम' पर अपने विचार व्यक्त करते हैं। मुक्ति बोध की कहानियों पर रवींद्र वर्मा 'मुक्तिबोध की कहानियाँ : कथा परंपरा की जीवंत कड़ी' शीर्षक से विचार करते हैं। नवांक-72 में 'प्रेमचंद का कथा शिल्प' पर 'गोपाल' अपना पक्ष प्रस्तुत करते हैं। नवांक-75 में यूपी नगीबीन के लेख का अनुवाद प्रकाशित किया गया है। परमानंद श्रीवास्तव 'अनुभूति-धर्म और शिवप्रसाद सिंह की कहानियाँ' शीर्षक से आलोचनापरक अध्ययन करते हैं। इसी अंक में मधुरेश द्वारा कहानी आलोचना की दो पुस्तकें कहानी की बात (माकडिय), 'आज की कहानी' (विजयमोहन सिंह) की समीक्षा 'हिंदी कहानी-आलोचना : स्वरूप और संभावनाएं' शीर्षक से प्रकाशित है। नवांक-84 में 'कहानी और मज़दूर वर्ग' शीर्षक से शंभूनाथ एक महत्वपूर्ण आलेख प्रस्तुत करते हैं। निर्मल वर्मा हिंदी कहानी के सशक्त हस्ताक्षर हैं 'आलोचना' ने उन पर एक विशेषांक का आयोजन किया है। निर्मल वर्मा विशेषांक नवांक-90 में प्रकाशित हुआ। इस अंक में वीरभारत तलवार का अत्यंत गंभीर शोधालेख 'निर्मल वर्मा की कहानियों का सौंदर्यशास्त्र और समाजशास्त्र' शीर्षक से प्रकाशित है। मधुरेश का लेख 'कहानीकार निर्मल वर्मा' शीर्षक से प्रकाशित है। नवांक-91 में उदय प्रकाश की कहानी-संग्रह, 'तिरिछ' की समीक्षा अपूर्वानंद ने की है- जो 'कहानी का एक नया स्वाद' शीर्षक से प्रकाशित है। नवांक-93 में मिथिलेश्वर के कहानी-संग्रह 'प्रतिनिधि कहानियाँ' पर सदानंद शाही ने

‘कहानियाँ जिनमें जीवन अधिक है और कला कम’ शीर्षक से समीक्षा लिखी है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि ‘आलोचना’ पत्रिका ने हिंदी कहानी की रचनाशीलता पर भी अत्यंत गंभीर विचारों, समीक्षाओं, आलोचनात्मक लेखों आदि का प्रकाशन करती रही है। जिससे तत्कालीन कहानी की आलोचना की स्पष्ट छवि हमें प्राप्त हो जाती है।

4.7 ‘आलोचना’ पत्रिका में समकालीन नाट्य-रचना संबंधी चिंतन-अध्ययन की स्थिति : एक आकलन

हिंदी आलोचना में हिंदी नाट्य संबंधी चिंतन अत्यंत ही दयनीय अवस्था में रहा है। इसका कारण हिंदी आलोचना में कविता की केंद्रीयता और कथा-साहित्य का प्रचुर मात्रा में लेखन और उसकी पाठकों तक सहजता से उपलब्धता आदि में है, वहीं दूसरी तरफ, हिंदी आलोचना का कविता और कथा साहित्य केंद्रित होना भी इसकी इस दयनीय स्थिति को बहुत हद तक जिम्मेदार माना जाता है।²³ इसके अतिरिक्त ‘नाटक’ विद्या का संबंध ‘रंगमंच’ से होने के कारण भी इसे पठन-पाठन की प्रक्रिया से भिन्न स्थिति में रखकर देखने की चेतना भी कहीं-न-कहीं हिंदी पाठक और आलोचक में विद्यमान रहती है। हिंदी नाट्य साहित्य संबंधी अध्ययन की दिशा में ‘आलोचना’ पत्रिका ने क्या कार्य किया है, यह देखना अत्यंत आवश्यक है, जिससे स्पष्ट हो सके कि अपनी समकालीन रचनाशीलता की प्रमुख विद्या को आलोचना की एक पत्रिका ने किस रूप में देखा है?

‘आलोचना’ पत्रिका में नाटक के स्वरूप भाषा, नाट्य-रंग, अभिनयशीलता आदि पर कई अध्ययन एवं गंभीर चिंतन परक लेख, शोधालेख, निबंध, टिप्पणी आदि प्रकाशित हैं। नामवर सिंह का ‘आलोचना’ पत्रिका का संपादन करते हुए नाट्य संबंधी चिंतन में महत्वपूर्ण अवदान तब स्पष्ट होता है, जब ‘नाट्य रंग’ नामक एक स्थायी स्तंभ ही ‘आलोचना’ पत्रिका में अपनी जगह ले लेता है। नामवर सिंह के संपादन के आरंभिक दिनों में ‘नाट्य रंग’ नामक स्तंभ में आधुनिक हिंदी नाटक संबंधी लेख, निबंध, वक्तव्य आदि का प्रकाशन किया जाता था। यह ‘स्तंभ’ ‘आलोचना’ पत्रिका

में नवांक-02 से प्रकाशित होना शुरू हुआ था। नवांक- 02 में 'नाट्य रंग' नामक इस 'स्तंभ' में प्रसिद्ध नाट्य समीक्षक नेमिचंद्र जैन का लेख 'आधुनिक हिंदी नाटक: प्रतिमान का अन्वेषण' शीर्षक से प्रकाशित है। इसी अंक में सुरेश अवस्थी का वक्तव्य 'नाट्य समीक्षा की भाषा' 'आलोचना की भाषा' शीर्षक 'संवाद' के अंतर्गत प्रकाशित हुआ है। नवांक-03 के 'नाट्य रंग' स्तंभ में प्रतिभा अग्रवाल का सुचिंतित लेख गोदान उपन्यास के नाटकीय रूपांतरण पर केंद्रित है जो 'होरी का नाटकीय गोदान' शीर्षक से प्रकाशित है। इस नवांक-03 में ही 'विश्व संदर्भ' के अंतर्गत लोठार लुट्से का आलेख 'ब्रेख्त रंगमंच: संस्कृत नाटकों पर एक नई दृष्टि' शीर्षक से प्रकाशित है। नवांक-05 में 'नाट्य रंग' 'स्तंभ' के अंतर्गत विष्णुकांत शास्त्री का समकालीन हिंदी नाटक पर एक विचारात्मक आलेख 'हिंदी का नया नाटक साहित्य' शीर्षक से प्रकाशित है। नवांक-06 में वीरेंद्र नारायण की एक समीक्षा 'रंग दर्शन: एक विवेचन' शीर्षक से प्रकाशित है। नवांक-07 के 'नाट्य रंग' स्तंभ में वीरेंद्र नारायण का लेख 'अभिनय की शैली' शीर्षक निबंध प्रकाशित है। 'नाट्य शास्त्र एवं सांख्य दर्शन में भाव' शीर्षक दि. के. बेडेकर' द्वारा लिखित शोधालेख नवांक-10 में प्रकाशित है। इसी अंक में मनोहर काले द्वारा लिखित निबंध नाट्यकला : काव्य कला : रचनात्मक दृष्टि' शीर्षक से प्रकाशित है। नवांक-22 में डॉ० विजय बापट का 'एक चर्चित नाटक : सखाराम बाइंडर' शीर्षक लेख और नवांक-26 में इंद्रनाथ मदान का लेख 'आधुनिकता और नाट्य-आलोचना' शीर्षक से प्रकाशित है। इस आलेख में आधुनिकतावादी दृष्टि के संदर्भ में हिंदी नाटकों और उनकी नाट्य समीक्षाओं का मूल्यांकन किया गया है। नवांक-27 में 'गिरीश रस्तोगी' का लेख का भुवनेश्वर के व्यक्तित्व एवं कृतित्व पर केंद्रित है जो 'भुवनेश्वर : एक सर्वथा आधुनिक और सर्जनात्मक व्यक्तित्व' शीर्षक से प्रकाशित है। प्रो० नरनारायण राव का लेख 'गीतिनाट्यों की रंगमंच की समस्याएँ' नवांक-28 में प्रकाशित हैं नवांक-32 में सत्येंद्र कुमार तनेजा का निबंध 'नाट्याध्यापन : परंपरा से प्रयोग की ओर' शीर्षक से प्रकाशित है। नवांक-37 भी नाट्य संबंधी लेखों के कारण

महत्वपूर्ण अंक कहा जाएगा। इस अंक में नरनारायण राय का लेख 'आधुनिक नाट्यालोचन' शीर्षक से प्रकाशित है, वहीं 'चंद्रमोहन का आलेख 'रोशनी की तलाश में हिंदी रंगमंच' शीर्षक से छपा है। नवांक-39 में डी. प्रेमपति का शोधालेख 'ऐब्सर्ड नाट्य-आंदोलन' शीर्षक से प्रकाशित है। नरनारायण राय का एक महत्वपूर्ण निबंध 'नाट्य समीक्षा : नए क्षितिज की खोज' शीर्षक से नवांक-42 में प्रकाशित है। नवांक-45 में सत्येंद्रकुमार तनेजा का लिखा हुआ एक गंभीर शोधपरक आलेख 'प्रसाद नाट्यालोचन के परिप्रेक्ष्य में अभिनेयता का प्रश्न और हिंदी नाट्यालोचन की सीमाएँ' प्रकाशित हैं। नरनारायण राय का ही एक अन्य शोधालेख 'नाट्य रचना-विधान और जीवन संदर्भ' शीर्षक से नवांक-47 में प्रकाशित है। नवांक-48 में नित्यानंद तिवारी लेख 'नाट्याध्यापन (विश्वविद्यालय में) शीर्षक के रूप में प्रकाशित है। मनोहर काले का एक महत्वपूर्ण आलेख 'भारत की भावनात्मक एकता में नाट्यशास्त्र का योगदान' नवांक-54-55 में प्रकाशित है। वहीं नवांक-66 में मनोहर काले का ही एक अन्य निबंध 'भारतीय नाट्य सौंदर्य' शीर्षक से प्रकाशित है। नवांक-71 में नाटक संबंधी दो आलेख प्रकाशित हैं एक सिद्धनाथ कुमार का आलेख 'लोक नाटक और हिंदी नाट्य-प्रयोग' शीर्षक से लिखा गया है, वहीं दूसरा आलेख नाग बोडस द्वारा 'समकालीन रंगमंच' पर लिखा गया है। नागबोडस द्वारा ही लिखित एक अन्य आलेख 'व्यावसायिक बनाम शौकिया रंगमंच' नवांक-75 में प्रकाशित है। पवन कुमार मिश्र का एक आलेख नवांक-76 में 'नाटक की भाषा' शीर्षक से प्रकाशित है। भारतेन्दु हरिश्चंद्र ने हिंदी नाटकों को एक नया जीवन दिया था उनकी रंगदृष्टि क्या थी इस संदर्भ में सत्येंद्रकुमार तनेजा का एक अत्यंत महत्वपूर्ण आलेख नवांक-79 में 'भारत भाई' और भारतेन्दु की रंगदृष्टि' शीर्षक से प्रकाशित है। इसी अंक में श्रीनारायण पांडेय का आलेख 'भारत माता/भारत जननी' शीर्षक से प्रकाशित है, वहीं विश्वभरनाथ उपध्याय ने 'हिंदी के आदि भरत भारतेन्दु हरिश्चंद्र' शीर्षक निबंध में भारतेन्दु की नाट्य रचनाओं पर विचार किया है। नवांक-88 में भी सत्येंद्र कुमार तनेजा का आलेख 'रंग कर्म का व्यावसायिक उत्कर्ष

: कला निपुणता या सामाजिक सरोकार' का प्रकाशन हुआ है। नवांक-93 में राधावल्लभ त्रिपाठी द्वारा सत्येंद्र कुमार तनेजा की 'प्रसाद की नाट्यकला' पर लिखी गई पुस्तक 'प्रसाद का नाट्यकर्म' की विस्तृत समीक्षा 'प्रसाद और रंगमंच की संभावनाएँ' शीर्षक से प्रकाशित है।

हिंदी नाटक और नाट्य-संबंधी प्रश्नों पर 'आलोचना' पत्रिका में प्रकाशित लेख निबंध, शोधालेख आदि को देखकर, जो कि प्रायः हर दूसरे अंक में प्रकाशित की है। स्पष्ट कहा जा सकता है कि नामवर सिंह के संपादन में 'आलोचना' पत्रिका ने हिंदी नाटकों की आलोचना से हिंदी आलोचना को समृद्ध करती है, जो कि नाट्य संबंधी अध्ययन की इस दृष्टि से कुछ महत्वपूर्ण नाट्य-समीक्षकों की प्रतिभा से हिंदी आलोचना जगत परिचित हुआ जिनमें सत्येंद्र कुमार तनेजा, नरनारायण राय, नागबोडस, मनाहर काले आदि प्रमुख नाम हैं। इससे स्पष्ट है कि 'आलोचना' पत्रिका अपने समकालीन हिंदी नाटक अथवा नाट्य संबंधी प्रश्नों की उपेक्षा नहीं करती है। यह हिंदी नाटक और नाट्य संबंधी आलोचना के लिए अत्यंत महत्वपूर्ण ज़मीन तैयार करती है, वहीं दूसरी तरफ हिंदी नाटक पर गंभीर आलेख आदि का प्रकाशन करते हुए हिंदी आलोचना को समृद्ध करती है।

4.8 'आलोचना' पत्रिका और समकालीन आलोचना की आलोचना

वैसे तो यह प्रबंध हिंदी आलोचना के विकास में 'आलोचना' पत्रिका की भूमिका के विस्तृत अध्ययन पर केंद्रित है, किंतु इस अध्याय में यह देखना है कि हिंदी आलोचना के विविध रूप जैसे काव्यालोचना, कथालोचना एवं नाट्यालोचना के साथ-साथ स्वयं आलोचना की आलोचना का स्वरूप 'आलोचना' पत्रिका में किस रूप में प्रस्तुत हुआ है। इस अध्याय में अब तक हिंदी की समकालीन कविता की आलोचना, समकालीन कथालोचना, समकालीन नाट्यलोचना, आदि का विवेचन विश्लेषण किया जा चुका है। यहाँ इस उपशीर्षक में केवल हिंदी आलोचना की समकालीन आलोचना का स्वरूप 'आलोचना' पत्रिका में किस रूप में प्रकट हुआ है? यह देखना ही अभीष्ट

है।

‘आलोचना’ पत्रिका में समकालीन रचनाशीलता पर समकालीन आलोचना की आलोचना मुख्यतः दो रूपों में प्रकट हुआ है। 1- पुस्तक समीक्षा के रूप में। 2- समकालीन आलोचना पर केंद्रित शोधपरक लेखों, निबंधों टिप्पणियों एवं प्रतिक्रियाओं आदि में। यहाँ हमारा अभीष्ट केवल समकालीन आलोचना के विषय में उपर्युक्त मत को ही देखना है, अन्यथा ‘आलोचना’ पत्रिका स्वयं ही आलोचना की पत्रिका है।

4.8.1 पुस्तक समीक्षाएँ (पुस्तक परिचय से चलकर वैचारिक संघर्ष की चेतना के निर्माण की आधारशिला)

इस अध्याय के आरंभिक विवेचन में यह स्पष्ट किया जा चुका है पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित पुस्तक-समीक्षाओं से ही हिंदी आलोचना का सूत्रपात हुआ है। पुस्तक समीक्षाओं का समकालीन रचनाशीलता से गहरा संबंध होता है। साहित्यिक पत्रिकाओं के संदर्भ में इसका सर्वाधिक महत्त्व है। रामस्वरूप चतुर्वेदी का मत है कि पुस्तक-समीक्षाएँ तो लिखी ही इसलिए जाती हैं कि उनका पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशन हो सके।²⁴ पुस्तक-समीक्षा सामान्यतः ‘पुस्तक-परिचय’ के लिए ही पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होती रहती हैं। सामान्यतः पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित पुस्तक समीक्षाओं को विषय-वस्तु परिचय, अथवा गुण-दोष विवचन के रूप तक सीमित कर देने के कारण ही इसे ‘हाशिए की चीज’ मान लिया जाता है, उस पर प्रमुखता से ध्यान नहीं दिया जाता है। यह स्थिति सिर्फ ‘पुस्तक समीक्षा’ की नहीं है, बल्कि उन पुस्तक-समीक्षाओं को लिखनेवाले समीक्षकों की भी है। इस सामान्य जानकारी के उपरांत हमें यह देखना है कि ‘आलोचना’ पत्रिका में पुस्तक समीक्षाएँ किस रूप में प्रस्तुत की गई हैं, और पत्रिका के अंकों में पुस्तक समीक्षाओं को किस रूप में देखा गया है??

‘आलोचना’ पत्रिका के प्रकाशन के समय से ही उसमें पुस्तक-समीक्षाएँ प्रकाशित होती रही

हैं। उसके संपादकों में से प्रत्येक ने पुस्तक-समीक्षाओं को प्रमुखता दी है। कहना न होगा कि नामवर सिंह के संपादन में भी पुस्तक समीक्षाओं का प्रकाशन नवांक-01 से लेकर उसके अंतिम अंक तक में हुआ है। नामवर सिंह संपादित 'आलोचना' में पुस्तक समीक्षाएँ इतनी विपुल मात्रा में हुई हैं कि इसके स्वरूप के विस्तृत विवेचन-विश्लेषण के लिए एक लघु-शोध-कार्य अलग से होना चाहिए। इसलिए यहाँ पुस्तक समीक्षा के संदर्भ में उन्ही बातों को लिया गया है, जिससे उनके बारे में कुछ सामान्य जानकारियाँ स्पष्ट हो सकें-आलोचना के विकास में उनकी महत्ता का पता चल सके।

'आलोचना' पत्रिका में भी पुस्तक-समीक्षाएँ उसी रूप में प्रकाशित हुई हैं, जिस रूप में अन्य पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होती हैं सामान्यतः पुस्तक परिचय के रूप में। किंतु 'आलोचना' में पुस्तक समीक्षा का स्वरूप अन्य पत्र-पत्रिकाओं की पुस्तक समीक्षा से कई अर्थों में भिन्न है। 'आलोचना' पत्रिका में प्रकाशित पुस्तक समीक्षा के संदर्भ में एक महत्वपूर्ण बात यह है कि यहाँ प्रकाशित पुस्तक समीक्षाएँ मात्र 'पुस्तक-परिचय' के रूप में प्रकट नहीं होती, हैं, बल्कि वह समीक्षाएँ स्वयं पुस्तक लेखक और समीक्षक के बीच साहित्यिक बहस की विषयवस्तु बनती है। उन समीक्षाओं पर कोई समीक्षक या पाठक अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करते हुए देखा जा सकता है। उदाहरण के लिए- नवांक-01 में प्रकाशित डॉ० देवराज की पुस्तक 'प्रतिक्रियाएँ' पर मुद्राराक्षस की समीक्षा-पर यशदेव शल्य, गिरिजाशंकर प्रसाद मिश्र ने अपनी कड़ी प्रतिक्रिया व्यक्त करते हैं इनकी प्रतिक्रिया के प्रतिउत्तर में मुद्राराक्षस ने भी अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त की है। नवांक-03 में 'विनिमय' स्तंभ के अंतर्गत इस बहस को प्रकाशित किया गया है। यशदेव शल्य की प्रतिक्रिया 'आधुनिकतावादः संदर्भ मुद्राराक्षस की प्रतिक्रियाएँ तथा गिरिजाशंकर प्रसाद मिश्र की प्रतिक्रिया 'आधुनिकता और समीक्षा : इतिहास का चीरहरण' शीर्षक से प्रकाशित हैं। मुद्राराक्षस ने इसका प्रतिउत्तर भी दिया था जो 'प्रतिक्रियाएँ और प्रतिक्रियाएँ' शीर्षक से इसी अंक में 'विनिमय' स्तंभ के अंतर्गत ही प्रकाशित है। इसी प्रकार राधावल्लभ त्रिपाठी की पुस्तक 'काव्य और काव्यशास्त्र' की समीक्षा वागीश शुक्ल ने

‘मम्मट की मरम्मत’ शीर्षक से नवांक-68 में प्रकाशित है, इसी समीक्षा का दूसरा हिस्सा ‘नवांक-69 में ‘मम्मट की मरम्मत-2’ शीर्षक से प्रकाशित है। इस समीक्षा को पढ़कर कोई पुस्तक समीक्षा के गंभीर रूप का दर्शन कर सकता है, इससे यह ज्ञात होगा कि पुस्तक समीक्षा मात्र पुस्तक-परिचय नहीं है, बल्कि वह अपने समय की वैचारिक संघर्ष की परिणति का निष्कर्ष है। जिससे कोई साहित्य अपना भावी रूप का निर्माण करता है। इसी संदर्भ में डॉ० रामविलास शर्मा की पुस्तक ‘भारत में अंग्रेजीराज और मार्क्सवाद’ की समीक्षा गिरीश मिश्र ने की है, जो इसी नाम से नवांक 70 में प्रकाशित है। इस समीक्षा की उत्तर में खगेंद्र ठाकुर ने भी प्रतिक्रिया व्यक्त की है जो ‘नवांक-72 में भारत में ‘अंग्रेजीराज और मार्क्सवाद’ शीर्षक से ही प्रकाशित है।

इसी प्रकार ‘आलोचना’ पत्रिका के कई अंकों में किसी कृति विशेष पर दो-दो अथवा तीन-तीन समीक्षकों तक के मंतव्य, एवं विचार आदि प्रकाशित किए गए हैं। उदाहरण के लिए नवांक-64-65 में मनोहरश्याम जोशी के उपन्यास ‘कसप’ पर विजयमोहन सिंह, बटरोही और वागीश शुक्ल, जैसे आलोचकों की समीक्षा प्रकाशित की गई है। इसी प्रकार नवांक-22 में कृष्णा सोबती के उपन्यास ‘सूरजमुखी अंधेरे के’ पर दो समीक्षाएँ एक साथ प्रकाशित हैं। इसी प्रकार नवांक-25 में गिरिराज किशोर के उपन्यास ‘जुगलबंदी’ पर तीन समीक्षकों राजेंद्र यादव, नेमिचंद्र जैन व परमानंद श्रीवास्तव, द्वारा किया हुआ समीक्षात्मक आकलन प्रकाशित हैं। इसी अंक में भीष्म साहनी की औपन्यासिक कृति ‘तमस’ पर दो समीक्षकों मधुरेश और भारतभूषण अग्रवाल की समीक्षा प्रकाशित है। नवांक-9 में डॉ० रामविलास शर्मा की महानतम रचना ‘निराला की साहित्य साधना’ पर तीन समीक्षाएँ एक साथ प्रकाशित की गई हैं। अमृतलाल नागर, विष्णुकांत शास्त्री, नेमिचंद्र जैन ने इस कृति का समीक्षात्मक मूल्यांकन किया है। इसी प्रकार नवांक-16 में मन्नू भंडारी की रचना ‘आपका बंटी’ की दो समीक्षाएँ एक साथ प्रकाशित हैं। ‘आपका बंटी’ की समीक्षा-विष्णुकांत शास्त्री और परमानंद श्रीवास्तव ने की है। नवांक-40 में अमरकांत की कहानी संग्रह ‘मौत का नगर’

पर विजयमोहन सिंह और मधुरेश की दो समीक्षाएँ प्रकाशित हैं। इस प्रकार 'आलोचना' पत्रिका में पुस्तक-समीक्षा संबंधी अध्ययन का एक पक्ष उपर्युक्त रूप में दिखाई पड़ता है। अर्थात् 'पुस्तक 'एक' और समीक्षक कई'।

'आलोचना' पत्रिका में पुस्तक-समीक्षा के संदर्भ में इस अध्ययन का दूसरा रूप उपर्युक्त समीकरण के बिल्कुल विपरीत रूप में हमारे सम्मुख आता है, यानी 'समीक्षक एक और पुस्तकें कई'। उदाहरण स्वरूप नवांक-10 में विष्णुचंद्र शर्मा द्वारा की हुई चार पुस्तकों की अलग-अलग समीक्षा प्रकाशित है। नवांक-16 में विजयमोहन सिंह द्वारा चार कृतियों की समीक्षाएँ एक साथ प्रकाशित की गई हैं। नवांक-76 में अविनाशचंद्र ने तीन कृतियों के नाट्य रूपांतरण की समीक्षा की है। नवांक-36 में मधुरेश द्वारा तीन कृतियों की समीक्षाएँ अलग-अलग प्रकाशित की गई हैं। नवांक-39 में मधुरेश द्वारा समीक्षित तीन कृतियों की समीक्षा प्रकाशित है। नवांक-41 में भी मधुरेश द्वारा समीक्षित तीन कृतियों की ही समीक्षा प्रकाशित है। मधुरेश द्वारा समीक्षित पुस्तकों की समीक्षाएँ 'आलोचना' पत्रिका के हर दूसरे तीसरे अंक में प्राप्त होती हैं। नवांक-12 में विष्णुखरे द्वारा दो पुस्तकों की समीक्षा अलग-अलग प्रकाशित हैं। नवांक-19 में विजयमोहन सिंह द्वारा की गई तीन कहानी-संग्रहों की समीक्षाएँ प्रकाशित हैं, वहीं कृष्ण कुमार द्वारा समीक्षित दो समीक्षाएँ इसी अंक में प्रकाशित हैं। इस प्रकार 'आलोचना' में एक-आलोचक द्वारा कई-कई पुस्तकों की समीक्षाएँ एक साथ प्रकाशित होते हुए भी हम देख सकते हैं

इसके अतिरिक्त 'आलोचना' पत्रिका में कुछ आलोचक और समीक्षक ऐसे भी हैं जिनकी समीक्षाएँ प्रत्येक दूसरे अंक में प्रकाशित हैं। इन समीक्षकों में मधुरेश, विजयमोहन सिंह, प्रयाग शुक्ल, कमलेश, विष्णुखरे, विष्णुचंद्र शर्मा, विष्णुकांत शास्त्री, नेमिचंद्र जैन, विश्वनाथ त्रिपाठी, जगदीश शर्मा, परमानंद श्रीवास्तव आदि। इसके अतिरिक्त कुछ ऐसे भी समीक्षक हैं उनके प्रकाशन में 'आलोचना' ने अपनी अभिरुचि व्यक्त की कई बार पुस्तक-समीक्षाएँ इन विद्वानों से आग्रह करके

लिखावायी गई हैंइन समीक्षकों में डॉ० रामविलास शर्मा, मलयज, सुरेंद्र चौधरी शमशेरबहादुर सिंह, राजेंद्र यादव, केदारनाथ सिंह, मुरलीमनोहरप्रसाद सिंह, भारतभूषण अग्रवाल, रमेशकुंतल मेघ, यशदेव शल्य, विजयदेवनारायण साही, नित्यानंद तिवारी, रमेशचंद्र शाह, मैनेजर पांडेय, श्रीकांत वर्मा, बच्चन सिंह, कुँवर नारायण, गिरिराज किशोर, वागीश शुक्ल, निर्मला जैन, गोविंद मिश्र, शिवकुमार मिश्र, उदय प्रकाश, गोपालराय, राजेश जोशी, खगेंद्र ठाकुर, अजय तिवारी, श्याम कश्यप, बटरोही, नंदकिशोर नवल, शैलेश मटियानी, अरुण कमल, वीरभारत तलवार, रामबक्ष, पुरुषोत्तम अग्रवाल, अपूर्वानंद, भगवान सिंह, और स्वयं नामवर सिंह ने ई. चेलिशेव की सुमित्रानंदन पंत पर प्रकाशित पुस्तक की समीक्षा लिखी है, जो आलोचना के नवांक-13 में प्रकाशित है। उपर्युक्त नामों पर यदि ध्यान दिया जाए तो प्रायः इनमें वे सभी नाम हैं जिन्होंने हिंदी आलोचना को विकसित करने में अपना बहुमूल्य दिया है। इन रचनाकारों-आलोचकों के बिना कोई हिंदी साहित्य और आलोचना की कल्पना भी नहीं कर सकता है। जब ये रचनाकार और आलोचक 'पुस्तक-समीक्षक' के रूप में आते हैं, तो 'पुस्तक-समीक्षा' का रूप मात्र 'पुस्तक परिचय' नहीं रह जाता है। वह समकालीन रचनाशीलता को समझने, उसके स्वरूप को उद्घाटित करते हुए उसकी महत्ता एवं वर्तमान सार्थकता का प्रतिपादन करने के लिए वैचारिक संघर्ष के रूप में आता है। सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है 'आलोचना' पत्रिका ने 'पुस्तक समीक्षा' के संदर्भ में कितना महत्वपूर्ण कार्य किया है। उसने 'पुस्तक समीक्षा' के माध्यम हिंदी आलोचना में पुस्तक समीक्षा के संदर्भ में व्याप्त धारणाजिसमें पुस्तक-समीक्षा को मात्र 'पुस्तक परिचय' अथवा गुण-दोष-कथन के रूप में देखे जाने- का खंडन कर देती है। दूसरी तरफ, इन बड़े रचनाकारों और आलोचकों द्वारा की हुई पुस्तक समीक्षाओं का 'आलोचना' में प्रकाशन से 'आलोचना' पत्रिका की स्तरीयता, गुणवत्ता और आलोचकों के बीच उसकी लोकप्रियता का सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है। इस संदर्भ में यह कहना अतिकथन न होगा कि 'आलोचना' पत्रिका के प्रकाशन के दौर में जिन रचनाकारों-कथाकारों,

आलोचकों आदि की कृतियों की समीक्षाएँ प्रकाशित नहीं हुईं वह उस दौर की औसत अथवा कमजोर रचनाएँ रही होंगी!! क्योंकि 'आलोचना' पत्रिका में प्रकाशित समीक्षाएँ भी हिंदी-साहित्य-आलोचना के श्रेष्ठ रचनाकारों-एवं आलोचकों द्वारा लिखी गई है। यदि कोई श्रेष्ठ रचना होती तो 'आलोचना' पत्रिका में, किसी-न-किसी रूप में, उसकी समीक्षा अवश्य प्रकाशित होती। उपर्युक्त रचनाकार-आलोचकों में किसी-न-किसी का ध्यान अवश्य उस रचनाकार अथवा कृति पर पड़ता। इस कथन के संदर्भ में डॉ० मृत्युंजय उपाध्याय के इस कथन का खंडन स्वयमेव हो जाता है जिसमें वह कहते हैं कि " 'आलोचना' (दिल्ली) का स्तर काफी गिर गया है... यह 'समीक्षा' भी छापती है तो 90 प्रतिशत अपने प्रकाशन की किताबों की। शेष मुश्किल से अन्य प्रकाशकों की।"²⁵ यदि 'आलोचना' पत्रिका का 'उपन्यास अंक' (नवांक-64-65) 'समीक्षा अंक' (नवांक-62-63) तथा 'नागार्जुन अंक' के साथ 'समकालीन कविता' पर प्रकाशित संयुक्तांक (नवांक-56-57) जिसमें समकालीन कवियों के काव्य-संग्रहों की समीक्षा ही प्रकाशित है। इन तीनों अंकों में ही समीक्षित पुस्तकों के प्रकाशकों के नाम यदि देखते तो वे उपर्युक्त आरोप नहीं लगाते। दूसरी बात जो आरोप के मूल निहितार्थ को तब स्पष्ट करता है जब वह यह कहते हैं कि " 'आलोचना' (दिल्ली) का स्तर काफी गिर गया है। कारण, लेखक का गुटबाजी में शामिल होना और अपने गुट के लोगों को ही पत्रिका में स्थान देना। जनवादी कहलाने वाले संपादक कैसे पूँजीपति के आगे बिछ चलते हैं इसका उदाहरण है राजकमल प्रकाशन की 'आलोचना'।"²⁶ इस संदर्भ में यदि इस पत्रिका में प्रकाशित लेखों, समीक्षाओं, वक्तव्यों आदि के लेखकों, समीक्षकों, विचारकों आदि के नाम यदि पढ़े गए होते, जिसमें हिंदी आलोचना के स्वरूप को निर्मित करने वाले 'आलोचक' ही प्रकाशित हैं, यह उपर्युक्त आरोप नहीं लगाया जा सकता था। दरअसल उनको आपत्ति 'गुटबाजी' आदि से है न कि पत्रिका की सामग्री की गुणवत्ता आदि पर। उनकी गुटबाजी के विरोध का तात्पर्य यह नहीं है कि वह 'गुट निरपेक्ष' हैं, बल्कि उसमें यह बात निहित है कि उनका

संबंध किस प्रकार के 'गुट' से है।

'आलोचना' पत्रिका में पुस्तक-समीक्षाओं के अध्ययन के अंतर्गत इस पक्ष पर ध्यान जाता है कि इसमें अपने समय की अन्य महत्वपूर्ण पत्रिकाओं की समीक्षाएँ, अथवा उनका मूल्यांकन एवं महत्त्व का प्रतिपादन किया गया है। उदाहरण के लिए नवांक-41 में डॉ० रामविलास शर्मा द्वारा किया गया 'सरस्वती' पत्रिका का अध्ययन 'हिंदी की जातीय पत्रिका 'सरस्वती' शीर्षक से प्रकाशित है। इसी पत्रिका का अध्ययन डॉ० रामबक्ष ने भी किया है उनका अध्ययन नवांक-42 में 'सरस्वती' में संस्कृति' शीर्षक से प्रकाशित है। नामवर सिंह ने सुमित्रानंदन पंत की पत्रिका 'रूपाभ' की समीक्षा की है जो नवांक-43 में 'पंत जी का रूपाभ' शीर्षक से प्रकाशित है। नवांक-44 में रामबक्ष द्वारा 'पहल' पत्रिका के 'मार्क्सवादी सौंदर्यशास्त्र' पर केंद्रित अंक की समीक्षा 'मार्क्सवादी सौंदर्यशास्त्र : कुछ विचार' शीर्षक से प्रकाशित है। नामवर सिंह ने 'पूर्वग्रह' पत्रिका के प्रवेशांक का समीक्षात्मक आकलन नवांक-30 की संपादकीय में करते हुए उसके कलावादी दृष्टिकोण का जमकर विरोध किया है। 'पूर्वग्रह' पत्रिका के ही 'नए कलावादी उत्थान' का खंडन नवांक-56-57 में श्याम कश्यप करते हैं। नंदकिशोर नवल 'कंक' द्वारा पत्रिका की समीक्षा की गई है। जो इसी अंक में प्रकाशित है। नवांक-16 में अशोक वाजपेयी द्वारा संपादित पत्रिका 'पहचान' की समीक्षा विजयमोहन सिंह ने की है। 'कथा' पत्रिका की समीक्षा विश्वनाथ त्रिपाठी ने की है, जो नवांक-17 में 'कथा : मौनभंग का संकेत' शीर्षक से प्रकाशित है।

'आलोचना' पत्रिका में 'पुस्तक-समीक्षा' को कितना महत्त्व दिया गया है वह 'आलोचना' के प्रत्येक अंक में पाँच-छः पुस्तकों की समीक्षाओं के प्रकाशन से ही स्पष्ट हो जाता है इसके अतिरिक्त 'आलोचना' पत्रिका के कई महत्वपूर्ण अंकों- 'उपन्यास अंक', (नवांक-64-65) 'समीक्षा अंक' (नवांक-62-63) 'समकालीन कविता पर विशेष सामग्री' (नवांक-56-57) को देखने पर यह बात अचरज में डालती है कि इन विशेषांकों में एक भी लेख, या निबंध नहीं प्रकाशित है, बल्कि

सभी की सभी समकालीन कथाकारों, आलोचकों रचनाकारों आदि की काव्य-कृतियों, उपन्यासों अथवा अन्य कृतियों की केवल और केवल समीक्षाएँ प्रकाशित हैं और समीक्षाएँ करनेवाले उन्हीं लेखकों-कवियों को देखा जा सकता है जिनकी रचनाएँ स्वयं उसी अंक में समीक्षित भी हैं। इस प्रकार, नामवर सिंह द्वारा संपादित 'आलोचना' पत्रिका में प्रकाशित पुस्तक-समीक्षाओं जो पुस्तक परिचय मात्र नहीं थीं, बल्कि अपने समय के वैचारिक संघर्ष की चेतना की परिणति थीं को देखकर 'आलोचना' का समकालीन रचनाशीलता से जुड़ाव स्पष्ट हो जाता है। यहीं संपादक नामवर सिंह की महत्ता का भी पता चलता है। डॉ० रामविलास शर्मा, मलयज, केदारनाथ सिंह, शमशेर बहादुर सिंह, अशोक वाजपेयी, रमेशचंद्र शाह, कुँवर नारायण, कमलेश, मधुरेश, विश्वनाथ त्रिपाठी, विष्णुकांत शास्त्री, विष्णुचंद्र शर्मा, विष्णुखरे, मैनेजर पांडेय, वीरभारत 'तलवार' रामबक्ष, परमानंद श्रीवास्तव, नंदकिशोर नवल, पुरुषोत्तम अग्रवाल, शिवकुमार मिश्र, नेमिचंद्र जैन जैसी प्रतिभाओं से पुस्तक-समीक्षा लिखवा लेना, और उन्हें प्रकाशित कर उस पर बहस चलाने का काम नामवर सिंह जैसा प्रतिभावान संपादक ही कर सकता था। इसी से 'आलोचना' पत्रिका की स्तरीयता और गुणवत्ता का सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है। वस्तुतः नामवर सिंह संपादित 'आलोचना' पत्रिका में प्रकाशित पुस्तक समीक्षाएँ 'पुस्तक परिचय' के सरल रास्ते को त्याग कर वैचारिक संघर्ष की चेतना के निर्माण की आधारशिला रखती है।

4.8.2 'आलोचना' पत्रिका में समकालीन आलोचना की वस्तुस्थिति

'आलोचना' पत्रिका ने अपने समय की 'आलोचना' को किस रूप में प्रस्तुत किया है? यह देखना इस शोध की दृष्टि से अत्यंत महत्वपूर्ण है। ध्यातव्य है कि नामवर सिंह ने समकालीनता के समग्र स्वरूप को स्पष्ट करने के लिए, 'आलोचना' पत्रिका में शोधपरक आलेख, निबंध, समीक्षात्मक अध्ययन, टिप्पणियों आदि को समय-समय पर प्रकाशित किया है। ये लेख सिर्फ-व-सिर्फ हिंदी आलोचना का परिचय देते हैं। उनसे हिंदी आलोचना के विकास को समझने में कई स्तरों पर

सहायता मिलती है। उदाहरण के लिए नवांक-02 में प्रकाशित रवींद्रनाथ श्रीवास्तव का लेख 'भाषा वैज्ञानिक दृष्टि और आलोचना की नई भूमिका', तथा नित्यानंद तिवारी का शोधपरक आलेख 'शुक्लोत्तर आलोचना : एक विश्लेषण' शीर्षक से नवांक-07 में प्रकाशित है। विष्णुकांत शास्त्री का लेख 'स्वच्छंदतावादी समीक्षक नंददुलारे वाजपेयी' शीर्षक से नवांक-10 में प्रकाशित है। विष्णुकांत शास्त्री द्वारा 'शास्त्रीयतावादी समीक्षक पंडित विश्वनाथप्रसाद मिश्र' शीर्षक आलेख नवांक-14 में प्रकाशित है। नवांक-17 का संपादकीय 'आलोचना क्यों' विषय पर ही केंद्रित है जो 'आलोचना' पत्रिका के बीस वर्ष पूरे होने पर उसकी प्रासंगिकता के महत्त्व पर प्रकाश डालता है। नवांक-25 में विष्णुकांत शास्त्री का लेख 'भावुक समीक्षक शांतिप्रिय द्विवेदी' शीर्षक से प्रकाशित है। जगदीश प्रसाद श्रीवास्तव का आलेख 'समीक्षा के नए प्रतिमान' शीर्षक से नवांक-27 में छपा है। रामचंद्र तिवारी का 'हिंदी के निजी आलोचना-शास्त्र की संभावना : पुनर्विचार' शीर्षक निबंध नवांक-28 में प्रकाशित है। इसी अंक में सदाशिव द्विवेदी का आलेख 'आलोचना : स्वरूप, भाषा और शैली' शीर्षक से प्रकाशित है। नवांक-30 में रवींद्रनाथ श्रीवास्तव का अत्यंत सारगर्भित विद्वत्पूर्ण शोधालेख 'नई समीक्षा की भाषावादी चेतना' शीर्षक से प्रकाशित है। नवांक-31 में परमानंद श्रीवास्तव का आलेख 'सर्जनात्मक आलोचना' शीर्षक से छपा है। नरनारायण राय द्वारा लिखित 'आधुनिक नाट्यालोचन' शीर्षक आलेख नवांक-37 में प्रकाशित है। 'आलोचना : एक साक्षी भोक्ता' शीर्षक से अशोक रा. केलकर के निबंध का अनुवाद निर्मला जैन ने किया है, जो नवांक-38 में प्रकाशित है।

हिंदी आलोचना के विकास का स्वरूप क्या है, इसके लिए नंदकिशोर नवल ने 'आलोचना' पत्रिका में कई लेख लिखे जो धारावाहिक रूप से कई किशतों में (नवांक-39, 40, 41, 43, 44, 45, 46, 47, 48) प्रकाशित हुआ जो संकलित होकर 'हिंदी आलोचना का विकास' शीर्षक से पूरी एक पुस्तक हो गई। इसके अतिरिक्त नवांक-40 में 'आलोचना और इतिहास' के संबंध पर मैनेजर पांडेय

का इसी शीर्षक से एक लेख प्रकाशित है। नवांक-43 में बच्चन सिंह का एक लेख- 'आलोचना और सौंदर्यशास्त्र' शीर्षक से प्रकाशित है। भाषावादी आलोचना दृष्टि को लेकर नवांक-58 में दो शोधपरक आलेख प्रकाशित हुए हैं। परमानंद श्रीवास्तव ने 'भाषावादी आलोचना-दृष्टि और रचनात्मक संवेदना' शीर्षक से अपना लेख लिखा है, वहीं सियाराम तिवारी का आलेख 'आचार्य शुक्ल की आलोचना में नई आलोचना के तत्त्व' शीर्षक से प्रकाशित हुआ है। 'आलोचना' का नवांक 62-63 मूलतः 'समीक्षा केंद्रित अंक ही है। इस अंक में चौदह समीक्षकों ने हिंदी आलोचना की विविध क्षेत्रों की प्रमुख कृतियों की समीक्षा की गई है। इस अंक से समकालीन हिंदी आलोचना के स्वरूप के विषय में स्पष्ट बोध प्राप्त किया जा सकता है। नवांक-66 में विजयमोहन सिंह का एक लेख- 'समीक्षा के साथ संबंध' प्रकाशित हुआ है। समकालीन आलोचना की दृष्टि से एक महत्वपूर्ण लेख है।

'आलोचना' का नवांक- 73-74 हिंदी आलोचना के शीर्ष आलोचक आचार्य रामचंद्र शुक्ल की जन्मशताब्दी के अवसर पर प्रकाशित विशेषांक हैं जो दो अंकों में प्रकाशित हुआ है शुक्ल अंक-एक (नवांक-73) तथा शुक्ल अंक-दो (नवांक-74) के रूप में प्रकाशित हुआ है। इस अंक के माध्यम से समकालीन आलोचकों की दृष्टि में आचार्य शुक्ल क्या हैं? शुक्लजी की महत्ता उनकी दृष्टि में क्या हैं? समकालीन आलोचना के संदर्भ में उनकी प्रासंगिकता क्या है? आदि प्रश्नों का उत्तर इस अंक के माध्यम से हमें प्राप्त होता है। इसी प्रकार आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी पर केंद्रित अंक 49-50 के माध्यम से हिंदी आलोचना में उनके योगदान को रेखांकित किया गया है। नवांक-78 में डॉ० राजनाथ का अत्यंत सारगर्भित शोधालेख जो भाषावादी आलोचना पर लिखा गया है 'नई-समीक्षा' और 'विच्छेदनवाद' : भाषा और साहित्य के प्रश्न' शीर्षक से प्रकाशित है। डॉ० राजनाथ का ही एक शोधपरक लेख 'पाठकवादी समीक्षा की समीक्षा' नवांक-84 में प्रकाशित है। नवांक-86 समकालीन आलोचना की दृष्टि से तो अत्यंत महत्वपूर्ण अंक है। इस अंक में 'आलोचक

के सामाजिक दायित्व' पर तीन आलेख प्रकाशित किए गए हैं। ये तीनों आलेख 'वाराणसी' में एक संगोष्ठी में पढ़े गए थे। विश्वनाथ त्रिपाठी, और खगेंद्र ठाकुर का आलेख एक ही शीर्षक 'आलोचक का सामाजिक दायित्व' से प्रकाशित है, तो वहीं परमानंद श्रीवास्तव का आलेख 'समकालीन रचना की चुनौतियाँ और आलोचना-कर्म' शीर्षक से प्रकाशित है।

नवांक-87 का संपादकीय 'आलोचना की संस्कृति और संस्कृति की आलोचना' शीर्षक से प्रकाशित है, इसमें 'पूर्वग्रह' पत्रिका के नजदीक आलोचना का स्वरूप क्या है इसे स्पष्ट किया गया है।

हिंदी 'आलोचना की भाषा' पर नवांक-02 में ही एक परिसंवाद का आयोजन 'आलोचना' पत्रिका कर चुकी थी। इसके उपरान्त 'आलोचना' पत्रिका में रामचंद्र तिवारी द्वारा हिंदी आलोचना की शब्दावली और उसका रचना-संदर्भ' शीर्षक से भारतेन्दुयुगीन, द्विवेदीयुगीन, और आचार्य रामचंद्र शुक्ल जी की आलोचना में प्रयुक्त शब्दावली और उनके रचना संदर्भ की पड़ताल-धारावाहिक रूप से की गई है। जो नवांक-87, 88, 93 में प्रकाशित है। इसके अतिरिक्त वीरेंद्र सिंह का शोधालेख 'अंतरशास्त्रीय आलोचना की प्रस्तावना' शीर्षक से नवांक-88 में प्रकाशित है।

हिंदी आलोचना का एक महत्वपूर्ण पक्ष मार्क्सवादी आलोचना ने निर्मित किया है, 'आलोचना' पत्रिका समकालीन मार्क्सवादी आलोचना को किस रूप में ग्रहण करती है, इसे 'आलोचना' में प्रकाशित लेखों, निबंधों के माध्यम से, तथा उसमें व्यक्त विचारों के माध्यम से ही जाना जा सकता है। 'आलोचना' पत्रिका में मार्क्सवादी आलोचना पर कई आलेख, निबंध, आदि प्रकाशित हैं। उदाहरण के लिए नवांक-42 में प्रकाशित मोतीलाल रैना का 'मार्क्सवादी समीक्षा :

एक समसामयिक परिदृश्य पर कुछ टिप्पणियाँ' शीर्षक आलेख अत्यंत सारगर्भित व तत्कालीन मार्क्सवादी आलोचना की नूतन प्रवृत्तियों को स्पष्ट करता है। इसी प्रकार नवांक-60-61 में डॉ० रामविलास शर्मा के बहाने शिवकुमार मिश्र हिंदी की मार्क्सवादी आलोचना पर विचार 'मार्क्सवादी

आलोचना के बुनियादी सरोकार और डॉ० रामविलास शर्मा' शीर्षक समीक्षात्मक आलेख में करते हैं। नवांक-70 में भी शिवकुमार मिश्र 'मार्क्सवादी आलोचना' पर 'मार्क्सवादी आलोचना की समस्याएँ... (हिंदी आलोचना के विशेष संदर्भ में)' शीर्षक आलेख में विचार करते हुए देखे जा सकते हैं।

इसी प्रकार नवांक-70 में खगेंद्र ठाकुर, 'भारतीय काव्यशास्त्र का अध्ययन मार्क्सवाद के परिपेक्ष में करते हैं। उनका यह शोधपरक आलेख 'भारतीय काव्यशास्त्र और मार्क्सवाद' शीर्षक से प्रकाशित हुआ है। नवांक-77 प्रगतिशील लेखक संघ की 50वीं वर्षगांठ पर आयोजित अंक है। इसी अंक में पुरुषोत्तम अग्रवाल का शोध-आलेख 'प्रगतिशील आलोचना : बीच बहस में' प्रकाशित है, मार्क्सवादी आलोचना की वस्तुस्थिति का आकलन, यह आलेख करता है।

मार्क्सवादी आलोचना का कालिदास के प्रति क्या नज़रिया है इसे राधावल्लभ त्रिपाठी ने नवांक-84 में प्रकाशित 'कालिदास और मार्क्सवादी आलोचना' शीर्षक शोधपरक आलेख में समीक्षात्मक आकलन करते हैं। इसी प्रकार नवांक-86 में मैनेजर पांडेय का अत्यंत चर्चित आलेख 'हिंदी की मार्क्सवादी आलोचना : कितनी मार्क्सवादी कितनी आलोचना' प्रकाशित है।

इसी प्रकार 'आलोचना' पत्रिका में पश्चिमी देशों की मार्क्सवादी चिंतन परंपरा के प्रमुख आलोचक-चिंतकों की मान्यताओं विचारों आदि का अनुवाद प्रकाशित किया गया है। 'आलोचना' में प्रकाशित होनेवाले पश्चिमी मार्क्सवादी चिंतकों में जार्ज लूकाच, रेमंड विलियम्स, लूसिऐं गोल्डमान, अंतोनियो ग्राम्शी, हरबर्ट मारकूस, आदि नव-मार्क्सवादी-समकालीन मार्क्सवादी चिंतक हैं।

इस प्रकार 'आलोचना' पत्रिका के अंकों में प्रकाशित आलेख, निबंध वक्तव्य आदि से समकालीन आलोचना के स्वरूप को स्पष्ट किया जा सकता है। इससे समकालीन आलोचना को एक स्वरूप देने का कार्य 'आलोचना' पत्रिका के माध्यम से किया गया है। यहाँ मार्क्सवादी

आलोचना रूपवादी-नई समीक्षा पद्धति-भाषावादी आलोचना पद्धतियों को भी 'आलोचना' के अंकों में प्रकाशित कर उसे स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है। किंतु 'आलोचना' ने अपना समर्थन मार्क्सवादी आलोचना को दिया है।

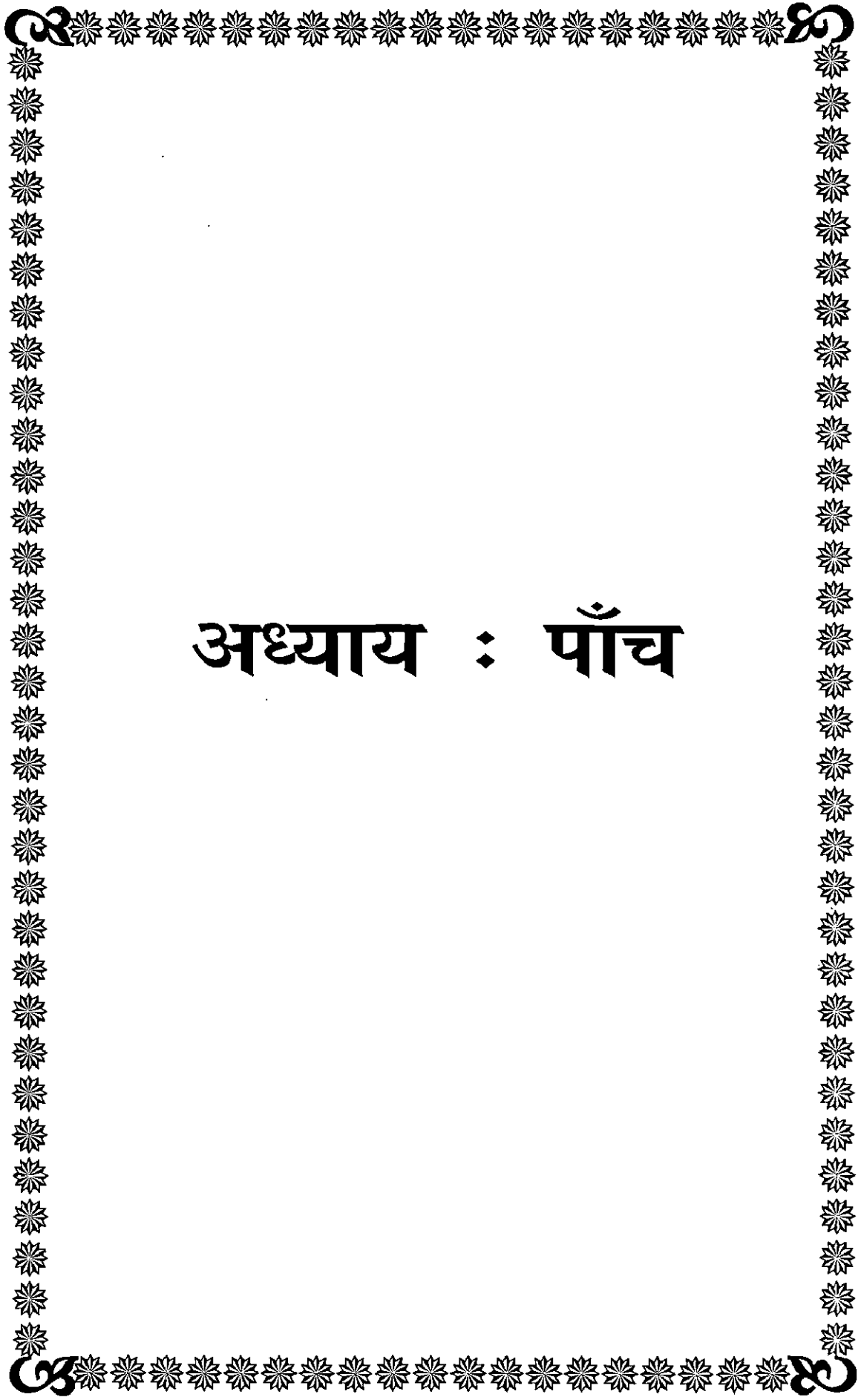
इस प्रकार, इस अध्याय में 'आलोचना' पत्रिका में समकालीन रचनाशीलता को किस रूप में अभिव्यक्ति मिली है इसे विस्तार से स्पष्ट करने का कार्य किया गया है। इसके अतिरिक्त 'आलोचना' ने अपनी समकालीन रचनाशीलता को किस रूप में देखती है, तथा समकालीन रचनाशीलता से जुड़ी हुई कथालोचना, काव्यलोचना, नाट्यलोचना तथा आलोचना की आलोचना किस रूप में आलोचना में स्थान पाती है, उसे 'आलोचना' किस रूप में प्रकट करती है, इस अध्याय में इन्हीं संदर्भों के परिपेक्ष्य में विस्तार से चर्चा की गई है।

संदर्भ :

1. नामवर सिंह ने अप्रैल-जून 1978 से जनवरी-मार्च 1979 ई0 तक 'आलोचना' पत्रिका का विधिवत संपादन तो नहीं किया था, किंतु इस बीच पत्रिका के संपादन में बाहर से अपनी सहायता दी थी। इस बीच पत्रिका में प्रकाशन के लिए सामग्री आदि उपलब्ध कराने का काम उन्होंने किया था। दृष्टव्य- 'तद्भव' पत्रिका में प्रकाशित उनका 'आत्मकथ्य'-2 जिसमें उन्होंने कहा था कि- "इस तरह लगभग चौबीस वर्षों तक मैंने 'आलोचना' का संपादन किया। बीच में तीन चार अंक ऐसे थे जिनकी सामग्री मैंने जुटा दी थी लेकिन उनका विधिवत संपादन मैंने नहीं किया था।" नामवर सिंह- आत्मकथा-2 "रचना और आलोचना के पथ पर", 'तद्भव'(03) अप्रैल, 2000 : पृ. सं0 11. संपादक-अखिलेश
2. उपाध्याय, मृत्युंजय. समकालीन आलोचना और साहित्य. इलाहाबाद : चित्रलेखा प्रकाशन, 1988. पृ. सं. 86.
3. बल, मीरा रानी. राष्ट्रीय नवजागरण और हिंदी पत्रकारिता. नई दिल्ली : वाणी प्रकाशन, 1994. पृ. सं. 72.
4. वही. पृ. सं. 200.
5. चतुर्वेदी, कुश. भारतेंदुयुगीन हिंदी पत्रकारिता. इलाहाबाद : साहित्य संगम, 1995. पृ. सं. 26.
6. बल, मीरा रानी. राष्ट्रीय नवजागरण और हिंदी पत्रकारिता. नई दिल्ली : वाणी प्रकाशन, 1994. पृ. सं. 199.
7. सामान्यतः सभी साहित्यिक पत्र-पत्रिकाएँ अपने समकालीन रचनाशीलता को पाठकों तक उपलब्ध कराने का काम करती हैं प्रायः ऐसा समझा जाता रहा है कि आलोचना व रचनात्मक लेखन दो अलग-अलग धारणाओं पर केंद्रित होकर अपना स्वरूप धारण करती हैं। दोनों स्वतंत्र रूप में अपना विकास करती हैं। जिसमें एक में हृदय पक्ष की प्रधानता रहती है, तो दूसरे में चिंतन पक्ष की। जबकि वस्तुस्थिति में अब बदलाव आ रहा है, आलोचना को भी कुछ विद्वान सर्जनात्मक लेखन की तरह और व्यापक सांस्कृतिक-प्रक्रिया के अर्थ और परिभाषा में ग्रहण करने लगे हैं- दृष्टव्य नामवर सिंह का 'आलोचना की भाषा' संबंधी परिसंवाद पर संपादकीय टिप्पणी-'आलोचना' (नवांक-02) जुलाई-सितं., 1967. संपादकीय.
8. चतुर्वेदी, रामस्वरूप. हिंदी साहित्य और संवेदना का विकास. तेईसवाँ संस. इलाहाबाद : लोक

- भारती प्रकाशन, 2010. पृ. सं. 232.
9. शर्मा, रामविलास. महावीरप्रसाद द्विवेदी और हिंदी नवजागरण. नई दिल्ली : राजकमल प्रकाशन, 1977. पृ. सं. 360.
 10. वही. पृ. सं. 365.
 11. यहाँ यह स्पष्ट करना महत्वपूर्ण है 1980 ई० के उपरोक्त हिंदी कविता में आए नए जनवादी रुझान तथा अन्य नवीन प्रवृत्तियों को नाम से जाना और समझा जा रहा है। समकालीन कविता के संदर्भ में कई पुस्तकें, 'समकालीन कविता' लेख आदि प्रकाशित भी हो चुके हैं। डॉ० आशुतोष कुमार का महत्वपूर्ण शोधकार्य 'समकालीन कविता और मार्क्सवाद' नाम से अभिहित किया गया है। इसी तर्ज पर कुछ विद्वानों ने 1980 के आस-पास की कहानी-उपन्यास साहित्य में होने वाले परिवर्तन को 'समकालीन कथा साहित्य के संदर्भ रेखांकित किया है।
 12. चतुर्वेदी, रामस्वरूप. भूमिका. समकालीन हिंदी साहित्य : विविध परिदृश्य. द्वि. परि. संस्करण. नई दिल्ली : राधाकृष्ण प्रकाशन, 2000. पृ. सं. 9 (भूमिका)
 13. दृष्टव्य-विजेंद्र जी का लेख "समकालीन कविता और सामाजिक यथार्थ". 'आलोचना' (नवांक-37) अप्रैल-जून, 1976.
 14. दृष्टव्य-बोधिसत्त्व की कविताओं पर संपादकीय टिप्पणी- 'आलोचना (नवांक-88) जून-मार्च, 1989.
 15. दृष्टव्य - आशुतोष कुमार की पुस्तक 'समकालीन कविता और मार्क्सवाद'. दिल्ली : शिल्पायन 2010. पृ. सं. 73-76.
 16. चतुर्वेदी, रामस्वरूप. हिंदी साहित्य और संवेदना का विकास. तेइसवाँ संस. इलाहाबाद : लोकभारती प्रकाशन. 2010 में पृ. सं. 232 पर प्रकाशित साहित्यिक पत्रकारिता संबंधी विचार।
 17. दृष्टव्य- आशुतोष कुमार की पुस्तक समकालीन कविता और मार्क्सवाद. दिल्ली : शिल्पायन 2010. पृ. सं. 77. पर अन्य नामों का भी उल्लेख किया गया है।
 18. दृष्टव्य- चतुर्वेदी, रामस्वरूप. समकालीन हिंदी साहित्य : विविध परिदृश्य नया... संस्करण नई दिल्ली : राधाकृष्ण प्रकाशन. 2000 इस पुस्तक में "और युवा लेखन" शीर्षक अध्याय. इसके अतिरिक्त. इंद्रनाथ मदान का लेख- आधुनिकता और समकालीन कविता 'आलोचना' (नवांक-17) अप्रैल-जून, 1971.

19. अकविता अथवा विद्रोही युवा पीढ़ी की कविता के उपरांत की कविता को 'समकालीन कविता' पदबंध का प्रयोग-इन चारों लेखकों ने व्यवस्थित ढंग से अध्ययन करते हुए किया है
परमानंद श्रीवास्तव समकालीन कविता का व्याकरण
विश्वनाथप्रसाद तिवारी समकालीन हिंदी कविता
विश्वभरनाथ उपाध्याय (संपा.) समकालीन कविता की भूमिका
आशुतोष कुमार समकालीन कविता और मार्क्सवाद
20. आशुतोष कुमार. समकालीन कविता और मार्क्सवाद. दिल्ली : शिल्पायन, 2010. पृ. सं. 77 पर देखें।
21. वहीं पृ.सं. 73 से 76 - पर नागार्जुन और समकालीन कविता पर आयोजित संयुक्तांक पर उनका विशद विवेचन.
22. डॉ० गोपाल. "हिंदी कथालोचना : धुँधलके की गिरफ्त में ". 'आलोचना' (नवांक-62-63) जुलाई-दिसं, 1982 : पृ. सं. 38-39.
23. हिंदी में नाट्य-कृति की आलोचना पर बिल्कुल ही ध्यान नहीं दिया जाता है। नाटक की महत्वपूर्ण पत्रिका है 'नटरंग', अधिकांशतः हिंदी नाट्य-समीक्षा को उसी में प्रकाशित किया जाता है। अन्य-पत्र-पत्रिकाओं में नाटक संबंधी अध्ययन-चिंतन की स्थिति नगण्य की श्रेणी में ही रखा जा सकता है।
24. चतुर्वेदी, रामस्वरूप. हिंदी साहित्य और संवेदना का विकास. तेइसवाँ संस. इलाहाबाद : लोक भारती प्रकाशन, 2010 पृ. सं. 232.
25. उपाध्याय, मृत्युंजय. समकालीन आलोचना और साहित्य. इलाहाबाद : चित्रलेखा प्रकाशन, 1988 पृ. सं. 99.
26. वही. पृ. सं. 99.



अध्याय : पाँच

अध्याय : पाँच

‘आलोचना’ के विशेषांक : महत्त्व और वैशिष्ट्य

पिछले अध्यायों में स्पष्ट किया जा चुका है कि ‘आलोचना’ पत्रिका अपने प्रकाशन-संपादन के लंबे अंतराल में कई ‘संपादकीय विवेक’ से होकर गुजरी है। शिवदान सिंह चौहान, धर्मवीर भारती और उनका सहयोगी मंडल, नंददुलारे वाजपेयी से होते हुए वह नामवर सिंह के संपादकत्व में आती है। प्रत्येक संपादक ने अपने संपादन में कुछ विशेषांक, अथवा किसी विषय पर विशेष-सामग्री आदि का प्रकाशन किया है। जिसमें ‘आलोचना’ पत्रिका के संस्थापक-संपादक शिवदानसिंह चौहान ने अपने संपादन के दो चरणों में कुछ महत्वपूर्ण विशेषांकों ‘इतिहास विशेषांक’ (पूर्णांक-05 और 06) ‘स्वातंत्र्योत्तर हिंदी साहित्य’ (पूर्णांक-33, 34, 35, 36 तथा 37) का संपादन किया है। धर्मवीर भारती मंडल ने ‘आलोचना विशेषांक (पूर्णांक-09) तथा ‘उपन्यास विशेषांक’ (पूर्णांक-13) का संपादन किया। नंददुलारे वाजपेयी के संपादन में ‘नाटक विशेषांक (पूर्णांक-19), काव्यालोचन विशेषांक (पूर्णांक-25 एवं 26) प्रकाशित हुआ। नामवर सिंह द्वारा संपादित ‘आलोचना’ पत्रिका के लंबे दौर में भी कई विशेषांक, ‘स्मृति अंक’, ‘विशेष सामग्री’ आदि का संपादन-प्रकाशन हुआ है। इस अध्याय में यही देखना है कि नामवर सिंह ने आलोचना पत्रिका का संपादन करते हुए, किन रचनाकारों, आलोचकों और चिंतकों पर विशेषांक आयोजित किए; किन विषयों पर विशेषांक प्रकाशित किए गए? इसके अतिरिक्त, किन रचनाकारों, आलोचकों पर ‘विशेष सामग्री’ अथवा ‘स्मृति अंक’ आदि का आयोजन किया गया है?? तथा किन विषयों पर ‘विशेष सामग्री’ आदि का प्रकाशन हुआ है?? इस अध्याय में यह देखना अतिआवश्यक है कि नामवर सिंह संपादित उन विशेष अंकों, विशेष सामग्री आदि के प्रकाशन एवं आयोजन का परिप्रेक्ष्य क्या है? क्या ‘किसी रचनाकार’ या किसी विषय पर विशेष आयोजन सिर्फ विशेषांक आदि निकालने के लिए किए गए हैं अथवा

उन आयोजनों के पीछे कोई ठोस आधार भी है? इस अध्याय में यह देखना महत्वपूर्ण होगा कि नामवर सिंह 'आलोचना' में किसी विशेष रचनाकार अथवा विषय पर विशेषांक अथवा विशेष आयोजन क्यों करते हैं?? क्या इसलिए करते हैं, जन्मशताब्दी या पुण्यतिथि आ पड़ी है। परंपरा का निर्वाह करना है इसलिए एक विशेष अंक संपादित किया जाए? या अमुक रचनाकार उपेक्षित है इसलिए इस पर विशेषांक आयोजित किया जाना है? अथवा उन रचनाकारों या आलोचकों-चिंतकों पर विशेषांक आदि का आयोजन साहित्य की परंपरा में उनकी महत्ता का प्रतिपादन करने के लिए किया गया है; या 'कैनन-निर्माण' प्रक्रिया में उनका 'स्थान-निर्धारण' को लेकर किया गया है?? यदि जन्मशताब्दियों पुण्यतिथियों पर विशेष अंकों का आयोजन किया गया है तो क्या उसमें आलोचनात्मक अवदान पर भी चर्चा हुई है या वहाँ श्रद्धा-विगलित पूज्यभाव विद्यमान है? वस्तुतः इस अध्ययन में यह देखना है कि 'आलोचना' पत्रिका के विशेषांकों के संपादन के पीछे का परिप्रेक्ष्य क्या है, उन रचनाकारों 'आलोचकों' पर ही क्यों वह अंक आयोजित किया गया है? उन विशेषांकों का महत्व आज किस रूप में हमारे सम्मुख आता है??

'आलोचना' पत्रिका के विशेषांक और उसके महत्व आदि को स्पष्ट करने के लिए इस अध्याय को दो उपशीर्षकों में बाँटकर देखना होगा

1. प्रमुख रचनाकारों-आलोचकों एवं चिंतकों तथा विविध साहित्यिक प्रवृत्तियों पर विशेष रूप से आयोजित अंक या प्रमुख विशेषांक।
2. प्रमुख रचनाकारों, आलोचकों एवं अन्य साहित्यिक प्रवृत्तियों पर कुछ विशेष सामग्री का प्रकाशन या आलोचना के महत्वपूर्ण आयोजन। उपर्युक्त विभाजन अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से किया गया है जिससे 'आलोचना' पत्रिका में प्रकाशित विशेषांकों एवं विशेष सामग्री के अध्ययन का परिप्रेक्ष्य पूर्णरूप से स्पष्ट हो सके।

5.1 'आलोचना' पत्रिका के प्रमुख विशेषांक

नामवर सिंह ने अपने संपादन में 'आलोचना' पत्रिका में हिंदी भाषा एवं साहित्य के कई कवियों, लेखकों, आलोचकों, पर विशेषांक आयोजित किए हैं। इसके अतिरिक्त अन्य भारतीय भाषाओं एवं पश्चिमी चिंतकों पर भी उन्होंने विशेषांक प्रकाशित किए हैं जिनका अध्ययन एवं महत्व का प्रतिपादन आगामी पृष्ठों पर किया गया है।

मुक्तिबोध पर केंद्रित अंक (नवांक-06-जुलाई-सितं., 1968)

'आलोचना' पत्रिका का संपादन करते हुए नामवर सिंह ने सबसे पहला विशेषांक स्वर्गीय गजानन माधव मुक्तिबोध पर आयोजित किया। यह विशेष अंक स्वर्गीय मुक्तिबोध की इक्यावनवीं जन्मतिथि पर आयोजित किया गया था। इस अंक में मुक्तिबोध की कविता, कहानी, आलोचना आदि के साथ उनके जीवन पर भी कुछ लेख, संस्मरण आदि का प्रकाशन किया गया है। स्वयं मुक्तिबोध की 'विशुद्ध बुद्धि के मारक स्वर' शीर्षक कविता को इस अंक में प्रकाशित किया गया है। इस अंक में नेमिचंद्र जैन को लिखे गए मुक्तिबोध के पत्रों को भी प्रकाशित किया गया है। इसके अतिरिक्त हरिशंकर परसाई का एक संस्मरण भी प्रकाशित है। श्रीकांत वर्मा 'मुक्तिबोध की सार्थकता' शीर्षक लेख में मुक्तिबोध की महत्ता का प्रतिपादन करते हैं। आग्नेयशका सोनी ने मुक्तिबोध के कहानीकार रूप का अध्ययन किया है। विष्णु खरे 'अंधेरे में' तथा उनकी अन्य कविताओं के संदर्भ में उनकी काव्यात्मकता की पड़ताल करते हैं। इसी अंक में 'मुक्तिबोध और अज्ञेय के काव्य-बिंब' का तुलनात्मक अध्ययन रणजीत और रशाद अब्दुल वाजिद ने प्रस्तुत किया है। मुक्तिबोध पर केंद्रित इस अंक का विशेष आकर्षण-'कविता और राजनीति' विषय पर 'संवाद' का आयोजन है। यह संवाद मुक्तिबोध की जन्मतिथि के अवसर पर उनके सम्मान में आयोजित किया गया था। वस्तुतः मुक्तिबोध की स्मृति में आयोजित इस 'संवाद' का आधार यही था कि मुक्तिबोध की कविता की समझ तत्कालीन राजनीतिक परिवेश को समझे बगैर अधूरी होगी तथा

उस परिप्रेक्ष्य की समझ कविता और राजनीति के संबंधों की स्वस्थ समझ पर टिकी हुई है। मुक्तिबोध पर केंद्रित इस अंक में वैसे तो उनके संपूर्ण व्यक्तित्व-कृतित्व पर सामग्री प्रस्तुत की गई है। उनके अध्ययन का परिप्रेक्ष्य भी 'संवाद' को आयोजित करके स्पष्ट किया गया है। किंतु, नवांक-14 में भी मुक्तिबोध पर कुछ विशेष आलेख-निबंध प्रकाशित किए गए हैं जिनमें इंद्रनाथ मदान ने 'मुक्तिबोध: मूल्यांकन परिचर्चा' शीर्षक शोधालेख तथा जगदीश शर्मा के दो शोधपरक आलेखों 'मुक्तिबोध का आत्मसंघर्ष : अपरपक्ष', तथा 'मुक्तिबोध शुद्ध प्रगतिवादी थे', जैसे लेखों की पूरकसामग्री को मुक्तिबोध पर केंद्रित अंक में मिला लेने पर मुक्तिबोध की एक मुकम्मिल छवि हमारे सम्मुख स्पष्ट होकर आती है।

'आलोचना' पत्रिका का यह विशेषांक नामवर सिंह ने क्यों संपादित किया अपने आत्मकथ्य में नामवर सिंह इस प्रश्न का उत्तर देते हुए कहते हैं कि "उन्हीं दिनों 'मैं' 'कविता के नए प्रतिमान' पुस्तक लिख रहा था जिसमें आधुनिक कविता का कैनन बदलने का सवाल मेरे सामने था। अज्ञेय और नई कविता की इतनी धूम थी कि मुक्तिबोध जैसा महत्वपूर्ण कवि उपेक्षित था।... मुक्तिबोध पर विशेषांक निकाला। मुक्तिबोध पर किताब तो मैंने अलग से लिखी ही लेकिन विशेषांक पहले निकाला था।... इस तरह मैंने कविता में कैनन को बदलने की कोशिश की।" स्पष्ट है कि नामवर सिंह ने मुक्तिबोध पर अपनी दृष्टि मुक्तिबोध के मूल्यांकन पर केंद्रित की अर्थात् उन्हें उपेक्षित रखनेवाली दृष्टियों का प्रत्याख्यान किया। 'आलोचना' पत्रिका के माध्यम से उन्होंने "नई कविता" के केंद्र में मुक्तिबोध को लाकर खड़ा किया। यह कार्य उन्होंने सिर्फ मुक्तिबोध पर केंद्रित अंक के माध्यम से ही नहीं किया, बल्कि 'आलोचना' पत्रिका के कई अन्य अंकों में भी उन पर लेख, निबंध, शोध-पत्र आदि भी प्रकाशित करते रहे। कहा जा सकता है कि 'आलोचना' पत्रिका मुक्तिबोध को 'हिंदी कविता के कैनन' में स्थान दिलाने का माध्यम बनी।

ग़ालिब की याद में आयोजित विशेषांक (नवांक-08-जनवरी-मार्च, 1969 ई.)

नामवर सिंह के संपादकीय विवेक की महत्ता का उद्घाटन तब होता है, जब वह न केवल हिंदी के कवियों-रचनाकारों पर विशेषांक का आयोजन करते हैं, बल्कि उर्दू भाषा के प्रसिद्ध शायर 'असदुल्लाह ख़ान 'ग़ालिब' पर 'आलोचना' पत्रिका का एक पूरा अंक आयोजित करते हैं। नवांक-08 ग़ालिब की सौवीं पुण्यतिथि पर आयोजित अंक है। यह अंक न केवल ग़ालिब की स्मृति में आयोजित है बल्कि दुनिया की किसी भाषा के बड़े कवि के प्रति सम्मान में आयोजित है। इस अंक की सामग्री को देखकर ही उसकी विविधता का पता चलता है। इसके साथ ही, इस अंक के लेखों और निबंधों आदि के प्रकाशन के पीछे किए गए परिश्रम का पता तब लगता है, जब हम यह देखते हैं कि इस अंक के अधिकांश लेख आदि उर्दू से हिंदी में अनूदित एवं लिप्यंतरित करके प्रकाशित किया गया है, जिससे हिंदी जगत को भी एक बड़े शायर से परिचित कराया जा सके। उसके महत्व का बोध कराया जा सके। इस अंक में कैलाश वाजपेयी की 'एक ख़त ग़ालिब के नाम' शीर्षक कविता प्रकाशित है। यह वही कविता है जिसके कुछ अंशों को भारत सरकार ने आपत्तिजनक माना था।¹ शमशेरबहादुर सिंह का महत्त्वपूर्ण आलेख 'ग़ालिब मेरी दृष्टि में' इस अंक में प्रकाशित है। शमशेरबहादुर सिंह द्वारा ख़्वाज़ा अहमद फ़ारूकी के लेख का अनुवाद 'ग़ालिब की महत्ता' शीर्षक से प्रकाशित है। अहमद हुसैन 'ग़ालिब की आधुनिकता' शीर्षक लेख में ग़ालिब की आधुनिकता की पड़ताल करते हैं। कुँवर मोहम्मद अशरफ ने ग़ालिब के इतिहासकार रूप पर 'ग़ालिब और सन सत्तावन की राज्य क्रांति' शीर्षक लेख में विचार करते हैं। इस लेख का अनुवाद भी शमशेरबहादुर सिंह ने किया है। नईम अहमद ने ग़ालिब : अंतर्विरोधों के बावजूद' शीर्षक लेख में ग़ालिब के अंतर्विरोधों से उनकी वास्तविक छवि तलाशने का काम करते हैं। इस लेख का अनुवाद असगर वज़ाहत और सुहैला नशतर ने किया है। विश्वनाथ त्रिपाठी का लेख 'जटिल भावाभिव्यक्ति के कवि ग़ालिब' शीर्षक से प्रकाशित है। नूरुल हसन अंसारी 'ग़ालिब की फ़ारसी कविता' पर विचार

व्यक्त करते हैं। कमर रईस 'ग़ालिब के व्यंग्य और हास्य' पर अपना मत प्रकट करते हैं। प्रसिद्ध कथाकार काज़ी अब्दुल सत्तार ने 'ग़ालिब के गद्य के नए आयाम' का उद्घाटन किया है। फ़रूख़ जलाली साहब 'ग़ालिब और सर सैयद' को एक साथ रखकर अध्ययन करते हैं। रियाज पंजाबी का लेख 'तुम्हें हम वली समझते' शीर्षक से प्रकाशित है। राजेंद्र शर्मा हिंदी भाषा और साहित्य में ग़ालिब संबंधी अध्ययन-चिंतन किस प्रकार का है उसका एक सर्वेक्षणात्मक अध्ययन 'ग़ालिब: हिंदी में' शीर्षक से प्रस्तुत करते हैं।

वस्तुतः यह अंक अत्यंत विचारोत्तेजक तब बन पड़ा है जब हिंदी और उर्दू भाषा के रचनाकार-आलोचक एक बड़े कवि की कविता का मर्म और उसका परिप्रेक्ष्य उद्घाटित करते हैं। ध्यान देने की बात है कि ग़ालिब की कविता के महत्त्व का उद्घाटन उस दौर में किया गया है जब 1960 ई. के आसपास आधुनिकतावादी चिंतन की एक लहर हिंदी साहित्य में चली थी। इसकी स्पष्ट छाप कैलाश वाजपेयी की कविता में तथा स्वयं शमशेरबहादुर सिंह के इस वक्तव्य में भी विद्यमान है कि "ग़ालिब खुद एक बड़ा हीरो है अपनी व्यापकता के केंद्र में जो कि स्पष्ट एक आधुनिक चीज है। व्यक्ति का निर्बाध अपनापन। हर बात में अपने व्यक्तित्व को अपने निजी दृष्टिकोण को रखना। मैं खुद किस पहलू से सोचता हूँ किस ढंग से महसूस करता हूँ, यह उसके लिए महत्त्व की बात है।... उसकी मुसीबतें, उसका संघर्ष, जिसको वह कभी छिपाता नहीं... उसके शब्दों में हू-ब-हू आधुनिक-सा लगता है। अजब बात है। उसमें आज के आधुनिक साहित्यकार की-सी पूरी तड़प और वेदना के बीच एक तटस्थ, यथार्थवादी दृष्टि है।"³ 'अहमद हुसैन' तो 'ग़ालिब की आधुनिकता' की पड़ताल इसी शीर्षक से प्रकाशित निबंध में करते हैं। नामवर जी की संपादकीय प्रतिभा की दृष्टि से इस तथ्य की ओर ध्यान अवश्य ही जाता है कि 'आलोचना' पत्रिका अपनी साहित्यिक परंपरा का मूल्यांकन आलोचनात्मक दृष्टि से करती है, उस रचनाकार या लेखक के अंतर्विरोधों एवं समग्र कृतित्व के आधार पर उनका मूल्यांकन करने का कार्य करती है। इसी

अंक में नईम अहमद ने 'मिर्जा ग़ालिब अंतर्विरोधों के बीच' शीर्षक लेख में तथा रियाज़ पंजाबी ने 'तुम्हें हम वली समझते' शीर्षक आलेख में उनके अंतर्विरोधों को उद्घाटित करते हुए ग़ालिब की वास्तविक छवि को पकड़ने की कोशिश करते हैं। कहने की आवश्यकता नहीं है कि अपनी परंपरा के प्रति आलोचनात्मक रवैया अपनाना तथा किसी रचनाकार की छवि उसकी समग्रता में से, अंतर्विरोधों से उद्घाटन करना, कहीं ज़्यादा कठिन कार्य है। नामवर सिंह 'आलोचना' पत्रिका के माध्यम से विभिन्न रचनाकारों पर विशेषांक आदि आयोजित कर उसकी वास्तविक छवि को प्राप्त करने की कोशिश करते हैं।

लेनिन पर केंद्रित अंक (नवांक-13. अप्रैल-जून, 1970)

नामवर सिंह ने 'आलोचना' पत्रिका का नवांक- 13 रूसी क्रांति के अगुआ लेनिन की जन्मशती के उपलक्ष्य में केंद्रित किया था। यह अंक सिर्फ इसीलिए नहीं महत्वपूर्ण है कि यह लेनिन पर आयोजित है, बल्कि इसलिए भी महत्वपूर्ण है लेनिन को अब तक क्रांतिकारी ब्रांड के रूप में ही ग्रहण किया जाता था, और उनकी महत्वपूर्ण कृति 'पार्टी, साहित्य और समाजवाद' को रचनात्मक साहित्य के संदर्भ में उल्लिखित करते हुए साहित्य और साहित्यकार को पार्टीबद्ध लेखन के लिए मजबूर करने के अर्थ में ही ग्रहण किया जाता था। जबकि इस अंक में प्रकाशित लेखों-निबंधों जैसे : भीष्म साहनी के लेख 'लेनिन और साहित्य', अन्स्ट फिशर के लेख का अनुवाद 'पार्टी, साहित्य और समाजवाद', ई. चेलिशेव के लेख 'भारतीय साहित्य में लेनिन', तथा लेनिन के दो पत्र गोर्की के नाम, और लेनिन द्वारा एक पुस्तक की समीक्षा' से लेनिन का एक रूप साहित्य-सिद्धांतकार के रूप में निकल कर आता हुआ देखा जा सकता है। इसी अंक में डेविड एन. मार्गोलीज के क्रिस्टोकर कॉडवेल के मार्क्सवादी कला चिंतन के विकास में अवदान पर लिखे गए महत्वपूर्ण आलेख का अनुवाद 'काडवेल और साहित्य की सामाजिक वृत्ति' शीर्षक से प्रकाशित है। इसी अंक में इस्तवान साइमन एवं इर्विन जित्यानि द्वारा जार्ज लूकाच का लिया गया इंटरव्यू का

अनुवाद भी प्रकाशित है। इसी अंक में रूसी भाषी हिंदी विद्वान ई. चेलिशेव द्वारा सुमित्रानंदन पंत पर लिखित पुस्तक की समीक्षा जो नामवर सिंह द्वारा की गई है 'लेनिन जन्मशती पर एक आलोचनात्मक उपहार' शीर्षक से प्रकाशित है। विश्वनाथ त्रिपाठी बनारसीदास चतुर्वेदी के अंतिम दिनों में लेनिन की ओर आकर्षण का उल्लेख चतुर्वेदी जी की पुस्तक 'नीलकण्ठ गोर्की' की समीक्षा में करते हैं।

लेनिन पर आयोजित जब इस अंक का संपादकीय जो कि क्रांतिकारी साहित्य, क्रांतिकारी स्वच्छंदतावाद तथा क्रांति की समस्या एवं छापामार युद्ध में टूटपूँजियाँ मध्यवर्ग की भूमिका आदि पर केंद्रित है और जब इसे भारतीय परिप्रेक्ष्य में नक्सलवादी आंदोलन के उभार के परिप्रेक्ष्य में रखकर देखते हैं और उसकी सफलता-असफलता की पड़ताल करते हैं। तब इस अंक की महत्ता का पता चलता है। ध्यान दें तो यह अंक मार्क्सवादी साहित्य एवं कला-चिंतन के नवमार्क्सवादी चिंतन के परिप्रेक्ष्य से प्रेरित अंक है, जिसे मोतीलाल रैना मार्क्सवादी चिंतन की दूसरी परंपरा का नाम देते हैं।⁴

जार्ज लूकाच की स्मृति में केंद्रित अंक (नवांक-18 जुलाई-सितं., 1971)

मार्क्सवादी कला एवं साहित्य संबंधी चिंतन की नवमार्क्सवादी अथवा 'मार्क्सवादी चिंतन की दूसरी परंपरा' जिसे कहा जाता है, उसके प्रतिपादक आचार्यों में जार्ज लूकाच की गणना की जाती है। जब भाषावादी-रूपवादी साहित्य चिंतन के दबाव में मार्क्सवादी साहित्य-चिंतन अपनी राह नहीं बना पा रहा था, उस समय जार्ज लूकाच की मान्यताओं ने रूपवादी-भाषावादी चिंतन के विरुद्ध लड़ने की शक्ति प्रदान की। नामवर सिंह अपने प्रेरणा स्रोतों में जार्ज लूकाच की गणना करते हैं।⁵ इस अंक की संपादकीय 'जार्ज लूकाच' पर केंद्रित है, इसके अतिरिक्त इस अंक में 'जार्ज लूकाच की जीवन की प्रमुख घटनाएँ', और उनका विवरण प्रकाशित किया गया है। इसी अंक में 'जार्ज लूकाच के साथ एक वार्ता' का प्रकाशन किया गया है। जार्ज लूकाच के एक लेख का अनुवाद भी

‘कला और वस्तुपरक सत्य’ शीर्षक से प्रकाशित है। ‘आलोचना’ ने लूकाच’ पर विशेषांक का आयोजन कर मार्क्सवादी साहित्य एवं कला-चिंतन के इस महान चिंतक के प्रति अपनी श्रद्धांजलि अर्पित की है।

आज की स्थिति में प्रगतिशीलता-विषय पर केंद्रित अंक (नवांक- 29 अप्रैल-जून, 1974)

प्रगतिशील लेखन के आरंभ के उपरांत प्रत्येक दौर में प्रगतिशीलता की अवधारणा को लेकर बहस चलती रही है। प्रगतिशील लेखक संघ के आरंभिक दिनों में प्रगतिशीलता की अवधारणा को लेकर जमकर बहस हुई है, इसे डॉ० रामविलास शर्मा और शिवदान सिंह चौहान के बीच प्रगतिशीलता की अवधारणा को लेकर हुई बहस में देख सकते हैं। स्पष्ट है कि 1974 ई. में ‘प्रगतिशीलता का स्वरूप क्या हो?? प्रगतिशील साहित्य किसे कहें??’ वस्तुतः इसी की समस्या से निपटने के लिए ‘आज की स्थिति में प्रगतिशीलता’ शीर्षक से ‘आलोचना’ पत्रिका ने एक ‘संवाद’ का आयोजन किया। इस ‘संवाद’ में विषय-प्रवर्तन मुरलीमनोहर प्रसाद सिंह ने ‘प्रगतिवाद : मूल्य और आंदोलन नए संदर्भ में’ शीर्षक लेख से किया। जिसके उत्तर में विश्वनाथ त्रिपाठी, शिवमंगल सिद्धांतकर डॉ० माहेश्वर, सुरेंद्र तिवारी, भीष्म साहनी, गंगाप्रसाद विमल, सुरेंद्र चौधरी, डॉ० मुहम्मद हसन, सुधीश पचौरी, शमशेरबहादुर सिंह, राजीव सक्सेना, ने पक्ष या विपक्ष में अपने वक्तव्य दिए हैं। इसी अंक में रेखा अवस्थी का एक लेख ‘प्रगतिवाद : युग व्याप्ति तथा अंतर्विरोध’ शीर्षक से प्रकाशित है। वस्तुतः इस अंक के निहितार्थों को 1974-75 ई. के दौर के संदर्भों में समझा जा सकता है, कहने की ज़रूरत नहीं है कि 1975 में भारत में आपातकाल लागू कर दिया गया था। दूसरी तरफ मार्क्सवादी खेमे में अतिवादिता की प्रबलता दिखाई पड़ रही थी, अपने संपादकीय वक्तव्य में नामवर सिंह इसकी कड़ी आलोचना करते हैं। यह अंक इस परिचर्चा और संपादकीय के कारण मार्क्सवादी आलोचना में अपनी महत्ता को स्थापित करता है।

धूमिल विशेषांक (नवांक-33. अप्रैल-जून, 1975)

साठोत्तरी कविता जिसे अकविता, भूखी पीढ़ी, युवा कविता आदि नामों से भी जाना जाता है, उसके केंद्र में 'धूमिल' की उपस्थिति रही। नामवर सिंह धूमिल को 'अकविता' की महत्त्वपूर्ण देन मानते हैं।¹⁶ इस युवा विद्रोही कवि की असामयिक मृत्यु पर श्रद्धांजलि व्यक्त करते हुए नामवर सिंह ने 'आलोचना' पत्रिका का विशेषांक आयोजित किया। धूमिल पर आयोजित यह अंक धूमिल के व्यक्तित्व-कृतित्व के मूल्यांकन के लिए एक सार्थक पहल है। यह अंक धूमिल पर शोध-कार्य करने वाले प्रत्येक शोधार्थी के लिए अनिवार्य अंक की हैसियत रखता है। इस अंक में काशीनाथ सिंह का लेख- 'विपक्ष का कवि धूमिल' शीर्षक से प्रकाशित है। विश्वनाथ त्रिपाठी ने 'भाषा की रात से जूझता कवि : धूमिल' शीर्षक लेख में, गोविंद उपाध्याय ने 'धूमिल कवि-कर्म का विकासक्रम तथा कुछ संस्मरण' शीर्षक लेख में, रामकृपाल पांडेय का लेख 'सार्थकतावादी कवि धूमिल का काव्यालोक' तथा रामबक्ष ने 'धूमिल : व्यवस्था से विद्रोह और विद्रोह की व्यवस्था' शीर्षक आलेख में धूमिल का मूल्यांकन करने का प्रयास करते हैं। इस अंक में विनोद भारद्वाज को लिखे गए 'धूमिल के पत्र' भी प्रकाशित हैं। धूमिल के छोटे भाई 'कन्हैया पांडेय अपनी श्रद्धांजलि 'अनुज की श्रद्धांजलि' शीर्षक लेख में व्यक्त है। इस अंक में धूमिल की अप्रकाशित सात कविताएँ भी प्रकाशित हैं। विष्णुचंद्र शर्मा 'स्वर्गीय धूमिल के गाँव में' शीर्षक लेख में धूमिल के पास-पड़ोस में उपस्थिति का अर्थ क्या था इसका जायजा लेते हैं।

यह अंक धूमिल पर श्रद्धांजलि व्यक्त करने के लिए ही आयोजित किया गया है किंतु इसके लेखों-संस्मरण आदि में श्रद्धाविगलित भावुक दृष्टि का अभाव देखने को मिलता है। यहाँ धूमिल का मूल्यांकन उनके अंतर्विरोधों को नज़रअंदाज़ करते हुए नहीं बल्कि उनको समग्रता में ग्रहण करते हुए किया गया है। यहाँ भी धूमिल के व्यक्तित्व-कृतित्व के प्रति 'आलोचनात्मक रुख' ही धारण किया गया है जिससे 'धूमिल की वास्तविक छवि' को उजागर किया जा सके।

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी विशेषांक- (नंवांक-49-50 अप्रैल-सितं., 1979)

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी की मृत्यु के उपरान्त उन पर श्रद्धांजलि व्यक्त करते हुए नामवर सिंह ने 'आलोचना' पत्रिका का एक अंक उनकी रचनाशीलता, इतिहास बोध, आलोचकीय प्रतिभा आदि रूप को समग्रता में प्रस्तुत करते हुए आयोजित किया। इस अंक में आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी की इतिहास-दृष्टि पर, विद्यानिवास मिश्र, रघुवंश, बच्चन सिंह और मैनेजर पांडेय का आलेख प्रकाशित है। उनके 'इतिहास-बोध' पर निर्मल वर्मा ने भी अपना मत प्रकट किया है। आचार्य द्विवेदी की मध्यकालीन बोध और आधुनिक दृष्टि पर रामस्वरूप चतुर्वेदी, गंगाप्रसाद विमल, विचार करते हुए देखे जा सकते हैं। शिवकुमार मिश्र भक्तिकाल की पुनर्व्याख्या की पड़ताल करते हैं, उनके योगदान की चर्चा 'भक्ति आंदोलन की पुनर्व्याख्या में आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी का योगदान' शीर्षक लेख में करते हैं डॉ० देवराज उनके कथा-साहित्य पर अपने विचार व्यक्त करते हैं। कपिला वात्स्यायन इस अंक में अपना योगदान दो रूपों में करती हैं एक संस्मरण लेखिका के रूप में, तथा दूसरे 'कला, इतिहासकार पंडित हजारीप्रसाद द्विवेदी' शीर्षक लेख की लेखिका के रूप में। नंदकिशोर नवल 'आचार्य द्विवेदी और प्रगतिवाद' शीर्षक लेख में आचार्य द्विवेदी का मूल्यांकन प्रगतिशील आंदोलन के परिप्रेक्ष्य में रखकर करते हैं। शिवमंगल सिंह सुमन अपना लेख जो कि संस्मरण भी है और आचार्य द्विवेदी का मूल्यांकन भी। रमेशकुंतल मेघ उन्हें 'रिनैसाँ-पुरुष' के रूप में देखते हैं। भोलानाथ तिवारी उनके निबंधों और अन्य कृतियों का मूल्यांकन 'शैली के धनी' शीर्षक लेख में करते हैं। विशन सिंह यादव 'कुटज निबंध का शैली वैज्ञानिक अध्ययन' करते हुए देखे जा सकते हैं। इस अंक में आचार्य द्विवेदी और शिवमंगल सिंह सुमन के बीच हुए पत्र-व्यहार के प्रमुख पत्रों को प्रकाशित किया गया है। इसी अंक में 'अनामदास का पोथा' उपन्यास का एक अंश भी प्रकाशित किया गया है। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी की दो आरंभिक कविताएँ भी प्रकाशित है।

इस अंक का मुख्य आकर्षण नामवर सिंह द्वारा लिखित 'दूसरी परंपरा की खोज' शीर्षक

लेख भी है, जो आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के मूल्यांकन के संदर्भ में नई दृष्टि प्रदान करता है, साथ ही यह लेख साहित्य की परंपरा के मूल्यांकन के परिप्रेक्ष्य में नवीन दिशा का प्रस्थान बिंदु बनता है। अर्थात् 'आलोचना' पत्रिका के माध्यम से हिंदी आलोचना की परंपरा में जो 'कैनन' बना हुआ था उसे बदलने का कार्य हुआ है। उस 'कैनन' में आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी को स्थान प्राप्त हुआ है। नामवर सिंह का मत है कि "हजारीप्रसाद द्विवेदी पर विशेषांक निकालकर मैंने आलोचना के कैनन में परिवर्तन किया था।" इस वक्तव्य से आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी पर केंद्रित 'आलोचना' पत्रिका का महत्व स्वतः स्पष्ट हो जाता है। इसके अतिरिक्त इस वक्तव्य से नामवर सिंह का संपादकीय विवेक का भी बोध हो जाता है कि, वह 'आलोचना' पत्रिका के माध्यम से हिंदी साहित्य और आलोचना के क्षेत्र में क्या करना चाहते थे।

प्रेमचंद विशेषांक (नवांक- 51-52, अक्तू., 1979- मार्च, 1980.)

'आलोचना' पत्रिका का नवांक- 51-52 प्रेमचंद जन्मशताब्दी के अवसर पर आयोजित 'प्रेमचंद-स्मृति अंक' है। 'प्रेमचंद' पर आयोजित इस विशेषांक का महत्व इस बात को स्पष्ट करने में है, कि प्रेमचंद की जन्मशताब्दी को किस रूप में मनाए और उनकी आज के संदर्भों में प्रासंगिकता क्या है। दूसरी तरफ प्रेमचंद की कला और साहित्य पर उठाए गए सवालों का जवाब भी दिया गया है। प्रेमचंद पर प्रकाशित यह अंक साहित्य की सामाजिक उपादेयता को स्पष्ट करानेवाला अंक है। इसके माध्यम से नवीन कलावादी उत्थान की जड़ काटने का प्रयास किया गया है। इसके अतिरिक्त प्रेमचंद को उन लोगों की व्याख्या से बचाने का भी कार्य करना है, जो अपने को उदारतावादी दृष्टि के रचनाकार मानते हैं जो मनोवैज्ञानिक चेतना की पड़ताल के आधार पर प्रेमचंद पर व्यापकता और गहराई का सवाल उठाकर उन्हें सरलीकृत संवेदना के कथाकार के रूप में चित्रित करते हैं, जबकि दूसरी तरफ इस अंक के माध्यम से उनसे भी निपटने का प्रयास किया गया है, जो प्रेमचंद को बिल्कुल ही मार्क्सवादी के रूप में चित्रित करते हैं या फिर उन्हें गाँधीवादी के

रूप में चित्रित करने का कार्य करते हैं।¹⁸

नामवर सिंह 'प्रेमचंद की प्रासंगिकता' के आधार को पूरनचंद्र जोशी के कथन के माध्यम से स्पष्ट करते हैं कि "जो कल के औपनिवेशिक दासता से ग्रस्त भारत और आज के अर्द्ध-सामंती अवशेषों तथा नवोदित पूँजीवादी विकास के अंतर्विरोधों से उद्वेलित भारत के बीच निरंतरता और विच्छन्नता के द्वंद्वात्मक संबंध को समझते हुए आज कर्म और सृजन की अपार संभावनाओं को देख रहा है, वही प्रेमचंद का सही मूल्यांकन कर सकता है। मुख्य प्रश्न उस ऐतिहासिक प्रतिष्ठा का है। प्रेमचंद की विगत महत्ता और वर्तमान अर्थवत्ता की समस्या का सुलझाव इसी परिप्रेक्ष्य में संभव है।"¹⁹ निर्मल वर्मा द्वारा प्रेमचंद की कला को लेकर जो सवाल उठाए गए हैं, उनका उत्तर नामवर सिंह अपने संपादकीय वक्तव्य में देते हैं। और निर्मल वर्मा के कलावादी निहितार्थों को स्पष्टतः उजागर करते हैं। पूरनचंद्र जोशी 'प्रेमचंद की अमरता के मूल स्रोत' शीर्षक अपने लेख में प्रेमचंद के व्यक्तित्व का मूल्यांकन साहित्य के समाजशास्त्रीय दृष्टि से करते हैं। उनका यह लेख कलावादी साहित्य विवेचन के संदर्भ में अत्यंत कड़ा प्रतिकार है। प्रेमचंद का मूल्यांकन वर्तमान संदर्भों में किस प्रकार किया जाए इसका विवेचन भीष्म साहनी 'प्रेमचंद आज के संदर्भ में' शीर्षक लेख में करते हैं। साहित्य की कलावादी और समाजोन्मुख दृष्टि का उल्लेख करते हुए प्रेमचंद की महत्ता का आधार समाजोन्मुख दृष्टि के कारण ही है, इसको ही स्पष्ट करते हैं। इसी अंक में भैरवप्रसाद गुप्त ने प्रेमचंद का मूल्यांकन स्वाधीनता संग्राम के संदर्भ में 'प्रेमचंद और स्वतंत्रता आंदोलन' शीर्षक लेख में किया है। शमशेर सिंह नरूला अपने लेख 'प्रेमचंद की परंपरा' में प्रेमचंद की परंपरा का स्वरूप स्पष्ट करते हैं। खगेंद्र ठाकुर प्रेमचंद का प्रगतिशील आंदोलन के संबंध में विस्तृत अध्ययन 'प्रेमचंद और प्रगतिशील आंदोलन' शीर्षक शोधपरक लेख में प्रस्तुत करते हैं। प्रेमचंद के साहित्य की सौंदर्यशास्त्रीय समस्या नंदकिशोर नवल अपना मत 'प्रेमचंद का सौंदर्यशास्त्र' शीर्षक लेख में प्रकट करते हैं। रामबक्ष का लेख 'प्रेमचंद की विचारधारा और उसका सामाजिक आधार' शीर्षक

से प्रकाशित है। द्वारिका प्रसाद चारुमित्र का लेख 'नैतिक मूल्यों की समस्या और प्रेमचंद' शीर्षक से तथा कृष्णबिहारी मिश्र का लेख 'प्रेमचंद सामाजिक क्रांति के अग्रदूत' शीर्षक से प्रकाशित है। नईम अहमद 'प्रेमचंद की क्रांतिकारी चेतना को स्पष्ट करते हैं। इसीप्रकार श्याम कश्यप 'यथार्थवाद और प्रेमचंद' शीर्षक आलेख में उनके यथार्थवाद 'क्रांतिकारी यथार्थवाद' के नजदीक बताते हैं। गोपालराय 'प्रेमचंद की उपन्यास-कला' की पड़ताल करते हैं। तो परमानंद श्रीवास्तव 'प्रेमचंद की कहानियाँ' शीर्षक में उनकी कहानियों का मूल्यांकन करते हैं। शंभुनाथ 'नई नैतिकता के संदर्भ में मालती और मेहता का मूल्यांकन 'नई नैतिकता मेहता और मालती' शीर्षक लेख में करते हैं। काथरीना थोमा द्वारा 'प्रेमाश्रम : गाँधीवाद और काल्पनिकता' शीर्षक आलेख में गाँधीवादी नजरिए का प्रेमाश्रम से क्या संबंध है, इसका अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। शिवकुमार मिश्र का आलेख 'प्रेमचंद और परवर्ती कथा-परिदृश्य' शीर्षक से प्रकाशित है जिसमें... मैनेजर पांडेय कलावादी रुझान का खंडन 'प्रासंगिकता का प्रश्न और प्रेमचंद की प्रासंगिकता' शीर्षक आलेख में करते हैं।

उपर्युक्त आलेख 'आलोचना' के नवांक-51-52 में प्रकाशित है, जो प्रेमचंद-स्मृति अंक के रूप में प्रकाशित हुआ है, जबकि नवांक-53 में भी प्रेमचंद पर कई आलेख प्रकाशित किए गए हैं, जिन्हें प्रेमचंद विशेषांक का अंग ही समझना चाहिए उसे पूरक सामग्री के रूप में देखना चाहिए। उदाहरण के लिए नवांक-53 में प्रकाशित जाफ़र रजा का शोधपरक आलेख 'प्रेमचंद का भाषा शिल्प : एक आलोचनात्मक अध्ययन' शीर्षक से प्रकाशित है। भोलानाथ तिवारी ने 'प्रेमचंद की शैली' लेख में प्रेमचंद की शैली क्या है? इसका अध्ययन प्रस्तुत किया है। श्रीनारायण पांडेय प्रेमचंद के संघर्षों का उद्घाटन 'प्रेमचंद का संघर्ष' शीर्षक लेख में करते हैं। 'प्रेमचंद की सार्थकता' शीर्षक आलेख में सुरेश शर्मा प्रेमचंद की महत्ता एवं सार्थकता की पड़ताल करते हैं।

इस विशेषांक से स्पष्ट है कि प्रेमचंद की प्रासंगिकता का आधार 'विगत महत्ता और वर्तमान अर्थवत्ता' में निहित है। इसके अतिरिक्त साहित्य में कलावादी रुझान का जबर्दस्त खंडन प्रेमचंद पर

सामाजिक दृष्टिकोणों से युक्त लेखों के माध्यम से किया गया है। इसलिए कहा जा सकता है कि इस विशेषांक का महत्त्व नवकलावादी, रूपवादी दृष्टियों के विरुद्ध समाजोन्मुख दृष्टि के संदर्भ में निहित है।

नागार्जुन विशेषांक (नवांक-56-57, जनवरी-जून, 1981.)

नामवर सिंह ने 'आलोचना' पत्रिका का नवांक-56-57 नागार्जुन पर आयोजित किया। यह अंक नागार्जुन की सत्तरवीं वर्षगाँठ के उपलक्ष्य में आयोजित किया गया है। इसी अंक में समकालीन युवा कवियों की बीस काव्य-संग्रहों की समीक्षाएँ भी 'समकालीन कविता' शीर्षक स्तंभ में प्रकाशित है। मूलतः यह अंक समकालीन कविता और नागार्जुन पर एक प्रकाशित संयुक्तांक है। नागार्जुन पर विशेषांक आयोजित करते हुए उसी अंक में समकालीन कविता पर इतनी प्रचुर सामग्री का प्रकाशन वस्तुतः समकालीन कविता को नागार्जुन की जनवादी कविता की 'ज़मीन' से जोड़ना था। इसी अंक में नामवर सिंह द्वारा नागार्जुन पर लिखित 'कविता की ज़मीन और ज़मीन की कविता' शीर्षक संपादकीय प्रकाशित है। यदि ध्यान दें तो इस अंक में केदारनाथ अग्रवाल, त्रिलोचन और शमशेर बहादुर सिंह पर 'समकालीन कवि' शीर्षक स्तंभ में अलग से आलेख प्रकाशित किए गए हैं। इसी अंक में 'दो विशिष्ट कवि' स्तंभ के अंतर्गत केदारनाथ सिंह और कुँवर नारायण पर भी आलेख उपलब्ध है। किंतु इस 'विशिष्ट कवि' स्तंभ में केंद्रीयता केदारनाथ सिंह को मिली हुई है। केदारनाथ सिंह पर इस स्तंभ में केदारनाथ सिंह पर दो आलेख छापे गए हैं, वहीं कुँवर नारायण पर एक लेख प्रकाशित है। इस प्रकार से स्पष्ट है कि नागार्जुन की कविता की जनवादी ज़मीन है, वह ज़मीन सिर्फ नागार्जुन की नहीं बल्कि केदारनाथ अग्रवाल, शमशेरबहादुर सिंह, त्रिलोचन के साथ केदारनाथ सिंह का भी उसमें कुछ हिस्सा है और उसी ज़मीन की विरासत से समकालीन युवा कवियों को जोड़ने का काम किया गया है। इसी अंक में जनवादी कविता के विरुद्ध प्रतिपक्ष की भूमिका निभानेवाली कलावादी चिंतन के प्रति कड़ी प्रतिक्रिया जताने का काम 'पूर्वग्रह' पत्रिका (अंक-39-40) और

प्रगतिशील कविता के अन्य नवीन आयामों को उद्घाटित करनेवाली-‘जनवादी’ कही जानेवाली ‘कंक’ पत्रिका की समीक्षा भी प्रकाशित है। इस प्रकार नागार्जुन की सत्तरवीं वर्षगाँठ पर आयोजित ‘आलोचना’ का यह अंक तत्कालीन हिंदी कविता में चलनेवाली व्यापक गतिविधियों से स्पष्टतः परिचित कराता है। आशुतोष कुमार समकालीन कविता की नई बनती पहचान के लिहाज से इस अंक को अत्यंत महत्वपूर्ण और रेखांकित करने योग्य मानते हैं।¹⁰ इस अंक में नागार्जुन से लिए गए दो साक्षात्कारजो ‘मनोहरश्याम जोशी, कृष्णा सोबती’ द्वारा लिए गए हैंभी प्रकाशित हैं।

केदारनाथ सिंह नागार्जुन को ‘खतरनाक ढंग से कवि होने की बात करते हैं। विष्णु खरे ‘हिंदी का वाल्ट विटमैन’ शीर्षक से लेख लिखते हैं। रघुवीर सहाय नागार्जुन को ‘मनुष्य की सच्ची पहचान’ करनेवाले कवि के रूप में चित्रित करते हैं। अरुण कमल नागार्जुन को ‘शतरंज-से-संसार का सधा खिलाड़ी’ के रूप में चित्रित करते हैं।

जिन समकालीन कवियों के कविता-संग्रहों की इस अंक में समीक्षाएँ प्रकाशित हुई हैं, उनमें कई कवि आज की हिंदी कविता के आधार स्तंभ हैं। उन कवियों में विनोदकुमार शुक्ल (वह आदमी नया गरम कोट पहनकर चला गया विचार की तरह), कुमारेंद्र पारसनाथ सिंह (इतिहास का संवाद) लीलाधर जगूड़ी (घबराये हुए शब्द) ऋतुराज (पुल पर पानी), चंद्रकांत देवताले (लकड़बग्घा हँस रहा है) अरुण कमल (अपनी केवल धार) उदय प्रकाश (सुनो कारीगर), राजेश जोशी (एक दिन बोलेंगे पेड़), असद जैदी (बहनें और अन्य कविताएँ), प्रयाग शुक्ल (यह एक दिन) मलयज (अपने होने को अप्रकाशित करता हुआ) विष्णु नागर, पंकज सिंह, श्रीराम वर्मा, ज्ञानेंद्रपति, मंगलेश डबराल, गिरीधर राठी, विश्वनाथ त्रिपाठी, विनाद भारद्वाज, कुमार विकल आदि कवियों के काव्य संग्रहों की समीक्षाएँ प्रकाशित हैं। इस प्रकार ‘आलोचना’ का नागार्जुन विशेषांक न केवल हिंदी के अत्यंत उर्वर कवि की सत्तरवीं वर्षगाँठ पर आयोजित अंक है, बल्कि समकालीन कविता की स्थिति से बोध करानेवाला एवं कविता की जनवादी परंपरा को आगे बढ़ाने वाला अंक भी बन जाता है।

रामविलास शर्मा विशेषांक (नवांक-60-61, जनवरी-जून, 1982.)

नामवर सिंह ने हिंदी आलोचना के स्तंभों में से एक स्तंभ डॉ० रामविलास शर्मा की सत्तरवीं वर्षगाँठ पर 'आलोचना' पत्रिका का अत्यंत महत्वपूर्ण अंक आयोजित किया। यह अंक मूलतः हिंदी आलोचना के शीर्ष पुरुष 'हिंदी जाति के समालोचक और प्रगतिशील आलोचना के अग्रदूत डॉ० रामविलास शर्मा पर 'आलोचना' परिवार की ओर से अभिनंदन के रूप में प्रस्तुत किया गया। इस अंक का संपादकीय जो 'केवल जलती मशाल' शीर्षक से लिखा गया है। ऐसा प्रतीत होता है कि हिंदी आलोचना में रामविलास शर्मा के मूल्यांकन के संदर्भ में इसकी चर्चा के बिना कोई भी मूल्यांकन अधूरा ही समझा जाएगा। इस अंक में डॉ० रामविलास शर्मा के पूरे परिवार का इतिहास, एक-दूसरे के बीच आपसी रिश्ते, एवं संघर्ष की गाथा 'घर की बात' शीर्षक में प्रकाशित है। 'आलोचना' पत्रिका के इस अंक की आधी सामग्री 'घर की बात' शीर्षक से पारिवारिक गाथा के रूप में प्रकाशित है। वस्तुतः 'आलोचना' का डॉ० रामविलास शर्मा अंक सिर्फ रामविलास जी पर आयोजित नहीं था; बल्कि उसमें उनके पूरे 'घर की बात' है। रामविलास जी के अनुसार अपने 'घर की बात' को उन्होंने 'आलोचना' के लिए संकलित किया था।¹¹ इसी अंक में नंदकिशोर नवल की डायरी और संस्मरण मिश्रित लेख 'हरसिंगार की छाया में' है, जिसमें डॉ० रामविलास शर्मा की पारिवारिक व दैनिक जीवन की झांकियाँ एक बाहरी व्यक्ति द्वारा प्रस्तुत की गई हैं। केदारनाथ अग्रवाल का संस्मरण 'मेरे प्रिय डॉक्टर' शीर्षक से छपा है। केदारनाथ सिंह डॉ० रामविलास शर्मा के कवि रूप का मूल्यांकन 'रामविलास शर्मा की कविताएँ' शीर्षक आलेख में करते हैं। शिवकुमार मिश्र रामविलास का मूल्यांकन मार्क्सवादी आलोचना के परिप्रेक्ष्य में 'मार्क्सवादी आलोचन के बुनियादी सरोकार और डॉ० रामविलास शर्मा' शीर्षक लेख में करते हैं। गोपाल अपने लेख 'डॉ० रामविलास शर्मा की कथा-समीक्षा' में रामविलास जी की कथा आलोचना संबंधी दृष्टि का मूल्यांकन प्रस्तुत करते हैं।

इस प्रकार 'आलोचना' पत्रिका का रामविलास शर्मा विशेषांक हिंदी आलोचना के महत्त्वपूर्ण स्तंभ के सम्मान में आयोजित किया गया है। यहाँ उनके कृतित्व के संपूर्ण पक्ष का मूल्यांकन न होकर उनके व्यक्तित्व के ऊर्जावान चरित्र पर अधिक बल दिया गया है। नामवर सिंह ही वह व्यक्ति हैं जिन्होंने 'आलोचना' पत्रिका के माध्यम से रामविलास जी पर संभवतः पहला व्यवस्थित विशेषांक आयोजित किया उनके महत्त्व से हिंदी जगत परिचित तो था ही किंतु हिंदी आलोचना के कैनन में उन्हें स्थापित किया इस प्रकार, हिंदी आलोचना के विकास में रामविलास शर्मा के अन्यतम योगदान का पक्ष प्रस्तुत कर 'आलोचना' पत्रिका हिंदी आलोचना के 'कैनन' में उनकी ज्वलंत उपस्थिति का बोध कराती है।

समीक्षा अंक (नवांक-62-63, जुलाई-सितं., 1982.)

नामवर सिंह संपादित 'आलोचना' पत्रिका का नवांक- 60-61 हिंदी आलोचना के महत्त्वपूर्ण स्तंभ डॉ० रामविलास शर्मा पर केंद्रित था तो, इसके ठीक बाद का अंक (नवांक 62-63) 'समीक्षा अंक' के रूप में आयोजित किया गया। इस अंक में समकालीन युवा आलोचकों की आलोचनात्मक पुस्तकों की समीक्षाएँ प्रमुखता से प्रकाशित की गईं। इन पुस्तकों में कुछ युवा कवियों की आलोचनात्मक पुस्तकें भी समीक्षित हैं। डॉ० रामविलास शर्मा जैसे आलोचक के सम्मान में आयोजित अंक के उपरांत ठीक अगला अंक समकालीन आलोचना की महत्त्वपूर्ण पुस्तकों की गंभीर समीक्षाओं पर केंद्रित करने का भी अपना एक अलग निहितार्थ है। इन दोनों अंकों को एक साथ रखकर मूल्यांकन करें तो यह स्पष्ट होगा है कि हिंदी आलोचना के समकालीन युवा पीढ़ी के आलोचकों का प्रेरणा-स्रोत कौन है? और हिंदी आलोचना की भावी दिशा आधुनिकतावादी-रूपवादी-कलावादी समीक्षा की ओर जाएगी या उसका मार्ग समाजोन्मुख दिशा की ओर प्रशस्त करना है। उसकी प्रगतिशील आलोचना की भूमिका की ओर अग्रसरित करना है। इस अंक में रघुवीर सहाय (लिखने का कारण), मलयज (कविता से साक्षात्कार) के आलोचना-कर्म का मूल्यांकन अरुण कमल

द्वारा किया गया है। अरुण कमल अपने मूल्यांकन में स्पष्ट करते हैं कि मलयज और रघुवीर सहाय दोनों ही कविता को कविता के रूप में देखने की बात करते हैं किंतु कविता का समाज से गहरा संबंध स्वीकार करते हैं। कविता को 'कविता के संसार' के साथ-साथ 'कविता के बाहर के संसार' को जोड़ने की भी बात करते हैं। नंदकिशोर नवल ने निर्मल वर्मा (शब्द और स्मृति) का और परमानंद श्रीवास्तव ने अज्ञेय (धार और किनारे) का मूल्यांकन करते हुए उनकी आधुनिकतावादी आलोचना-कर्म की सीमाओं से परिचित कराया है।

गोपाल 'हिंदी कथालोचना : 'धुँधलके के गिरफ्त में' शीर्षक से राजेंद्र यादव द्वारा अठारह उपन्यासों की गई समीक्षा प्रस्तुत करते हैं। इसी लेख में मधुरेश की 'कथालोचना' की पुस्तक सिलसिला की समीक्षा भी प्रस्तुत की गई है।

श्याम कश्यप ने शिवकुमार मिश्र ('दर्शन, साहित्य और समाज' एवं 'प्रेमचंद : विरासत का सवाल') की आलोचना-कर्म का मूल्यांकन 'परम उदारतावाद से चरम संकीर्णतावाद तक की सैद्धांतिक यात्रा' शीर्षक समीक्षा में करते हैं। खगेंद्र ठाकुर नंदकिशोर नवल (हिंदी आलोचना का विकास) के आलोचना-कर्म का मूल्यांकन 'हिंदी आलोचना विकास की मंजिलें' समीक्षा में करते हैं। कमला प्रसाद 'केदारनाथ अग्रवाल : एक अंतरंग गद्यकर्म' शीर्षक समीक्षा में केदारनाथ अग्रवाल ('समय समय पर', 'विचार बोध', विवेक-विवेचन) के आलोचना-कर्म पर अपना मत प्रस्तुत करते हैं। अजय तिवारी मैनेजर पांडेय की पुस्तक 'शब्द और कर्म' की समीक्षा 'सैद्धांतिक शब्द' और व्यावहारिक 'कर्म' शीर्षक से करते हैं। चारुमित्र ने 'अंधेरे से अंधेरे में' शीर्षक समीक्षा में श्रीकांत वर्मा (बीसवीं शताब्दी के अंधेरे में) के आलोचना-कर्म का जायजा प्रस्तुत किया है। गीता शर्मा समकालीन कविता पर केंद्रित दो महत्वपूर्ण पुस्तकों समकालीन कविता का व्याकरण (परमानंद श्रीवास्तव), समकालीन हिंदी कविता (विश्वनाथ प्रसाद तिवारी) की समीक्षा 'सही परिप्रेक्ष्य का अभाव' शीर्षक से करती हैं, और समकालीन कविता पर दोनों लेखकों के परिप्रेक्ष्य के अभाव को

उल्लिखित करती हैं। कमलकिशोर गोयनका द्वारा संपादित 'प्रेमचंद विश्वकोश' की समीक्षा गोपाल करते हैं। वहीं ई. एम. एस. नंबूदिरिपाद की पुस्तक 'कला साहित्य और संस्कृति' की समीक्षा खगेंद्र ठाकुर ने की है। विजयमोहन सिंह 'विरोधाभासों की समृद्धि का स्तूप' शीर्षक से रमेशचंद्र शाह की पुस्तक (वागर्थ) की समीक्षा करते हैं। बच्चन सिंह मैनेजर पांडेय (साहित्य और इतिहास-दृष्टि) के साहित्य के इतिहास संबंधी दृष्टि का मूल्यांकन 'साहित्य की इतिहास दृष्टि और मार्क्सवादी दृष्टि' शीर्षक समीक्षा में करते हैं।

इस अंक से स्पष्ट है कि हिंदी आलोचना में प्रगतिशील आलोचना दृष्टि के लिए मार्ग प्रशस्त करने की कोशिश की गई है। कलावादी-रूपवादी समीक्षा एवं चिंतन की मानव विरोधी समाज विरोधी मान्यताओं को उद्घाटित करते हुए उसे हिंदी आलोचना के भावी विकास में किस प्रकार अनुपयोगी होगा इसे स्पष्ट किया गया है। 'आलोचना' में प्रकाशित प्रगतिशील आलोचकों की समीक्षा पुस्तकों और आज के हिंदी आलोचना के विकास को देखते हैं तो हिंदी आलोचना में उन्हीं समीक्षित पुस्तकों के रचनाकार और समीक्षकों की कहने की आवश्यकता नहीं कि हिंदी आलोचना का निरंतर विकास इन्हीं आलोचकों की आलोचनात्मक विवेक से होता चला जा रहा है।

उपन्यास अंक (नवांक : 64-65, जनवरी-जून., 1983.)

नवांक 64-65 में हिंदी उपन्यास की में से चुनी हुई उपन्यासों समकालीन औपन्यासिक कृतियों की समीक्षाएँ प्रकाशित हैं। 'आलोचना' का नवांक-64-65 'उपन्यास अंक' है किंतु छोटाराम कुम्हार 'आलोचना' पत्रिका के सर्वेक्षणात्मक अध्ययन पर आधारित अपने शोध-कार्य में इस अंक को 'समीक्षा अंक' के अंतर्गत रखते हैं।¹² 'उपन्यास अंक' को 'समीक्षा अंक' के अंतर्गत समेट लेने का कारण यह है कि इन दोनों अंकों में पुस्तक समीक्षाएँ ही प्रकाशित हैं जबकि उपन्यास और आलोचना कर्म का अलग-अलग उल्लेख करते हुए, भी वह औपन्यासिक कृतियों और आलोचनात्मक कृतियों की समीक्षा को एक समझ बैठे हैं। यदि दोनों एक ही होतीं तो 'समीक्षा अंक' में एक भी

‘उपन्यास’ की समीक्षा प्रकाशित की जानी चाहिए थी? जबकि वस्तुस्थिति यह है ‘समीक्षा अंक’ और ‘उपन्यास अंक’ ‘आलोचना’ पत्रिका के दो अलग-अलग स्वतंत्र विशेषांक हैं। वस्तुतः ‘आलोचना’ का नवांक-64-65 ‘उपन्यास अंक’ है।

इस अंक में हिंदी के समकालीन प्रमुख उपन्यासों की समीक्षाओं के माध्यम से समकालीन हिंदी उपन्यास के स्वरूप एवं ढाँचे की वस्तुस्थिति का परिचय प्राप्त किया जा सकता है।

इस अंक में मनोहरश्याम जोशी के ‘कसप’ उपन्यास पर एक साथ तीन समीक्षकों (विजयमोहन सिंह, बटरोही, वागीश शुक्ल) की समीक्षाएँ प्रकाशित हैं। अमृतलाल नागर के दो उपन्यास ‘नाच्यौं बहुत गोपाल’ पर श्याम कश्यप की समीक्षा तथा ‘खंजन नयन’ पर गोपाल की समीक्षा प्रकाशित है। परमानंद श्रीवास्तव ने गिरिराज किशोर की तीन औपन्यासिक कृतियों (‘इंद्र सुने’, ‘यथा प्रस्तावित’, तीसरी सत्ता) की समीक्षा की है, जो ‘मानवीय स्थिति से उलझाव भरा संपर्क’ शीर्षक से प्रकाशित है। भीष्म साहनी के उपन्यास ‘बसंती’ की समीक्षा खगेंद्र ठाकुर ने की है। अजय तिवारी ने मन्नू भंडारी की कृति ‘महाभोज’ की समीक्षा लिखी है। मार्कंडेय के उपन्यास ‘अग्निबीज’ पर ‘चारुमित्र’ की समीक्षा प्रकाशित है। गोविंद मिश्र की औपन्यासिक कृति ‘हुजूर दरबार’ की समीक्षा कुलानंद मिश्र ने की है। रवींद्र कालिया के उपन्यास ‘खुदा सही सलामत है’ की समीक्षा शैलेश्वर सती प्रसाद ने की है। यहाँ यह तथ्य अत्यंत महत्वपूर्ण है कि इन हिंदी उपन्यासों की नवीनतम औपन्यासिक कृतियों की समीक्षाओं के साथ ही प्रेमचंद के कथा साहित्य पर विजेंद्रनारायण सिंह का एक गंभीर शोधालेख ‘प्रेमचंद : सवर्ण से अवर्ण तक की यात्रा का समाजशास्त्र’ शीर्षक से प्रकाशित है। वस्तुतः यह आलेख प्रकाशित कर हिंदी उपन्यास को नए लेखकों की पीढ़ी से प्रेमचंद की कथा साहित्य की परंपरा को जोड़ने के प्रयास के रूप में भी देखा जा सकता है। इसके साथ ही विजयमोहन सिंह का एक आलेख ‘मुक्तिबोध की कहानियों’ पर ‘साँवली गहराइयों की कहानियाँ’ शीर्षक से प्रकाशित है।

इस अंक में गुजराती उपन्यासकार रघुवीर चौधरी की कथात्रयी 'उपरवास' 'सहवास', और 'अंतरवास' का मूल्यांकन महावीरसिंह चौहान द्वारा किया गया है। इसी अंक में कार्तिकचंद्र दत्त द्वारा बंगला भाषा के प्रसिद्ध उपन्यासकार बंकिमचंद्र चटर्जी के उपन्यास 'आनंदमठ' के शताब्दी वर्ष के अवसर पर उसके सांप्रदायिक के होने की आरोप की पड़ताल की गई है। कार्तिकचंद्र दत्त इस उपन्यास के विभिन्न संस्करणों के माध्यम से उस पर गहन और विस्तृत अध्ययन 'आनंदमठ और वंदेमातरम् : एक शताब्दी परिचर्चा शीर्षक से शोधालेख में करते हैं। इस अंक का संपादकीय 'उपन्यास और राजनीति' विषय पर केंद्रित है। अपने संपादकीय में 'आनंदमठ' को लेकर होनेवाली राजनीति का विरोध नामवर सिंह करते हैं, उपन्यास के विभिन्न संस्करणों के माध्यम से स्पष्ट करते हैं कि किस प्रकार इस उपन्यास का रूप विविध संस्करणों में बदलता गया है।

उपन्यास अंक को समग्रता में देखने से स्पष्ट होगा कि इसमें न केवल हिंदी उपन्यास का नवीनतम और समकालीन हिंदी उपन्यासों का स्वरूप का पता चलता है। बल्कि इसके माध्यम से 'भारतीय उपन्यास की अवधारणा' के परिप्रेक्ष्य में रखकर इसे देखने की कोशिश भी कही जा सकती है। वस्तुतः 'आलोचना' पत्रिका का 'उपन्यास अंक' हिंदी उपन्यास की नवीनतम प्रवृत्तियों के स्वरूप की खोज का प्रयास करता है।

मार्क्स अंक (नवांक- 70, जुलाई-सितं., 1984.)

'आलोचना' पत्रिका का नवांक- 70 कार्ल मार्क्स की मृत्यु की सौवी पुण्यतिथि पर आयोजित स्मृति अंक है। कार्ल मार्क्स के सिद्धांतों का कला और साहित्य चिंतन में उपयोग से कला-संस्कृति संबंधी अध्ययनों में क्या परिवर्तन हुए हैं इस अंक से गुजरते हुए इसका परिचय प्राप्त किया जा सकता है। इस अंक में वाल्टर बेन्यामिन के लेख का अनुवाद 'यांत्रिक पुनरुत्पादन के युग में कलाकृति' शीर्षक से प्रकाशित है। संस्कृति संबंधी मार्क्सवादी दृष्टिकोण क्या है। तथा उसका भारतीय परिप्रेक्ष्य क्या है? इसे गोविंद पुरुषोत्तम देशपांडे के लेख जो 'हमारी परंपरा और हमारी

शतखंड संस्कृति : एक मार्क्सवादी दृष्टिकोण' शीर्षक से अनूदित लेख के माध्यम से जाना जा सकता है। रमेशकुंतल मेघ अत्यंत गंभीर अध्ययन 'कार्लमार्क्स के पाँच बीज-शब्दों पर करते हुए देखे जा सकते हैं। जो इसी शीर्षक से 'कार्लमार्क्स के पाँच बीज शब्द' शीर्षक से प्रकाशित है।

शिवकुमार मिश्र का विद्वतापूर्ण आलेख 'मार्क्सवादी आलोचना की समस्याएँ : हिंदी आलोचना के संदर्भ में', के माध्यम से हिंदी की मार्क्सवादी आलोचना की प्रवृत्तियों तथा उसकी प्रकृति का परिचय प्राप्त किया जा सकता है। खगेंद्र ठाकुर भारतीय काव्यशास्त्र का मूल्यांकन मार्क्सवादी दृष्टि से करने का कार्य 'भारतीय काव्यशास्त्र और मार्क्सवाद' शीर्षक आलेख में करते हैं। इसी अंक में वीरभारत तलवार का शोधालेख 'हिंदी प्रदेश में साम्रज्यवादी चेतना का प्रसार' शीर्षक से प्रकाशित है। डॉ० रामविलास शर्मा का अत्यंत विद्वतापूर्ण शोधालेख 'विश्वसाम्राज्यविरोधी क्रांति और एशिया' भी इसी अंक में प्राप्त किया जा सकता है। गिरीश मिश्र द्वारा डॉ० रामविलास शर्मा के अत्यंत महत्त्वपूर्ण ग्रंथ 'भारत में अंग्रेजीराज और मार्क्सवाद' की अत्यंत विवादित समीक्षा भी इसी अंक में प्रकाशित है।

कार्लमार्क्स की सौवी पुण्यतिथि पर 'आलोचना' पत्रिका ने हिंदी के लेखकों, रचनाकारों और आलोचकों से 'मार्क्स और हिंदी के रचनाकार : एक सर्वेक्षण' की योजना बनाई थी। 'आलोचना' पत्रिका ने यह सर्वेक्षण इसी 'मार्क्स अंक' में प्रकाशन के लिए करवाया था। इस अंक के सह-संपादक नंदकिशोर नवल थे। इस योजना के विषय में नंदकिशोर नवल का वक्तव्य इस सर्वेक्षण के आरंभ में प्रकाशित हुआ है। इसके विषय में वह लिखते हैं कि "आलोचना" के प्रस्तुत विशेषांक के लिए, अपनी योजना के अनुसार हमने एक प्रश्नावली हिंदी के करीब साठ लेखकों के पास भेजी थी। लेखकों में, पुरानी और नई पीढ़ी के प्रतिष्ठित रचनाकार थे। उद्देश्य यह जानना कि उन्हें मार्क्स और मार्क्सवाद के बारे में, प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप से वस्तुतः क्या और कितना पढ़ा है। इसके अलावा यह भी कि मार्क्स ने उन्हें कैसे प्रभावित किया है और उनकी दृष्टि में आज वे

कितने प्रासंगिक हैं। प्रश्नावली का स्वरूप यह था :

1. आपने मार्क्स की कौन-सी पुस्तक/ पुस्तकें पढ़ी हैं?
2. मार्क्स ने आपको किस रूप में प्रभावित किया है?
3. आज मार्क्स आपको कितने प्रासंगिक लगते हैं?’¹³

ध्यातव्य है कि साठ लेखकों के पास भेजी गई इस प्रश्नावली का उत्तर मात्र ग्यारह लेखकों ने दिया है, जिसमें पुरानी, बीच की और नई पीढ़ी के कवि-कथाकार-नाटककार और आलोचक हैं। इनमें ‘केदारनाथ अग्रवाल’, ‘प्रभाकर माचवे’, ‘हरिनारायण व्यास’, ‘भीष्म साहनी’, ‘अमरकांत’, ‘अशोक वाजपेयी’, ‘परमानंद श्रीवास्तव’, ‘श्रीराम वर्मा’, ‘रमेश उपाध्याय’, ‘भगवत रावत’, अरुण कमल के वक्तव्य इस सर्वेक्षण के अंतर्गत प्रकाशित हैं। इन वक्तव्यों से “हमें इस बात की झलक मिल जाती है कि आधुनिक हिंदी साहित्य में मार्क्स के लेखन के अध्ययन, लेखकों पर उनके प्रभाव और उनके प्रति लेखकों के दृष्टिकोण की क्या स्थिति है?”¹⁴

इस प्रकार ‘आलोचना’ पत्रिका का ‘मार्क्स अंक’ अपनी सामग्री के चयन और उसके प्रस्तुतीकरण के संदर्भ में अत्यंत महत्त्वपूर्ण अंक बन गया है, वहीं इस अंक के सर्वेक्षण से स्पष्ट होता है कि मार्क्सवाद हिंदी साहित्य को किस रूप में प्रभावित करता रहा है।

आचार्य रामचंद्र शुक्ल विशेषांक-शुक्ल अंक (नवांक-73 अप्रैल-जून, 1985 और नवांक-74 जुलाई-सितं., 1985.)

हिंदी आलोचना के स्तंभ और शिखर आचार्य रामचंद्र शुक्ल के जन्मशताब्दी अवसर पर नामवर सिंह ने अपने संपादन में ‘आलोचना’ पत्रिका एक विशेषांक आयोजित किया। जो ‘आलोचना’ पत्रिका के दो अंकों नवांक-73 शुक्ल अंक-1 और नवांक-74 ‘शुक्ल अंक-02’ के रूप में प्रकाशित है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल की विद्वता एवं आलोचकीय प्रतिभा का प्रभामंडल कितना व्यापक है ‘आलोचना’ पत्रिका के इस अंक के माध्यम से इसका अनुमान लगाया जा सकता है।

आचार्य रामचंद्र शुक्ल ही वह पहले और अंतिम आलोचक हैं, जिन पर 'आलोचना' पत्रिका ने दो अंक संपादित किए। अन्यथा आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी और डॉ० रामविलास शर्मा पर केवल एक-एक अंक ही में पूरी सामग्री प्रकाशित कर दी गई है। 'आलोचना' पत्रिका की भी "प्रारंभ में आचार्य रामचंद्र शुक्ल पर एक ही अंक के प्रकाशन की योजना थी, किंतु बाद में प्रकाश्य सामग्री की अधिकता को ध्यान में रखकर दो अंकों के प्रकाशन का निश्चय किया गया।"¹⁵

इस अंक में आचार्य रामचंद्र शुक्ल की इतिहास-दृष्टि पर बच्चन सिंह का लेख 'आचार्य शुक्ल का 'इतिहास' पढ़ते हुए' शीर्षक से तथा जगदीश शर्मा 'आचार्य शुक्ल का साहित्य-चिंतन: विकास की दिशा' शीर्षकों से प्रकाशित हैं। विश्वभरनाथ उपाध्याय का 'भारतीय काव्यशास्त्र और आचार्य रामचंद्र शुक्ल' विषय पर केंद्रित है। 'लोक मंगल और आचार्य रामचंद्र शुक्ल' इस विषय पर दो-दो लेखकों ने विष्णुकांत शास्त्री और रघुवंश ने अलग-अलग विचार किया है। मैनेजर पांडेय ने इसी विषय पर 'कलावाद का खंडन और लोकमंगल की स्थापना' शीर्षक से विचार किया है। रमेशकुंतल मेघ का लेख 'कतिपय योरोपीय 'वादों' पर आचार्य शुक्ल का भारतीय आलोचन' शीर्षक से प्रकाशित है। शिवकुमार मिश्र 'भक्तिकाव्य और आचार्य शुक्ल' आलेख में उनकी भक्तिकाव्य संबंधी मान्यताओं पर प्रकाश डालते हैं। 'छायावाद और रहस्यवाद की आलोचना और यथार्थवाद के लिए संघर्ष' इस विषय पर भी दो-दो आलोचकों जिनमें नित्यानंद तिवारी और परमानंद श्रीवास्तव अपना मत प्रकट करते हुए देखे जा सकते हैं। रामस्वरूप चतुर्वेदी ने 'आचार्य शुक्ल की आलोचना-भाषा' शीर्षक से शुक्ल जी की 'आलोचना की भाषा' पर विचार किया है। इसी अंक में 'मलयज की डायरी' के आचार्य शुक्ल संबंधी अंश को भी प्रकाशित किया गया है। नामवर सिंह का अत्यंत प्रसिद्ध लेख 'महाजनो येन गतः' भी इसी अंक में प्रकाशित है। शुक्ल अंक-01 की अधिकांश सामग्री आचार्य रामचंद्र शुक्ल के साहित्यिक चिंतन पर केंद्रित है।

शुक्ल अंक-दो (नं०-74. जुलाई-सितं. 1985) "आचार्य रामचंद्र शुक्ल की जीवन-दृष्टि

और उनकी राजनीतिक विचारधारा पर केंद्रित है।”¹⁶ इस अंक में शुक्ल जी का अंग्रेजी में प्रकाशित निबंध ‘व्हाट हैज इंडिया टू डू?’ का हिंदी अनुवाद प्रकाशित किया गया है। इस लेख का हिंदी अनुवाद कराने और उसे पहली बार प्रकाशित करने का श्रेय भी ‘आलोचना’ पत्रिका को जाता है।¹⁷ आचार्य रामचंद्र शुक्ल राष्ट्रीय आंदोलन और राजनीति-समस्याओं पर क्या विचार रखते थे, इस विषय पर चार विद्वतापूर्ण शोधपरक आलेख प्रकाशित हैं, जिनमें वीरभारत तलवार ने ‘राष्ट्रीय आंदोलन और रामचंद्र शुक्ल’ शीर्षक लेख में अपने महत्वपूर्ण विचार प्रकट किए हैं। मुरलीमनोहर प्रसाद सिंह का लेख ‘राष्ट्रीय आंदोलन के सांस्कृतिक आयाम और आचार्य शुक्ल’ शीर्षक से तथा नंदकिशोर नवल का लेख ‘राजनीतिक आंदोलन और आचार्य शुक्ल’ शीर्षक से प्रकाशित हैं। कर्णसिंह चौहान का लेख ‘समकालीन राजनीतिक आंदोलन और आचार्य रामचंद्र शुक्ल’ भी इसी विषय पर केंद्रित है। शंभुनाथ का लेख ‘आचार्य शुक्ल द्वारा दार्शनिक विचारधाराओं की आलोचना’ शीर्षक से प्रकाशित है। नीलकांत ने ‘आचार्य शुक्ल की विश्वदृष्टि : कितनी प्रासंगिक’ शीर्षक लेख में अपने विचार प्रस्तुत किए हैं। वागीश शुक्ल द्वारा आचार्य शुक्ल की ‘धर्म, दर्शन और विज्ञान की समीक्षा तथा नया मानववाद’ लेख में तत्संबंधित मान्यताएँ प्रस्तुत की हैं। उनकी पड़ताल भी की गई है। खगेंद्र ठाकुर का लेख ‘आचार्य शुक्ल और रहस्यवाद’ शीर्षक से प्रकाशित है। ‘आचार्य शुक्ल की मानसिक बनावट भारतीयता के संदर्भ में’ शीर्षक लेख निर्मला जैन ने लिखा है। दिनेश्वर प्रसाद ‘लोक साहित्य और आचार्य शुक्ल’ शीर्षक लेख में शुक्ल जी की लोक साहित्य संबंधी मान्यताओं को प्रकाशित करते हैं। विजयमोहन सिंह का लेख ‘कलावाद का खंडन और लोक मंगल की स्थापना’ शीर्षक से प्रकाशित है। ध्यातव्य है कि इसी शीर्षक से शुक्ल अंक-01 में मैनेजर पांडेय ने भी अपने विचार प्रकट किए हैं।

वस्तुतः आचार्य रामचंद्र शुक्ल जैसे हिंदी आलोचना के स्तंभ पर ‘आलोचना’ पत्रिका ने जितनी गंभीर और शोधपूर्ण सामग्री का प्रकाशन किया है, वह अन्यत्र दुर्लभ है। नामवर सिंह द्वारा

संपादित 'आलोचना' पत्रिका के अन्य अंकों के समान यह अंक भी 'ऐतिहासिक दस्तावेज़' है। शोध की दृष्टि से इसका महत्त्व और भी ज़्यादा है। इस अंक की सामग्री जिसमें शुक्लजी की साहित्यिक व समकालीन राष्ट्रीय आंदोलन एवं विचारधारा संबंधी मान्यताओं को एक साथ देखा जा सकता है।

प्रगतिशील लेखक संघ : अर्द्धशती पर विशेष अंक (नवांक-77, अप्रैल-जून, 1986.)

प्रगतिशील लेखक संघ के पचास वर्ष पूरे होने पर, उसका महत्त्व जानने एवं उसकी हिंदी साहित्य के विकास में भूमिका का मूल्यांकन करने के लिए नामवर सिंह ने 'आलोचना' पत्रिका का एक अंक इस पर आयोजित किया। इस अंक की सामग्री को जिस प्रकार से प्रस्तुत किया गया है, उससे प्रगतिशील लेखक संघ का पूरा इतिहास और उसके अखिल भारतीय रूप को आसानी से समझा जा सकता है। इस अंक का पहला लेख सज्जाद ज़हीर जो कि प्रगतिशील लेखक संघ के संस्थापक सदस्यों में से थे, उनकी पुस्तक 'रौशनार्ई' का एक अंश 'प्रगतिशील लेखक संघ की पहली कांफ्रेंस' शीर्षक से प्रकाशित है। राल्फ रसेल के शोधपूर्ण आलेख का हिंदी अनुवाद 'अखिल भारतीय प्रगतिशील साहित्य आंदोलन' शीर्षक से किया गया है। इस लेख के माध्यम से यह स्पष्ट हो सकेगा कि एक विदेशी विद्वान इस आंदोलन को किस रूप में ग्रहण कर रहा है। अखिल भारतीय प्रगतिशील लेखक संघ-लंदन (1935ई.) की और 1936 में लखनऊ में हुए 'प्रगतिशील लेखक संघ के प्रथम अधिवेशन घोषणा-पत्रों को जो कि मूलतः अंग्रेज़ी में थे उन्हें ज्यों का त्यों मूल रूप में प्रकाशित किया गया। 'परिशिष्ट रूप में' 1936 ई. में इंग्लैंड की राजनीति-सामाजिक स्थिति और उसका अंतर्राष्ट्रीय संबंध क्या था इसे 'इंग्लैंड- 1936' शीर्षक लेख के अनुवाद से जाना जा सकता है। सैमुअल हाइंस द्वारा यह लेख लिखा गया है। नत्थन सिंह 'प्रगतिशील लेखक संघ के पचास वर्ष' शीर्षक लेख में प्र. ले. सं. का इतिहास प्रस्तुत करते हैं।

इस अंक में 'कृष्णनारायण कक्कड़', 'रमेश सिन्हा', 'कातिचंद्र सोनरिक्ता', 'त्रिलोचन

शास्त्री' जैसे रचनाकार, कलाकर्मी, आंदोलनकर्ताओं से प्रगतिशील लेखक संघ की देश भर में विभिन्न शाखाओं में चलनेवाली गतिविधियों पर और उसके सांस्कृतिक महत्त्व पर साक्षात्कार प्रकाशित किया गया है। इस अंक की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि शिवदानसिंह चौहान का प्रगतिशील आंदोलन के संदर्भ में लिया गया वक्तव्य है; जिसको पुरुषोत्तम अग्रवाल ने 'सिंहावलोकन' शीर्षक से प्रस्तुत किया है। इसी अंक में पुरुषोत्तम अग्रवाल का ही अत्यंत चर्चित लेख 'प्रगतिशील आलोचना : बीच बहस में' प्रकाशित है, जो शिवदान सिंह चौहान और डॉ० रामविलास शर्मा के विवाद का शोधपूर्ण आकलन उपलब्ध कराता है। इस लेख एवं वक्तव्य के माध्यम से शिवदान सिंह चौहान का पक्ष हिंदी आलोचना जगत के सामने बहुत देर से मगर ऐतिहासिक रूप से सामने आया। शिवदान सिंह चौहान की प्रगतिशील आंदोलन में अत्यंत महत्त्वपूर्ण भूमिका का उद्घाटन कराने में इस अंक का अविस्मरणीय योगदान है।

इसके अतिरिक्त, इस अंक में खगेंद्र ठाकुर 'प्रगतिशील आंदोलन का परिप्रेक्ष्य' शीर्षक से संपूर्ण प्रगतिशील आंदोलन का आकलन प्रस्तुत करते हैं। परमानंद श्रीवास्तव का 'भारतीय साहित्य में प्रगतिशीलता की अवधारणा' शीर्षक से विचारयुक्त आलेख प्रकाशित हुआ है। मैनेजर पांडेय ने प्रगतिशील लेखक संघ के इतिहास पर लिखे गए इतिहासों का समीक्षात्मक अध्ययन 'प्रगतिवाद का इतिहास या कोई इतिहास कैसे न लिखें' शीर्षक आलेख में करते हैं। नामवर सिंह द्वारा 'साहित्य में प्रगतिशील आंदोलन की ऐतिहासिक भूमिका' शीर्षक लेख में डॉ० रामविलास शर्मा की प्रगतिशील आंदोलन में क्या भूमिका रही है, इस पर प्रकाश डाला गया है।

इस प्रकार अखिल भारतीय प्रगतिशील लेखक संघ के पचास वर्ष पूरा होना, अपने आप में एक अत्यंत गौरवपूर्ण उपलब्धि थी। इस गौरवपूर्ण उपलब्धि का आकलन करने का कार्य 'आलोचना' पत्रिका ने अपने विशेषांक के माध्यम से किया। आलोचना पत्रिका का यह अंक प्रगतिशील लेखक संघ के ऐतिहासिक महत्त्व की दृष्टि से आत्यंतिक महत्त्व रखता है।

भारतेंदु हरिश्चंद्र और मैथिलीशरण गुप्त पर संयुक्त रूप से आयोजित विशेषांक (नवांक-79, अक्टू. - दिसं., 1986.)

‘आलोचना’ पत्रिका का नवांक-79 (अक्टू-दिसं. 1986 ई.) भारतेंदु हरिश्चंद्र की सौवीं पुण्यतिथि और मैथिलीशरण गुप्त की जन्मशती पर आयोजित संयुक्तांक है। इन दोनों रचनाकारों पर आयोजित संयुक्तांक का पूरा परिप्रेक्ष्य ‘हिंदी नवजागरण की संकल्पना’ पर केंद्रित है। इस अंक को हिंदी नवजागरण पर केंद्रित विशेषांक भी कहा जा सकता है। किंतु छोटाराम कुम्हार अपने शोधकार्य ‘आलोचना’ पत्रिका का सर्वेक्षण और मूल्यांकन’ में इस अंक की विशेषांक के रूप में चर्चातक नहीं करते हैं। जबकि ‘आलोचना’ पत्रिका के विशेषांकों में यह सर्वाधिक चर्चित और विवादित अंक रहा है। इसकी चर्चा का कारण इस अंक में प्रकाशित संपादकीय और कुछ लेखों के निष्कर्ष थे। ‘आलोचना’ का यह संयुक्तांक ही वह अंक है जिसका संपादकीय ‘हिंदी नवजागरण की समस्याएँ’ लिखते हुए नामवर सिंह डॉ० रामविलास शर्मा की नवजागरण संबंधी कई मान्यताओं का खंडन करते हैं। नामवर सिंह की हिंदी नवजागरण मान्यताएँ क्या हैं, इसी संपादकीय में हम देख सकते हैं। इस अंक की सामग्री जो कि भारतेंदु हरिश्चंद्र और मैथिलीशरण गुप्त पर प्रस्तुत की गई है, और इस अंक का संपादकीय- जो कि हिंदी नवजागरण पर केंद्रित है स्पष्ट करता है कि इन दोनों रचनाकारों का मूल्यांकन किस परिप्रेक्ष्य में होना चाहिए। और आश्चर्य नहीं कि इस अंक की प्रस्तुत सामग्री का परिप्रेक्ष्य हिंदी नवजागरण की संकल्पना ही है, इसीलिए ऊपर कहा गया है कि यह अंक ‘हिंदी नवजागरण पर केंद्रित अंक’ है।

इस अंक में विजयशंकर मल्ल का लेख भारतेंदुयुगीन गद्य के स्वरूप पर आधारित है और उन्होंने उसका अध्ययन ‘हिंदी नई चाल में ढली : हंसमुख गद्य का विकास’ शीर्षक लेख में प्रस्तुत किया है। बच्चन सिंह का लेख ‘भारतेंदु हरिश्चंद्र : व्यक्तित्व के अंतर्विरोध’ शीर्षक लेख में भारतेंदु हरिश्चंद्र का मूल्यांकन उनको समग्रता में रखकर करते हैं। उनके अंतर्विरोधों के रहते हुए भी उनका

व्यक्तित्व किस प्रकार अपना स्वरूप ग्रहण करता है इसे रेखांकित करते हैं। यही कार्य शिवकुमार मिश्र 'राष्ट्रीय नवजागरण और भारतेन्दु' शीर्षक लेख में करते हैं। खगेंद्र ठाकुर भी भारतेन्दु हरिश्चंद्र का मूल्यांकन 'राष्ट्रीय जागरण और भारतेन्दु' शीर्षक लेख में करते हैं। रमेशकुंतल मेघ का लेख 'भारतेन्दु हरिश्चंद्र और कुछ उपनिवेशीय सवाल' नवजागरण संबंधी अध्ययन में विशेष रूप से उल्लेखनीय है। भारतेन्दु हरिश्चंद्र के नाट्य साहित्य और रंगदृष्टि का मूल्यांकन तीन अलग-अलग लेखों में 'हिंदी के आदि भरत भारतेन्दु हरिश्चंद्र (विश्वभरनाथ उपध्याय)', 'भारत भाई' और भारतेन्दु की रंगदृष्टि (सत्येंद्र कुमार तनेजा)', भारतमाता/ भारत जननी (श्रीनारायण पांडेय)', किया गया है। महेंद्रनाथ दुबे ने 'भारतेन्दु की भाषा चेतना' को स्पष्ट करने का कार्य किया है। रघुवंश भारतेन्दु हरिश्चंद्र और मैथिलीशरण गुप्त : मूल्यांकन का परिप्रेक्ष्य' शीर्षक लेख में दोनों रचनाकारों का तुलनात्मक अध्ययन करते हुए उनके महत्त्व को स्थापित करते हैं।

मैथिलीशरण गुप्त का हिंदी कविता के विकास में क्या योगदान है, इसे त्रिलोचन 'आधुनिक हिंदी कविता और मैथिलीशरण गुप्त का काव्य' शीर्षक लेख में स्पष्ट करते हैं। कमला प्रसाद 'मैथिलीशरण गुप्त का आत्मसंघर्ष और कविता' शीर्षक निबंध में गुप्त जी के संघर्षों को स्पष्ट करते हैं। अंबादत्त पांडे का लेख 'राष्ट्रीय भावना और गुप्त काव्य' शीर्षक से प्रकाशित है। विष्णुकांत शास्त्री 'माइकेल काव्य के अनुवादक गुप्तजी' शीर्षक के बहाने गुप्तजी के अनुवादक रूप पर प्रकाश डालते हैं। इस अंक के मैथिलीशरण गुप्त पर प्रकाशित सामग्री में पुरुषोत्तम अग्रवाल के द्वारा लिखित 'राष्ट्रकवि' की राष्ट्रीय चेतना एक उल्लेखनीय लेख है। रमेशचंद्र शाह ने गुप्तजी पर 'भारत भारती के बहाने' विचार किया है। इसी अंक में नामवर सिंह का अत्यंत महत्त्वपूर्ण लेख 'मैथिलीशरण गुप्त और आधुनिक हिंदी काव्य-भाषा का विकास।' शीर्षक से प्रकाशित है।

उपर्युक्त लेखों के विवरण एवं मूल्यांकन के संदर्भ से स्पष्ट है कि 'आलोचना' पत्रिका के इस अंक में भारतेन्दु हरिश्चंद्र और गुप्तजी के मूल्यांकन का परिप्रेक्ष्य हिंदी नवजागरण की संकल्पना

ही है। इसके अतिरिक्त, इस अंक के माध्यम से परंपरा के मूल्यांकन के संदर्भ में 'आलोचना' पत्रिका की दृष्टि क्या रही है। इसे भी स्पष्टतः देखा जा सकता है।

त्रिलोचन अंक (नवांक-82, जुलाई-सित., 1987.)

'आलोचना' पत्रिका का नवांक-82 (जुलाई-सित. 1987) त्रिलोचन शास्त्री की सत्तरवीं वर्षगाँठ के अवसर पर आयोजित विशेषांक है। नामवर सिंह का अत्यंत प्रसिद्ध लेख 'एक नया काव्यशास्त्र त्रिलोचन के लिए' इसी अंक में संपादकीय के रूप में प्रकाशित हुआ है। त्रिलोचन से केदारनाथ सिंह की एक विस्तृत वार्ता भी इस अंक की महत्वपूर्ण उपलब्धि है।

त्रिलोचन की सात कविताएँ और उनकी डायरी का पृष्ठ भी इस अंक में प्रकाशित है। मैनेजर पांडेय ने त्रिलोचन और उनकी कविता का मूल्यांकन 'जीवन की लय में मुक्ति की राग' शीर्षक लेख में किया है। परमानंद श्रीवास्तव के लेख 'शब्दों में जीवन' को अत्यंत ही महत्वपूर्ण लेख के रूप में देखा जा सकता है। स्वप्निल श्रीवास्तव ने त्रिलोचन के दो काव्य संग्रहों 'फूल नाम है एक', और 'चैती' का समीक्षात्मक आकलन करते हुए उनकी कविता का मूल्यांकन करने का कार्य करते हैं। यदि ध्यान दिया जाए तो 'आलोचना' के नागार्जुन विशेषांक में 'त्रिलोचन' पर भी एक लेख प्रकाशित किया गया था, और 'त्रिलोचन अंक' में नागार्जुन पर विश्वनाथ त्रिपाठी का एक लेख 'जन-कवि होने का अर्थ' शीर्षक से प्रकाशित है। त्रिलोचन और नागार्जुन को लेकर हिंदी कविता में 'देशज आधुनिकता' के स्वरूप को विशेष रूप से रेखांकित किया गया है। यदि इस संदर्भ में 'आलोचना' का नवांक-83 के संपादकीय को जोड़कर देखें जो कि 'कविता की दूसरी परंपरा' शीर्षक से प्रकाशित है तो त्रिलोचन और नागार्जुन का समवेत रूप स्पष्ट होकर आता है। नवांक-83 में भी 'त्रिलोचन' पर अरुण कमल का एक लेख 'त्रिलोचन का जनपद : एक नक्शा' शीर्षक से प्रकाशित है।

यदि ध्यान दिया जाए तो 'नागार्जुन' और 'त्रिलोचन' पर विशेषांक निकालने का प्रयोजन-उनकी

कविताओं में निहित प्रगतिशील चिंतन की नवीन चेतना और 'देसी', ठेठ भारतीयता का बोध जो कि आधुनिकतावादी चमक-दमक और आधुनिकतावादी चिंतन के बरक्स तो खड़ी ही है, साथ ही कविता की उस लोकधर्मी परंपराओं से जुड़ी हुई है जिसे नामवर सिंह 'कविता की दूसरी परंपरा' कहते हैं। 'त्रिलोचन' पर विशेषांक आयोजित कर नामवर सिंह उन्हें हिंदी कविता की लोकधर्मी परंपरा के विकास का मार्ग प्रशस्त करते हैं। इसके अतिरिक्त समकालीन कवियों का उनसे जुड़ाव उनके लिए 'प्रेरणा-पुरुष' के रूप में उनके महत्त्व को रेखांकित करना है।

निर्मल वर्मा विशेषांक (नवांक- 90, जुलाई-सितं., 1989.)

नामवर सिंह कथाकार निर्मल वर्मा की षष्ठिपूर्ति पर 'आलोचना' पत्रिका का एक विशेषांक आयोजित करते हैं। निर्मल वर्मा आधुनिकतावादी चिंतक और कलावादी रचनाकार के रूप में विख्यात हैं।¹⁸ यहाँ आश्चर्य तब होता है जब हम एक तरफ 'नागार्जुन' और 'त्रिलोचन' पर केंद्रित विशेषांकों की आधुनिकतावादी चिंतन के विरुद्ध देशज आधुनिकता के महत्त्व का स्थापना की बात करते हुए देखते हैं; और दूसरी तरफ अस्तित्ववादी-कलावादी, आधुनिकतावादी चिंतक निर्मल वर्मा पर विशेषांक का आयोजन करते हुए देखते हैं। किंतु जब निर्मल वर्मा पर केंद्रित इस अंक के संपादकीय 'एक सौंदर्योपासक संत की षष्ठिपूर्ति पर एक संवाद' देखते हैं, तो इस विशेष आयोजन का महत्त्व स्पष्ट होता है। वस्तुतः यह अंक निर्मल वर्मा के बहाने कलावादी-आधुनिकतावादी चिंतन का खंडन करता है। किंतु निर्मल वर्मा के साहित्य के तमाम अनछुए पहलुओं का भी उद्घाटन करता है। जिससे हिंदी साहित्य में उसका स्थायी महत्त्व बरकरार रहेगा, क्योंकि इस अंक में उनके कलावादी चिंतन का खंडन किया गया है, वहीं उनके साहित्यिक महत्त्व के उद्घाटन का प्रयास भी है। अर्थात् वस्तुनिष्ठता का प्रकाश यहाँ फैला हुआ है।

इस अंक में स्वयं निर्मल वर्मा का एक लेख 'साहित्यिक कृति का सत्य' शीर्षक से प्रकाशित है। कुँवर नारायण निर्मल वर्मा के गद्य का अध्ययन 'खरगोश के रोएँ जैसे गद्य को सहलाते हुए'

शीर्षक आलेख में करते हैं। रवींद्र वर्मा ने निर्मल वर्मा की कहानियों की ज़मीन का मूल्यांकन 'अपनी ज़मीन सारी ज़मीन' शीर्षक लेख में प्रस्तुत किया है। राजेंद्र यादव का लेख 'धूप के एक टुकड़े की तलाश' भी अत्यंत महत्त्वपूर्ण लेख है। मधुरेश 'कहानीकार निर्मल वर्मा' का अध्ययन करते देखे जा सकते हैं। वीरभारत तलवार का अत्यंत व्यवस्थित और विस्तृत शोधालेख 'निर्मल वर्मा की कहानियों का सौंदर्यशास्त्र और समाजशास्त्र' शीर्षक से प्रकाशित है। इस लेख में निर्मल वर्मा की कहानियों का सौंदर्यशास्त्र और समाज का अत्यंत व्यवस्थित अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। नाग बोडस 'ढलान से उतरते हुए' के बहाने निर्मल वर्मा के चिंतन का उद्घाटन 'समय की गंदगी के बीच' शीर्षक आलेख में करते हैं। इस अंक में निर्मल वर्मा पर रामकुमार कृषक की एक कविता 'एक चिथड़ा सुख' शीर्षक से प्रकाशित है। इस कविता का शीर्षक स्वयं निर्मल वर्मा की एक कृति के शीर्षक की पैरोडी है।

रस-सिद्धांत पर विशेष सामग्री युक्त अंक (नवांक-92, जन.-मार्च, 1990.)

'आलोचना' का यह अंक (नवांक-92 जनवरी-मार्च- 1990) रस-सिद्धांत पर विशेष सामग्री युक्त अंक है। नामवर सिंह ने 'आलोचना' पत्रिका के माध्यम से रस सिद्धांत का नवीन संदर्भों में उपयोग, सैद्धांतिक विवेचन, आधुनिक साहित्य-चिंतन में उपयोगिता और आधुनिक संदर्भों में उसकी नवीनता को लेकर मराठी में चलनेवाले अध्ययन का हिंदी अनुवाद को इस अंक में संकलित करने का कार्य करते हैं। यह अंक 'प्राचीन भारतीय साहित्य मीमांसा' को युगांतरकारी मोड़ देने वाले मराठी विद्वान श्री दि. के. बेडेकर की स्मृति को समर्पित है। इस अंक में अशोक रा. केलकर के महत्त्वपूर्ण अध्ययन का हिंदी अनुवाद 'प्राचीन भारतीय साहित्य मीमांसा : एक आकलन' शीर्षक से प्रकाशित है। इसका अनुवाद ह. श्री. साने ने किया है। इस अंक में दि. के. बेडेकर के विस्तृत लेख मराठी भाषा से हिंदी अनुवाद करवाकर 'रस सिद्धांत का स्वरूप' शीर्षक से प्रकाशित किया गया है। इस विस्तृत लेख का अनुवाद प्रभाकर माचवे ने प्रस्तुत किया है। इसी अंक में नामवर सिंह का

विद्वतापूर्ण संपादकीय 'रस : जस का तस या बस' शीर्षक से प्रकाशित हुआ है।

वस्तुतः 'आलोचन' पत्रिका का यह अंक भारतीय साहित्य मीमांसा की न सिर्फ व्याख्या करता है बल्कि उसकी आधुनिक एवं नवीन संदर्भों में क्या भूमिका हो सकती है, इसका आकलन भी प्रस्तुत करता है। 'आलोचना' पत्रिका के इस अंक का उल्लेख 'परंपरा के मूल्यांकन' के संदर्भ में भी किया जाना चाहिए।

5.2 'आलोचना' पत्रिका के महत्त्वपूर्ण आयोजन

इस उपशीर्षक के अंतर्गत हमें यह देखना है कि 'आलोचना' पत्रिका के विशेषांकों के अतिरिक्त किन रचनाकारों-आलोचकों पर विशेष सामग्री अथवा 'स्मृति अंक' आदि जैसे विशेष आयोजन किए गए हैं। इसके साथ यह भी देखना महत्त्वपूर्ण होगा कि नामवर सिंह ने 'आलोचना' पत्रिका में किन विषयों पर 'संवाद' और 'विशेष सामग्री' का प्रकाशन किया है, जिससे उनके द्वारा संपादित 'आलोचना' पत्रिका का एक पूरा परिप्रेक्ष्य उभरकर आ सकेगा।

5.2.1 स्मृति-अंक और रचनाकारों-आलोचकों पर विशेष आयोजन

'आलोचना' पत्रिका का संपादन करते हुए नामवर सिंह ने कुछ रचनाकारों-आलोचकों पर स्मृति अंक अथवा उन पर 'विशेष सामग्री' का प्रकाशन किया। इसका उल्लेख निम्नवत है।

सुमित्रानंदन पंत स्मृति-अंक

नामवर सिंह ने सुमित्रानंदन पंत की मृत्यु पर 'आलोचना' पत्रिका का नवांक-43 (अक्टू-दिसं., 1977) को सुमित्रानंदन पंत स्मृति अंक के रूप में आयोजित कर अपनी श्रद्धांजलि अर्पित की। इस अंक में आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी का संस्मरणात्मक लेख 'नई चेतना का महान गायक चला गया! प्रकाशित हैं। केदारनाथ सिंह अपने 'पंतजी की परवर्ती कविताएँ' शीर्षक आलेख में उनकी बाद की रचनाओं का मूल्यांकन करते हैं। इस अंक में पंतजी की दो अप्रकाशित कविताएँ भी उपलब्ध हैं। पंतजी के उपन्यास 'देखता जो हूँ' के एक अंश को प्रकाशित किया गया है। इस

स्मृति अंक में नामवर सिंह ने पंतजी द्वारा संपादित 'रूपाभ' पत्रिका का आकलन प्रस्तुत किया गया है, जिसमें उन्होंने 'रूपाभ' के हिंदी साहित्य के विकास में महत्वपूर्ण योगदान को रेखांकित करने का कार्य किया है।

पंतजी पर स्मृति अंक प्रकाशित कर 'आलोचना' पत्रिका ने छायावाद के अप्रतिम कवि के प्रति अपनी विनम्र श्रद्धांजलि अर्पित करने का कार्य किया।

श्रीकांत वर्मा स्मृति-अंक

नामवर सिंह ने श्रीकांत वर्मा को श्रद्धांजलि देने का कार्य 'आलोचना' पत्रिका का स्मृति अंक अयोजित करते हुए किया है। 'आलोचना' पत्रिका का नवांक-78 में श्रीकांत वर्मा स्मृति-अंक (जुलाई-सितं. 1986) है। इस अंक में श्रीकांत वर्मा की चार कविताओं और डायरी के कुछ अंशों को प्रकाशित किया गया है। कुछ पत्रों का प्रकाशन 'कुछ पुराने पत्र' शीर्षक से किया गया है। वीणा वर्मा का संस्मरण 'मौत ने मुझे मृत्यु के हवाले कर दिया है'. शीर्षक से इस अंक में उपलब्ध है। इस अंक में केदारनाथ सिंह का एक लेख 'दीवार पर खड़िया से लिखा एक नाम : श्रीकांत वर्मा' में श्रीकांत वर्मा के काव्य-रचना-संसार का मूल्यांकन है। अरुणकमल का लेख 'ग. म. ध : मगध के तीन स्वर' शीर्षक से प्रकाशित है।

श्रीकांत वर्मा पर स्मृति अंक संपादित कर साठोत्तरी कविता और उसके बाद की कविताओं में मूल्यवान जोड़ने वाले लेखों का प्रकाशन कवि-प्रतिभा के महत्त्व की भूमिका को ही रेखांकित करना है।

पाश को समर्पित अंक

पंजाबी भाषा के विद्रोही और क्रांतिकारी कवि 'पाश' की हत्या कर दिए जाने पर नामवर सिंह 'आलोचना' का नवांक-85 (अप्रैल-जून 1988 ई.) कवि पाश की स्मृति में प्रस्तुत करते हैं। इस अंक में 'पाश' की 'सात कविताओं' का अनुवाद प्रकाशित है। हरभजन सोही द्वारा पाश पर लिखी

गई कविता प्रकाशित है। कवि पाश से जुड़ी हुई कुछ बातों को चमनलाल ने संस्मरण के रूप में लिपिबद्ध किया है जो 'पाश : कुछ संस्मरण' शीर्षक से इस अंक में प्रकाशित है।

गोरखनाथ पांडेय स्मृति-अंक

'आलोचना' पत्रिका का नवांक-89 (अप्रैल-जून 1989 ई.) गोरखनाथ पांडेय स्मृति-अंक के रूप में प्रकाशित है। गोरखनाथ पांडेय की आत्महत्या पर समूचा हिंदी साहित्य जगत स्तब्ध था। 'आलोचना' का एक अंक नामवर जी ने 'गोरखनाथ की स्मृति' पर आयोजित कर, गोरखनाथ पांडेय के प्रति श्रद्धांजलि अर्पित की। इस अंक में गोरख पांडेय की कविता 'स्वर्ग से विदाई' का प्रकाशन किया गया है। गोरखनाथ पांडेय का 'धर्म : जनता की अफीम' शीर्षक लेख भी इस अंक में प्रकाशित है। इस अंक में चमनलाल का एक संस्मरण 'गोरखपांडेय : यादों के आइने में' प्रकाशित है। और दूसरा संस्मरण बलराज पांडेय द्वारा लिखा गया है जो 'गोरखनाथ पांडेय : बनारस के वे दिन' शीर्षक से इसी अंक में उपलब्ध है।

'आलोचना' का एक अंक नामवर सिंह ने लूसिएँ गोल्डमान की स्मृति को समर्पित किया है। नवांक-20 (जनवरी-मार्च, 1972 ई.) का संपादकीय भी उन्होंने 'लूसिएँ गोल्डमान' शीर्षक से लिखा है। तथा इसी अंक में लूसिएँ गोल्डमान के एक लेख का अनुवाद 'साहित्य का समाजशास्त्र : इतिहास, वर्तमान स्थिति और पद्धतिमूलक समस्याएँ' शीर्षक से प्रकाशित है।

'आलोचना' पत्रिका के नवांक-30 में तुलसीदास पर विशेष सामग्री प्रकाशित है। इस अंक में तुलसीदास पर तीन लेख प्रकाशित किए गए हैं। रमेशकुंतल मेघ का 'तुलसी की 'कवितावली': सामाजिक इतिहास लेखन का एक प्रामाणिक काव्य-दस्तावेज़' शीर्षक शोधलेख प्रकाशित है। सावित्री चंद्र शोभा 'तुलसी साहित्य में सामाजिक परिवेश : एक मूल्यांकन' शीर्षक से अपना अध्ययन प्रस्तुत करती है। 'परेश' का लेख 'मानस-प्रसंग' शीर्षक से इस अंक में उपलब्ध है।

नवांक-44 में सूरदास पर दो आलेख विशेष रूप से प्रकाशित किए गए हैं। एक लेख 'सूर

काव्य : प्रेरणा और स्रोत' आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के व्याख्यान का लिखित रूप है तथा दूसरा लेख-रमेश कुंतल मेघ का सूरः कौन से? और किसके?? शीर्षक से प्रकाशित है।

5.2.2 'संवाद' अथवा किसी विषय पर विशेष सामग्री

चुनाव के बाद का भारत : नामवर सिंह संपादित 'आलोचना' पत्रिका का नवांक-1 (अप्रैल-जून, 1967) में 'चुनाव के बाद का भारत' शीर्षक से एक 'संवाद' का आयोजन किया गया था। इस 'संवाद' में रामविलास शर्मा, रमेश कुंतल मेघ, शिवप्रसाद सिंह, विद्यानिवास मिश्र, राजकमल चौधरी, विष्णुप्रभाकर, भगवतीचरण वर्मा, अमृतलाल नागर, मन्मथनाथ गुप्त, राजेंद्र अवस्थी, ओमप्रकाश दीपक, आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी की सक्रिय सहभागिता रही। इस 'संवाद' के सभी वक्तव्य इस अंक में प्रकाशित हैं।

आलोचना की भाषा

नामवर सिंह ने 'आलोचना' पत्रिका के नवांक-02 (जुलाई-सितं., 1967 ई.) में 'आलोचना की भाषा' पर एक 'संवाद' का आयोजन कराया था। जिसमें 'रामस्वरूप चतुर्वेदी', 'कृष्ण नारायण कक्कड़', 'यशदेव शल्य', 'सुरेंद्र बारलिंगे', 'सुरेश अवस्थी', 'अशोक वाजपेयी' के वक्तव्य प्रकाशित हुए हैं।

रोमांटिक बनाम आधुनिक

'आलोचना' पत्रिका के नवांक-03 (अक्टू-दिसं., 1967 ई.) में 'रोमांटिक बनाम आधुनिक' विषय पर एक 'संवाद' का आयोजन किया गया है। इस संवाद में 'रामविलास शर्मा, मुद्राराक्षस, श्रीकांत वर्मा, प्रेमप्रकाश डोभाल, भारतभूषण अग्रवाल, अजित कुमार, मुरलीमनोहर प्रसाद सिंह, नरेश सक्सेना, शमशेरबहादुर सिंह, गिरिजाकुमार माथुर, नामवर सिंह की भागीदारी रही। इसका विषय-प्रवर्तन रामविलास शर्मा ने किया, तथा 'संवाद' में उठाए गए प्रश्नों का प्रतिउत्तर भी उन्होंने दिया। इसी अंक में इस विषय से जुड़ी 'पूरक सामग्री' के रूप में 'रोमांटिसिज़्म, समकालीन

कविता और समाजवाद'संवाद में 'ग्रेब्रिएल पियर्सन, डेविड क्रेग, और स्टेनली मिचेल' की मान्यताओं का हिंदी अनुवाद प्रकाशित है।

युवा लेखन पर बहस

'आलोचना' के नवांक-04 (जनवरी-मार्च, 1968) में 'युवा लेखन पर बहस' शीर्षक से एक संवाद का आयोजन किया गया है। 'बहस का प्रारूप' नामवर सिंह ने प्रस्तुत किया। इस पर सुरेंद्र चौधरी, विजयमोहन सिंह, केदारनाथ सिंह, जगदीश चतुर्वेदी और पूरनचंद्र जोशी ने अपने वक्तव्य प्रस्तुत किए।

कविता और राजनीति

गजानन माधव मुक्तिबोध की इक्यावनवीं जन्मतिथि पर 'आलोचना' पत्रिका ने नवांक-06 (जुलाई-सितं., 1968 ई.) में 'कविता और राजनीति' विषय पर 'संवाद' का आयोजन किया। इसमें अशोक वाजपेयी, श्रीकांत वर्मा, नेमिचंद्र जैन, रघुवीर सहाय, कृष्णनारायण कक्कड़, अज्ञेय ने अपने वक्तव्य दिए। इसके अतिरिक्त 'पूरक सामग्री' के रूप में पीटर वाइस के द्वारा लेखकों के लिए बताए गए 'दस आवश्यक निर्णय' भी प्रकाशित हैं। साथ ही रघुवीर सहाय का पूरक वक्तव्य 'तानाशाही के विरुद्ध : एक वक्तव्य' शीर्षक से उपलब्ध है।

विश्वविद्यालय और साहित्य-शिक्षा

'आलोचना' पत्रिका ने नवांक-11 (अक्टू-दिसं., 1969 ई.) में 'विश्वविद्यालय और साहित्य-शिक्षा' विषय पर एक संवाद का आयोजन किया। नामवर सिंह ने इस विषय पर संपादकीय लिखकर अपना मत प्रकट किया। और रामस्वरूप चतुर्वेदी, देवेंद्रनाथ शर्मा, विश्वनाथ त्रिपाठी, परमानंद श्रीवास्तव, रमेशकुंतल मेघ ने अपना मत प्रकट किया।

'साहित्य के समाजशास्त्र' पर विशेष आयोजन

'आलोचना' के नवांक-25 (अप्रैल-जून, 1973 ई.) में 'साहित्य के सामाजशास्त्र' विषय पर

तीन पश्चिमी चिंतकों के लेखों का अनुवाद प्रकाशित है जिसमें माल्कम ब्रेडवरी का लेख- 'साहित्य और सामजशास्त्र', रिचर्ड हागर्ट का लेख- 'साहित्यिक कल्पना और समाजशास्त्रीय कल्पना' और रेमंड विलियम्स के लेख- 'साहित्य और सामजशास्त्र' शीर्षक से अनुवाद प्रकाशित है।

‘उपन्यास’ पर विशेष सामग्री

नामवर सिंह ने ‘आलोचना’ पत्रिका के नवांक-84 (जन-मार्च, 1988 ई.) में इतिहासाचार्य एवं साहित्य मर्मज्ञ विश्वनाथ काशीनाथ राजवाड़े के ‘कादंबरी’ लेख का अनुवाद ‘उपन्यास शीर्षक से प्रकाशित किया। इस ‘उपन्यास’ शीर्षक विस्तृत निबंध पर गोविंद पुरुषोत्तम देशपांडे ने अपनी टिप्पणी प्रस्तुत की है, और इसके अनुवादक ह. श्री साने ने अपनी सुचिंतित टिप्पणी भी की है।

समकालीन आलोचना पर एक संवाद

‘आलोचना’ पत्रिका ने ‘समकालीन आलोचना’ नवांक-86 (जुलाई-सित., 1988 ई.) पर एक परिसंवाद का आयोजन किया। इस आयोजन में चार लेख पढ़े गए थे। जिसमें मैनेजर पांडेय का वक्तव्य ‘हिंदी की मार्क्सवादी आलोचना : कितनी मार्क्सवादी, कितनी आलोचना’ शीर्षक से तथा खगेंद्र ठाकुर, विश्वनाथ त्रिपाठी का वक्तव्य ‘आलोचक का सामाजिक दायित्व’ शीर्षक से और परमानंद श्रीवास्तव का वक्तव्य ‘समकालीन रचना की चुनौतियाँ और आलोचना-कर्म’ शीर्षक से ‘आलोचना’ पत्रिका के नवांक-86 में प्रकाशित है।

नवजागरण का भारतीय परिप्रेक्ष्य

‘आलोचना’ के नवांक-93 (अप्रैल-जून, 1990 ई.) में नवजागरण पर केंद्रित कुछ ऐसी सामग्री प्रकाशित है जिसमें नवजागरण का भारतीय परिप्रेक्ष्य स्पष्ट होकर आता है। इस अंक में बच्चन सिंह का लेख ‘उन्नीसवीं शताब्दी का औपनिवेशिक भारत और हिंदी नवजागरण’ शीर्षक से विजेन्द्र नारायण सिंह का लेख ‘हिंदी नवजागरण : सामंत विरोधी मूल्य और बुद्धिवाद की प्रतिष्ठा’ शीर्षक में उपलब्ध है। चंद्रकांत बांदिवडेकर का लेख ‘महाराष्ट्र में आधुनिकता का उदय :

सांस्कृतिक चुनौती' शीर्षक से प्रस्तुत है। इसके अतिरिक्त टी. एस. कुप्पुस्वामी का लेख- 'नवजागरण का तामिलनाडू के समाज, राजनीति एवं साहित्य पर प्रभाव' इस अंक को महत्त्वपूर्ण बनाता है। वस्तुतः इन लेखों से हिंदी नवजागरण के साथ-साथ भारतीय नवजागरण का परिप्रेक्ष्य का ज्ञान होता है।

नामवर सिंह संपादित 'आलोचना' पत्रिका के विशेषांक, विशेष आयोजन और स्मृति अंक आदि के उपर्युक्त अध्ययन से स्पष्ट है कि 'आलोचना' पत्रिका में जिस किसी भी रचनाकार विषय पर अंक का प्रकाशन हुआ है उससे हिंदी साहित्य के संपूर्ण विकास को समझने में हमारी सहायता करता है। उन्हीं रचनाकारों, विषयों पर विशेष अंकों का आयोजन हुआ है, जिससे हिंदी साहित्य में युगांतकारी परिवर्तन को लक्षित किया जा सके। 'आलोचना' पत्रिका के माध्यम से नामवर सिंह ने ऐसे रचनाकारों-आलोचकों पर विशेषांक आदि का आयोजन किया जिससे हिंदी साहित्य जगत परिचित तो था, किंतु उनका साहित्य की परंपरा में क्या स्थान है, यह स्पष्ट नहीं कर पाता था। इस प्रकार 'नामवर सिंह संपादित 'आलोचना' के विशेषांकों के माध्यम से रचनाकारों को साहित्य के 'कैनन' में महत्त्वपूर्ण स्थान दिलाया गया है, वहीं विभिन्न विषयों पर सामग्री प्रकाशित कर, परिसंवाद का आयोजन कर उस विषय से पाठकों को परिचित कराने का कार्य भी किया गया है।

संदर्भ :

1. सिंह, नामवर. आत्मकथा-2. “रचना और आलोचना के पथ पर”. ‘तद्भव’ (अंक-03) अप्रैल-2000 : पृ. सं. 15.
2. दृष्टव्य- ‘आलोचना’ नवांक- 08 में जनवरी-मार्च. 1969 ई.) प्रकाशित इस कविता की पाद टिप्पणी। पृ. सं. 03.
3. सिंह, शमशेरबहादुर. “ग़ालिब मेरी दृष्टि में”. ‘आलोचना’ (नवांक-08) जनवरी-मार्च, 1969 : पृ. सं. 4.
4. दृष्टव्य- मोतीलाल रैना का लेख “मार्क्सवादी समीक्षा : एक समसामयिक परिदृश्य पर कुछ टिप्पणियाँ”, ‘आलोचना’ (नवांक-42), जुलाई-सितं. 1977.
5. दृष्टव्य नामवर सिंह का साक्षात्कार. “विवेक की पक्षधरता”. साक्षात्कारकर्ता अशोक वाजपेयी, सुदीप बनर्जी, उदय प्रकाश. संकलित- संपा. ‘कहना न होगा’, संपा. समीक्षा ठाकुर. नई दिल्ली : वाणी प्रकाशन, 1994. पृ. सं. 29 का वक्तव्य.
6. दृष्टव्य नामवर सिंह का साक्षात्कार. “आधी सदी : आधा साहित्य” कहना न होगा, संपा. समीक्षा ठाकुर. नई दिल्ली : वाणी प्रकाशन, 1994. पृ. सं. 233 का वक्तव्य.
7. सिंह, नामवर. आत्मकथा-2. “रचना और आलोचना के पथ पर”. ‘तद्भव’ (अंक-03) अप्रैल-2000 : पृ. सं. 15.
8. दृष्टव्य : नामवर सिंह का संपादकीय जिसमें आधुनिकतावादी, कलावादी, उदारतावादी, मार्क्सवादी और गाँधीवादी प्रेमचंद को किस रूप में चित्रित करते हैं उसे स्पष्ट किया गया है। ‘आलोचना’ प्रेमचंद्र-स्मृति अंक (नवांक-51-52) अक्टू. 1979-मार्च 1980 ई. संपादकीय वक्तव्य.
9. सिंह, नामवर. संपादकीय. “विगत महत्ता और वर्तमान अर्थवत्ता”. ‘आलोचना’ (नवांक-51-52). अक्टू. 1979 से मार्च 1980 तक : पृ. सं. 04.
10. दृष्टव्य. आशुतोष कुमार की पुस्तक समकालीन कविता और मार्क्सवाद : में पृ. सं. 73-76. पर उल्लिखित नागार्जुन अंक का विवेचन.
11. दृष्टव्य. डॉ० रामविलास शर्मा पर आयोजित ‘आलोचना’ पत्रिका का अंकजिसमें ‘घर की बात’ के आरंभ से पूर्व डॉ० रामविलास शर्मा का वक्तव्य- ‘आलोचना’ (नवांक-60-61). जनवरी-जून 1982 : पृ. सं. 05.

12. दृष्टव्य छोटाराम कुम्हार का प्रकाशित शोध कार्य 'आलोचना' संदर्भ कोश : ('आलोचना' पत्रिका का सर्वेक्षण और मूल्यांकन), जोधपुर : राजस्थानी ग्रंथागार, 1999. पृ. सं. 49. इस पृष्ठ पर 'उपन्यास अंक' को 'समीक्षा अंक' के अंतर्गत समाहित करते हैं, उसे 'उपन्यास' पर केंद्रित स्वतंत्र विशेषांक के रूप में गणना नहीं करते हैं।
13. "मार्क्स और हिंदी के रचनाकार : एक सर्वेक्षण" योजना के संदर्भ में नंदकिशोर नवल का वक्तव्य 'आलोचना' (नवांक-09) जुलाई-सितं., 1984 : पृ. सं. 61.
14. वही. पृ. सं. 61.
15. 'आलोचना' नवांक-73 (अप्रैल-जून- 1985) के पहले पृष्ठ पर प्रकाशित आयोजकीय वक्तव्य 'यह अंक' की टिप्पणी से उद्धृत.
16. वही.
17. वही इस वक्तव्य में स्पष्टतः लिखा गया है कि 'उसमें कुछ ऐसी सामग्री दी जा रही है, जो अभी तक कहीं प्रकाशित नहीं हुई।' यदि ध्यान दें तो इस लेख के हिंदी अनुवाद के अलावा आचार्य शुक्ल का कोई भी अन्य लेख आदि इस अंक में प्रकाशित नहीं है। इसी कारण से यह कहा गया है कि हिंदी में यह लेख 'आलोचना' पत्रिका ने पहले पहल छापा है।
18. दृष्टव्य. 'आलोचना' पत्रिका का नवांक 90 (निर्मल वर्मा विशेषांक) का संपादकीय वक्तव्य।

અધ્યાય : છ:

अध्याय : छः

नामवर सिंह का संपादकीय विवेक और 'आलोचना' का संपादन

अक्टूबर, 1951 से 'आलोचना' पत्रिका अस्तित्व में आई। सन् 1951 से संस्थापित-संपादित होकर अप्रैल-जून 1990 ई. तक प्रकाशित होती रही। अपने प्रकाशन की लंबी अवधि में 'आलोचना' का प्रकाशन बीच-बीच में बाधित भी हुआ और 'आलोचना' कई संपादकीय विवेक से होकर भी गुजरी। 'आलोचना' पत्रिका के संपादन-प्रकाशन के इतिहास पर नज़र डालने से यह स्पष्ट होता है कि 'आलोचना' अपने संपादन-प्रकाशन के आरंभिक दौर में ही कई संपादकों के हाथों संपादित-होती रही है, और इसी आरंभिक चरण में उसका प्रकाशन बीच-बीच में बंद भी हुआ। 'आलोचना' का आरंभिक दौर 1951 से दिसंबर- 1966 (पूर्णांक-37) तक माना जा सकता है। जिसे छोटाराम कुम्हार ने 'आलोचना' पत्रिका के सर्वेक्षणात्मक अध्ययन में 'पहला चरण' कहा है।¹ इस 'पहले चरण' में इसके संपादन एवं स्थापना का कार्य शिवदानसिंह चौहान जैसे प्रगतिशील चिंतक-आलोचक के हाथों हुआ। इनके संपादन में छः अंक निकलने के उपरांत ही 'आलोचना' का संपादन 'धर्मवीर भारती', 'रघुवंश', 'विजयदेवनारायण साही', 'ब्रजेश्वर वर्मा', जैसे साहित्यकारों एवं आलोचकों की एक संपादन समिति द्वारा संपादित होने लगी। इस संपादन समिति ने अप्रैल-जून 1953 से जनवरी-मार्च, 1956 ई. तक 'आलोचना' के ग्यारह अंकों का संपादन किया। इसके उपरांत पूर्णांक-18 से 26 तक (अप्रैल- 1956 से जून-अप्रैल 1959 ई. तक) का संपादन नंददुलारे वाजपेयी ने किया। तीन वर्षों में 9 अंक ही आपके संपादन में निकल सके। वाजपेयी जी के संपादन काल में 'आलोचना' एक वर्ष के लिए बंद भी रही। अप्रैल, 1959 से 'आलोचना' का प्रकाशन फिर बंद हुआ। इस बीच 'आलोचना' तीन-से-चार वर्ष बंद रही। जुलाई, 1963 से शिवदान सिंह चौहान के हाथों इसका पुनर्प्रकाशन शुरू हुआ। स्पष्ट है कि 'आलोचना' के संपादन-प्रकाशन का पहला चरण

अत्यंत ही उतार-चढ़ाव, व्यवधान आदि से युक्त रहा है। इसी चरण में यह कई संपादकीय विवेकों से होकर गुजरी है। नामवर सिंह द्वारा 'आलोचना' का संपादन भार ग्रहण करने के उपरांत ही इस उतार-चढ़ाव, व्यवधान और इसके संपादकीय फेरबदल का अंत हुआ। नामवर सिंह ने 'आलोचना' का संपादन अप्रैल-जून 1967 से अप्रैल-जून 1990 ई. तक की लंबी अवधि तक किया। इस दीर्घ अवधि में 'आलोचना' के 93 अंकों का उन्होंने संपादन किया। नामवर सिंह के संपादन की इस अवधि को छोटाराम कुम्हार ने 'आलोचना' पत्रिका का 'दूसरा चरण' कहा है।² 'आलोचना' पत्रिका के संपादन का यह दूसरा चरण ही सबसे स्थायित्व, दीर्घजीवी एवं वैचारिक संघर्षोत्तम और साहित्य को दिशा देने में निर्णायक भूमिका अदा करनेवाला रहा है।

इस प्रकार उपर्युक्त विवरणों स्पष्ट है कि 'आलोचना' पत्रिका अपने संपादन-प्रकाशन की दीर्घ यात्रा में कई संपादकीय विवेक से होकर गुजरी। प्रत्येक संपादक ने भिन्न-भिन्न साहित्यिक दृष्टियों से युक्त होकर 'आलोचना' का संपादन किया। और 'आलोचना' को हिंदी आलोचना की उत्कृष्ट कोटि की पत्रिका बनाने में अपना बहुमूल्य योगदान दिया। इस संदर्भ से उल्लेखनीय है, शिवदान सिंह चौहान द्वारा संपादित 'आलोचना' का 'इतिहास विशेषांक' (पूर्णांक-05-6 अक्टू-दिसं 1952 एवं जन-मार्च, 1953) आरंभिक चरण के प्रमुख अंकों में यह विशेषांक सर्वाधिक चर्चित रहा है। इसके अतिरिक्त धर्मवीर भारती और उनके सहयोगी संपादक मंडल ने भी 'आलोचना' विशेषांक (पूर्णांक-09 अक्टू-दिसं. 1953 ई) उपन्यास विशेषांक (अक्टू-दिसं. 1954 ई.) अपने संपादन में संपादित किया। नंददुलारे वाजपेयी के संपादन में जुलाई-सितं. 1956 ई. में 'आलोचना' का 'नाटक विशेषांक' प्रकाशित हुआ। इसके अतिरिक्त शिवदानसिंह चौहान ने अपने पुनः संपादन में 'आलोचना' का 'स्वातंत्र्योत्तर हिंदी साहित्य विशेषांक' (पूर्णांक- 33, 34, 35, 36 एवं 37) अप्रैल-जून 1965 से अक्टू-दिसं. 1966 तक क्रमवार ढंग से अंक- 1, 2, 3, 4, 5 अंक निकाले। इससे स्पष्ट है कि 'आलोचना' पत्रिका अपने आरंभिक संपादकों के संपादन के द्वारा ही "हिंदी

पत्रिकाओं की परंपरा में अपने ठोस, गंभीर स्तर और साहित्य विषयक अपनी वयस्क जागरूकता के रूप में 'आलोचना' सदैव एक पठनीय प्रमाण रही है।... हिंदी की सचित्र गुलदस्तानुमा पत्रिकाओं में होनेवाली साहित्य की सतही और वैयक्तिक पूर्वाग्रहों से युक्त चर्चाओं से और एकाध मासिकों की कलेवर-शून्यता से मुक्ति-स्थल का काम अपने प्रकाशन-काल में 'आलोचना' ने निरंतर किया है।"³ इससे स्पष्ट है कि अपने संपादन प्रकाशन के पहले चरण में ही "आलोचना" हिंदी आलोचना-क्षेत्र की एकमात्र प्रतिनिधि पत्रिका के रूप में अपनी पहचान कायम कर चुकी थी।"⁴ जब यह पत्रिका अपने संपादन के दूसरे चरण में आई यानी जब नामवर सिंह के संपादन में आई तब इसे स्थायित्व मिला और संपादकीय फेरबदल से मुक्ति मिली। यह दूसरा चरण जो कि "सन् 1967 से 1990 ई. तक फैला हुआ है, जिसमें एक ही संपादक के हाथों से सँवर कर उसे हिंदी आलोचना के क्षितिज को व्यापक बनाने की भूमिका निभाने का अवसर प्राप्त हुआ है।"⁵ नामवर सिंह द्वारा दीर्घ अवधि तक 'आलोचना' का संपादन स्वयं उनकी संपादकीय क्षमता का स्पष्ट बोध कराता है। दीर्घ अवधि तक संपादन से जुड़ने के कारण ही छोटाराम कुम्हार ने यह कहा है कि "आलोचना" डॉ० नामवर सिंह के लिए और 'आलोचना' के लिए डॉ० नामवर सिंह दोनों एक दूसरे के लिए सौभाग्य का विषय कहे जा सकते हैं"⁶ इस सुखद संयोग और "अपनी सुघड़ संपादन-कला और विवेकशील आलोचकीय दृष्टि से 'आलोचना' को निखारकर डॉ० नामवर सिंह ने हिंदी आलोचना के क्षेत्र में उसके महत्त्व को चिरस्थायी बना दिया।"⁷ विजेंद्रनारायण सिंह का मत है कि "यह तो मानना ही होगा कि 'आलोचना' को उन्होंने अपने संपादकत्व में प्रथम श्रेणी की पत्रिका बनाया।"⁸ वस्तुतः नामवर सिंह के संपादन में 'आलोचना' पत्रिका हिंदी आलोचना के क्षेत्र में युग परिवर्तनकारी भूमिका के रूप में स्थापित हुई।

'आलोचना' के प्रत्येक संपादक के संपादकीय विवेक का अपना महत्त्व है, और उनकी कुछ सीमाएँ हैं, किंतु मेरे शोधकार्य संबंधी अध्ययन की सीमा के अंतर्गत नामवर सिंह संपादित

‘आलोचना’ और उनका संपादकीय विवेक है, इसीलिए इस अध्याय में केवल नामवर सिंह के संपादकीय विवेक का ही विस्तार से अध्ययन प्रस्तुत किया जा सकेगा। यह अध्ययन भी उनके द्वारा संपादित साप्ताहिक ‘जनयुग’ (1965) तथा अन्य पुस्तकें ‘रामचंद्र शुक्ल संचयन’, हजारीप्रसाद द्विवेदी संकलित निबंध तथा उनके प्रधान संपादकत्व में प्रकाशित ‘आलोचना’ के सहस्राब्दी अंकों की विस्तृत क्षेत्र तक केंद्रित न रहकर केवल और केवल ‘आलोचना’ पत्रिका के संपादन की सीमा तक सीमित रहेगा। इस अध्ययन में हमें यह देखना है कि नामवर सिंह के लिए ‘आलोचना’ का संपादन केवल ‘सुखद संयोग’ था, जिसे छोटाराम कुम्हार ‘सौभाग्य का विषय’ कहते हैं; वह था, अथवा नामवर सिंह की अपनी कोई संपादकीय दृष्टि भी थी, जिससे हिंदी आलोचना में उसका चिरस्थायी महत्त्व स्थापित हो सका? नामवर सिंह का वह कौन-सा संपादकीय विवेक है जो उन्हें ‘आलोचना’ के पूर्व संपादकों से एकदम अलग खड़ा कर देता है?? इसके अतिरिक्त नामवर सिंह का संपादकीय विवेक स्वयं उनके ‘आलोचनात्मक विवेक’ से किस प्रकार संबद्ध है; इसे भी इस अध्याय में देखा जा सकेगा। ‘आलोचना’ का संपादन करते हुए उन्होंने किस प्रकार की संपादकीय भूमिका का निर्वाह किया? इसके साथ-साथ आलोचना का संपादन करते हुए हिंदी आलोचना में क्या युगांतरकारी कार्य किया? ‘आलोचना’ पत्रिका के रूप विधान में उन्होंने क्या परिवर्तन किया, और उसमें उन्होंने क्या जोड़ा? इसके अतिरिक्त उनकी संपादकीय विवेक की सीमाएँ क्या रही हैं? आदि प्रश्नों के उत्तर ढूँढ़ने का प्रयास इस अध्याय में किया गया है।

नामवर सिंह के संपादकीय विवेक को समझने के लिए प्रथमतः तो यह ज्ञात करना होगा कि उनके द्वारा ‘आलोचना’ के संपादन-दायित्व संभालने से पूर्व ‘आलोचना’ पत्रिका का स्वरूप कैसा था, उसका रूप विन्यास क्या था? और नामवर सिंह ने उसमें क्या परिवर्तन किए? जो उन्हें अपने पूर्ववर्ती संपादकों से अलग करती है। इस संदर्भ में जब ‘आलोचना’ पत्रिका के संपादन के इतिहास को देखते हैं तो नामवर सिंह के सबसे निकट प्रतिद्वंद्वी के रूप में हमें शिवदानसिंह चौहान

दिखाई पड़ते हैं। ध्यातव्य है कि 'आलोचना' पत्रिका को स्थापित करने और उसका प्रथमतः संपादन करने का श्रेय शिवदान सिंह चौहान को जाता है। बीच में अन्य संपादकों के संपादन के उपरांत जब 'आलोचना' का प्रकाशन 1959 ई. में बंद हुआ तो उसे 1963 ई. में पुनः प्रकाशित करने एवं उसका संपादन-दायित्व संभालने का श्रेय भी आपको ही जाता है। इसके अतिरिक्त, शिवदानसिंह चौहान के हाथों से ही 'आलोचना' का संपादन-दायित्व नामवर सिंह के हाथों में आया। शिवदान सिंह चौहान के हाथों से 'आलोचना' के नामवर सिंह के संपादन में आने की पूरी प्रक्रिया को ही एक विवादित घटना के रूप में देखा जाता है।

इस प्रक्रिया को शिवदानसिंह चौहान के हाथ से 'आलोचना' को छिन लिए जाने के रूप में देखा गया।⁹ स्वयं शिवदान सिंह चौहान इस 'संपादक-फेरबदल' को 'आलोचना-कांड' कहते हैं।¹⁰ पुरुषोत्तम अग्रवाल का मत है कि इस 'संपादकीय फेरबदल' ने शिवदान सिंह चौहान को "बहुत आहत किया इस 'आलोचना कांड' ने आलोचक चौहान को कहीं बहुत गहरे में तोड़ दिया।"¹¹ और "वे हिंदी साहित्य जगत से सायास रूप से तटस्थ और संन्यस्त हो गए।"¹² इससे स्पष्ट है, 'आलोचना' के संपादन को लेकर उनके मन में किस प्रकार की तकलीफ रही है क्योंकि 'आलोचना' को लेकर उनके मन में सिर्फ ललक या उत्साह ही नहीं रहा, बल्कि उनके पास अपनी एक संपादकीय दृष्टि थी। इस संपादकीय दृष्टि को जाने बिना नामवर सिंह संपादित 'आलोचना' पत्रिका को, और उसकी संपादकीय दृष्टि को समझा ही नहीं जा सकता है। यह अंतर ही नामवर सिंह के आरंभिक संपादकीय विवेक से हमारा परिचय कराएगा। मधुरेश द्वारा लिखित 'मार्क्सवादी आलोचना और शिवदान सिंह चौहान' पुस्तक जिसमें चौहानजी का हिंदी आलोचना के अवदान पर विस्तार से चर्चा की गई है। इस संदर्भ से हटकर यदि हम विचार करें तो मधुरेश जी ने इस पुस्तक को लिखने का मन प्रदीप सक्सेना के अतिथि संपादन में संपादित 'पहल' पत्रिका के 'मार्क्सवादी आलोचना अंक' में लिखित अपने लेख के उपरांत बनाया था।¹³ यह स्थिति किसी भी संपादक के

संपादकीय विवेक की महत्ता को ही स्थापित करता है, जिससे किसी बड़े कार्य की नींव पड़ जाए। जिसे आगे सुचिंतित ढंग से पुस्तक आदि का प्रकाशन हो सके। इस संदर्भ में हमें यह भी देखना होगा कि नामवर सिंह के संपादन में प्रकाशित लेखकों और उनके लेखों से कितनी पुस्तकों-ग्रंथों के प्रणयन की नींव पड़ी।

बहरहाल, मधुरेश अपनी उक्त पुस्तक में शिवदान सिंह चौहान की 'आलोचना' पत्रिका के दो दौरों के संपादन की विस्तार से चर्चा करते हैं, उनके संपादकीय विवेक की महत्ता का उद्घाटन करते हैं। शिवदान सिंह चौहान के संपादन के पहले चरण में संपादन-कला का महत्त्व उद्घाटित करते हुए लिखते हैं कि "एक आलोचक और संपादक के रूप में शिवदान सिंह चौहान की उल्लेखनीय भूमिका यह रही कि उन्होंने आलोचना को अतिरेक और असंतुलन से बचाने के लिए भरपूर वैचारिक संघर्ष किया और आलोचना को अपने समय के ज़रूरी सवालियों से जोड़ा।"¹⁴ अपने संपादन के दूसरे दौर में भी शिवदान सिंह चौहान इस पत्रिका को हिंदी आलोचना की उत्कृष्ट पत्रिका के रूप में स्थापित करने का प्रयास किया। "शिवदान सिंह चौहान ने जिस तरह अपने समय की रचनाशीलता का बैरोमीटर बनाने की संपादकीय क्षमता का परिचय पहले दौर की 'आलोचना' में दिया था, वह इस दूसरे दौर की 'आलोचना' में भी देखा सकता है। स्वातंत्र्योत्तर हिंदी साहित्य विशेषांक तो हर दिशा में एक संदर्भ कोश का काम करता है।"¹⁵ इस प्रकार शिवदान सिंह चौहान ने अपने संपादन में 'आलोचना' को वह रूप दिया जिसे 'समालोचक' जैसी हिंदी आलोचना की उत्कृष्ट पत्रिकाएँ भी उस महत्ता को नहीं पा सकीं। इस प्रकार नामवर सिंह के संपादन में जब 'आलोचना' पत्रिका आई तो हिंदी आलोचना में वह पूर्व स्थापित थी। शिवदान सिंह चौहान जब इसका दूसरी बार संपादन करने गए तो साहित्यिक वातावरण, एवं दृष्टियों में बहुत सारा परिवर्तन हो चुका था। नई कविता अपने अंतिम दिन की गणना में संलग्न थी। साठोत्तरी कविता जिसमें युवा आक्रोश, क्रोध युक्त रचनाओं का दौर था। कहानियों में अकहानी का दौर अपना रूप धारण कर

रहा था। साहित्य की आलोचना में रूपवादी- कलावादी- अस्तित्ववादी- आधुनिकतावादी साहित्य चिंतन के दबाव में प्रगतिवादी अथवा मार्क्सवादी आलोचना अपनी पुरानी अवधारणाओं को ही दुहरा रही थी। स्तालिनोत्तर मार्क्सवादी चिंतन के आरंभ होने के बावजूद यह स्थिति देखी जा सकती है। राजनीति में नेहरू युग का अंत हो चुका था। यह शिवदान सिंह चौहान के संपादन के दूसरे चरण की साहित्यिक, सांस्कृतिक, राजनैतिक परिस्थितियों की विहंगम दृष्टि से अवलोकन है। ऐसी दशा में शिवदान सिंह चौहान द्वारा संपादित 'आलोचना' ने अपने समकालीन साहित्यिक-सांस्कृतिक परिदृश्य के मूल्यांकन में कितनी सफल-असफल रही इसे मधुरेश स्वयं स्पष्ट करते हैं कि "यह ठीक है कि इस दूसरे दौर की समीक्षाओं में पहले दौरवाली तेजस्विता नहीं है, लेकिन चयन की उदार दृष्टि और उल्लेखनीय रेखांकन की सजगता एक हद तक यहाँ भी मौजूद है। अज्ञेय, भारती सहित नई कविता के अनेक महत्त्वपूर्ण कवियों की अनेक उल्लेखनीय कृतियाँ इसी कालावधि में छपीं लेकिन 'आलोचना' के सामान्य अंकों में उनका नोटिस नहीं लिया गया। नई कहानी का आंदोलन अपने पूरे उत्कर्ष के बाद ढलान की ओर था, लेकिन उसके लेखकों के निजी कहानी-संग्रह की कोई समीक्षा नहीं छपी। इसी तरह इतिहास, संस्कृति और कला की उल्लेखनीय पुस्तकों पर जिस तरह दौर की 'आलोचना' में समीक्षाएँ छपीं, यहाँ वैसा कुछ उस प्रमुखता से दिखाई नहीं देता।"¹⁶ शिवदान सिंह चौहान द्वारा संपादित 'आलोचना' के दूसरे दौर की वस्तुस्थिति का परिचय उपर्युक्त उद्धरण से हम प्राप्त कर सकते हैं। इस परिस्थितियों में 'आलोचना' का संपादन के लिए एक नवीन संपादकीय विवेक युक्त तेजस्वी और प्रखर संपादक की आवश्यकता बनी हुई थी, जिसकी पूर्ति नामवर सिंह द्वारा 'आलोचना' के संपादन-दायित्व को अपने हाथों में लेने से हुई। इस रूप परिवर्तन की कितनी आवश्यकता बनी हुई थी इसे स्वयं 'आलोचना' में होनेवाले परिवर्तन के सूचनार्थ प्रकाशित विज्ञापन में भी देखा जा सकता है। विज्ञापन-सूचना में बताया गया है कि "त्रैमासिक 'आलोचना' अब डॉ० नामवर सिंह के संपादकत्व में 'नए रूप' से निकलने जा रही है। साहित्य और साहित्य के सामाजिक

संदर्भों में इस बीच में जो परिवर्तन हुए हैं, उनको देखते हुए 'आलोचना' की रूपरेखा में आवश्यक परिवर्तन वांछनीय है। इस दृष्टि से हम 'आलोचना' को एकेडेमिक क्षेत्र से अधिक व्यापक क्षेत्र के उपयुक्त एक जीवंत त्रैमासिक का रूप देना चाहते हैं जिसमें जीवन संस्कृति और साहित्य के नए-से-नए स्पंदन का प्रतिफलन होगा।¹⁷ स्पष्ट है कि 'सामाजिक-साहित्यिक परिवेश के रूप परिवर्तन आदि के कारण 'आलोचना' के संपादन में बदलाव लाया गया था। जबकि मधुरेश अपनी पुस्तक में विविध निजी जीवन संदर्भों, पत्रों और 'आलोचना-कांड' आदि हवालों से स्पष्टतः इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि 'आलोचना' से शिवदान सिंह चौहान को "पर्याप्त रहस्यमय और षड्यंत्रपूर्ण ढंग से उन्हें सत्ताच्युत कर दिया गया।"¹⁸

ध्यान देने की बात है कि यह 'आलोचना-कांड' तब प्रकाश में आया जब नामवर सिंह ने 'आलोचना' पत्रिका के महत्त्व को हिंदी आलोचना के इतिहास में चिरस्थायी बना दिया। आरंभ में इस संपादक फेरबदल को न तो चौहान जी ने गंभीरता से लिया और न ही उस घटना को उनके समकालीन आलोचकों-रचनाकारों ने विशेष रूप से उल्लेखनीय माना। स्पष्ट है कि इस 'आलोचना कांड' की चर्चा नामवर सिंह संपादित 'आलोचना' के अत्यंत ऐतिहासिक महत्त्व प्राप्त कर लेने के बाद ही शुरू हुई। इसका साक्ष्य 'आलोचना' पत्रिका के नवांक-01-02 का 'विकल्प-2' में प्रकाशित किन्हीं 'प्रभात' नाम के समीक्षक की समीक्षा भी है। इस समीक्षा में इस 'आलोचना कांड' के विषय में कोई चर्चा नहीं की गई है। किसी ने भी उसके आरंभ में नहीं सोचा होगा कि, 'आलोचना' अपने पूर्वस्थापित रूप से कई कदम आगे निकल जाएगी। जिसको अग्रणी पत्रिका बनाने में नामवर सिंह के संपादकीय विवेक का अन्यतम योगदान है। मधुरेश, शिवदान सिंह चौहान के संपादकीय विवेक की चर्चा करते हुए सिर्फ व सिर्फ चौहानजी के संपादकीय विवेक की ही चर्चा करते हैं, उसके पक्ष-प्रतिपक्ष के रूप में नामवर सिंह के संपादकीय विवेक की नहीं। यदि नामवर सिंह संपादित 'आलोचना' के नवांक-01 (अप्रैल-जून 1967 ई.) की चर्चा करते भी हैं तो इन शब्दों में "पूर्णांक

38 अप्रैल-जून 67 नामवर सिंह के संपादन में निकला यह पूरी तरह से एक नए संपादक की छापवाला अंक है। इसमें सामग्री की दृष्टि से एक ओर यदि 'चुनाव के बाद का भारत' जैसे विषय पर परिसंवाद है, वहीं पहली बार कविताओं की उपस्थिति भी है। जिस बहुत से साहित्य को शिवदान सिंह चौहान हासशील व्यक्तिवादी और त्रिशंकुओं के साहित्य के रूप में खारिज करते हुए उससे वैचारिक संघर्ष करते रहे थे, उन सबको लेकर एक व्यापक और साझे मंच की कल्पना यहाँ स्पष्ट लक्षित की जा सकती है।¹⁹ नामवर सिंह के 'आलोचना' के प्रथम अंक एवं उसके संपादकीय विवेक को लेकर दिया गया यह वक्तव्य संगत एवं सुचिंतित नहीं कहा जा सकता है। इस संदर्भ में नवांक-1 (अप्रैल-जून 1967) का संपादकीय वक्तव्य, उसमें आयोजित 'परिसंवाद' में भाग लेने वाले लेखकों-विचारकों के मत, तथा इसमें प्रकाशित लेखकों के लेख स्वयं इस मत के पक्षपातपूर्ण रवैये को उद्घाटित कर देते हैं। ध्यातव्य है कि नामवर सिंह संपादित 'आलोचना' का नवांक-01 में 'चुनाव के बाद का भारत' विषय पर आयोजित 'परिसंवाद' में सहभागिता लेनेवाले लेखकों के नाम ही यदि लिए जाएँ जैसेरामविलास शर्मा, रमेशकुंतल मेघ, आचार्यहजारी प्रसाद द्विवेदी, मन्मथनाथ गुप्त, राजकमल चौधरी, विष्णुप्रभाकर, आदि के साथ-साथ केदारनाथ सिंह, धूमिल, भारतभूषण अग्रवाल, रघुवीर सहाय, मलयज, सुरेंद्र चौधरी, विष्णुचंद्र शर्मा, आरंभिक निर्मल वर्मा और अशोक वाजपेयी आदि इस अंक के विविध संदर्भों में प्रकाशित हैं। क्या इन रचनाकारों-लेखकों और आलोचकों को त्रिशंकुओं का साहित्यकार कहा जा सकता है? यदि नहीं तो इस अंक नवांक-01 के संपादकीय विवेक को और सहयोगी लेखकों के प्रयास को त्रिशंकुओं के साहित्यकारों का साझा मंच भी नहीं कहा जा सकता है। अब देखना यह है कि 'आलोचना' का नवांक-01 जब त्रिशंकुओं का साझा मंच नहीं था, तो क्या था? और उसमें नामवर सिंह का संपादकीय विवेक किस रूप में व्यक्त हुआ है?

नामवर सिंह अपने "आत्मकथ्य" में स्पष्ट करते हैं कि "जब मैंने पहला अंक निकाला, उस

समय कुछ ऐसी स्थिति थी कि उस अंक का स्थायी महत्त्व है... 'आलोचना' को पहले अंक से ही मैंने नया स्वरूप देने की कोशिश की। क्योंकि पहले उसका इतिहास एक साहित्यिक पत्रिका का था। जब चौहानजी निकालते थे तब भी वह साहित्यिक ही थी। वाजपेयी जी ने उसको वि. वि. की पत्रिका बना दिया था। चौहान जी ने भी हिंदी साहित्य पर केंद्रित जो अंक निकाले, उन्हें देखें, उनके ज्यादातर लेखक अध्यापक थे।²⁰ इसलिए नामवर जी ने "योजना बनाई कि 'आलोचना' के हर अंक में एक संवाद रहेगा। ज्वलंत समस्याओं पर विभिन्न लोगों के विचार होंगे क्यों कि मैं मानता हूँ कि आलोचना विशुद्ध साहित्यिक नहीं है, अधिक व्यापक है। मुक्तिबोध इसी को 'सभ्यता समीक्षा' कहते थे।"²¹ हिंदी आलोचना के स्वरूप को समृद्धतर करने के लिए 'सभ्यता समीक्षा' के व्यापक आधार से जोड़ने का काम किया। इसीलिए उन्होंने अपने संपादन में जो पहला अंक निकाला, उसमें 'चुनाव के बाद का भारत' शीर्षक से परिसंवाद आयोजित किया।

नामवर सिंह ने "इस पर भी ध्यान दिया कि 'आलोचना' को केवल "हिंदी तक" सीमित न रखा जाए, बल्कि दूसरी भारतीय भाषाओं में जो कुछ लिखा जा रहा है उसके बारे में भी सामग्री हो। बल्कि भारत के बाहर जो साहित्य है, जो साहित्यिक गतिविधियाँ हैं, वे भी हमारी परिधि में हों। इस दृष्टि से मैंने पहले अंक में निर्मल वर्मा से, जो उन दिनों चेकोस्लोवाकिया में थे। एक लेख मँगाया कि वहाँ के बुद्धिजीवी क्या सोचते हैं"²² यह लेख इस अंक के 'विश्व संदर्भ' स्तंभ में 'परंपरा, परायापन और प्रतिबद्धता' शीर्षक से प्रकाशित है। इसी अंक से 'आलोचना' अपने प्रकाशन की पूर्व परंपरा को तोड़ती हुई दिखायी पड़ती है, इसी अंक से नामवर सिंह ने 'आलोचना' में कविता का प्रकाशन शुरू किया। इस अंक में 'धूमिल' (बीस साल बाद), 'केदारनाथ सिंह' (चुनाव की पूर्वसंध्या पर), 'भारत भूषण अग्रवाल' (अन्वेषण) की कविता प्रकाशित हैं। इस अंक में 'पुस्तक समीक्षा' को 'मूल्यांकन' के रूप में प्रस्तुत किया गया है। स्पष्टतः कहा जा सकता है कि नामवर सिंह के अपने संपादकीय विवेक के चलते ही 'आलोचना' को एक नया कलेवर मिला।

यह देखना आवश्यक होगा कि नामवर सिंह ने अपने संपादन में 'आलोचना' के रूप विधान में क्या नया परिवर्तन किया और इसी से उनके संपादकीय विवेक के कुछ पक्षों का महत्त्व प्रकट होता जाएगा। ज्ञातव्य है कि नामवर सिंह के संपादन से पूर्व 'आलोचना' में 'परिसंवाद' आयोजित करने की कोई परंपरा नहीं थी। नामवर सिंह के संपादन में ही इसकी शुरुआत हुई। नामवर सिंह के संपादकीय विवेक का यह सबसे सबल पक्ष है। शिवदान सिंह चौहान के संपादन में पूर्णांक-30 अप्रैल-जून 1964 वाले अंक में 'विश्वविद्यालय और समकालीन साहित्य' शीर्षक से तीन लेख 'प्रस्तुत प्रश्न' स्तंभ में प्रकाशित हुए थे, जिसे मधुरेश जी नामवर सिंह के संपादन में 'विश्वविद्यालय और साहित्य-शिक्षा' पर आयोजित परिसंवाद के समतुल्य रखते हैं²³ जबकि ये तीनों लेख ज्वलंत समस्या का स्पष्ट बोध कराते हैं, किंतु उन्हें परिसंवाद की प्रकृति के अनुरूप नहीं रखा जा सकता है। इस प्रकार नामवर सिंह का यह संपादकीय विवेक ही था जिसने 'आलोचना' पत्रिका को 'शुद्ध साहित्य कोटि' की पत्रिका के घेरे से निकालकर उसे 'सांस्कृतिक कोटि' की पत्रिका के रूप में स्थापित करने का प्रयास किया। उन्होंने जो भी परिसंवाद आयोजित किए-जैसे 'चौथे आम चुनाव के बाद का भारत', 'आलोचना की भाषा', 'कविता और राजनीति', 'युवा लेखन पर बहस', विश्वविद्यालय और साहित्य-शिक्षा' आदि विषय का मूल मंतव्य ही 'सभ्यता समीक्षा' के निहितार्थ को स्पष्ट करना था। इसके अतिरिक्त, उन्होंने विशेषांक भी निकाले तो उनका संदर्भ भी सांस्कृतिक एवं 'सभ्यता समीक्षा' युक्त ही था। उदाहरण के लिए हिंदी नवजागरण की समस्या के आलोक में भारतेन्दु हरिश्चंद्र और मैथिलीशरण गुप्त पर संयुक्त रूप से निकाला गया अंक (नवांक-79)। इस अंक के प्रकाशन के पीछे के मंतव्य को नामवर सिंह इन शब्दों में व्यक्त करते हैं 'उन्नीसवीं सदी के जिस नवजागरण की तस्वीर पेश की जा रही थी वह दरअसल हिंदू नवजागरण था। यह बात राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त की जन्मशती के संदर्भ में अनेक विद्वानों द्वारा दोहराई गई। यह बात मुझे बड़ी विचित्र लगी कि इतने वर्षों बाद आज इस माहौल में लेखकों का खासा समुदाय उन्नीसवीं

सदी के नवजागरण को हिंदू नवजागरण के रूप में स्थापित कर रहा है और यह दिखाने की कोशिश कर रहा है कि प्राचीन हिंदू या वैदिक भारत के पुनरुत्थान के द्वारा ही हम नए युग में प्रवेश कर सकते हैं।²⁴ स्पष्ट है कि उनके द्वारा संपादित इस अंक की योजना के पीछे की मूल चिंता मात्र साहित्यिक नहीं रही, बल्कि उसका एक सांस्कृतिक परिप्रेक्ष्य रहा है। इसी तरह से उन्होंने 'नागार्जुन' और 'त्रिलोचन' पर जो विशेषांक संपादित किया, उसका संदर्भ भी व्यापक सामाजिक-सांस्कृतिक संदर्भों वाला है। नामवर सिंह नागार्जुन और त्रिलोचन के माध्यम से उन परंपराओं का प्रत्यभिज्ञान कराना चाहते थे, जो अपने समय की प्रभुत्वशाली परंपरा के वर्चस्व के कारण उभर कर नहीं आ सके। इस दूसरी परंपरा के प्रश्न जो प्रधान प्रवृत्तियों के कारण उभर न सकी, उन अनेक प्रश्नों को स्पष्टतः स्वर देने का वैचारिक एवं सांस्कृतिक संघर्ष है। नामवर सिंह 'आलोचना' का संपादन करते हुए कई ऐसे लेख लिखे हैं, जिनका प्रकाशन या तो संपादकीय वक्तव्य के रूप में हुआ है या स्वतंत्र रूप से लेख के रूप में। उदाहरण के लिए आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी पर केंद्रित अंक और उसमें (नवांक-49-50) 'दूसरी परंपरा की खोज' शीर्षक निबंध, नवांक 56-57 के संपादकीय वक्तव्य 'कविता की ज़मीन और ज़मीन की कविता' और नवांक-82 का संपादकीय 'एक नया काव्यशास्त्र त्रिलोचन के लिए', नवांक-83 का संपादकीय 'कविता की दूसरी परंपरा' आदि में इसी दूसरी परंपरा के महत्वपूर्ण प्रश्नों से वह टकराते हैं। स्पष्टतः यह कहा जा सकता है कि यह नामवर सिंह का संपादकीय विवेक ही है कि 'आलोचना' पत्रिका का संपादन करते हुए उसे विशुद्ध साहित्यिक पत्रिका की कोटि से निकालकर उसे व्यापक सामाजिक और सांस्कृतिक प्रश्नों को जोड़ते हैं, हिंदी आलोचना के स्वरूप को भी व्यापक सामाजिक-सांस्कृतिक परिप्रेक्ष्य से जोड़कर उसके स्वरूप का अर्थ-विस्तार करते हैं। इसके लिए उन्होंने 'आलोचना' को अत्यंत महत्वपूर्ण माध्यम के रूप में विकसित किया और उसे अपनी संपादन-कला के माध्यम से हिंदी आलोचना के क्षेत्र में उसकी ऐतिहासिक महत्ता को स्थापित कर दिया।

नामवर सिंह के संपादकीय विवेक की महत्ता का पता तब लगता है जब हम देखते हैं कि 'आलोचना' पत्रिका के माध्यम से उन्होंने हिंदी आलोचना में 'साहित्य के समाजशास्त्रीय चिंतन' को प्रस्तावित करने का माध्यम बनाया। उनका कथन है कि " 'आलोचना' में जिस दूसरी प्रवृत्ति का प्रारंभ मैंने किया, वह प्रवृत्ति है 'साहित्य के समाजशास्त्र' की। यों तो साहित्य और समाज के रिश्ते पर बहुत पहले से विचार होता आ रहा था, लेकिन बगैर यह जाने कि इसका एक शास्त्र भी होता है। साहित्यशास्त्र है तो समाजशास्त्र भी है। समाजशास्त्र के लोग इस रिश्ते को कैसे देखते हैं? इसकी पद्धतियाँ क्या हैं? कैसे विकसित हुई हैं? इन सब प्रश्नों को 'आलोचना' के मंच से सामने लाने का प्रयास किया।... यह दिखाने के लिए कि साहित्य के समाजशास्त्र की अनेक विचारधाराएँ होती हैं, मैंने गोल्डमान के लेख छापे उन पर अंक निकाला। अंग्रेजी के कई लेखों का अनुवाद"²⁵ आदि को प्रकाशित किया। उदाहरण के लिए नवांक-25 में 'साहित्य के समाजशास्त्र' पर तीन लेखकों-माल्कम ब्रेडबरी, रिचर्ड हागर्ट, और रेमंड विलियम्स, के लेखों के अनुवाद प्रकाशित हैं। नवांक-20 का संपादकीय लुसिएँ गोल्डमान पर केंद्रित है। इसी अंक में गोल्डमान के एक लेख का अनुवाद भी प्रकाशित किया गया है। इस विषय पर केंद्रित पूरनचंद्र जोशी के कई लेख 'आलोचना' में प्रकाशित हैं। रेमंड विलियम्स के कुछ लेखों के अनुवाद और उन पर लेख आदि का प्रकाशन किया गया है। 'साहित्य के समाजशास्त्रीय चिंतन' जैसी नवीन प्रवृत्तियों को हिंदी आलोचना में प्रस्तावित करने का श्रेय मैनेजर पांडेय, नामवर सिंह को देते हैं, और अपनी पुस्तक 'साहित्य के समाजशास्त्र की भूमिका' को नामवर सिंह को समर्पित करते हुए लिखते हैं। "डॉ० नामवर सिंह को सादर जिनके प्रयत्न से साहित्य का समाजशास्त्र हिंदी में आया।"²⁶ नामवर सिंह के इस विवेक की व्यावहारिक परिणति 'आलोचना' पत्रिका के संपादन में स्पष्टतः देखी जा सकती है। इस तथ्य की पुष्टि मैनेजर पांडेय इन पंक्तियों के माध्यम से करते हैं "साहित्य के समाजशास्त्र को हिंदी में ले आने, उसकी विभिन्न दृष्टियों और आलोचनात्मक उपलब्धियों से हिंदी पाठकों को परिचित कराने

और उस पर बहस चलाने का काम 'आलोचना' पत्रिका के माध्यम से डॉ० नामवर सिंह ने किया है।²⁷ यहाँ नामवर सिंह के संपादकीय विवेक की दूरदर्शिता का उद्घाटन तो किया ही गया है इसके साथ-साथ 'आलोचना' पत्रिका का हिंदी आलोचना के विकास में योगदान के एक पक्ष को भी स्पष्ट कर दिया गया है।

नामवर सिंह संपादित 'आलोचना' का उल्लेखनीय एवं महत्त्वपूर्ण पक्ष यह है कि वह विश्व साहित्य की नवीन से नवीन प्रवृत्तियों से हिंदी पाठकों को परिचित कराने का कार्य करती है। नामवर सिंह का इस संदर्भ में मत है कि " 'आलोचना' के अंतर्गत हम यह भी चाहते थे कि हिंदी पाठकों को विश्व साहित्य की नई से नई प्रवृत्तियों के बारे में जानकारी होनी चाहिए।"²⁸ 'आलोचना' का संपादन करते हुए नामवर जी ने अपने समय की नवीन से नवीन साहित्यिक-सांस्कृतिक प्रवृत्तियों को प्रस्तुत करने का काम किया। उदाहरण के लिए 'शैली विज्ञान' संबंधी अध्ययन की नई प्रवृत्ति पर 'आलोचना' में कई लेख प्रकाशित हैं। रवींद्रनाथ श्रीवास्तव और विद्यानिवास मिश्र की इस विषय पर लिखे गए निबंध और शोधपूर्ण लेख विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। नामवर सिंह का मानना है कि "उस समय शैली विज्ञान की नई चीज चली थी जिसके अंतर्गत किसी साहित्यिक कृति का अध्ययन हम उसकी भाषा का विश्लेषण करते हुए करते हैं। इस विषय पर हमने रवींद्रनाथ श्रीवास्तव के कई लेख 'आलोचना' में छापे। बाद में शैली विज्ञान पर उनकी पुस्तक भी आई। बाद में और भी लोगों ने लिखा लेकिन शुरुआत करने का श्रेय 'आलोचना' को ही जाता है।"²⁹

इसके अतिरिक्त, आजकल हिंदी आलोचना में जिस प्रकार से संरचनावाद, उत्तर आधुनिकतावादी साहित्य-चिंतन से टकरा रही है उसकी पहली अभिव्यक्ति 'आलोचना' पत्रिका के पृष्ठों पर ही देखी जा सकती है। इस संदर्भ में नामवर सिंह का विचार है कि "आज-कल उत्तर आधुनिकता का बहुत हल्ला है लेकिन आलोचना में बहुत पहले विच्छेदनवाद जिसको अंग्रेजी में डिक्कंस्ट्रक्शन कहते हैं पर मैंने कई लेख छापे।"³⁰ यह बात उन्होंने अपने 'आत्मकथ्य' में ही नहीं, बल्कि बहुत पहले

‘आलोचना’ के उस अंक के संपादकीय में भी लिख चुके थे। इस संपादकीय में उन्होंने पाठकों का ध्यान इस ओर आकर्षित कराने का कार्य भी किया

“डॉ० राजनाथ के लेख ‘पाठकवादी समीक्षा की समीक्षा’ की ओर अपने पाठकों का ध्यान विशेष रूप से आकृष्ट करते हुए हम कहना चाहते हैं कि पाश्चात्य साहित्य में आजकल ‘रीडर-रिस्पांस क्रिटिसिज़्म’ पर गरमागरम बहस चल रही है और इस विषय पर हिंदी में यह पहला लेख है। इससे पहले ‘आलोचना’ में डिकांस्ट्रक्शन’ नामक अत्यंत विचारोत्तेजक और विवादास्पद आलोचना-प्रणाली पर डॉ० राजनाथ का लेख प्रकाशित हो चुका है और वह भी हिंदी में अपने विषय का पहला और अभी तक संभवतः पहला लेख है।”³¹ इस उद्धरण से स्पष्ट है कि नामवर जी को अपने गंभीर संपादक होने का भी एहसास था और संपादकीय दायित्व का भी। इसी संदर्भ में उल्लेखनीय है नवांक-68 (जनवरी-मार्च 1984 ई.) में गुजराती भाषा के कवि और लेखक ‘सुरेश ह. जोशी के लेख का हिंदी अनुवाद ‘आधुनिकता और उत्तर आधुनिकता’ शीर्षक से प्रकाशित है। नामवर सिंह इस लेख का उल्लेख अपने आत्मकथ्य में भी कर चुके हैं। इसी प्रकार से ‘सौंदर्यशास्त्र’ संबंधी अध्ययन की नवीन प्रवृत्तियों एवं मान्यताओं पर प्रचुर मात्रा में सामग्री प्रकाशित करने का कार्य करते हैं। इस प्रकार नामवर जी ने ‘आलोचना’ के माध्यम से ही हिंदी आलोचना में नवीन प्रवृत्तियों को प्रकाश में लाने का कार्य किया। कहा जा सकता है कि यह नामवर सिंह के संपादकीय विवेक के कारण ही संभव हो पाया।

नामवर जी ने अपनी ‘आत्म कथ्य’ में ‘आलोचना’ पत्रिका में प्रस्तुत की गई नवीन प्रवृत्तियों का जिक्र तो करते हैं, किंतु अपने संपादन के माध्यम से एक और महत्वपूर्ण कार्य करते हैं, जिसको वह अपने आत्मकथ्य में उल्लेखनीय नहीं समझते हैं, वह है ‘साहित्यिक समस्याओं और बहसों पर पूर्व प्रकाशित सामग्री का पुनरुप्रकाशन।’ उदाहरण के लिए नवांक-84 (जनवरी-मार्च 1988 ई.) में मराठी के प्रसिद्ध चिंतक और इतिहासकार विश्वनाथ काशीनाथ राजवाड़े का ‘कादंबरी’ (1902

ई.) शीर्षक विस्तृत निबंध का अनुवाद जो 'उपन्यास' शीर्षक से प्रकाशित किया गया है। इस लेख के संबंध में स्वयं नामवर सिंह की संपादकीय टिप्पणी है कि “ ‘आलोचना’ के लिए हमने विशेष रूप से अनुवाद कराया है। यह निबंध आज से छियासी वर्ष पहले 1902 में प्रकाशित हुआ था, फिर भी आज भी कितना प्रासंगिक है। हिंदी जगत तो खैर इससे एकदम अपरिचित है ही, मराठी में भी आज इससे कम लोग ही अवगत हैं। जहाँ तक अपनी जानकारी है, व्यापक सामाजिक, ऐतिहासिक परिदृश्य में 'उपन्यास' के उदय पर किसी भारतीय भाषा में लिखित यह पहला गंभीर निबंध है।”³² इसी संपादकीय वक्तव्य में एक टिप्पणी और भी है “हमारे विशेष अनुरोध पर मराठी के प्रबुद्ध नाटककार गोविंद देशपांडे ने राजवाड़े के व्यक्तित्व और उनके 'उपन्यास' शीर्षक निबंध के महत्त्व पर सारगर्भित टिप्पणी प्रस्तुत की है।”³³ यह उद्धरण ही नामवर सिंह के संपादकीय विवेक का और उनके संपादकीय दायित्व की गंभीरता का भी बोध कराता है। यह नामवर सिंह का संपादन दायित्व ही था, जिसके चलते किसी लेखक से मात्र एक टिप्पणी के लिए 'विशेष रूप से अनुरोध' करना पड़ा। नामवर सिंह द्वारा यह कार्य सिर्फ इसी टिप्पणी के लिए नहीं किया है, बल्कि 'आलोचना' में किसी विषय पर लेख आदि के प्रकाशन के लिए न जाने कितने लेखकों, कवियों, आलोचकों, और अनुवादकों से अनुरोध, आग्रह किया गया है। यहाँ इस संदर्भ में उल्लेखनीय है, रघुपति सहाय फिराक गोरखपुरी के चौथे दशक में अंग्रेज़ी में प्रकाशित लेख का हिंदी में अनुवाद कराकर नवांक-81 में 'महान कविता क्या है?' शीर्षक से प्रकाशित कराना। इसी प्रकार से वाल्टर बेंजामिन के 1930 के दशक में प्रकाशित लेख का हिंदी अनुवाद 'लेखक उत्पादक के रूप में शीर्षक से नवांक-17 में प्रकाशन। नवांक-92 में 'रस सिद्धांत' पर विशेष अंक वस्तुतः पूर्वप्रकाशित लेख का व्यवस्थित और नवीन रूप से पुनर्प्रकाशित सामग्री ही है।

नामवर सिंह के संपादकीय विवेक की महत्ता का पता तब चलता है जब उन्होंने मार्क्सवादी आलोचना की नवीन प्रवृत्तियों से पाठकों को परिचित कराने के उद्देश्य से प्रचुर सामग्री का

प्रकाशन किया। नामवर सिंह मार्क्सवादी आलोचना की नवीन बहसों को 'आलोचना' के माध्यम से प्रस्तुत करने का कार्य। उन्होंने मार्क्सवादी आलोचना के नवीन बहसों के प्रेरणास्रोत जार्ज लूकाच पर पूरा अंक ही संपादित किया। बाल्टर बेंजामिन, जेरेमी हाथर्न, हरबर्ट मारकूस, रेमंड विलियम्स आदि के लेखों का अनुवाद, इन पर अध्ययन पूर्ण लेख आदि का प्रकाशन करते हुए मार्क्सवादी कला-साहित्य चिंतन में चल रही नवीन बहसों से हिंदी पाठकों को परिचित कराने का कार्य किया। हिंदी की मार्क्सवादी आलोचना को नवीन दिशा देने का ही उनका उद्देश्य रहा है। इसके माध्यम से उन्होंने हिंदी की मार्क्सवादी आलोचना को नवीन सिद्धांतों से जोड़कर गैरमार्क्सवादी साहित्य-चिंतन एवं कलावादी चिंतन के विरुद्ध एक अत्यंत निर्णायक संपादक की भूमिका का निर्वहन किया। मार्क्सवादी आलोचना के विकास में उनके संपादकीय विवेक का यह अत्यंत महत्वपूर्ण और ऐतिहासिक योगदान है। इस संदर्भ में परमानंद श्रीवास्तव का अग्रलिखित वक्तव्य उपर्युक्त मत को ही पुष्ट करता है। "हिंदी आलोचना के पाठकों के लिए ऐसी महत्त्वपूर्ण सामग्री उपलब्ध कराने के पीछे महज साहित्य-शिक्षा के स्तरोन्नयन की चिंता न थी, मार्क्सवादी सौंदर्यशास्त्र की समस्याओं से गहरे स्तर पर उलझने-टकराने की कोशिश भी थी।"³⁴

यह नामवर सिंह का संपादकीय विवेक ही है जिसके कारण उन्होंने विशुद्ध आलोचना की पत्रिका में कविताओं का प्रकाशन किया। उनसे पूर्व 'आलोचना' के संपादकों ने उसे केवल आलोचनात्मक लेखन की पत्रिका के रूप में ही निकाला। जबकि 'आलोचना' को रचनात्मकता से जोड़ने का पहला काम नामवर सिंह ने ही किया। ध्यातव्य है कि यह रचनात्मकता भी केवल 'काव्य रचनाओं' तक सीमित है। आलोचनात्मक लेखन के बीच रचनात्मक लेखन की प्रस्तुति नामवर सिंह की कुशल संपादन-योजना का ही प्रमाण है। 'आलोचना' में प्रकाशित काव्य-रचनाएँ हिंदी कविता की युगीन प्रवृत्तियों की सूचना तो देती ही हैं, साथ ही साथ वे स्वयं नवीन युग-प्रवर्तनकारी भी हैं। उदाहरण के लिए धूमिल की लंबी कविता 'पटकथा' जलसाघर (श्रीकांत वर्मा) 'गिरीश की मृत्यु'

(रघुवीर सहाय) 'बाघ', 'ज़मीन (केदारनाथ सिंह), इस व्यवस्था में (लीलाधर जगूड़ी) पिता के लिए (मंगलेश डबराल) बलदेव शट्टिक (लीलाधर जगूड़ी) हसरूद्दीन (ऋतुराज), मुसलमान (देवी प्रसाद मिश्र), दीवार के इधर-उधर (सुल्तान अहमद) 'नगई महारा', चित्रा जाम्बोरकर (त्रिलोचन) इसी प्रकार से रामविलास शर्मा, कुँवर नारायण, केदारनाथ अग्रवाल, बोधिसत्व, नागार्जुन, विश्वनाथ त्रिपाठी, पंकज सिंह, सर्वेश्वर दयाल सक्सेना, मलयज आदि रचनाकारों की काव्य-रचनाएँ भी 'आलोचना' के कई अंकों में प्रकाशित है। इसी के साथ अन्य भारतीय और विदेशी भाषाओं का काव्यानुवाद भी 'आलोचना' में प्रमुखता से प्रकाशित है। जिनमें 'पाब्लो नेरुदा', 'बर्तोल्त ब्रेख्त', 'फैदेरीको गार्सिया लोर्का', 'यान्निस रित्सोस', 'अलेक्सांद्र त्वारदोवस्की', 'बोलशोयिंका', महमूद दरवेश आदि की काव्य-रचनाओं के अनुवाद प्रकाशित हैं, वहीं 'पाश', 'नारायण सुर्वे', नरसिंह रेड्डी, शमसुरहमान आदि अन्य भारतीय और विदेशी भाषाओं के कवियों का हिंदी अनुवाद प्रकाशित किया गया है। यहाँ प्रश्न किया जा सकता है कि साहित्य की ढेर सारी विधाओं में से केवल 'कविताओं' के प्रकाशन क्या बोध कराता है? वस्तुस्थिति यह है कि 'आलोचना' पत्रिका में नामवर सिंह द्वारा कविताओं के प्रकाशन के माध्यम से इस तथ्य को और बल मिला है कि हिंदी आलोचना मुख्यतः कविता केंद्रित है। दूसरी तरफ, इसके माध्यम से यह स्पष्ट किया गया है यदि वह कविता केंद्रित है, तो उस रचनात्मकता में होने वाले बदलाव को लक्षित किया जाए। इसके साथ-साथ हिंदी कविता को नवीन काव्य-प्रतिभाओं की प्रतिनिधि रचनाएँ छापकर उनके महत्त्व को प्रदर्शित किया जा सके।

इसी प्रकार समीक्षाओं को जिस प्रकार प्रकाशित किया गया है उससे नामवर सिंह के संपादकीय विवेक का ज्ञान होता है। नामवर सिंह ने अपने संपादन में उन्हीं पुस्तक-समीक्षाओं को प्रकाशित किया है जो मात्र 'पुस्तक परिचय' के रूप में हमारे सम्मुख नहीं प्रस्तुत होती हैं, बल्कि वैचारिक संघर्षों और साहित्यिक बहसों को गति प्रदान करती हैं। पुस्तक समीक्षा के संदर्भ में नामवर सिंह का एक अनूठा प्रयोग 'आलोचना' में देखा जा सकता है। नामवर सिंह के संपादन में कई अंकों

में ऐसा हुआ है कि एक ही पुस्तक की तीन-तीन या दो-दो समीक्षाएँ एक साथ प्रकाशित करते हैं। जैसे वह एक ही समीक्षक की समीक्षा से संतुष्ट न हों और समीक्ष्य कृति का कई दृष्टियों से मूल्यांकन चाहते हों। दूसरी तरफ उन्होंने यह भी प्रयोग किया है कि एक ही समीक्षक द्वारा एक ही अंक में चार-चार पुस्तकों की समीक्षाएँ प्रकाशित करते हैं। 'निराला की साहित्य 'साधना' पर नवांक-09 में तीन लेखकों की समीक्षा प्रकाशित है, 'कसप' उपन्यास की तीन समीक्षाएँ नवांक-64-65 में प्रकाशित हैं। दूसरे पक्ष का उदाहरण नवांक-10 में विष्णुचंद्र शर्मा द्वारा चार पुस्तकों की समीक्षाएँ प्रकाशित हैं। नवांक-11 में विष्णु खरे की चार पुस्तक समीक्षाएँ, नवांक-16 में विजयमोहन सिंह द्वारा तीन कृतियों की समीक्षा प्रकाशित हैं, तथा मधुरेश द्वारा की गई तीन पुस्तकों की समीक्षाओं को नवांक 36 में प्रकाशित किया गया है। स्पष्ट है कि इस तरह के कार्य संपादकीय विवेक की नूतन प्रयोग का परिचय तो है ही साथ समीक्षा-कर्म को मात्र 'पुस्तक परिचय' के संकुचित अर्थ के घेरे से निकाल कर उसका स्वरूप 'मूल्यांकन' के व्यापक अर्थ और वैचारिक संघर्ष के निहितार्थ को व्यंजित करना है।

किसी भी संपादक की संपादन कुशलता का पता उसके द्वारा लेखकों की त्रुटियों को सुधारते हुए उनके कार्यों का समूचे परिप्रेक्ष्य का उद्घाटन, नवीन प्रतिभाओं और उनके कार्यों को व्यापक पाठक समूह के बीच प्रस्तुत करना, युवा और नवीन मस्तिष्क को प्रोत्साहित साहित्य की भावी दिशा और दशा में युगांतरकारी कार्य किया जा सके, इस संदर्भ में यहाँ उल्लेखनीय है कि नामवर सिंह ने 'आलोचना' पत्रिका का संपादन करते हुए कई युवा प्रतिभाओं की आलोचनात्मक और रचनात्मक प्रतिभा को पहचाना, उन्हें प्रोत्साहित किया।

'आलोचना' पत्रिका के माध्यम से जिन युवा प्रतिभाओं को उन्होंने प्रोत्साहित किया जो आज की हिंदी आलोचना के गगन पर अपने प्रकाश से आलोकित हैं उनमें से कुछ प्रमुख नाम इस प्रकार देखे जा सकते हैं: 'वीरभरत तलवार', पुरुषोत्तम अग्रवाल, प्रदीप सक्सेना, रामबक्ष, मलयज,

शंभुनाथ आदि। इसी प्रकार वे अपनी समवयस्क प्रतिभाओं को लगातार लिखते रहने के लिए उत्साहित करते रहे और उनके कार्यों को 'आलोचना' पत्रिका में निरंतर प्रकाशित करते रहे। जिनमें रमेशकुंतल मेघ, मैनेजर पांडेय, शिवकुमार मिश्र, परमानंद श्रीवास्तव, विजयमोहन सिंह, नंदकिशोर नवल, पूरनचंद्र जोशी, राजेंद्र यादव, बच्चन सिंह, राधावल्लभ त्रिपाठी, वागीश शुक्ल, नेमिचंद्र जैन, गोपालराय, नरनारायणराय, खगेंद्र ठाकुर, रामचंद्र तिवारी, मधुरेश, विष्णुचंद्र शर्मा, प्रयाग शुक्ल, 'रवींद्रनाथ श्रीवास्तव', 'रमेशचंद्र शाह', 'अशोक वाजपेयी', 'विष्णु खरे', विश्वनाथ त्रिपाठी आदि कुछ महत्त्वपूर्ण नाम हैं।

नामवर सिंह के संपादकीय विवेक पर अपने आरंभिक विचार प्रस्तुत करते हुए परमानंद श्रीवास्तव लिखते हैं कि "आलोचना का संपादन भी नामवर सिंह के वैचारिक संघर्ष का ज़रूरी हिस्सा रहा है। नामवर सिंह के आलोचक-व्यक्तित्व में बहुत कुछ ऐसा है, जिस पर विचार करते हुए उनके संपादक व्यक्तित्व को याद करना ज़रूरी हो जाएगा।"³⁵ अपनी इसी थीसिस को आगे विस्तार देते हुए स्पष्ट करते हैं कि "यह मैं अपने अनुभव से कह सकता हूँ कि नामवर जी के लिए 'आलोचना' का संपादन और उनका अपना आलोचनात्मक संघर्ष बहुत कुछ अभिन्न रहा है।"³⁶ यदि इस थीसिस के आधार पर जब नामवर सिंह का संपादकीय विवेक संबंधी अध्ययन करते हैं तो हमें उनकी बातों को बहुत हद तक स्वीकार करना पड़ता है। इसके कई कारण हैं, एक तो परमानंद श्रीवास्तव स्वयं ही 'आलोचना' पत्रिका के 'सह-संपादक' रहे हैं यानी 'आलोचना' के संपादन से जुड़े रहने के कारण नामवर सिंह के सहयोगी रहे हैं। दूसरी तरफ जब नामवर जी के आत्मवक्तव्य में व्यक्त विचारों को और 'आलोचना' पत्रिका के प्रकाशन की विकास-यात्रा को पारस्परिक संदर्भों में रखकर देखते हैं तो श्रीवास्तव जी की उपर्युक्त थीसिस में बहुत हद तक सुसंगति दिखाई पड़ती है। इस प्रकार कहा जा सकता है कि " 'आलोचना' को सार्थक वाद-विवाद संवाद का आदर्श बनाने की सारी कल्पना नामवर सिंह के अपने आलोचनात्मक संघर्ष से अभिन्न

है। नामवर सिंह के संपादन में 'आलोचना' ने गहरे अर्थों में समकालीन सार्थकता प्राप्त की। मूल्यवान विचार संदर्भों की निरंतर उपस्थिति के साथ निकट के रचना परिदृश्य में सीधा हस्तक्षेप।³⁷ इस परिप्रेक्ष्य में यदि 'आलोचना' के अंकों को देखते हैं उससे नामवर सिंह की आलोचनात्मक प्रखरता और संपादकीय क्षमता की संयुक्तता का बोध होता है। यही कारण है कि "नामवर सिंह के संपादन प्रकाशन में 'आलोचना' के अंक अक्सर विवादास्पद भी रहे हैं जैसे उनका अपना आलोचक-व्यक्तित्व भी रहा है। विवादास्पद पर महत्वपूर्ण।"³⁸ नामवर सिंह द्वारा संपादित 'आलोचना' के आरंभिक अंकों को ही देखने से यह पता लग जाता है कि उनका संपादक-व्यक्तित्व उनके आलोचक-व्यक्तित्व से कितना आच्छादित है। नामवर सिंह जब 'आलोचना' का संपादन-दायित्व अपने हाथों में ग्रहण करते हैं वह समय नेहरू युग का अंत, शीत युद्ध का परिवेश, एक ऐसी युवा पीढ़ी के उभार का युग था, जिसने स्वतंत्र भारत में अपनी आँखें खोली थीं और जिसकी एक विचित्र स्थिति थी। वह न स्वतंत्र भारत की स्वप्नदर्शी था, और न उसका कोई मोहभंग था। वह युवा अपने समकालीन भारत के यथार्थ को देखकर बौखलाया हुआ था; गुस्से में था हमारा क्या होगा? और यह युवा पीढ़ी, जो सठोत्तरी पीढ़ी के नाम से जानी गई, उनके आक्रोश आदि को गलत ढंग से प्रस्तुत करने की कोशिश की जा रही थी, नामवर सिंह ने अपने समय की इस पीढ़ी के मन की बनावट को परखते हुए इस 'युवा लेखन' के स्वरूप का उद्घाटन के लिए 'आलोचना' पत्रिका को अत्यंत महत्वपूर्ण माध्यम के रूप में विकसित किया। उनके संपादन में 'आलोचना' के पहले अंक में 'धूमिल' की कविता प्रकाशित है। इस अंक का संपादकीय भी तत्कालीन रचनाशीलता यानी युवा पीढ़ी की रचना से संवाद के संदर्भ में ही उल्लेखनीय है। 'आलोचना' के आरंभिक अंकों में युवा लेखन को केंद्र में रखकर कई आलेख, निबंध आदि का प्रकाशन किया गया है। 'आलोचना' का नंदांक-04 (जनवरी-मार्च, 1968 ई.) में एक परिसंवाद 'युवा लेखन पर बहस' शीर्षक से आयोजित किया गया है। " 'आलोचना' के युवा लेखन केंद्रित

अंक के जरिए और उस समय के अन्य अंकों के जरिए भी नामवर सिंह ने युवा लेखन को साहित्यिक परिदृश्य के केंद्र में लाने की पहल की। यह वही समय था जब एक पीढ़ी के रघुवीर सहाय और दूसरी पीढ़ी के धूमिल की कविताएं व्यवस्था के प्रति एक ही तरह का असंतोष और बदलाव के लिए छटपटाहट प्रकट करती थीं।³⁹ और नामवर सिंह का विचार है कि “धर्मवीर भारती ने, कमलेश्वर ने इसी पीढ़ी पर हमला बोल दिया था। ‘धर्मयुग’ में ‘ऐय्याश प्रेतों का विद्रोह’ लेख छपा था। इस उभरती हुई युवा पीढ़ी में कविता में धूमिल, राजकमल जैसे लोग थे तो कहानी में ज्ञानरंजन, काशी, और दूधनाथ थे। नई कविता के रुमानी भावबोध में रचे-बसे लोग इस पीढ़ी का विरोध कर रहे थे तो मैंने ‘आलोचना’ का अंक युवा कविता (लेखन) पर एक बहस निकाला।”⁴⁰ इसी कारण से परमानंद श्रीवास्तव स्पष्ट शब्दों में कहते हैं कि “आलोचना-संपादक के रूप में नामवर सिंह की योजना के अंतर्गत ही ‘युवा-लेखन’ को उपयुक्त नाम देने के आरंभिक प्रयत्न संभव हुए।”⁴¹ इस प्रकार स्पष्ट है कि नामवर सिंह ने जिस प्रकार से युवालेखन पर अपनी आलोचनात्मक प्रतिभा को उसके महत्त्व का उद्घाटन किया, उसी प्रतिभा के बल पर कुशल संपादन-कला का परिचय देते हुए युवा पीढ़ी पर सकारात्मक ढंग से विचार करने का मार्ग प्रशस्त किया। इस पीढ़ी की अन्यतम देन ‘धूमिल’ की असामयिक मृत्यु पर उनकी श्रद्धांजलि में पूरे एक अंक का संपादन किया।

नामवर सिंह के संपादन में जब ‘आलोचना’ आई तब पूरा परिदृश्य चुनावी राजनीति का था, राजनीति का अतिक्रमण जीवन में महसूस किया जाने लगा था, लेकिन साहित्यिक आलोचना इस संदर्भों से कटी हुई थी। इसीलिए नामवर सिंह अपने आलोचनात्मक मेधा का प्रयोग करते हुए उसे सामाजिक-राजनीतिक सवालों से जोड़ने का कार्य ‘आलोचना’ के नवांक-1 में ‘चुनाव के बाद का भारत’ शीर्षक परिसंवाद का आयोजन करके किया। इसी प्रकार से ‘कविता और राजनीति’ शीर्षक से एक परिसंवाद स्वर्गीय मुक्तिबोध की इक्यावनवीं जन्मतिथि पर आयोजित कीं, जिससे

हिंदी आलोचना का विशुद्ध साहित्यिक स्वरूप में युगांतरकारी परिवर्तन करने की सामर्थ्य युक्त अंक प्रमाणित हुई। उसे 'सभ्यता समीक्षा' का स्वरूप देने का कार्य किया। और मुक्तिबोध पर 'आलोचना' पत्रिका का विशेषांक निकाल कर उन्हें नई कविता के केंद्र में स्थापित किया।

इसी तरह नामवर जी ने आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी की षष्ठिपूर्ति पर 'आलोचना की भाषा' शीर्षक से एक परिसंवाद का आयोजन किया। जिसके द्वारा आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी को हिंदी आलोचना में स्थापित करने का प्रयास किया। सवाल यह उठता है कि नामवर सिंह ने यह सब क्यों किया? नामवर सिंह का मानना है कि "आलोचक का एक मुख्य उद्देश्य यह भी है, जैसा कि इलियट ने कहा है कि हर आलोचक इतिहास का या अपनी परंपरा की पुनः व्यवस्था करता है। यों कहें कि आलोचना' का एक कैनन होता है यानी कि आपकी दृष्टि में जो सबसे महत्त्वपूर्ण है सार्थक है वह क्या है? आपकी सूची में कौन लोग हैं? आलोचक का दायित्व है साहित्य में प्रचलित कैनन पर विचार करना और जरूरत है तो उस कैनन को बदल देना।"⁴² स्पष्ट है कि नामवर सिंह यहाँ आलोचक के गुणों की चर्चा कर रहे हैं किंतु जब वह आगे की पंक्तियों में यह कहते हैं कि "अज्ञेय और नई कविता की इतनी धूम थी कि मुक्तिबोध जैसा महत्त्वपूर्ण कवि उपेक्षित था।... अब मैंने मुक्तिबोध पर विशेषांक निकाला। मुक्तिबोध पर किताब तो मैंने अलग से लिखी ही लेकिन विशेषांक पहले निकाला था... इस तरह मैंने कविता में कैनन को बदलने की कोशिश की।"⁴³ इसी प्रकार "हजारीप्रसाद द्विवेदी पर विशेषांक निकाल कर मैंने आलोचना के कैनन में परिवर्तन किया था।"⁴⁴ इस प्रकार यह स्पष्ट है कि उनका आलोचक और संपादक रूप किस तरह से एक दूसरे से संपृक्त है। नामवर सिंह 'आलोचना' का संपादन करते हुए हिंदी साहित्य में युगांतरकारी परिवर्तन करने का कार्य करते हैं, और यह कार्य प्रखर आलोचनात्मक विवेक से सम्पन्न संपादक के हाथों ही संभव हो सकता था नामवर सिंह का संपादकीय विवेक की ही परिणति है कि मुक्तिबोध, धूमिल और आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी की प्रतिभाओं को हिंदी जगत अत्यंत

सहजता से स्वीकार कर सका हिंदी साहित्य के इतिहास में उनके महत्त्व का उद्घाटन हो सका। ध्यातव्य है कि नामवर सिंह ने यह सभी कार्य 'आलोचना' पत्रिका के संपादन के मात्र चार अंकों के माध्यम से किया। इन्हीं चार अंकों के माध्यम से नामवर सिंह ने अपने संपादकीय विवेक का परिचय दिया। यह अलग-अलग संपादकीय विवेक था जिसमें शिवदान सिंह चौहान ठीक एक वर्ष पूर्व इन्हीं साहित्यिक परिस्थितियों एवं परिवेश में रहते हुए भी देख नहीं सके थे, जबकि नामवर सिंह ने 'आलोचना' के संपादन के माध्यम से अपने संपादकीय विवेक का परिचय दिया। वस्तुतः नामवर सिंह द्वारा 'आलोचना' का संपादन उनके आलोचनात्मक संघर्ष का हिस्सा रहा है। इसके अन्यतम उदाहरण के रूप में उनकी 'दूसरी परंपरा की खोज' संबंधी अवधारणा को देखा जा सकता है, जो पहली बार 'आलोचना' पत्रिका में ही प्रस्तुत की गई है।

इसी प्रकार 'हिंदी नवजागरण' संबंधी अध्ययन पर डॉ० रामविलास शर्मा से उनकी असहमति को 'आलोचना' के भारतेंदु और मैथिलीशरण गुप्त संयुक्तांक (नवांक-79) में देखा जा सकता है। इसी तरह 'आलोचना' के नवांक-29 (अप्रैल-जून 1974 ई.) में 'आज के युग में प्रगतिशीलता' विषय पर आयोजित अंक में उग्रवामपंथी दृष्टि से उनकी असहमति भी देखी जा सकती है। इसी प्रकार प्रेमचंद जन्मशती विशेषांक (नवांक-50-51) में एक ओर कलावादी चिंतकों से तो दूसरी ओर उग्रमार्क्सवादी आलोचकों से असहमति जताते हैं, वहीं प्रेमचंद का मूल्यांकन उदारवादी 'हाँ-ना-वादी दृष्टि' से करनेवालों का प्रखर विरोध करते हुए प्रेमचंद की वास्तविक छवि को प्रस्तुत करने के लिए मार्गप्रशस्त करते हैं। यही कारण है कि नामवर सिंह के लिए किसी की जन्मशती, पुण्यतिथि, स्मृति के "मौके पर 'आलोचना' का विशेष अंक आए, यह तो ज़रूरी है पर यह भी अधिक ज़रूरी है कि यह अंक प्रशस्ति अंक या उत्सव अंक न बने मूल्यांकन अंक बने। एक लंबे समय के आलोचनात्मक संघर्ष के अंतर्विरोध भी सामने आए। और यह 'आलोचना' से ही नहीं रचना से भी सामने आए। और हम 'आलोचना' से ही नहीं रचना से भी इस ऐतिहासिक क्षण को

रेखांकित करें।⁴⁵ स्पष्टतः कहा जा सकता है कि नामवर सिंह के लिए 'आलोचना' का संपादन उसे 'आलोचनात्मक विवेक की पत्रिका' के रूप में सुसंगत ढंग से समायोजित करने का प्रयास है। जिसमें उनका वैचारिक और आलोचनात्मक संघर्ष भी परिलक्षित होता है, वह संघर्ष चाहे आधुनिकतावादी-व्यक्तिवादी दृष्टि से हो, कलावादी साहित्य-दृष्टि से हो या मार्क्सवादी चिंतकों की उग्र वामपंथी दृष्टि से। वह पक्ष उनके द्वारा संपादित 'आलोचना' के अंकों में स्पष्ट लक्षित किया जा सकता है।

'आलोचना' पत्रिका की साहित्यिक पत्रिकारिता के संदर्भ में अन्यतम देन आलोचनात्मक लेखों, शोधपूर्ण आलेखों का धारावाहिक रूप से प्रकाशन में माना जाना चाहिए। यहाँ ध्यान देन की बात है, कि प्रायः पत्र-पत्रिकाएँ कहानियों उपन्यासों को ही धारावाहिक रूप में प्रकाशित किया करती थीं, किंतु कदाचित यह साहित्यिक पत्रकारिता के इतिहास में पहली बार हुआ कि 'जिसमें आलोचनात्मक लेखों को क्रम से, धारावाहिक रूप में प्रकाशित किया गया हो। आलोचनात्मक लेखों के 'आलोचना' पत्रिका में धारावाहिक प्रकाशन पहले होता है, जो बाद में पुस्तक रूप में प्रकाशित हुई, यह क्रम सिर्फ एक-दो पुस्तक तक सीमित न रहकर, कई पुस्तकों को 'आलोचना' में धारावाहिक रूप से प्रकाशित होते हुए देखा जा सकता है जो पहले-पहल लेख के रूप में ही 'आलोचना' में प्रकाशित हुईं। यहाँ उन पुस्तकों और उसके लेखकों के नाम ही गिनाए जा सकते हैं—नंदकिशोर नवल की पुस्तक 'हिंदी आलोचना का विकास', मैनेजर पांडेयकृत 'साहित्य और इतिहास दृष्टि', पूरनचंद्र जोशी 'परिवर्तन और विकास के सांस्कृतिक आयाम', इंद्रनाथ मदान 'आधुनिकता और हिंदी साहित्य', डॉ० रामविलास शर्मा 'महावीर प्रसाद द्विवेदी और हिंदी नवजागरण', 'घर की बात' आदि पुस्तकें पहले-पहल आलोचनात्मक लेखों के रूप में ही 'आलोचना' में प्रकाशित हुई थीं। स्पष्ट है कि 'आलोचनात्मक लेखों' को श्रृंखलावत तरीके से 'आलोचना' में प्रकाशित करना स्वयं हिंदी साहित्यिक पत्रकारिता के क्षेत्र में अन्यतम योगदान के रूप ग्रहण किया

जाना चाहिए। यह नामवर सिंह की संपादकीय विवेक की महत्ता को ही उद्घाटित करता है।

‘आलोचना’ पत्रिका में संपादन सहयोगी के रूप में परमानंद श्रीवास्तव के क्या अनुभव रहे हैं इसके माध्यम से भी नामवर सिंह के संपादकीय विवेक का अनुमान किया जा सकता है। “यह मैं अपने अनुभव से कह सकता हूँ कि... एक सामान्य अंक से वे कभी संतुष्ट न होते थे। सामान्य अंक में भी क्या महत्त्वपूर्ण सामग्री जा रही है, जा सकती है, वे इसके प्रति अधिक सचेत थे। जो महत्त्वपूर्ण योजनाएँ वे बनाते, जिन विषयों का वे चुनाव करते, जिनके लिए सामग्री जुटाने की जिम्मेदारी सौंपते, वह हमेशा उत्तेजित करनेवाला अनुभव सिद्ध होता। ऐसी महत्त्वाकांक्षा के अनुरूप हर अंक के लिए यथेष्ट सामग्री जुटा पाना आसान न था। चुनौती हर बार इस रूप में कि हम बहुत नया और महत्त्वपूर्ण दे सकें।”⁴⁶ नामवर सिंह के लिए ‘आलोचना’ के ‘अंक’ का क्या मतलब था इसे इस वक्तव्य के माध्यम से भी बेहतर जान सकते हैं “उनकी अपनी कल्पना के अनुसार किसी अंक की सार्थकता तभी मानी जानी चाहिए जब उसमें कुछ सर्वथा नया, नए सवाल उठानेवाला, नई उत्तेजना पैदा करनेवाला रचना संदर्भ मौजूद हो। नवीनता के लिए यह आग्रह नवीनता के प्रति कोरी आसक्ति से भिन्न, बौद्धिक सजगता या आलोचनात्मक चौकन्नापन लिए हुए था।”⁴⁷

परमानंद श्रीवास्तव अपने लेख में नामवर सिंह की संपादन-कला पर प्रमुखता से लिखते हुए भी इस तथ्य पर उचित ढंग से विचार नहीं करते हैं कि आखिर क्या कारण है कि ‘आलोचना’ पत्रिका के अधिकांश अंकों में संपादकीय वक्तव्य या टिप्पणी तक प्रकाशित नहीं है यानी ‘आलोचना’ के अधिकांश अंक बिना किसी संपादकीय के प्रकाशित हुए हैं। यह प्रवृत्ति भी हालांकि बाद की आलोचना में अधिक दिखाई पड़ती है। आरंभिक ‘आलोचना’ में ‘संपादकीय’ वक्तव्य इतने बड़े विस्तृत होकर प्रकाशित हैं कि उन्हें ‘संपादकीय आलेख’ का नाम दिया जा सकता है। किंतु बाद की आलोचना में यह ‘संपादकीय आलेख’ “यह अंक” शीर्षक से संपादकीय टिप्पणी के रूप में प्रस्तुत किया जाने लगा। इसके कई कारण हैं एक तो यह कि नामवर सिंह आजीविका के लिए

‘जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय’, नई दिल्ली में प्रोफेसर थे, दूसरी तरफ हिंदी आलोचकों में उनके जैसे वक्ता अन्य कोई दिखाई नहीं पड़ता, जिसके कारण उन्हें सभा संगोष्ठियों की भागदौड़ वाली जिंदगी से जुड़े रहे। इन सामान्य कारणों से अनुमान लगाया जा सकता है कि ‘आलोचना’ पत्रिका के संपादक के संपादक-व्यक्तित्व की सीमाओं का कारण क्या है? दूसरी तरफ, नामवर सिंह संपादकीय वक्तव्य तभी लिखते थे, जब उनके पास विचारधारा, कवि-लेखक, अथवा आलोचक अथवा किसी समस्या, से जब उन्हें बड़ी गंभीरता से जूझना होता था, तभी वह संपादकीय वक्तव्य या आलेख लिखते हुए देखे जा सकते हैं जिसका सुंदर उदाहरण ‘दूसरी परंपरा की खोज’ के संबंध में ‘कविता की दूसरी परंपरा’ (नवांक-83) का संपादकीय, या हिंदी नवजागरण की समस्याएँ (नवांक-79) अथवा नागार्जुन और त्रिलोचन पर लिखा गया उनका संपादकीय। स्पष्टतः कहा जा सकता है कि नामवर सिंह संपादित ‘आलोचना’ पत्रिका के प्रत्येक अंकों में संपादकीय का न होने का तात्पर्य उनके संपादक-व्यक्तित्व की अकुशलता का प्रमाण नहीं है, बल्कि संपादकीय विवेक का संबंध उसके प्रकाशन के पीछे की अंतर्दृष्टियों से होता है, उसके मूल्यवान सामग्री से होता है, साथ-ही-साथ उसके स्तरीय होने पर स्पष्ट होता है। कहना न होगा कि कई अंकों में संपादकीय वक्तव्य न होने के बावजूद, नामवर सिंह संपादित ‘आलोचना’ हिंदी आलोचना की सबसे सक्रिय पत्रिका रही है। उसका कारण यह है कि “नामवर सिंह के लिए ‘आलोचना’ पत्रिका के संपादन का अर्थ थाजड़ साहित्याभिरुचि और सैद्धांतिक संकीर्णता के विरुद्ध संघर्ष! निष्क्रिय और यथास्थितिवादी पोषक रसास्वाद के विरुद्ध तथा सार्थक सक्रिय मूल्यांकन के पक्ष में वैचारिक संघर्ष।”⁴⁸

हिंदी आलोचना में जिस सक्रिय आलोचनात्मक संघर्षों के साथ नामवर सिंह की उपस्थिति रही, उसी सक्रियता के साथ ‘आलोचना’ भी लगभग ढाई दशक तक हिंदी आलोचना के शिखर पर विद्यमान रही। यह नामवर सिंह के संपादकीय विवेक का परिणाम है कि जिस भी स्वरूप में उन्हें

वह प्राप्त हुई, उसे उससे कई दर्जे ऊपर पहुँचाते हुए हिंदी आलोचना में उसके महत्त्व को चिरस्थायी बना दिया। यह नामवर सिंह की संपादकीय दूरदर्शिता का ही परिणाम है कि 'स्कूटिनी' पत्रिका (एफ. आर. लीविस द्वारा संपादित) और 'न्यू लेफ्ट रिव्यू' जैसे ज्ञान, साहित्य आदि की स्तर वाली पत्रिकाओं के समकक्ष यदि हिंदी भाषा एवं साहित्य की किसी पत्रिका को रखा जाएगा तो वह 'आलोचना' पत्रिका ही होगी, ऐसा मेरा विश्वास है। और इसकी परीक्षा की जा सकती है।

संदर्भ :

1. दृष्टव्यकुम्हार, छोटाराम. 'आलोचना' संदर्भ कोश : 'आलोचना' पत्रिका का सर्वेक्षण और मूल्यांकन. जोधपुर. राजस्थानी ग्रंथागार, 1999. पृ. सं.- 03-15 तक में किया गया 'आलोचना' पत्रिका के इतिहास संबंधी अध्ययन। इस अध्ययन में उन्होंने 1951-1967 तक के दौर को 'पहला चरण' कहा है और 1967-1990ई. तक के दौर को 'दूसरा चरण' कहा है।
2. वही.
3. प्रभात. 'आलोचना' पत्रिका की समीक्षा'विकल्प' (अंक-2) नवंबर, 1967 ई., (संपा. शैलेश मटियानी. इलाहाबाद) : पृ. सं. 255.
4. कुम्हार, छोटाराम. 'आलोचना संदर्भ कोश : 'आलोचना' पत्रिका का सर्वेक्षण और मूल्यांकन. जोधपुर. राजस्थानी ग्रंथागार, 1999. पृ. सं. 11.
5. वही. पृ. सं. 11.
6. वही. पृ. सं. 11.
7. वही. पृ. सं. 11.
8. सिंह, विजेन्द्रनारायण. "सर्वहारा से सहारा तक". पाखी (नामवर सिंह पर केंद्रित अंक), (संपा. - प्रेम भारद्वाज) अक्टूबर, 2010 : पृ. सं. 160.
9. अग्रवाल, पुरुषोत्तम. शिवदान सिंह चौहान. नई दिल्ली : साहित्य अकादमी, 2007. में भारतीय साहित्य के निर्माता, (मानोग्राफ) पृ. सं. 27-28 पर उल्लिखित विचार.
10. वही. पृ. सं. 27.
11. वही. पृ. सं. 27.
12. वही. पृ. सं. 28.
13. दृष्टव्य. मधुरेश द्वारा लिखित पुस्तक 'मार्क्सवादी आलोचना और शिवदान सिंह चौहान' का समर्पण पृष्ठ.
14. मधुरेश. मार्क्सवादी आलोचना और शिवदान सिंह चौहान. पंचकूला : आधार प्रकाशन, 2011 : पृ. सं. 76.
15. वही. पृ. सं. 91.
16. वही. पृ. सं. 91.

17. शैलेश मटियानी द्वारा संपादित 'विकल्प' पत्रिका (प्रवेशांक), मई, 1967 ई. में प्रकाशित 'आलोचना' पत्रिका संबंधी सूचनाओं का विज्ञापन.
18. मधुरेश. मार्क्सवादी आलोचना और शिवदान सिंह चौहान. पंचकूला : आधार प्रकाशन, 2011 : पृ. सं. 93.
19. वही. पृ. सं. 97.
20. सिंह, नामवर. आत्मकथा-2. "रचना और आलोचना के पथ पर". 'तद्भव' (अंक-03) (संपा. अखिलेश) अप्रैल, 2000 : पृ. सं. 14.
21. वही. पृ. सं. 14.
22. वही. पृ. सं. 14.
23. दृष्टव्य. मधुरेश. मार्क्सवादी आलोचना और शिवदान सिंह चौहान. पंचकूला : आधार प्रकाशन, 2011 : पृ. सं. 90 पर इस संदर्भ में उल्लिखित विचार.
24. सिंह, नामवर. साक्षात्कार. "अब तक क्या किया, जीवन क्या जिया" साक्षात्कारकर्ता-असद जैदी और मंगलेश डबराल. 'कहना न होगा' संक. संपा. समीक्षा ठाकुर. नई दिल्ली : वाणी प्रकाशन, 1994. पृ. सं. 140.
25. सिंह, नामवर. आत्मकथा-2, "रचना और आलोचना के पथ पर". 'तद्भव' (अंक-03) (संपा. अखिलेश) अप्रैल, 2000 : पृ. सं. 15-16.
26. पांडेय, मैनेजर. समर्पण पृष्ठ. साहित्य के समाजशास्त्र की भूमिका. चंडीगढ़ : हरियाणा साहित्य अकादमी, 1989.
27. पांडेय, मैनेजर. भूमिका. "संग्रहत्याग न बिनु पहिचाने". साहित्य के समाशास्त्र की भूमिका। चंडीगढ़ : हरियाणा साहित्य अकादमी, 1989. पृ. सं. 14.
28. सिंह, नामवर. आत्मकथा-2 "रचना और आलोचना के पथ पर". 'तद्भव' (अंक-03) (संपा. अखिलेश) अप्रैल, 2000 : पृ. सं. 15.
29. वही. पृ. सं. 15.
30. वही. पृ. सं. 16.
31. सिंह नामवर. संपादकीय. 'आलोचना' (नवांक-84), जन-मार्च, 1988 : पृ. सं. 4.
32. वही. पृ. सं. 04.

33. वही. पृ. सं. 04.
34. श्रीवास्तव, परमानंद. “नामवर सिंह का आलोचनात्मक संघर्ष और ‘आलोचना’ का संपादन”. नामवर के विमर्श. संपा. सुधीश पचौरी. नई दिल्ली : प्रवीण प्रकाशन, 1995. पृ. सं. 339.
35. श्रीवास्तव, परमानंद. “ ‘आलोचना’ का संपादन और नामवर सिंह”. ‘दस्तावेज़’ (अंक-52) संपा. (विश्वनाथ प्रसाद तिवारी) जुलाई-सितं., 1991 : पृ. सं. 22.
36. श्रीवास्तव, परमानंद. “नामवर सिंह का आलोचनात्मक संघर्ष और ‘आलोचना’ का संपादन”. नामवर के विमर्श. संपा. सुधीश पचौरी. नई दिल्ली : प्रवीण प्रकाशन, 1995. पृ. सं. 342.
37. वही. पृ. सं. 345.
38. वही. पृ. सं. 335.
39. वही. पृ. सं. 335.
40. सिंह, नामवर. आत्मकथा-2 “रचना और आलोचना के पथ पर”. ‘तद्भव’ नवांक-03 (संपा. अखिलेश.) अप्रैल, 2000 : पृ. सं. 15.
41. श्रीवास्तव, परमानंद. “नामवर सिंह का आलोचनात्मक संघर्ष और ‘आलोचना’ का संपादन”. नामवर के विमर्श. संपा. सुधीश पचौरी. नई दिल्ली : प्रवीण प्रकाशन, 1995. पृ. सं. 334.
42. सिंह, नामवर. आत्मकथा-2 “रचना और आलोचना के पथ पर”. ‘तद्भव’ (नवांक-03) (संपा. अखिलेश.) अप्रैल, 2000 : पृ. सं. 15.
43. वही. पृ. सं. 15.
44. वही. पृ. सं. 15.
45. श्रीवास्तव, परमानंद. “नामवर सिंह का आलोचनात्मक संघर्ष और ‘आलोचना’ का संपादन”. नामवर के विमर्श. संपा. सुधीश पचौरी. नई दिल्ली : प्रवीण प्रकाशन, 1995. पृ. सं. 342.
46. वही. पृ. सं. 342.
47. वही. पृ. सं. 335.
48. वही पृ. सं. 333.



अध्याय : सात

अध्याय : सात

हिंदी आलोचना के विकास में 'आलोचना' पत्रिका का योगदान

नामवर सिंह संपादित 'आलोचना' पत्रिका का हिंदी आलोचना में क्या योगदान है, इस शोध कार्य के अलग-अलग अध्यायों में विभिन्न शीर्षकों के माध्यम से स्पष्ट किया जा चुका है। इसके बावजूद, 'आलोचना' के समग्र योगदान की अलग से चर्चा करने की आवश्यकता प्रतीत होती है। इस अध्याय में, सामान्यतः उन्हीं बिंदुओं को प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है, जिन पर पिछले अध्यायों की अलग-अलग प्रवृत्तियों के कारण सम्यक रूप से चर्चा नहीं हो पाई है, किंतु उनसे इस अध्ययन के समग्र एवं महत्वपूर्ण पक्ष उद्घाटित हो सकते हैं, उनसे 'आलोचना' पत्रिका के योगदान को और भी स्पष्ट ढंग से समझा जा सकता है। इसके अतिरिक्त, इन अध्यायों में आए उन तथ्यों और निष्कर्षों को प्रस्तुत करेंगे जिससे 'आलोचना' पत्रिका का और नामवर सिंह के संपादन के महत्व को समग्रता में समझा जा सके।

हिंदी आलोचना के विकास में पत्र-पत्रिकाओं की भूमिका कितनी निर्णायक रही है इस पर विश्वनाथ त्रिपाठी, नंदकिशोर नवल, निर्मला जैन, और मधुरेश जैसे हिंदी आलोचना के इतिहास लेखकों की प्रायः सहमति रही है। विश्वनाथ त्रिपाठी का मत है कि "भारतेंदु की ही भाँति प्रेमघन और भट्ट जी भी अनेक विषयों पर लेखनी चलाते थे, एवं पत्रकार और साहित्यकार थे।... इन्होंने अपने पत्रों में साहित्यिक कृतियों की भी समीक्षा की। हिंदी आलोचना का जन्म पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित इनकी इसी समीक्षा से हुआ।" निर्मला जैन आधुनिक युग में पत्र-पत्रिकाओं के प्रकाशन को 'बहुत बड़ी बात' के रूप में देखती हैं, और बीसवीं शताब्दी में पत्र-पत्रिकाओं के प्रकाशन की निरंतरता को 'अत्यंत महत्वपूर्ण घटना' मानती हैं। उनका मत है कि " 'सरस्वती के अतिरिक्त कुछ पत्र-पत्रिकाएँ पुस्तक-समीक्षा के ही उद्देश्य से प्रकाशित की गईं। 1902 ई० में जयपुर से

‘समालोचक’ नामक पत्र का प्रकाशन आरंभ हुआ। माधव मिश्र पहले ही 1900 ई० बनारस से ‘सुदर्शन’ निकाल चुके थे।... आरंभ में इन पत्रिकाओं में प्रकाशित होनेवाली पुस्तक-समीक्षाओं का स्वर परिचयात्मक था।... इस प्रकार के परिचयात्मक निबंधों के अतिरिक्त इसी समय प्राचीन और समसामयिक साहित्य पर कुछ मूल्यांकनपरक लेख भी सामने आए। ध्यान से देखा जाए तो हिंदी आलोचना की नींव सही अर्थों में इन्हीं लेखों से पड़ी।”² इस प्रकार, एकतरफ इन पत्र-पत्रिकाओं में समसामयिक साहित्य पर परिचयात्मक लेख, पुस्तक-समीक्षाएँ प्रकाशित हुईं, वहीं दूसरी तरफ “इन पत्रिकाओं में अक्सर प्राचीन लेखकों और साहित्य पर लेख प्रकाशित होते थे। परंतु उनका स्वर परिचयात्मक था, और उद्देश्य अपनी परंपरा का पुनरान्वेषण।”³ इन्हीं पुस्तक समीक्षाओं, समसामयिक और प्राचीन साहित्य पर लिखे गए परिचयात्मक लेखों से साहित्यिक ‘वाद-विवाद’ का वातावरण बना और हिंदी आलोचना की नींव पड़ी।

हिंदी में आलोचना की नींव पड़ते ही जिन दो प्रवृत्तियों को स्पष्टतः लक्षित किया जा सकता है, उसमें से एक प्रवृत्ति हैसमकालीन रचनाशीलता से सक्रिय संवाद। दूसरी प्रवृत्ति है, अपनी परंपरा का अन्वेषण और उसका मूल्यांकन। हिंदी आलोचना का सर्वांश प्रायः इन्हीं दो आधारों पर टिका हुआ है। बहुत बाद में एक और प्रवृत्ति का बीज पड़ा वह है, किसी ‘आलोचक की आलोचना का सम्यक मूल्यांकन। इस प्रवृत्ति के विकास में भी पत्र-पत्रिकाओं की अत्यंत महत्त्वपूर्ण भूमिका है।

कहने की आवश्यकता नहीं कि पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित लेखों और पुस्तक-समीक्षाओं से जिस हिंदी आलोचना की नींव पड़ी, नामवर सिंह द्वारा संपादित ‘आलोचना’ पत्रिका में विविध विषयों पर आयोजित परिसंवादों, संपादकीय वक्तव्यों, लेखों और शोधपरक आलेखों, साहित्यिक वाद-विवादों ने हिंदी आलोचना के भवन निर्माण में अपना बहुमूल्य योगदान दिया।

आलोचना की प्रकृति और स्वरूप को लेकर अधिकांश विद्वानों का यही मत है कि उसका

सीधा संबंध समकालीन रचनाशीलता से जुड़ा हुआ होता है। समकालीन रचनाशीलता से जुड़कर ही कोई आलोचना आलोचना बनती है। इस संदर्भ में यदि 'परंपरा के मूल्यांकन' के सवाल को देखें तो उसका भी संबंध किसी-न-किसी रूप में समकालीन रचनाशीलता से अवश्य रहता है। विश्वनाथ त्रिपाठी का मत है कि "परंपरा का मूल्यांकन भी एक प्रकार से समकालीन आलोचना का ही रूप है। इसीलिए मैं इसको बड़ा महत्त्व देता हूँ"⁴ इस प्रकार समकालीन रचनाशीलता के अध्ययन के अंतर्गत ही परंपरा के मूल्यांकन के प्रश्न को जोड़कर देखा गया है। किंतु इस अध्ययन में हम दोनों को अलग-अलग रखकर देखेंगे, जिससे नामवर सिंह संपादित 'आलोचना' पत्रिका के इन क्षेत्रों में दिए गए योगदान को स्पष्ट किया जा सके।

'आलोचना' पत्रिका की अपनी समकालीन रचनाशीलता को लेकर क्या दृष्टि रही है, तथा उसे किस रूप में प्रस्तुत कर सकी है उसकी सही छवि को पाठकों से परिचित कराने में उसकी क्या भूमिका रही है आदि सवालों का हल ढूँढने का प्रयास इस शोध प्रबंध के चतुर्थ अध्याय में किया जा चुका है। समकालीन रचनाशीलता को लेकर नामवर सिंह ने 'आलोचना' पत्रिका के माध्यम से कौन-सा महत्त्वपूर्ण कार्य किया है, उसकी सामान्य चर्चा भर का ही यहाँ स्थान है। नामवर सिंह द्वारा संपादित 'आलोचना' का अपने समकालीन समय की रचनाशीलता के बीच किस प्रकार की उपस्थिति रही है, उसे परमानंद श्रीवास्तव ने इन शब्दों में व्यक्त किया है "एक पत्रिका अपने समय के साहित्यिक परिदृश्य में कैसे हस्तक्षेप करती है, कैसे एक दौर के रचनात्मक बदलाव के लिए उपयुक्त नाम खोजने के लिए प्रयत्नशील होती है 'आलोचना' के अनेक अंक इसके उदाहरण हैं। निष्क्रिय जानकारी उपलब्ध करानेवाली पत्रिकाएँ हर दौर में मौजूद रही हैं, सक्रिय संवाद का जीवंत सिलसिला बनाए रखनेवाली पत्रिकाएँ पत्रकारिता के इतिहास में विरल हैं।"⁵

'आलोचना' पत्रिका ने समकालीन रचनाशीलता के संदर्भ में क्या योगदान दिया है, यदि इसे देखें तो उसका सबसे पहला और महत्त्वपूर्ण योगदान गजानन माधव मुक्तिबोध की इक्यावनवीं

जन्म तिथि पर आयोजित विशेषांक और उन पर कई अंकों में आलोचनात्मक लेखों को प्रकाशित किया गया है, जिसके माध्यम से मुक्तिबोध की रचना-प्रक्रिया, व्यक्तित्व और कृतित्व से हिंदी जगत परिचित हो सका। नामवर सिंह ने अपने संपादन में 'आलोचना' पत्रिका के माध्यम से गजानन माधव मुक्तिबोध को नई कविता के केंद्र में स्थापित करने का महत्वपूर्ण कार्य किया।

नामवर सिंह का संपादकीय विवेक उनके आलोचनात्मक विवेक से भिन्न नहीं है, और उनका मानना है कि "आलोचक का एक मुख्य उद्देश्य यह भी है, जैसा कि इलियट ने कहा है कि हर आलोचक इतिहास की या अपनी परंपरा की पुनः व्यवस्था करता है। यों कहें कि आलोचना का एक कैनन होता है यानी कि अपकी दृष्टि में जो महत्वपूर्ण हैसार्थक है वह क्या है? प्रचलित कैनन पर विचार करना और ज़रूरत हो तो उस कैनन को बदल देना"⁶ 'अब जब नामवर सिंह ने मुक्तिबोध पर 'आलोचना' का अंक संपादित किया उसके पीछे इसी कैनन परिवर्तन का सवाल सम्मुख था। उनका मत है कि "अज्ञेय और नई कविता की इतनी धूम थी कि मुक्तिबोध जैसा महत्वपूर्ण कवि उपेक्षित था... अब मैंने मुक्तिबोध पर विशेषांक निकाला। मुक्तिबोध पर किताब तो मैंने अलग से लिखी ही लेकिन विशेषांक पहले निकाला था।...इस तरह मैंने कविता में कैनन को बदलने की कोशिश की।"⁷ इसी तरह, नई कविता के रोमानी भावबोध युक्त पीढ़ी ने साठोत्तरी पीढ़ी के युवा रचनाकारों-लेखकों के सामाजिक-राजनीतिक परिप्रेक्ष्य की अवहेलना करते हुए उनका अवमूल्यन किया जा रहा था, उसे दौर में इस पीढ़ी के रचनाकारों-लेखकों को विद्रोह को 'ऐय्याश प्रेतों के विद्रोह' के रूप में प्रस्तुत किया जा रहा था, तब नामवर सिंह ने युवा लेखन को 'उसके सही परिप्रेक्ष्य में देखने और समझने के लिए 'आलोचना' पत्रिका में 'युवालेखन पर एक बहस' शीर्षक से परिसंवाद आयोजित किया। यही नहीं 'आलोचना' पत्रिका के आरंभिक अंकों में युवा लेखन पर केंद्रित कई आलेख और संपादकीय वक्तव्य देखने को मिल जाते हैं। उन्होंने युवा रचनाशीलता का मूल्यांकन करते हुए इसके केंद्र में 'धूमिल' की प्रतिभा को हिंदी पाठकों के समक्ष प्रस्तुत किया। और

‘धूमिल’ और राजकमल चौधरी को इस पीढ़ी की प्रमुख देन कहा। धूमिल की मृत्यु पर श्रद्धांजलि स्वरूप ‘आलोचना’ का अंक तैयार किया और इस साठोत्तरी कविता में ‘धूमिल’ को स्थापित करने का कार्य किया।

आपातकालोत्तर हिंदी कविता की रचनाशीलता के स्वरूप को समझने के लिए ‘आलोचना’ पत्रिका में कई लेख प्रकाशित किए गए हैं, जिससे ‘समकालीन कविता’, समकालीन कहानी का स्वरूप स्पष्ट हो सके। इस ‘समकालीन कविता’ के पारिभाषिक पदबंध को स्पष्ट करने के लिए नवांक-56-57 में ‘समकालीन कविता’ को समझाने के लिए काव्य-संग्रहों की समीक्षा प्रस्तुत की। ‘आलोचना’ में प्रकाशित लेखों के माध्यम से नागार्जुन और त्रिलोचन, केदारनाथ अग्रवाल, शमशेर बहादुर सिंह की पीढ़ी को समकालीन कवियों के प्रेरणा-स्तंभ के रूप स्थापित करने का कार्य करते हैं। नागार्जुन और त्रिलोचन के काव्य-व्यक्तित्व को हिंदी कविता की लोकधर्मी परंपरा से जोड़ते हुए उन्हें ‘दूसरी परंपरा की खोज’ के संबंध में उनका उल्लेख करते हैं। इस प्रकार हिंदी आलोचना में नागार्जुन और त्रिलोचन की कविता का भूमि तो सभी समझते थे, किंतु उनकी सार्थकता और महत्त्व ‘समकालीन कविता’ के संदर्भ में क्या है? इसे ‘आलोचना’ पत्रिका के नागार्जुन और त्रिलोचन विशेषांक के माध्यम से जाना तो गया ही, इसके अतिरिक्त, इसके विविध अंकों में प्रकाशित लेख आदि से भी उनके महत्त्व और सार्थकता को स्पष्ट करने में ‘आलोचना’ पत्रिका की निर्णायक भूमिका का ऐतिहासिक महत्त्व है। ‘आलोचना’ पत्रिका ने हिंदी कथा आलोचना को विकसित करने का भी कार्य किया। इस संदर्भ में ‘आलोचना’ पत्रिका की महत्त्वपूर्ण उपलब्धि विजयमोहन सिंह, गोपालराय और मधुरेश की कथालोचना है।

हिंदी-नाट्य-नाटक संबंधी अध्ययन अत्यंत शोचनीय अवस्था में रहा है। इस संदर्भ में ‘आलोचना’ पत्रिका का अन्यतम योगदान तब स्पष्ट होता है जब हम आलोचना के प्रत्येक दूसरे-तीसरे अंकों में नाटकों पर गंभीर शोधपूर्ण लेख, अथवा उसके अध्ययन संबंधी समस्याओं पर

लेख आदि देखते हैं। अपने समकालीन नाट्य संबंधी अध्ययन क्षेत्र में 'आलोचना' की महत्वपूर्ण देन 'नरनारायण राय', 'मनोहर काले', सत्येंद्रकुमार तनेजा आदि हैं। 'आलोचना' के पाठकों ने इन विद्वानों के निबंधों और लेखों से हिंदी नाटकों को समझने का प्रयास किया। हिंदी आलोचना के पाठक भी इनके लेखों में माध्यम से ही इनकी प्रतिभा से अवगत हो सके।

नामवर सिंह संपादित 'आलोचना' पत्रिका परंपरा को किस रूप में देखती है? और 'परंपरा के मूल्यांकन' संबंधी सवालों पर 'आलोचना' पत्रिका की क्या दृष्टि रही है. यह देखना अत्यंत महत्वपूर्ण है. क्योंकि हिंदी आलोचना में परंपरा के मूल्यांकन का प्रश्न सिर्फ साहित्यिक प्रश्न न रहकर कई स्तरों पर उसे सांस्कृतिक प्रश्न का रूप लेते देखा जा सकता है। नामवर सिंह के संपादन में 'आलोचना' पत्रिका ने 'परंपरा के मूल्यांकन' के प्रति जिस दृष्टि को विकसित किया है, वह न केवल हिंदी आलोचना के क्षेत्र में बल्कि किसी भी संस्कृति, परंपरा, और अतीत की जातीय चेतना के मूल्यांकन के क्षेत्र में अत्यंत ही मूल्यवान देन है। यदि ध्यान दें तो 'आलोचना' पत्रिका ने हिंदी आलोचना में परंपरा के मूल्यांकन के प्रश्न को गंभीर चुनौती के रूप में स्वीकार किया, इसका कारण यह था कि "एक ओर पुराणपंथी-पुनरुत्थानवादी ताकतें परंपरा-प्रेम के नाम पर समय तथा इतिहास के अग्रगामी चरणों का निषेध करते हुए हमें पूरी तरह अतीत में लौटा ले जाने को तत्पर हैं, और दूसरी अस्तित्ववादी-आधुनिकतावादी कलादृष्टियाँ परंपरा तथा इतिहास को पूरी तरह अमान्य करते हुए हमें न केवल अपने गत से वरन आगत से भी काटकर एक अभिशप्त नियति लिए हुए मात्र वर्तमान में ही जीने अथवा मौत के आतंक में जीने का दर्शन दे रही है. तथा साहित्य और कला-सर्जना में अपने गहरे निशान छोड़ रही है।"⁸ दूसरी तरफ मार्क्सवादी आलोचकों के यहाँ परंपरा के मूल्यांकन के संबंधी अध्ययन में भी घोर असंगतियाँ तोड़ मरोड़ और पूज्य भाव युक्त इतिहास विरोधी दृष्टि के कारण यह ज़रूरी हो गया था कि "इन पतनशील, इतिहास-विरोधी, विज्ञान-विरोधी, मनुष्यविरोधी, जीवन-दृष्टियों तथा कला दृष्टियों का विरोध करते हुए उनसे संघर्ष

करती हुई तथा साहित्य रचना और साहित्य समीक्षा की गौरवशाली जीवंत परंपरा को विकसित और पुष्ट करने के लिए कृत संकल्प रचनाकारों-विचारकों की जागरूक नई पीढ़ी को ऐसे सवालों के प्रति मुखातिब किया जाए जो उसे प्रतिगामी-प्रतिक्रियावादी शक्तियों से कारगर तरीके से निपटने में मदद दे सकें और उसके सामने 'परंपरा की सही छवि' को बराबर आलोकित किया जाए।'⁹

'आलोचना' पत्रिका ने 'परंपरा के मूल्यांकन' के संदर्भ में न केवल अपनी मूल्यवान सांस्कृतिक विरासत की सही छवि को बराबर आलोकित करती रही है, बल्कि अपनी सांस्कृतिक विरासत की प्रतिगामी-प्रतिक्रियावादी ताकतों के संगठित अभियान से रक्षा की है तथा उसने गौरवशाली जीवंत परंपरा को विकसित और पुष्ट करने के लिए कृत संकल्प रचनाकारों-विचारकों की जागरूक नई पीढ़ी को तैयार भी किया है। 'आलोचना' पत्रिका ने परंपरा के मूल्यांकन के संबंध में 'आलोचनात्मक रुख' का परिचय दिया है। नामवर सिंह की दृष्टि यह रही है हमें परंपरा के समस्त पक्षों "समस्त असंगतियों, अंतर्विरोधों के साथ इसलिए उनकी जो अतीतता है, उनके अंदर विरोध है, उनकी असंगतियाँ, इनका सही-सही वास्तविक ज्ञान हम प्राप्त करें। यानी हम तात्कालिक उपयोग के लिए उनका इस्तेमाल नहीं चाहते हैं, बल्कि उनके अपने सही ऐतिहासिक संदर्भ और उनके समस्त अंतर्विरोधों के साथ उपस्थित करके देखें।"¹⁰ इस प्रकार अपनी परंपरा और उसके मूल्यांकन के संदर्भ में एक ऐसी दृष्टि से संघर्ष करना था जो उसके प्रति श्रद्धाविगलित पूज्य-दृष्टि का भाव बनाए रखते हुए वर्तमान समस्या का हल अतीत में ढूँढ़ने का प्रयत्न कर रही थी जो परंपरा के मूल्यों को वर्तमान जीवन पर लागू करती थी। परंपरा के गौरव गान में उनकी असंगतियों की अनदेखी तथा उन्हें विस्मृत करते हुए आत्मविस्मृति में खो रहे थे। इसलिए 'आलोचना' पत्रिका में प्रकाशित लेखों और संपादकीय टिप्पणियों से एक ऐसी दृष्टि के विकास का प्रयत्न देखा जा सकता है, जो उपर्युक्त दृष्टि का प्रतिकार करती है। जो अपने अतीत अथवा अपनी सांस्कृतिक विरासत को उसके ऐतिहासिक संदर्भों में, युगीन सीमाओं में रखते हुए उसके अंतर्विरोधों के बीच रखकर

उसका मूल्यांकन करती है जिसमें अतीत की अतीतता को सुरक्षित रखते हुए उसकी 'विगत महत्ता और वर्तमान अर्थवत्ता' के लिए संघर्षपूर्ण रवैये को देखा जा सकता है, जिससे 'परंपरा की सही छवि' प्रस्तुत की जाए। इस परिप्रेक्ष्य में 'आलोचना' पत्रिका ने भारतेन्दु हरिश्चंद्र, मैथिलीशरण गुप्त, हिंदी नवजागरण और उस के अग्रदूतों का जो मूल्यांकन प्रस्तुत किया है उसमें इसी दृष्टि का परिचय मिलता है। इस संदर्भ में यहाँ उल्लेखनीय है। 'आलोचना' पत्रिका के लेखों के माध्यम से हिंदी आलोचना में जिस महत्वपूर्ण बहस की नींव पड़ी वह है हिंदी नवजागरण की संकल्पना। डॉ० रामविलास शर्मा की यह मौलिक संकल्पना पहले पहल 'आलोचना' पत्रिका के पृष्ठों पर ही अवतरित हुई। उनका लेख 'महावीरप्रसाद द्विवेदी और हिंदी नवजागरण' सर्वप्रथम 'आलोचना' पत्रिका में ही प्रकाशित हुआ। बाद में यह पुस्तक रूप में आई।

हिंदी नवजागरण की संकल्पना के अन्यान्य परिप्रेक्ष्य को स्पष्ट करने का काम 'आलोचना' पत्रिका में प्रकाशित लेखों संपादकीय टिप्पणियों के माध्यम से हुआ है। 'आलोचना' पत्रिका ने हिंदी नवजागरण की संकल्पना पर जमकर बहस चलाई है। 'आलोचना' का संपादन करते हुए नामवर सिंह अपने संपादकीय के माध्यम से इस का मूल्यांकन करते हुए इसके अन्यान्य पक्षों का उद्घाटन करते हैं। 'आलोचना' पत्रिका ने अपनी परंपरा के मूल्यांकन के प्रति जिस आलोचनात्मक विवेक का परिचय दिया है, वह हिंदी नवजागरण और उसके अग्रदूतों का समग्रता में अध्ययन का मार्गप्रशस्त करता है। इसलिए कहा जा सकता है, 'आलोचना' हिंदी की आलोचनात्मक विवेक की पत्रिका है। 'आलोचना' पत्रिका ने जिस आलोचनात्मक विवेक को हिंदी पाठकों में जाग्रत करने का प्रयास किया है, उससे हिंदी आलोचना में जनतांत्रिक और प्रगतिशील चिंतन युक्त एक स्वस्थ वातावरण निर्माण का कार्य किया है। परंपरा का कोई भी मूल्यांकन या तो इस आदर्श को अपनाएगा अथवा इस दृष्टि से टकराए बिना आगे नहीं बढ़ सकेगा।

इसके अतिरिक्त, 'आलोचना' पत्रिका की परंपरा के मूल्यांकन के संदर्भ में एक और

महत्त्वपूर्ण उपलब्धि प्रभुत्वशाली परंपरा के साथ-साथ दूसरी परंपराओं की महत्ता की स्थापना है। 'आलोचना' पत्रिका उन अन्य दूसरी परंपराओं की खोज का माध्यम बनती है, जिनका स्वर किसी प्रधान-परंपरा में उभर कर नहीं आ सका है। नामवर सिंह की यह मूल संकल्पना भी पहले पहल 'आलोचना' पत्रिका में स्थान पाती है जो आगे चलकर 'दूसरी परंपरा की खोज' नामक पुस्तक में अपना विस्तार पाती है। 'आलोचना' पत्रिका की हिंदी आलोचना को यह अत्यंत महत्त्वपूर्ण देन है, जिसमें साहित्य और संस्कृति की परंपरा में उन दबा दिए गए, हाशिए पर डाल दी गई परंपराओं-धाराओं को पुनर्जीवन मिला उनके अध्ययन के लिए नवीन दृष्टियों एवं चिंतन पद्धति को खोजने का प्रयास किया गया है। इसका संबंध-सूत्र नामवर सिंह की दृष्टि में संस्कृत की लोकधर्मी कविताओं से चलकर नागार्जुन, त्रिलोचन और बोधिसत्व तक आती है। यही नहीं नामवर सिंह के यहाँ इसका अर्थ उन सांस्कृतिक परंपराओं से भी है, जो आज अलग-अलग स्वर में अपना रूप लेते हुए दिखाई पड़ती हैं जिनका संबंध विभिन्न अस्मितावाले विमर्शों तक में देखा जा सकता है। 'दूसरी परंपरा की खोज' का संबंध आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी की साहित्य-इतिहास दृष्टि और परंपरा के अध्ययन की अन्यतम दृष्टि से जुड़कर स्पष्ट होता है। इस संबंध में 'आचार्य हजारीप्रसाद स्मृति-अंक' (नवांक-49-50) त्रिलोचन विशेषांक, (नवांक-82) और 'कविता की दूसरी परंपरा' संबंधी संपादकीय (नवांक-83) इसकी अवधारणात्मक पक्ष को स्पष्ट करते हैं। दूसरी परंपरा की खोज ने हिंदी आलोचना को जो अवधारणा दी है, उसका आधार प्रभुत्वशाली परंपरा के साथ अन्यान्य धाराओं को समान महत्त्व देने की प्रवृत्ति है, जिससे किसी भी चिंतन की वर्चस्वशाली परंपरा को चुनौती देनेवाली स्थितियों को उसकी नगण्यता में भी महत्त्व दिया जा सके। हिंदी आलोचना किसी भी अवांतर चिंतन पद्धति को दरकिनार करने का कार्य अब नहीं कर सकेगी।

हिंदी आलोचना में नवीन युग परिवर्तन तब लक्षित किया जा सकता है जब इससे मार्क्सवादी कला-साहित्य संबंधी चिंतन का जुड़ाव होता है। बीसवीं शताब्दी के चौथे दशक से हिंदी

आलोचना में इस साहित्य-चिंतन का प्रवेश हुआ, जिसने हिंदी आलोचना को वैज्ञानिक आलोचना बनाने और नवीन आलोचनात्मक दृष्टि को प्रस्तुत करने में अपना महत्तम योगदान दिया। आज जिसे हिंदी आलोचना कहते हैं, उसका प्रतिनिधित्व मार्क्सवादी साहित्य-कला चिंतन युक्त विद्वान-आलोचक ही कर रहे हैं। हिंदी आलोचना का अधिकांश मार्क्सवादी साहित्य और कला-चिंतन पर आधारित है और बहुलांश उससे प्रेरित है। इस मार्क्सवादी आलोचना के विकसित करने में नामवर सिंह संपादित 'आलोचना' पत्रिका का उल्लेखनीय और अविस्मरणीय योगदान है। इस संदर्भ में यहाँ उल्लेखनीय है कि नामवर सिंह स्वयं घोषित रूप में मार्क्सवादी आलोचक हैं और उनके द्वारा संपादित 'आलोचना' पत्रिका का वैचारिक आधार मार्क्सवादी चिंतन एवं विचारधारा से प्रतिबद्धता है।

जब चौथे दशक में हिंदी आलोचना में मार्क्सवादी साहित्य-चिंतन पर आधारित आलोचनात्मक प्रवृत्ति की नींव पड़ी उस समय मार्क्सवादी चिंतकों का काम मार्क्सवादी सिद्धांतों को कला और साहित्य पर लागू करते हुए मार्क्सवादी सौंदर्यशास्त्र को विकसित करना था। साहित्य और कला को सामाजिक-परिवर्तन के माध्यम के रूप में देखा गया। समाजवाद की स्थापना में साहित्य और कला को राजनीतिक हथियार के रूप में देखा गया है। उसके अतिरिक्त उस दौर में साहित्य और समाज के संबंध की व्याख्या, तथा शोषणकारी-उत्पीड़नकारी शक्तियों को पहचानने का काम भी किया गया। किंतु इस चिंतन की अवधारणाओं जैसे 'वर्ग-संघर्ष' और 'आधार-अधिरचना' को साहित्य और कला पर 'ज्यों का त्यों' फिट करने की कोशिश शुरू हुई। साहित्य और समाज में दर्पणवादी संबंध स्थापित किया जाने लगा। पार्टी की घोषणाओं पर रचनाओं का मूल्यांकन करते हुए, प्राचीन साहित्य को सामंती मानसिकता से ग्रस्त बताया गया, तो आधार और अधिरचना के बीच स्थिर व यांत्रिक संबंध के रूप में देखा गया, तथा व्यावहारिक समीक्षा में मार्क्सवादी अवधारणाओं को ही लागू किया गया, मार्क्सवादी पद्धति का ज्यादा उपयोग नहीं किया गया। इन सबके कारण

मार्क्सवादी आलोचना ने साहित्य की समस्याओं से जुड़ी अन्य कलावादी चिंतन पद्धति, नई समीक्षा पद्धति, साहित्य की भाषावादी चिंतन से उपजे सवालों का जवाब नहीं ढूँढ पा रही थी। गैर-मार्क्सवादी चिंतन और मार्क्सवादी चिंतन के बीच सैद्धांतिक और व्यावहारिक आलोचना में कई स्तरों पर 'व्यावहारिक लाचारी' का सामना करना पड़ा। परिणाम यह हुआ कि पश्चिम के मार्क्सवादी चिंतन एफ. आर. लीविस और 'स्कूटिनी' पत्रिका की नई समीक्षा पद्धतियों के सम्मुख परास्त हुई तो, हिंदी की मार्क्सवादी आलोचना की पत्रिका 'आलोचना' शिवदान सिंह चौहान के हाथों से निकल धर्मवीर भारती और उनके संपादन समूह के हाथ में चली आई, कलावादी-आधुनिकतावादी चिंतन के लिए जिनकी ख्याति थी। इस प्रकार चौथे दशक की मार्क्सवादी आलोचना को छठे दशक की रूपवादी, भाषावादी, कलावादी नई मोर्चे पर पराजय का सामना करना पड़ा। यह वह समय था जहाँ मार्क्सवादी चिंतन को स्तालिनोत्तर मार्क्सवादी चिंतन से जोड़ना था, जिसमें मार्क्सवादी साहित्य चिंतन को यांत्रिक पद्धतियों से मुक्त कर उसके सर्जनात्मक विकास का मार्ग प्रशस्त हो सके, जिससे तद्गुणीन अस्तित्ववादी, नई समीक्षा पद्धतियों की कलावादी चिंतन को पटकनी दी जा सके। जिसके फलस्वरूप पश्चिमी साहित्य और कला-चिंतन में मार्क्सवादी आलोचना की नवीन बहसों का सूत्रपात हुआ, जिसमें जार्ज लूकाच, अतोनियो ग्राशी, ब्रेख्त, हरबर्ट मार्कूस, वाल्टर बेंजामिन, रेमंड विलियम्स जैसे विद्वान-चिंतकों ने नवीन आयाम जोड़ें जिनके माध्यम से मार्क्सवादी आलोचना ने अपने युग के प्रश्नों का उत्तर देने का कार्य किया जिसमें 'न्यू लेफ्ट रिव्यू' पत्रिका महत्वपूर्ण माध्यम बनी। वहीं हिंदी की मार्क्सवादी आलोचना जो शीतयुद्धकालीन दौर से गुजर रही, जिसके पास भी आधुनिकतावादी, कलावादी चिंतन से निपटने के लिए वही पुरानी यांत्रिक मार्क्सवादी अवधारणाएँ ही थीं, यहाँ हिंदी में मार्क्सवादी आलोचना को पुनर्जीवन की, नवीनीकरण की तीव्र आवश्यकता थी। इस आवश्यकता की पूर्ति का काम नामवर सिंह ने अपने आलोचनात्मक लेखों-संपादकीयों के माध्यम से किया। इस कार्य में

‘आलोचना’ पत्रिका माध्यम बनी।

हिंदी की मार्क्सवादी आलोचना की नवीन बहसों को सबसे पहले नामवर सिंह संपादित ‘आलोचना’ पत्रिका में एक निश्चित उद्देश्य को व्यवस्थित ढंग से स्थान मिलना शुरू हुआ। यह नामवर सिंह का संपादकीय विवेक ही था जिसने मार्क्सवादी आलोचना की नवीन व्याख्याओं और संदर्भों से हिंदी-आलोचना संसार को समृद्ध किया। ‘आलोचना’ पत्रिका में अंकों में मार्क्सवादी आलोचना की दूसरी परंपरा के चिंतकों के लेख, व्याख्यान और शोधपूर्ण पत्रों को हिंदी में अनूदित करवाकर प्रकाशित किया। मार्क्सवादी आलोचना की नई बहसों के सूत्रधार जार्ज लूकाच पर ‘आलोचना’ पत्रिका का एक अंक आयोजित किया। ग्राम्शी से हिंदी जगत को परिचित कराने का श्रेय नामवर सिंह को प्राप्त है। इसके लिए ‘आलोचना’ पत्रिका एक महत्त्वपूर्ण माध्यम बनी। ‘आलोचना’ पत्रिका में वाल्टर बेंजामिन और रेमंड विलियम्स के कई लेखों का अनुवाद प्रकाशित करते हुए हिंदी की मार्क्सवादी आलोचना को कलावादी साहित्य-चिंतन के विरुद्ध खड़ा करने में अपना महत्त्वपूर्ण योगदान दिया। ‘आलोचना’ पत्रिका को मार्क्सवादी चिंतन की नवीन धारा की पत्रिका के रूप में विकसित किया। यह अनुमान का विषय नहीं, बल्कि तथ्य है कि यदि नामवर सिंह अपने आलोचनात्मक विवेक का परिचय देते हुए हिंदी आलोचना को मार्क्सवादी आलोचना की नवीन पद्धतियों, नई मान्यताओं से नहीं जोड़ते तो हिंदी की मार्क्सवादी आलोचना के पास यांत्रिक और स्तालिनकाल की मार्क्सवादी चिंतन पद्धति ही हमारे पास रहती है। शिवदान सिंह चौहान बनाम रामविलास शर्मा का द्वंद्व हमारे सम्मुख रहता परंतु मार्क्सवादी आलोचना वहाँ नहीं ही रहती। ‘आलोचना’ पत्रिका के माध्यम से नवमार्क्सवादी आलोचना को प्रस्तुत करते हुए नामवर सिंह, पश्चिमी कलावादी चिंतन और आधुनिकतावादी चिंतन से बार-बार टकराते हुए देखे जा सकते हैं। नामवर सिंह को इस बात की पूरी जानकारी थी, हिंदी में ‘कलावाद’ अपना पैर जमा रहा था, जिसकी परिणति, पूर्वग्रह’ पत्रिका के प्रकाशन के रूप में देखी जा सकती है। नामवर सिंह स्वयं एक

साक्षात्कार में स्पष्ट करते हैं कि “ ‘पूर्वग्रह’ पत्रिका असल में ‘आलोचना’ के विरोध में निकली थी सन् 72-73 में और यह बात मुझे मालूम थी। ‘आलोचना’ में मार्क्सवादी दृष्टि थी तो इसके विरोध में ‘पूर्वग्रह’ को एक कलावादी या रूपवादी दृष्टि से निकाला गया।”¹¹ इसलिए ‘पूर्वग्रह’ पत्रिका की कलावादी दृष्टि के विरुद्ध ‘आलोचना’ पत्रिका ने साहित्य की मार्क्सवादी दृष्टि का निरंतर विकास किया। ‘आलोचना’ इस कलावादी-रूपवादी रुझान के विरुद्ध एक व्यापक आधार निर्मित करने में सफल रही। ‘आलोचना’ ने मार्क्सवादी चिंतन की नवीन पद्धतियों के माध्यम से हिंदी में कलावादी-रूपवादी चिंतन को रोकने का कार्य किया। आज हिंदी में मार्क्सवादी आलोचना जिस रूप में भी अपने उन्नयन को पहुँची है, उसको यहाँ तक लाने में ‘आलोचना’ पत्रिका का अत्यंत ही महत्त्वपूर्ण योगदान है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि ‘आलोचना’ पत्रिका घोषित रूप से मार्क्सवादी साहित्य-चिंतन को प्रश्रय देनेवाली पत्रिका रही है, इसने साहित्य की कलावादी चिंतन धारा के विरुद्ध अपना एक मार्क्सवादी आधार विकसित किया, जिसके माध्यम से हिंदी में मार्क्सवादी साहित्य-चिंतन को अत्यंत ही विस्तार मिला। शक्ति मिली। और ऊर्जा भी। ध्यातव्य है, कि ‘आलोचना’ पत्रिका सिर्फ कलावादी-रूपवादी चिंतन का ही विरोध नहीं करती है, बल्कि यांत्रिक व रूढ़ मार्क्सवादी चिंतन और उग्रवामपंथ के साथ-साथ स्थूल समाजशास्त्रीय चिंतन की भी विरोधी रही है, इसका उदाहरण ‘आलोचना’ के लेनिन विशेषांक, और जार्ज लूकाच और लूसिएँ गोल्डमान अंक में देखा जा सकता है। इससे यह स्पष्ट है कि ‘आलोचना’ पत्रिका ने मार्क्सवादी आलोचना की पक्षधरता करते हुए उसके सर्जनात्मक विकास को महत्त्व देती है। हिंदी की मार्क्सवादी आलोचना को पुनर्जीवन तथा उसे नवीन रूप देने में रूपवादी-कलावादी चिंतन के विरुद्ध संघर्ष में ‘आलोचना’ पत्रिका की निर्णायक भूमिका है। यही नहीं मार्क्सवादी आलोचना को आचार्य रामचंद्र शुक्ल, आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी और डॉ० रामविलास शर्मा से जोड़कर उसे हिंदी की आलोचना परंपरा से उसका

संबंध स्थापित किया। और उनपर विशेषांक निकाले। उनकी प्रगतिशील चिंतन-धारा का उद्घाटन करते हुए इन आलोचकों को मार्क्सवादी आलोचना की पूर्व पीठिका से जोड़ने का काम किया। और यह स्पष्टतः यह बोध कराया कि हिंदी आलोचना की मार्क्सवादी परंपरा इन्हीं महानुभावों के पदचिह्नों पर चलकर ही अपना विकास कर सकती है। यह हिंदी आलोचना के विकास में 'आलोचना' पत्रिका की अन्यतम देन है। इस प्रकार नामवर सिंह संपादित 'आलोचना' पत्रिका के माध्यम से हिंदी आलोचना मार्क्सवादी आलोचना की नवीन बहसों से समृद्ध हुई।

इसके अतिरिक्त, 'आलोचना' पत्रिका ने साहित्य अध्ययन की अन्य प्रवृत्तियों से भी हिंदी आलोचना और हिंदी पाठकों से परिचित कराया। इस संदर्भ में उल्लेखनीय है, 'शैलीविज्ञान' जैसी साहित्यिक अध्ययन की नवीन प्रवृत्ति। "उस समय 'शैली विज्ञान' की नई चीज़ चली थी जिसके अंतर्गत किसी साहित्यिक कृति का अध्ययन हम उसकी भाषा का विश्लेषण करते हुए करते हैं। इस विषय पर हमने रवींद्रनाथ श्रीवास्तव के कई लेख 'आलोचना' में छापे। बाद में 'शैली विज्ञान' पर उनकी पुस्तक भी आई। बाद में और भी लोगों ने लिखा लेकिन शुरुआत करने का श्रेय 'आलोचना' को ही जाता है।"¹² इस विषय पर 'आलोचना' में कृपाशंकर सिंह, विद्यानिवास मिश्र और बच्चन सिंह के लेख आदि भी उल्लेखनीय हैं, जिसने शैली वैज्ञानिक अध्ययन की एक शाखा को ही विकसित करने का काम किया।

नामवर सिंह संपादित 'आलोचना' पत्रिका का साहित्य-अध्ययन के क्षेत्र में नवीन और अन्यतम अवदान 'साहित्य के समाजशास्त्रीय चिंतन की प्रस्तावना' प्रस्तुत करने में दिखाई पड़ता है। इस संदर्भ में नामवर सिंह का मत है कि " 'आलोचना' में जिस दूसरी प्रवृत्ति का प्रारंभ मैंने किया, वह प्रवृत्ति है 'साहित्य के समाजशास्त्र' की। यों तो साहित्य और समाज के रिश्ते पर बहुत पहले से विचार होता आ रहा था, लेकिन बगैर यह जाने कि इसका एक शास्त्र भी होता है। साहित्यशास्त्र है तो समाजशास्त्र भी है। समाजशास्त्र के लोग इस रिश्ते को कैसे देखते हैं? इसकी

पद्धतियाँ क्या हैं? कैसे विकसित हुई हैं? इन सब प्रश्नों को 'आलोचना' के मंच से सामने लाने का प्रयत्न किया।¹³ इस तथ्य की पुष्टि मैनेजर पांडेय की पुस्तक 'साहित्य के समाजशास्त्र की भूमिका' के समर्पण पृष्ठ से होती है, जिसमें नामवर सिंह को समर्पित करते हुए यह वक्तव्य प्रकाशित है कि "डॉ० नामवर सिंह को सादर जिनके प्रयत्न से 'साहित्य का समाजशास्त्र' हिंदी में आया है।"¹⁴ साहित्य के समाजशास्त्र को हिंदी में लाने में 'आलोचना' पत्रिका की क्या भूमिका रही है, उसे इन शब्दों में व्यक्त करते हैं "साहित्य के समाजशास्त्र को हिंदी में ले आने, उसकी विभिन्न दृष्टियों और आलोचनात्मक उपलब्धियों से हिंदी के पाठकों को परिचित कराने और उस पर बहस चलाने का काम 'आलोचना' पत्रिका के माध्यम से डॉ० नामवर सिंह ने किया है।"¹⁵

इसी तरह साहित्य की सौंदर्यशास्त्रीय अध्ययन की दशा और दिशा क्या हो सकती है, इस प्रवृत्ति को स्पष्ट करनेवाले कई लेख नामवर सिंह ने 'आलोचना' पत्रिका में प्रकाशित किए हैं। इस प्रकार हिंदी आलोचना में सौंदर्यशास्त्र संबंधी अध्ययन की विविध प्रवृत्तियों को स्पष्ट करने में 'आलोचना' की महत्वपूर्ण भूमिका रही है।

'आलोचना' पत्रिका की साहित्यिक पत्रिकारिता के संदर्भ में अन्यतम देन आलोचनात्मक लेखों, शोधपूर्ण आलेखों का धारावाहिक रूप से प्रकाशन में माना जाना चाहिए। यहाँ ध्यान देने की बात है, कि प्रायः पत्र-पत्रिकाएँ कहाँनियों, उपन्यासों को ही धारावाहिक रूप में प्रकाशित किया करती थीं, किंतु कदाचित यह साहित्यिक पत्रकारिता के इतिहास में पहली बार हुआ कि 'जिसमें आलोचनात्मक लेखों को क्रम से, धारावाहिक रूप में प्रकाशित किया गया हो। 'आलोचना' पत्रिका में आलोचनात्मक लेखों का धारावाहिक प्रकाशन पहले होता है, जो बाद में पुस्तक रूप में प्रकाशित हुई, यह क्रम सिर्फ एक-दो पुस्तक तक सीमित न रहकर, कई पुस्तकों को 'आलोचना' में धारावाहिक रूप से प्रकाशित होते हुए देखा जा सकता है जो पहले-पहल लेख के रूप में ही 'आलोचना' में प्रकाशित हुईं। यहाँ उन पुस्तकों और उसके लेखकों के नाम ही गिनाए जा सकते

हैनंदकिशोर नवल की पुस्तक 'हिंदी आलोचना का विकास', मैनेजर पांडेयकृत 'साहित्य और इतिहास दृष्टि', पूरनचंद्र जोशी 'परिवर्तन और विकास के सांस्कृतिक आयाम', इंद्रनाथ मदान 'आधुनिकता और हिंदी साहित्य', डॉ० रामविलास शर्मा 'महावीर प्रसाद द्विवेदी और हिंदी नवजागरण', 'घर की बात' आदि पुस्तकें पहले-पहल आलोचनात्मक लेखों के रूप में ही 'आलोचना' में प्रकाशित हुई थीं। स्पष्ट है कि 'आलोचनात्मक लेखों' को श्रृंखलावत तरीके से 'आलोचना' में प्रकाशित करना स्वयं हिंदी साहित्यिक पत्रकारिता के क्षेत्र में अन्यतम योगदान के रूप ग्रहण किया जाना चाहिए। यह नामवर सिंह की संपादकीय विवेक की महत्ता को ही उद्घाटित करता है।

आरंभिक अध्यायों में यह स्पष्ट किया जा चुका है कि हिंदी में आलोचना का सूत्रपात 'पहले-पहल' पुस्तक समीक्षा के रूप में ही हुआ है, जिनका संबंध पुस्तकों के गुण-दोष-विवेचन अथवा 'पुस्तक-परिचय' की सीमा तक रहना होता था, जब कि 'आलोचना' पत्रिका के पुस्तक-समीक्षाओं को प्रकाशित करते हुए उसके स्वरूप और धारणा में ही बदलाव लाने का कार्य किया। 'आलोचना' पत्रिका ने पुस्तक-समीक्षाओं को वैचारिक बहसों को केंद्र में रखने का काम किया। यह बहस किसी पुस्तक की समीक्षा पर स्वयं पुस्तक लेखक और समीक्षक के बीच साहित्यिक बहस की विषय-वस्तु बनती है, या उन समीक्षाओं पर कोई समीक्षक या पाठक अपनी पाठकीय प्रतिक्रिया व्यक्त करते हुए देखा जा सकता है। इसलिए 'आलोचना' पत्रिका ने 'पुस्तक समीक्षा' के स्वरूप को ही वैचारिक बहस के रूप में बदलने की कोशिश की, इसके लिए नामवर सिंह ने अपने संपादकीय विवेक का परिचय देते हुए 'आलोचना' में दो पद्धतियों का प्रयोग करते हैं। एक पद्धति तो यह अपनाई गई है कि किसी एक साहित्यिक कृति पर दो-दो अथवा तीन-तीन समीक्षकों की समीक्षाएँ एक साथ प्रकाशित की गयी हैं, वहीं दूसरी पद्धति पहली पद्धति से बिल्कुल ही उलट है यानी एक समीक्षक द्वारा चार-चार पुस्तकों की समीक्षाएँ एक ही अंक में प्रकाशित की गई हैं। इस प्रकार 'आलोचना' ने पुस्तक-समीक्षाओं को तो 'पुस्तक-परिचय' के रूढ़ अर्थ से मुक्त करने का अत्यंत महत्वपूर्ण कार्य

किया। पुस्तक-समीक्षाओं को 'पुस्तक-परिचय' से मुक्त कर वैचारिक संघर्ष की चेतना के निर्माण की आधारशिला के रूप में प्रस्तुत करने का कार्य किया।

किसी आलोचक के लिए आलोचना-कर्म में प्रवृत्त होने के लिए कितनी तैयारी की ज़रूरत होती है विस्तृत ज्ञान और अध्ययन चाहिए, इस संदर्भ में आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने अत्यंत ही महत्वपूर्ण बात कही है "उच्चकोटि की आधुनिक शैली की समालोचना के लिए विस्तृत अध्ययन, सूक्ष्म अन्वीक्षण बुद्धि और मर्मग्रहणी प्रज्ञा अपेक्षित है।"¹⁶ इसी तरह आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी भी 'आलोचना' के लिए गंभीर तैयारी की आवश्यकता अनुभव करते हैं। आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी के संदर्भ में डॉ० रामविलास शर्मा एक महत्वपूर्ण तथ्य को स्पष्ट करते हुए लिखते हैं कि "द्विवेदी जी सीमित अर्थ में साहित्यकार नहीं है। उनका उद्देश्य हिंदी प्रदेश में नवीन सामाजिक चेतना का प्रसार करना है। इस उद्देश्य की सिद्धि के लिए वह समाज-विज्ञान, प्रकृति-विज्ञान, दर्शनशास्त्र और साहित्य, इन सभी के विकास के लिए प्रयत्न करते हैं।"¹⁷ यह प्रयत्न जहाँ स्वयं द्विवेदी जी के ज्ञान वैविध्य को स्थापित करता है वहीं डॉ० रामविलास शर्मा की दृष्टि भी इस विस्तृत ज्ञानानुशासन पर इसलिए गई कि स्वयं उनके ज्ञान का विस्तार विविध अनुशासनों तक जाता है। डॉ० शर्मा के विस्तृत ज्ञान क्षेत्र के संबंध में प्रदीप सक्सेना का मत है कि "रामविलास शर्मा का रेंज, कार्यों के क्षेत्र और ज्ञान की विविधता का रेंज इतना बड़ा है कि उसका परिचय हमारी और अनुगत पीढ़ी को मिलना ही चाहिए। ज्ञान के तमाम अनुशासनों में उन्होंने गति की है। उनकी प्रतिभा का विस्फोट अत्यंत व्यापक है।"¹⁸ स्पष्ट है कि सभी बड़े आलोचकों ने आलोचना के क्षेत्र में विस्तृत ज्ञान और सूक्ष्म अन्वेषण बुद्धि की तीव्र आवश्यकता महसूस की है, यह स्थिति सिर्फ आलोचकों के लिए ही नहीं आलोचना के पाठकों के लिए भी अपेक्षित है। इसीलिए किसी समय आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने क्षोभ प्रकट करते हुए ये विचार व्यक्त किया था कि "हमारे साहित्य की सबसे बड़ी कमजोरी यह है कि इसमें उन नवीन

ज्ञान-विज्ञान की शाखाओं पर पर्याप्त पुस्तकें नहीं हैं जिनके अध्ययन-मनन के बाद ही आधुनिक सांस्कृतिक दृष्टि उत्पन्न होती है... साहित्य की ऊँचाई के लिए जिस विशाल चौकी की आवश्यकता होती है, वह हमारे पास नहीं है।”¹⁹ यदि ध्यान दिया जाए तो नामवर सिंह अपने संपादन के माध्यम से ‘आलोचना’ पत्रिका में आलोचना में प्रवृत्त होने लायक विपुल सामग्री को प्रकाशित करते हैं, जिससे वास्तव में ‘आधुनिक सांस्कृतिक दृष्टि उत्पन्न होती है।’ ‘आलोचना’ पत्रिका में साहित्य की विविध अध्ययन पद्धतियों से जुड़ी हुई उच्च कोटि की अध्ययन सामग्री प्रकाशित हैं। यह सामग्री हिंदी आलोचना के क्षेत्र के उन आलोचकों के द्वारा प्रस्तुत की गई है, जिससे समकालीन हिंदी आलोचना का बहुलांश निर्मित हुआ है। ‘आलोचना’ में शोधपूर्ण आलेख, अनूदित निबंध, पुस्तक समीक्षाएँ, संपादकीय वक्तव्यों के माध्यम से गंभीर, गूढ़ और गहन मेधा युक्त सामग्री प्रकाशित है, यह सिर्फ यही नहीं लक्षित करता है, बल्कि यह स्वयं ही हिंदी आलोचकों के विस्तृत ज्ञान भंडार और विविध ज्ञानानुशासन के क्षेत्र में गहरे पैठ की स्थिति से अवगत कराता है। नामवर सिंह द्वारा संपादित ‘आलोचना’ पत्रिका में उच्चकोटि की सामग्री का ही प्रकाशन होता रहा है, जिससे हिंदी आलोचना के लिए विस्तृत ज्ञानानुशासन युक्त बौद्धिक वातावरण का निर्माण हो सके, जिससे ‘आलोचना’ पत्रिका और उसमें प्रकाशित लेखों और शोधपूर्ण निबंधों आदि के संबंध में विजेंद्रनारायण सिंह का कथन है कि “यह तो मानना होगा कि ‘आलोचना’ को उन्होंने अपने संपादकत्व में प्रथम श्रेणी की पत्रिका बनाया। न केवल हिंदी के उच्चकोटि के आलोचनात्मक निबंध उन्होंने प्रकाशित किए। वर्तन विदेश में मार्क्सवादी उपागम से लिखे गए आलोचनात्मक निबंधों के भी प्रामाणिक अनुवाद उन्होंने प्रकाशित लिए।... ‘आलोचना’ में प्रकाशित होना गौरव की बात समझा जाता था।”²⁰ इस प्रकार ‘आलोचना’ पत्रिका के माध्यम से नामवर सिंह ने ऐसी विविध ज्ञानानुशासन युक्त सामग्री प्रस्तुत कर हिंदी आलोचकों के समक्ष उसी प्रकार के ज्ञानानुशासन युक्त अध्ययन और आलोचना में प्रवृत्त होने का आदर्श रखा। यह सामग्री राजनीति से, समाजशास्त्र से, इतिहास से,

आर्थिक अध्ययनों से प्राप्त की गई हैं, वहीं विदेशी भाषाओं के लेखादि के अनुवाद द्वारा हिंदी आलोचकों की विविध ज्ञानानुशासनों में रुचि वृद्धि के लिए प्रयत्न किया गया है। विविध ज्ञानानुशासनों से जुड़ी हुई किंतु साहित्य अध्ययन में उपयोगी सामग्री के प्रकाशन के कारण, 'आलोचना' ने जिस चीज़ से पाठकों को अवगत करा दिया, वह यह है कि 'आलोचना' बैठे ठाले का धंधा नहीं है, वह एक सांस्कृतिक प्रक्रिया का गूढ़ात्मक विविध ज्ञानानुशासन से युक्त अध्ययन और चिंतन की उपरेल दर्जे की चीज़ है, जिसमें हर किसी का प्रवेश सरलता से नहीं हो सकता है। स्पष्ट है कि नामवर सिंह के नजदीक "प्राध्यापकीय या शास्त्रीय आलोचना सच्ची आलोचना नहीं है। श्रेष्ठ आलोचना की चिंता साहित्य से अधिक संस्कृति की होती है। और उसके सामाजिक सरोकार होते हैं।"²¹ इसका कारण स्पष्ट करते हुए बताते हैं कि "मैं मानता हूँ कि 'आलोचना' विशुद्ध साहित्यिक नहीं है, अधिक व्यापक है। मुक्तबोध इसी को 'सभ्यता समीक्षा' कहते थे।"²² इस प्रकार आलोचना पत्रिका द्वारा हिंदी में आलोचना के स्वरूप में ही बदलाव प्रस्तुत करने का कार्य किया। अब आलोचना को सतही ढंग से कामचलाऊ, वक्तव्यों, टिप्पणियों में कहकर चलता नहीं कर दिया जा सकता है, बल्कि यदि आप आलोचना में रुचि रखते हैं तो आपको इतिहास-बोधयुक्त, सांस्कृतिक चेतना-संपन्न, वैज्ञानिक दृष्टि, साहित्य की परंपराओं का ज्ञान, कला, संगीत आदि क्षेत्र का ज्ञान, राजनीतिक सामाजिक एवं आर्थिक संबंधों के विस्तृत ज्ञान के साथ साहित्य में डूबनेवाला हृदय और उसी के साथ तीक्ष्ण अन्वीक्षण बुद्धि भी होनी चाहिए जिससे किसी साहित्यिक और उसकी कृति का मर्म, उद्घाटित किया जा सके। स्पष्ट है कि अब आलोचना के लिए 'आलोचना' पत्रिका ने ये मानदंड किसी सैद्धांतिक या लिखित मैग्नाकार्टा के रूप में प्रस्तुत नहीं किया है, बल्कि 'आलोचना' में प्रकाशित लेख; निबंध, शोधपूर्ण आलेख आदि स्वयं इसके लिए आदर्श प्रस्तुत करते हैं।

'आलोचना' पत्रिका के माध्यम से हिंदी आलोचना में एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण योगदान और

जुड़ा है। वह है हिंदी की अपनी 'आलोचना की भाषा' का विकास। नामवर सिंह संपादित 'आलोचना' पत्रिका ने हिंदी आलोचना में प्रगतिशील आलोचना के विकास के लिए जो लड़ाई लड़ी है उसमें हिंदी की अपनी आलोचना की भाषा के निर्माण की बेचैनी प्रत्येक जगह अनुभूत की जा सकती है। कहना न होगा कि हिंदी आलोचना के सम्मुख 'आलोचना' पत्रिका में प्रयुक्त भाषा ही हिंदी आलोचना की सही व जातीय भाषा हो सकती है, जिसके निर्माण में नामवर सिंह ने अपने संपादन के आरंभिक दिनों से ही प्रयासरत रहे हैं।

नामवर सिंह संपादित 'आलोचना' पत्रिका ने हिंदी आलोचना में से जिन आलोचकों को चुनकर अपना कैनन निर्मित किया, और हिंदी आलोचना के सम्मुख श्रेष्ठ आलोचकों की एक आदर्श सूची प्रस्तुत की जिसमें आचार्य रामचंद्र शुक्ल, आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी और डॉ० रामविलास शर्मा हैं। नामवर सिंह ने अपने संपादकीय विवेक का प्रयोग करते हुए तीनों आलोचकों पर अलग-अलग विशेषांक आयोजित किए। और स्पष्ट किया कि ये महानुभाव ही हिंदी आलोचना के आधार स्तंभ हैं। हिंदी की आगामी आलोचना का भविष्य इन्हीं आधार-स्तंभों पर टिका हुआ है। नामवर सिंह ने 'आलोचना' का संपादन करते हुए हिंदी के आधार-स्तंभ आलोचकों की प्रखरता से परिचित कराया, वहीं दूसरी तरफ कुछ युवा, प्रतिभाओं, प्रखर मस्तिष्क के आलोचनात्मक लेखों को बार-बार प्रकाशित कर उन्हें प्रोत्साहित किया, कई युवा-प्रतिभाओं को हिंदी आलोचना से परिचित कराया। कुछ ऐसे आलोचकों से वे बार-बार अनुरोध करके लेख आदि लिखवा लेते थे, जो मूलतः आलोचना के क्षेत्र से न जुड़कर साहित्य की अन्य विधाओं से जुड़े होते थे। इसके अतिरिक्त उन्होंने अपने समवयस्कों को 'आलोचना' में निरंतर लिखते रहने का आग्रह किया। 'आलोचना' में प्रकाशित प्रमुख आलोचकों में रमेशकुंतल मेघ, परमानंद श्रीवास्तव, नंदकिशोर नवल, विजयमोहन सिंह, विष्णुखरे, मैनेजर पांडेय, नेमिचंद्र जैन, प्रयाग शुक्ल, विश्वनाथ त्रिपाठी, मलयज, सुरेंद्र चौधरी, नित्यानंद तिवारी, अशोक वाजपेयी, रमेशचंद्र शाह, विजयदेवनारायण साही, राममूर्ति त्रिपाठी,

वागीश शुक्ल, मनोहर काले, इंद्रनाथ मदान, बच्चन सिंह गोपालराय, नरनारायण राय, पी. सी. जोशी, सत्येंद्र कुमार तनेजा, मधुरेश, रामस्वरूप चतुर्वेदी, विश्वनाथप्रसाद तिवारी, राजनाथ, रवींद्रनाथ श्रीवास्तव, शिवकुमार मिश्र, पुरुषोत्तम अग्रवाल, वीरभारत तलवार, प्रदीप सक्सेना, शंभुनाथ, खगेंद्र ठाकुर, रामबक्ष, आदि के साथ-साथ राजेंद्र यादव, मलयज, कृष्णा सोबती, केदारनाथ सिंह, शमशेरबहादुर सिंह, आदि प्रमुख कवि-कहानीकार भी आलोचना में आलोचक के रूप में उपस्थित रहे हैं। उपर्युक्त सूची को देखकर ही विश्वनाथ त्रिपाठी ने यह वक्तव्य दिया होगा कि “एकाध को छोड़कर इस वक्त जितने भी हिंदी के दिग्गज आलोचक दिखाई देते हैं, उनको नामवर जी ने ही उंगली पकड़कर चलाना सिखाया है। अपनी पत्रिका ‘आलोचना’ में छाप-छापकर, उनसे जबरन लिखवाकर आलोचक बनाया है।... नामवर सिंह के बाद जो आलोचक हैं वो नामवर सिंह के जेब से निकले हैं। कम-से-कम मैं तो खुद के बारे में यही मानता हूँ, साथ ही मैनेजर पांडेय, नंदकिशोर नवल, खगेंद्र ठाकुर, सुरेंद्र चौधरी, पुरुषोत्तम अग्रवाल के बारे में भी यही मानता हूँ।”²³ कहा जा सकता है कि जिसने इतने आलोचकों को बनाने में अपनी महत्तम भूमिका का निर्वाह किया है वह स्वयं कितना बड़ा आलोचक होगा., और उसके द्वारा संपादित पत्रिका ने कितनों का आलोचनात्मक विवेक बनाया होगा। इसलिए कहा जा सकता है कि ‘आलोचना’ का हिंदी आलोचना के विकास में अन्यतम योगदान है, और ‘आलोचना’ हिंदी की आलोचनात्मक विवेक की पत्रिका है।

संदर्भ :

1. त्रिपाठी, विश्वनाथ. हिंदी आलोचना. छात्र संस्करण-आठवीं आवृत्ति. नई दिल्ली : राजकमल प्रकाशन, 2004. पृ. सं. 22.
2. जैन, निर्मला. हिंदी आलोचना की बीसवीं सदी. नई दिल्ली : राधाकृष्ण प्रकाशन, 1992. पृ. सं. 11.
3. वहीं. पृ. सं. 10.
4. त्रिपाठी, विश्वनाथ. (साक्षात्कार कर्ता) "आधी सदी : आधा साहित्य." (साक्षात्कार) नामवर सिंह कहना न होगा. संकलन-संपा. समीक्षा ठाकुर. नई दिल्ली : वाणी प्रकाशन, 1995. पृ. सं. 242.
5. श्रीवास्तव, परमानंद. "नामवर सिंह का आलोचनात्मक संघर्ष और 'आलोचना' का संपादन." नामवर के विमर्श. संपा. सुधीश पचौरी. नई दिल्ली : प्रवीण प्रकाशन, 1995. पृ. सं. 335.
6. सिंह, नामवर. आत्मकथा-2. "रचना और आलोचना के पथ पर" 'तद्भव' (अंक-03) (संपा. अखिलेश) अप्रैल, 2000 : पृ. सं. 15.
7. वही. पृ. सं. 15.
8. मिश्र, शिवकुमार. "मार्क्सवादी आलोचना के बुनियादी स्रोत और डॉ० रामविलास शर्मा." 'आलोचना' (नवांक-60-61) जनवरी-जून, 1982 : पृ. सं. 136.
9. वही. पृ. सं. 136.
10. सिंह, नामवर. "परंपरा का मूल्यांकन का मार्क्सवादी पक्ष". (व्याख्यान) 'पहल' (अंक-26) (संपा. ज्ञानरंजन) फरवरी, 1984 : पृ. सं. 100-101.
11. सिंह नामवर. (साक्षात्कार) "एक आलोचक के रूप में मेरी सबसे बड़ी मुश्किल अपने संस्कारों से संघर्ष करना है!" (साक्षात्कारकर्ता) प्रकाश मनु. बात बात में बात संक. संपा. समीक्षा ठाकुर. नई दिल्ली : वाणी प्रकाशन, 2006. पृ. सं. 71.
12. सिंह, नामवर. आत्मकथा-2. "रचना और आलोचना के पथ पर" 'तद्भव' (अंक-03) (संपा. अखिलेश) अप्रैल, 2000 : पृ. सं. 15.
13. वही, पृ. सं. 15-16.
14. पांडेय, मैनेजर. साहित्य के समाजशास्त्र की भूमिका. चंडीगढ़ : हरियाणा साहित्य अकादमी, 1989. समर्पण पृष्ठ.

15. वही. भूमिका. पृ. सं. 14.
16. शुक्ल, आचार्य रामचंद्र. हिंदी साहित्य का इतिहास. इलाहाबाद : लोकभारती प्रकाशन, 2000. पृ. सं. 363.
17. शर्मा, रामविलास. महावीरप्रसाद द्विवेदी और हिंदी नवजागरण. नई दिल्ली. राजकमल प्रकाशन, 1977. पृ. सं. 270.
18. सक्सेना, प्रदीप. संपादकीय. “जबकि जनशत्रु अधिकाधिक संगठित हो रहे हैं”. उदभावना. रामविलास शर्मा महाविशेषांक (अतिथि संपा. प्रदीप सक्सेना) नव-दिसं. 2012 : पृ. सं. 09.
19. द्विवेदी, हजारीप्रसाद. हिंदी साहित्य : उद्भव और विकास. (उपसंहार.) 1952. पाँचवीं आवृत्ति. नई दिल्ली : राजकमल प्रकाशन, 2003. पृ. सं. 266.
20. सिंह, विजेंद्रनारायण. “सर्वहारा से सहारा तक.” पाखी. (संपा. प्रेम भारद्वाज). अक्टूबर, 2010 : पृ. सं. 160.
21. सिंह, नामवर. आत्मकथा-2 “रचना और आलोचना के पथ पर” ‘तद्भव’. (अंक-03) (संपा. अखिलेश) अप्रैल, 2000 : पृ. सं. 15.
22. वही, पृ. सं. 14.
23. त्रिपाठी, विश्वनाथ. “हम नामवरजी की जेब से निकले आलोचक हैं”. पाखी (संपा. प्रेम भारद्वाज), अक्टूबर, 2010 : पृ. सं. 30.



उपसंहार

उपसंहार

पत्र-पत्रिकाएँ जनतांत्रिक मूल्यों के व्यापक प्रचार-प्रसार करने का सर्वोत्तम माध्यम होती हैं। साहित्य को भी व्यापक जनसमुदाय से जोड़ने का अत्यंत महत्वपूर्ण कार्य पत्र-पत्रिकाओं के माध्यम से ही हुआ है। साहित्य के व्यापक जनसमुदाय से जुड़ते ही उसके लक्ष्य, उसकी पक्षधरता, और उसके सीमा विस्तार में तुरंत ही बदलाव परिलक्षित किया जा सकता है। साहित्य का सीमा-विस्तार और रूप वही नहीं रह जाता है, जो पूर्व में था। नवीनता का आग्रह स्पष्टतः यहाँ दिखाई पड़ने लगता है। कहने की आवश्यकता नहीं कि, साहित्य के विकास को तीव्रतर करने में पत्र-पत्रिकाओं की महत्वपूर्ण भूमिका रही है। यही कारण है कि पत्र-पत्रिकाओं के जन्म के साथ ही हिंदी साहित्य के आधुनिक काल में साहित्य के विविध और इतने नवीनतम रूप दिखाई पड़ते हैं। हिंदी साहित्य के विभिन्न विधाओं को जन्म देने और उसकी विधाओं के विकास में 'कविवचन सुधा', 'हरिश्चंद्र चंद्रिका', 'ब्राह्मण', 'हिंदी प्रदीप', 'आनंदकादंबिनी', नागरी प्रचारिणी पत्रिका', 'सरस्वती', 'सुदर्शन', 'समालोचक', (1902) 'छत्तीसगढ़ मित्र', 'हंस', 'प्रभा', 'मतवाला', 'कल्पना', 'धर्मयुग', 'आलोचना', 'सारिका', 'पूर्वग्रह', और 'समालोचक' आदि पत्रिकाओं का अन्यतम योगदान रहा है। यदि ध्यान दिया जाए तो आधुनिक हिंदी निबंध, कहानी, नाटक तथा गद्य-साहित्य की अन्यान्य विधाओं की भाँति हिंदी में आलोचना का आरंभ भी पहले-पहल 'हिंदी प्रदीप' और 'आनंद कादंबिनी' जैसी पत्रिकाओं की साहित्यिक बहसों के माध्यम से ही हुआ। स्पष्ट है कि पत्र-पत्रिकाएँ साहित्य की विभिन्न विधाओं के उद्भव एवं विकास में महत्वपूर्ण साधन रही हैं। उनका विशिष्ट एवं ऐतिहासिक अवदान रहा है।

ध्यातव्य है कि, हिंदी की साहित्यिक पत्रकारिता के क्षेत्र में साहित्य की विविध विधाओं एवं अन्य समसामयिक साहित्यिक गतिविधियों पर केंद्रित पत्रिकाएँ तो बहुत रहीं हैं, किंतु सिर्फ-व-सिर्फ

आलोचना के विषय-क्षेत्र पर केंद्रित पत्रिका का हिंदी में अभाव रहा है। इस संदर्भ में शिवदान सिंह चौहान का योगदान इसलिए सर्वाधिक उल्लेखनीय है कि उन्होंने राजकमल प्रकाशन संस्थान के सहयोग से हिंदी में आलोचना विधा की 'आलोचना' त्रैमासिक (पत्रिका) की स्थापना की। इस पत्रिका की स्थापना द्वारा आलोचना की पत्रिका की अभाव की पूर्ति हुई। इस प्रकार शिवदान सिंह चौहान को 'आलोचना' पत्रिका के संस्थापक-संपादक होने का गौरव प्राप्त है। शिवदान सिंह चौहान के संपादन में अभी दो वर्ष पूरे भी नहीं हुए थे कि आलोचना का संपादन एक संपादन-समिति के हाथों में चला गया जिसमें डॉ० धर्मवीर भारती, डॉ० रघुवंश, डॉ० ब्रजेश्वर वर्मा, श्री विजयदेवनारायण साही जैसे आलोचक-रचनाकार थे। इस संपादक मंडल के तीन वर्ष के उपरांत इसका संपादन आचार्य नंददुलारे वाजपेयी ने किया। इसके कुछ वर्षों बाद इसका संपादन पुनः शिवदान सिंह चौहान के पास पहुँचा। इनके हाथों से 'आलोचना' का संपादन नामवर सिंह के दायित्व में आया। इस प्रकार स्पष्ट है कि 'आलोचना' पत्रिका अपनी स्थापना के बाद कई संपादकीय विवेकों से होकर गुजरी। प्रत्येक संपादक ने अपने संपादकीय विवेक द्वारा 'आलोचना' को हिंदी-आलोचना की एक महत्त्वपूर्ण पत्रिका के रूप में स्थापित करने में अपना बहुमूल्य योग दिया। यद्यपि 'आलोचना' पत्रिका के प्रकाशन के बाद हिंदी आलोचना की कई पत्रिकाएँ संपादित-प्रकाशित होती रहीं, किंतु उन पत्रिकाओं के प्रकाशन के बावजूद 'आलोचना' पत्रिका अपने संपादकीय विवेक और गूढ़-गंभीर कार्यों के लिए ही सर्वाधिक चर्चित रही है, जिससे हिंदी आलोचना की उत्कृष्ट पत्रिका के रूप में उसका नामोल्लेख किया जाता है। इसके लिए 'आलोचना' के विभिन्न 'संपादकीय विवेकों' का महत्त्वपूर्ण योगदान है। यहाँ स्पष्ट करना अत्यंत आवश्यक है कि 'आलोचना' पत्रिका का संपादन कई संपादकों ने किया है, और मेरा शोधकार्य मुख्य रूप से 'नामवर सिंह द्वारा संपादित 'आलोचना' पत्रिका का हिंदी आलोचना के विकास में क्या योगदान' रहा है, इस विषय पर केंद्रित है। इस प्रबंध में इसी विषय पर ही मुख्यतः केंद्रित होकर विचार का प्रयास

किया गया है। किंतु, नामवर सिंह का संपादकीय विवेक किस प्रकार अपने पूर्व-संपादकों से भिन्न है, इस पर भी स्थान-स्थान पर विचार किया गया है। इस प्रबंध के छठे अध्याय में नामवर सिंह के संपादकीय विवेक पर अलग से विस्तार से विचार किया गया है। नामवर सिंह संपादित 'आलोचना' पत्रिका के पूर्व सोलह वर्षों के अंतराल में चार बार 'संपादकीय फेरबदल' हुआ। इस बीच वह कई बार बाधित रही, उसके प्रकाशन में कई अवरोध आए। किंतु जबसे नामवर सिंह ने 'आलोचना' का संपादन-दायित्व अपने हाथों में लिया। उन्होंने उसका संपादन निरंतर बिना बाधा के लगभग चौबीस वर्षों तक किया। (अर्थात् अप्रैल-जून 1967 से अप्रैल-जून 1990 ई.) तक की दीर्घ अवधि में 93 अंक संपादित किए और 'आलोचना' का प्रकाशन प्रबंधकीय फेरबदल के कारण पुनः बंद हुआ।

इस संदर्भ में रेखांकित करने योग्य तथ्य यह है कि नामवर सिंह के संपादन के पूर्व 'आलोचना' के संपादकों का संपादन का काल सबसे अस्थिर, उठापटक और अल्पायुवाला था, वस्तुतः इसे आलोचना के प्रकाशन का प्रथम चरण कहा जाना ही समीचीन है और इसकी अवधि 1951-1967 ई. तक मानी जानी चाहिए। इसके उपरांत नामवर सिंह के संपादन में 'आलोचना' 1967-1990 ई. तक संपादित होती रही है, इसलिए इस दीर्घ अवधि को 'दूसरा चरण' कहना चाहिए। इस दीर्घ अवधि तक 'आलोचना' की पत्रिका का संपादन करना स्वयं उस संपादक के संपादकीय विवेक की महत्ता को प्रकट करता है। यद्यपि नामवर सिंह के संपादन से पूर्व, पहले चरण के संपादकों ने 'आलोचना' को हिंदी आलोचना की एक महत्वपूर्ण पत्रिका के रूप में स्थापित किया था, किंतु नामवर सिंह ने उसका संपादन करते हुए उसके महत्त्व को ऐतिहासिक एवं चिरस्थायी बना दिया। उसे हिंदी आलोचना की सर्वोत्कृष्ट पत्रिका के रूप में स्थापित किया। नामवर सिंह संपादित 'आलोचना' पत्रिका को लेकर इस अध्ययन में मेरी सीमा यह रही है कि उनसे 'पूर्व संपादकों' पर अलग से किसी अध्याय के रूप में व्यवस्थित ढंग से विचार नहीं किया गया है, बल्कि

आवश्यकतानुरूप अलग-अलग अध्यायों में नामवर सिंह की संपादन-कला से भिन्नता को स्पष्ट करने में उनका विवेचन-विश्लेषण किया गया है।

दूसरी बात यहाँ स्पष्ट करना है कि 'आलोचना' पत्रिका से पूर्व हिंदी आलोचना विधा पर केंद्रित कोई उल्लेखनीय पत्रिका दिखाई नहीं पड़ती है, जिसको सिर्फ-व-सिर्फ आलोचना विधा के लिए ही प्रकाशित किया गया हो। इस संदर्भ में कोई महत्त्वपूर्ण नाम मेरे देखने में नहीं आया है, जिनका प्रकाशन केवल हिंदी आलोचना के क्षेत्र में योगदान के लिए किया गया हो और वह उल्लेखनीय रही हो। यदि कोई ऐसी पत्रिका रही है, तो यह मेरी दृष्टि की सीमा कही जाएगी। किंतु यह प्रश्न सीधे-सीधे इस शोधकार्य से नहीं जुड़ा हुआ है, इसलिए इससे मेरे निष्कर्षों पर कोई अंतर नहीं पड़ेगा।

यहाँ यह सूचित करना अत्यावश्यक है कि नामवर सिंह ने 'आलोचना' का संपादन करते हुए तीन सहयोगियों की सहायता ली थी। जिनमें 'विष्णु खरे', जिनका नाम पत्रिका पर सह-संपादक के रूप में प्रकाशित नहीं हुआ था। दो अन्य सहयोगियों के रूप में 'नंदकिशोर नवल', और परमानंद श्रीवास्तव का नाम 'सह-संपादक' के रूप में प्रकाशित होता था। इन सह-संपादकों का 'आलोचना' पत्रिका को प्रकाशन संपादन में क्या योगदान है इस पर विषय-सीमा के विस्तार भय से विचार नहीं किया गया है। यहाँ केवल नामवर सिंह का संपादकीय विवेक और 'आलोचना' पत्रिका का उनके द्वारा संपादन और हिंदी आलोचना के विकास में उसके योगदान की चर्चा की गई है।

नामवर सिंह के संपादन में 'आलोचना' पत्रिका के आते ही जो सबसे बड़ा काम पत्रिका के पक्ष में रहा, वह उसके दीर्घ अवधि तक एक संपादक द्वारा संपादन के रूप में स्थिरता प्राप्त करना था। नामवर सिंह के संपादन से पूर्व 'आलोचना' कई संपादकीय विवेकों से गुजर चुकी थी, प्रकाशन भी बीच-बीच में बाधित हुआ था। इस प्रकार नामवर सिंह के संपादन से पूर्व का काल यानी पहला चरण अस्थिरतायुक्त कई तरह से व्यवधानवाला एवं 'संपादकीय फेरबदल' वाला था। नामवर सिंह

के संपादन में आते ही 'आलोचना' को इस प्रकार की अस्थिरता से मुक्ति मिली और वह बिना किसी बाधा के संपादित प्रकाशित हो सकी, जिसके कारण ही हिंदी आलोचना को विकसित करने में वह अपनी निर्णायक भूमिका का निर्वाह कर सकी। छठे अध्याय में इन्हीं सूत्रों को समझने का प्रयास किया गया है।

नामवर सिंह संपादित 'आलोचना' पत्रिका का वैचारिक आधार मार्क्सवादी-साहित्य-कला चिंतन रहा है, उसने साहित्य की आधुनिकतावादी, कलावादी और व्यक्तिवादी प्रवृत्तियों की नकारात्मक प्रवृत्तियों से सीधे संघर्ष किया है। इसका सीधा टकराव 'पूर्वग्रह' पत्रिका की या उस जैसी विचारधारा की पोषक पत्र-पत्रिका से रहा है। नामवर सिंह ने अपने संपादन में 'आलोचना' को सिर्फ कलावादी या व्यक्तिवादी आदि प्रवृत्तियों के ही विरोध का माध्यम नहीं बनाया है, बल्कि साहित्य के प्रति किसी तरह के उग्रवामपंथी रुझान और स्थूल समाजशास्त्रीयता का भी विरोध उन्होंने 'आलोचना' के माध्यम से किया है।

नामवर सिंह ने अपने संपादन में 'आलोचना' के माध्यम से मार्क्सवादी साहित्य और कला-चिंतन के वैचारिक आधार को हिंदी आलोचना में और सुदृढ़ करते हैं। किंतु उनका मार्क्सवादी साहित्य-चिंतन चौथे-पाँचवे दशक के शिवदान सिंह चौहान और रामविलास शर्मा वाला मार्क्सवादी चिंतन नहीं है, और न ही चौथे-पाँचवे दशक के स्तालिनकालीन पश्चिमी मार्क्सवादी साहित्य चिंतन है, जो उस दौर के प्रमुख मार्क्सवादी चिंतक 'हेनरी बारबूस', 'राल्फ फाक्स' आदि के यहाँ दिखाई पड़ता है। इस चौथे-पाँचवें दशक का मार्क्सवादी साहित्य चिंतन अधिकांश पार्टीबद्ध चिंतन था, इस समय का मार्क्सवादी साहित्य-चिंतन और आलोचना में मार्क्सवादी अवधारणाओं को फिट करने का हरसंभव प्रयास किया जा रहा था। जो उस सिद्धांत के चौखटे में फिट नहीं बैठ रहा था, वह प्रतिक्रियावादी सिद्ध किया जा रहा था। वहाँ मार्क्सवादी अध्ययन पद्धति का प्रयोग नहीं किया जा रहा था। इस प्रकार एक 'यांत्रिक मार्क्सवादी' की रूढ़िबद्ध चिंतन-पद्धति मार्क्सवादी कला

साहित्य-चिंतन के नाम पर चल रही थी, यह यांत्रिक मार्क्सवाद के कारण जहाँ पश्चिम में एफ. आर. लीविस की नई समीक्षा पद्धति की विजय हुई, वहीं हिंदी आलोचना में मार्क्सवाद के प्रवर्तक शिवदान सिंह चौहान के हाथ से 'आलोचना' का संपादन आधुनिकतावादी, अस्तित्ववादी चिंतकों धर्मवीर भारती आदि के 'संपादन-समूह' के हाथ में आ गई थी। यहाँ मार्क्सवादी आलोचना भी यहाँ अपने रूढ़िबद्ध रूप में ही विद्यमान थी। नामवर सिंह ने अपने आलोचनात्मक विवेक के माध्यम से मार्क्सवाद को यांत्रिक और रूढ़िबद्ध चौखटे से बाहर निकालने में महत्त्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह किया। उसे सर्जनात्मक मार्क्सवादी चिंतन का रूप देने का कार्य किया। इस कार्य में उनके प्रेरणा-स्रोत पश्चिम में मार्क्सवाद की नई बहसों के प्रवर्तक 'जार्ज लूकाच', 'ब्रेख्त', 'बाल्टर बेंजामिन', 'रेमंड विलियम्स', 'अंतोनियो ग्राम्शी' आदि रहे हैं। नामवर सिंह ने मार्क्सवादी आलोचना और साहित्य-चिंतन की नई बहसों, नवीन प्रवृत्तियों से हिंदी आलोचना को परिचित कराने का काम 'आलोचना' पत्रिका का संपादन करते हुए किया। उन्होंने मार्क्सवादी साहित्य-चिंतन की 'दूसरी परंपरा' के चिंतन से हिंदी आलोचना के पाठकों का परिचय कराया। इस दूसरी परंपरा के मार्क्सवादी चिंतकों पर 'आलोचना' पत्रिका के विशेषांक निकाले, उनके लेखों, टिप्पणियों, साक्षात्कारों आदि का अनुवाद करवाकर उन्हें 'आलोचना' में प्रकाशित किया। उन पर संपादकीय टिप्पणियाँ लिखीं और उनके मन्तव्यों को स्पष्ट करने के लिए उनके अलग-अलग विषयों पर लिखे गए लेखों को 'आलोचना' में बार-बार प्रकाशित किया। उसे हिंदी पाठकों से परिचित कराया। हिंदी की मार्क्सवादी आलोचना को समृद्ध करने में अपना बहुमूल्य योगदान दिया। 'आलोचना' पत्रिका के माध्यम से मार्क्सवादी चिंतन की विरोधी उन सभी प्रवृत्तियों से निरंतर संघर्ष करने का कार्य किया। आज हिंदी की मार्क्सवादी आलोचना जिस रूप में दिखाई पड़ रही है, इसके विकास में नामवर सिंह संपादित 'आलोचना' पत्रिका का अन्यतम योगदान है। 'आलोचना' पत्रिका ही वह माध्यम है, जो इतनी दीर्घ-अवधि तक मार्क्सवादी साहित्य-चिंतन की वैचारिक पृष्ठभूमि पर खड़ी

रही, और विभिन्न प्रवृत्तियों से हिंदी की मार्क्सवादी आलोचना का उन्नयन करने का कार्य करती रही। वस्तुतः नामवर सिंह संपादित 'आलोचना' पत्रिका के माध्यम से हिंदी की मार्क्सवादी साहित्य-चिंतन को विकसित करने का कार्य किया गया और मार्क्सवादी आलोचना को उसकी नई बहसों से जोड़ने का कार्य भी हुआ। इसका परिणाम यह हुआ कि हिंदी की मार्क्सवादी आलोचना हिंदी आलोचना की केंद्रीय धरा के रूप में हमारे सम्मुख उपस्थित है। ये तथ्य और मान्यताएँ ही अपना स्वरूप किस प्रकार ग्रहण कर सकी हैं इन्हें इस प्रबंध के 'मार्क्सवादी आलोचना की नई बहसों' और 'आलोचना' शीर्षक द्वितीय अध्याय में प्रस्तुत किया गया है।

नामवर सिंह संपादित 'आलोचना' पत्रिका में हिंदी में होनेवाली अन्य साहित्यिक बहसों को भी स्थान मिला है। 'आलोचना' में विभिन्न साहित्यिक मुद्दों और प्रश्नों पर नामवर सिंह ने कई परिसंवाद आयोजित किए। जिनमें 'कविता और राजनीति', रोमांटिक बनाम आधुनिक, 'युवा लेखन पर एक बहस', 'आज के युग में प्रगतिशीलता', 'आलोचना की भाषा' आदि प्रमुख विषय हैं। इसके अतिरिक्त 'आलोचना' में 'साहित्य के समाजशास्त्रीय चिंतन' को प्रस्तावित करने का काम भी 'आलोचना' पत्रिका के ही माध्यम से किया गया है, जिसे इस शोध-प्रबंध में साहित्यिक बहस के रूप में प्रस्तुत किया गया है। 'हिंदी नवजागरण की संकल्पना पर बहस' शीर्षक अध्ययन में हिंदी नवजागरण की संकल्पना पर विचार प्रस्तुत किया गया है। भाषिक आलोचना व शैली विज्ञान जैसी प्रवृत्ति पर 'आलोचना' ने सबसे पहले अपना ध्यान केंद्रित किया और उसे हिंदी आलोचना में पहले-पहल प्रस्तुत करने का कार्य किया। उपर्युक्त साहित्यिक बहसों और विवेच्य सभी प्रवृत्तियों ने हिंदी आलोचना को किस प्रकार प्रभावित किया है, और हिंदी आलोचना को विकसित करने में उनका क्या योगदान है, इस विषय पर 'नामवर सिंह संपादित 'आलोचना' में प्रमुख साहित्यिक मुद्दे और बहसों' शीर्षक से प्रथम अध्याय में विस्तृत चर्चा की गई है।

हिंदी में आलोचना विधा की शुरुआत से ही आलोचना की जिन दो प्रवृत्तियों को स्पष्टतः

लक्षित किया जा सकता है, उसमें एक प्रवृत्ति 'समकालीन रचनाशीलता से सक्रिय संवाद' की है; तथा दूसरी प्रवृत्ति अपनी परंपरा का अन्वेषण और उसके मूल्यांकन की रही है। हिंदी आलोचना का सर्वांश इन्हीं दो आधारों पर टिका हुआ है। आगे चलकर एक और प्रवृत्ति विकसित हुई वह है किसी 'आलोचक की आलोचना का सम्यक मूल्यांकन'। 'आलोचना' पत्रिका का इन क्षेत्रों में अन्यतम योगदान है, जिससे हिंदी आलोचना अपना स्वरूप विकसित कर सकी है।

अपनी सांस्कृतिक विरासत अथवा परंपरा के मूल्यांकन के लिए कौन-सी दृष्टि अपनायी जाए इसे नामवर सिंह संपादित 'आलोचना' पत्रिका में स्पष्ट लक्षित किया जा सकता है। नामवर सिंह ने 'आलोचना' पत्रिका के माध्यम से परंपरा को श्रद्धाविगलित, अंधश्रद्धा, युक्त पूज्यभाव की प्रवृत्ति, और वर्तमान समस्या का हल अतीत में ढूँढनेवाली प्रवृत्ति, पारंपरिक मूल्यों को वर्तमान जीवन पर लागू करनेवाली प्रवृत्ति का जमकर विरोध किया। उन्होंने परंपरा की असंगतियों को त्यागकर उसे अत्यंत गौरवमयी बनाकर प्रस्तुत करनेवाली प्रवृत्ति का प्रतिकार किया है। नामवर सिंह ने 'आलोचना' पत्रिका के माध्यम से एक ऐसी दृष्टि विकसित करने का प्रयत्न किया जो अपने अतीत अथवा अपनी सांस्कृतिक विरासत को उसके सांस्कृतिक संदर्भों में, युगीन सीमाओं तथा उसके अंतर्विरोधों के बीच रखकर उसके मूल्यांकन का प्रयास करती है, जिससे अतीत की अतीतता को सुरक्षित रखते हुए उसकी 'विगत महत्ता और वर्तमान अर्थवत्ता' को स्पष्ट किया जा सके, जिससे परंपरा की सही छवि प्रस्तुत की जाए। नामवर सिंह संपादित 'आलोचना' पत्रिका ने भारतेन्दु हरिश्चंद्र, मैथिलीशरण गुप्त, आचार्य रामचंद्र शुक्ल, तथा हिंदी नवजागरण और उसके अग्रदूतों का जो मूल्यांकन प्रस्तुत करने का कार्य किया उसमें इसी आलोचनात्मक रुख का परिचय दिया गया है। 'आलोचना' पत्रिका ने अपनी परंपरा के मूल्यांकन के प्रति जिस आलोचनात्मक विवेक का परिचय दिया है, वह हिंदी नवजागरण और उसके अग्रदूतों एवं परंपरा का समग्रता में अध्ययन करने का मार्ग प्रशस्त करती है। इस प्रकार, नामवर सिंह द्वारा संपादित 'आलोचना' पत्रिका में परंपरा

के मूल्यांकन के प्रति जिस दृष्टि को विकसित करने का प्रयत्न किया गया है, वह न केवल हिंदी आलोचना के क्षेत्र में बल्कि किसी भी संस्कृति, परंपरा और अतीत की जातीय चेतना के मूल्यांकन के क्षेत्र में अत्यंत ही मूल्यवान् देन है। 'आलोचना' पत्रिका ने परंपरा के मूल्यांकन के सवाल को गंभीरता से ग्रहण किया। उसने न केवल अपनी मूल्यवान् सांस्कृतिक विरासत की सही छवि को बराबर आलोकित करने का प्रयास किया, बल्कि सांस्कृतिक विरासत की प्रतिगामी-प्रतिक्रियावादी ताकतों के संगठित अभियान से रक्षा भी करती रही है। परंपरा को उसके समग्र रूप में लेते हुए, उसके प्रति 'आलोचनात्मक रुख' अपनाते हुए, उसने गौरवशाली जीवंत-परंपरा को विकसित और पुष्ट करने के लिए कृत संकल्प रचनाकारों-विचारकों की जागरूक पीढ़ी को तैयार भी किया है। नामवर सिंह ने 'आलोचना' पत्रिका के माध्यम से जिस आलोचनात्मक विवेक को जाग्रत करने का प्रयास किया है उससे हिंदी आलोचना में जनतांत्रिक और प्रगतिशील चिंतन के एक स्वस्थ वातावरण को निर्मित करने का कार्य किया। परंपरा के मूल्यांकन के संदर्भ में बिना इस दृष्टि से टकराए आगे नहीं बढ़ा जा सकता है।

परंपरा के मूल्यांकन के संदर्भ में दूसरी परंपराओं के महत्त्व को भी स्वीकार करने का उद्यम 'आलोचना' पत्रिका के माध्यम से हुआ है। नामवर सिंह द्वारा संपादित 'आलोचना' पत्रिका में ही पहले-पहल 'दूसरी परंपरा की खोज' का प्रश्न उठाया गया। नामवर सिंह ने अपने संपादकीय और लेखों के माध्यम से यह संकल्पना प्रस्तुत की, कि प्रभुत्वशाली परंपरा की प्रधान प्रवृत्तियों के कारण अन्य लघुधाराएँ, व परंपराएँ दबा दी जाती हैं, या उन्हें हाशिए पर डाल दिया जाता है। 'आलोचना' पत्रिका उन अन्य दूसरी परंपराओं की खोज का माध्यम बनती है। इस प्रकार दूसरी परंपरा की खोज की संकल्पना 'आलोचना' पत्रिका की परंपरा के मूल्यांकन के संदर्भ में एक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है। इसके माध्यम से दूसरी परंपराओं की महत्ता को स्थापित किया जा सके। हाशिए पर पड़ी उन परंपराओं और धाराओं को पुनर्जीवन दिया जा सके। इस प्रकार, नामवर सिंह ने अपने संपादन के

द्वारा 'दूसरी परंपरा की खोज' जैसी अवधारणा हिंदी आलोचना को दी, जिसके माध्यम से प्रभुत्वशाली परंपरा के साथ अन्यान्य धाराओं को समान महत्त्व देने की प्रवृत्ति को विकसित किया जा सके। उसे नगण्य समझते हुए अनावश्यक न समझा जाए। इन्हीं दृष्टियों का विस्तृत-विवेचन तृतीय अध्याय के परंपरा का मूल्यांकन और 'आलोचना' शीर्षक अध्ययन में प्रस्तुत किया गया है।

'आलोचना' पत्रिका को नामवर सिंह ने वास्तव में समकालीन रचनाशीलता से सक्रिय संवाद करती हुई पत्रिका के रूप में विकसित किया। नामवर सिंह संपादित 'आलोचना' पत्रिका ने इस तथ्य को रेखांकित किया कि 'आलोचना' की सार्थकता अपनी समकालीन रचनाशीलता का मूल्यांकन प्रस्तुत करने में है। समकालीन रचनाशीलता से जुड़कर ही कोई आलोचना, आलोचना कहलाने की अधिकारी है। चतुर्थ अध्याय में समकालीन रचनाशीलता और आलोचना के क्षेत्र में 'आलोचना' पत्रिका का क्या योगदान रहा है। इसे विस्तार से स्पष्ट करने का कार्य किया गया है। नामवर सिंह संपादित 'आलोचना' पत्रिका की अन्यतम विशेषता समकालीन कवियों की काव्य रचनाओं के प्रकाशन के रूप में देखा जा सकता है। 'आलोचना' पत्रिका मूलतः आलोचना की पत्रिका रही है। किंतु इसके प्रत्येक अंक में अपने समय की युवा कवियों या प्रमुख-प्रतिनिधि कवियों की काव्य-रचनाएँ भी प्रकाशित होती थीं। इसके अंतर्गत सिर्फ हिंदी की काव्य-रचनाएँ ही प्रकाशित नहीं होती थीं, बल्कि अन्य भारतीय भाषाओं के अतिरिक्त रूसी, स्पेनिश, जर्मन आदि भाषा की प्रमुख रचनाओं का अनुवाद भी प्रकाशित किया जाता था। 'आलोचना' में प्रकाशित होनेवाले प्रमुख हिंदी कवियों के नाम यदि देखे जाएँ तो हमें 'धूमिल', शमशेर बहादुर सिंह, नागार्जुन, त्रिलोचन, केदारनाथ अग्रवाल, केदारनाथ सिंह, लीलाधर जगूड़ी, मंगलेश डबराल, देवी प्रसाद मिश्र, बोधिसत्व, सुल्तान अहमद, पंकज सिंह, कमलेश, विजयदेव नारायण साही, आदि की काव्य रचनाएँ प्रकाशित हैं।

नामवर सिंह ने 'आलोचना' का संपादन करते हुए समकालीन रचनाशीलता के संदर्भ में कई

महत्त्वपूर्ण मूल्यांकन प्रस्तुत किए हैं साठोत्तरी पीढ़ी की रचनाशीलता को स्पष्ट करने का प्रयास उनमें से एक महत्त्वपूर्ण कार्य है। 'युवा लेखन पर बहस' शीर्षक से परिसंवाद आयोजित कर साठोत्तरी पीढ़ी की मानसिक बुनावट और उनकी रचनाशीलता और उसकी पृष्ठभूमि को स्पष्ट करने का कार्य किया गया है। इसी प्रकार 'समकालीन कविता' यानी आपातकालोत्तर कविता के पक्ष-विपक्ष उसकी रचनाशीलता को स्पष्ट करने का प्रयास 'आलोचना' पत्रिका के कई अंकों में प्रकाशित लेखों के माध्यम से किया गया है। समकालीन कविता का संबंध नागार्जुन और त्रिलोचन की कविताओं से जोड़कर देखने का प्रयास भी 'आलोचना' के अंकों में किया गया है।

'आलोचना' पत्रिका ने समकालीन रचनाशीलता के कैनन में जो परिवर्तन किया उसने हिंदी आलोचना में स्थापित कवियों के कैनन में ही बदलाव प्रस्तुत किए। 'आलोचना' पत्रिका में गजानन माधव मुक्तिबोध पर विशेषांक आयोजित कर, मुक्तिबोध को नई कविता के केंद्र में स्थापित किया। 'धूमिल' की महत्ता को स्थापित करने का काम किया। नागार्जुन और त्रिलोचन पर विशेषांक आयोजित कर उनकी जनवादी चेतना और लोकधर्मी प्रकृति से हिंदी पाठकों को परिचित कराया। 'आलोचना' के विशेषांक से पूर्व हिंदी पाठक नागार्जुन और त्रिलोचन की काव्य-रचनाओं से परिचित थे किंतु सबसे पहले उन पर विशेषांक आयोजित कर उन्हें समकालीन कवियों की रचनाधर्मिता से जोड़ने का कार्य किया। 'आलोचना' के माध्यम से नामवर सिंह उन्हें दूसरी परंपरा की लोकधर्मी धारा से संबद्ध करके उनके महत्त्व को स्थापित किया। इसके अतिरिक्त नामवर सिंह निर्मल वर्मा की विचारधारा का जमकर खंडन करते हुए भी, उनके कथाकार रूप के वैशिष्ट्य उद्घाटन करने के लिए एक विशेषांक का आयोजन करते हैं।

नामवर सिंह संपादित 'आलोचना' पत्रिका ने हिंदी कथालोचना के विकास में अपना महत्त्वपूर्ण योगदान दिया। समकालीन उपन्यास पर 'आलोचना' का पूरा एक विशेषांक ही प्रकाशित किया गया है। हिंदी कथालोचना पर 'आलोचना' में जिनके सर्वाधिक लेख प्रकाशित हैं, उनमें विजय

मोहन सिंह, मधुरेश और गोपालराय उल्लेखनीय हैं। 'आलोचना' में कथालोचना को लेकर बार-बार प्रकाशित होने से हिंदी पाठकों के सम्मुख इनकी छवि कथालोचक की बनी। यह हिंदी आलोचना को 'आलोचना' पत्रिका की महत्वपूर्ण देन है।

इसी प्रकार हिंदी नाट्य-नाटक संबंधी अध्ययन पर मनोहर काले, नरनारायण राय, सत्येंद्र कुमार तनेजा जैसे विद्वानों के कई लेख 'आलोचना' में प्रकाशित हैं। इन विद्वानों के लेखों और शोधपूर्ण अध्ययनों से हिंदी पाठक नाटक संबंधी विविध परिदृश्य से परिचित हो सके। नाट्य-नाटक संबंधी अध्ययन के क्षेत्र में ये विद्वान व्यवस्थित रूप से 'आलोचना' पत्रिका के माध्यम से हिंदी पाठकों के समक्ष उपस्थित हुए।

समकालीन रचनाशीलता का पूरा परिचय उस समय की पुस्तक-समीक्षाओं से किस प्रकार ज्ञात हो, इस प्रवृत्ति का विकास 'आलोचना' पत्रिका के माध्यम से ही हुआ। नामवर सिंह ने 'आलोचना' पत्रिका में प्रकाशित पुस्तक-समीक्षाओं को 'पुस्तक परिचय' के रूढ़ स्वरूप से मुक्त कर वैचारिक संघर्ष की चेतना से युक्त किया। यहाँ पुस्तक-समीक्षा के माध्यम से वैचारिक संघर्ष की आधारशिला निर्मित करने का कार्य किया। यह बहस किसी पुस्तक की समीक्षा पर स्वयं पुस्तक लेखक और समीक्षक के बीच साहित्यिक बहस की विषय वस्तु बनती है, या कोई पाठक अपनी प्रतिक्रिया देते हुए देखा जा सकता है। इसके लिए नामवर सिंह ने अपने संपादकीय विवेक का परिचय देते हुए दो पद्धतियाँ विकसित की हैं एक पद्धति तो यह है कि एक साहित्यिक कृति पर दो-दो अथवा तीन-तीन समीक्षकों की समीक्षाएँ प्रस्तुत की गई हैं या एक ही समीक्षक से तीन-तीन, चार-चार पुस्तकों की समीक्षाएँ एक साथ प्रस्तुत की गई हैं, जिससे कृति अथवा समीक्षक की समस्त प्रतिभाओं और संभावनाओं को पाठकों के समक्ष रखा जा सके। इस प्रकार 'आलोचना' पत्रिका ने अपनी पुस्तक-समीक्षाओं को पुस्तक परिचय के रूढ़ अर्थ से मुक्तकर उसे वैचारिक संघर्ष की चेतना के निर्माण के रूप में प्रस्तुत किया। यह हिंदी आलोचना को 'आलोचना' पत्रिका की महत्वपूर्ण देन

कही जा सकती है। समकालीन रचनाशीलता और 'आलोचना' का क्या संबंध रहा है, इसे चतुर्थ अध्याय में विस्तार से विवेचित-विश्लेषित किया गया है।

हिंदी आलोचना में आलोचकों के कैनन में पहले आचार्य रामचंद्र शुक्ल, नंददुलारे वाजपेयी और डॉ० नगेंद्र आदि को ही रखा जाता था, किंतु नामवर सिंह ने आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी की षष्ठिपूर्ति पर एक परिसंवाद आयोजित किया, उन पर एक स्मृति अंक आयोजित कर उन्हें हिंदी आलोचना के कैनन में स्थापित किया। आचार्य रामचंद्र शुक्ल की जन्मशती पर दो-दो अंक संपादित किए और डॉ० रामविलास शर्मा के सत्तरवें जन्मदिवस के अवसर पर विशेषांक आयोजित कर यह स्पष्ट किया कि हिंदी आलोचना का वास्तविक कैनन इन महानुभावों से बनता है। हिंदी आलोचना आचार्य रामचंद्र शुक्ल, आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी और डॉ० रामविलास शर्मा के पद्धिहनों पर चलकर विकास करेगी। इस कैनन से व्यवस्थित ढंग से बोध करवाने का काम नामवर सिंह ने ही 'आलोचना' पत्रिका के माध्यम से किया। यह हिंदी आलोचना के विकास में 'आलोचना' पत्रिका का अन्यतम योगदान है। इस प्रकार 'आलोचना' के विशेषांक किन रचनाकारों और आलोचकों पर आयोजित है और उनका महत्त्व क्या है, इसे पाँचवें अध्याय में देखा जा सकता है। नामवर सिंह ने 'आलोचना' पत्रिका के माध्यम से साहित्य अध्ययन की नवीनतम प्रवृत्तियों से हिंदी पाठकों को परिचित कराने का कार्य किया। 'आलोचना' पत्रिका में सबसे पहले 'शैलीविज्ञान' जैसी नवीनतम साहित्यिक अध्ययन प्रवृत्ति को प्रस्तुत किया गया है। वहीं 'साहित्य' का समाजशास्त्रीय चिंतन की प्रस्तावना को भी पहले-पहल 'आलोचना' पत्रिका के पटल पर ही देखा जा सकता है। उत्तर-आधुनिकता और संरचनावाद, आदि प्रवृत्तियों पर हिंदी में सबसे पहला लेख 'आलोचना' पत्रिका में ही प्रकाशित हुआ था। साहित्य का सौंदर्यशास्त्रीय अध्ययन किस प्रकार हो सकता है, उसकी विभिन्न प्रवृत्तियाँ क्या हो सकती हैं इस विषय पर कई लेख 'आलोचना' में प्रकाशित हैं। हिंदी आलोचना की सबसे जीवंत और दीर्घ समय तक चलते रहले वाली बहस "हिंदी नवजागरण की संकल्पना" और 'दूसरी

परंपरा की खोज' भी 'आलोचना' पत्रिका में प्रकाशित लेखों से ही शुरू हुई। इस बहस ने हिंदी आलोचना को एकदम नवीन दिशा देने का प्रयत्न किया।

नामवर सिंह ने 'आलोचना' पत्रिका के माध्यम से इस प्रवृत्ति की नींव कदाचित्त पहली बार डाली जिसमें आलोचनात्मक लेखों को धारावाहिक रूप में, अथवा क्रमानुसार प्रकाशित किया। जो आगे चलकर पुस्तक के रूप में प्रकाशित हुई। इसका अच्छा उदाहरण नंदकिशोर नवल की पुस्तक 'हिंदी आलोचना का विकास' का 'आलोचना' में धारावाहिक रूप से प्रकाशन है। इस प्रकार 'आलोचनात्मक लेखों को शृंखलाबद्ध तरीके से आलोचना में प्रकाशित करना स्वयं हिंदी की साहित्यिक पत्रकारिता के क्षेत्र में अत्यंत सार्थक अवदान के रूप में ग्रहण किया जाना चाहिए। इसी प्रकार के अन्य महत्वपूर्ण तथ्यों का परिचय हम 'नामवर सिंह का संपादकीय विवेक और 'आलोचना' का संपादन शीर्षक अध्याय में देख सकेंगे। हिंदी आलोचना के विकास में 'आलोचना' पत्रिका का क्या योगदान है, इसका सम्यक अध्ययन इस प्रबंध के सातवें अध्याय में प्रस्तुत किया गया है।

नामवर सिंह अपने संपादन में 'आलोचना' में उच्चस्तरीय शोध-पत्र, आलेख, निबंध आदि के साथ साक्षात्कार, गूढ़ और गंभीर पुस्तक-समीक्षाएँ, परिसंवादों और संपादकीय वक्तव्यों के प्रकाशन द्वारा हिंदी आलोचना को विस्तृत ज्ञानानुशासन से जोड़ने का काम करते हैं, जिससे हिंदी आलोचना का एक बौद्धिक वातावरण निर्मित हो सके। नामवर सिंह के मतानुसार आलोचना का तात्पर्य 'शुद्ध साहित्यिक आलोचना' नहीं है, बल्कि इनके नजदीक आलोचना एक व्यापक सांस्कृतिक प्रक्रिया है, जिसको कुछ सामाजिक सरोकार होते हैं, जिसे मुक्तिबोध 'सभ्यता समीक्षा' कहा करते थे। इस प्रकार नामवर सिंह अपने संपादन में विविध ज्ञानानुशासन युक्त सामग्री प्रस्तुत करते हुए हिंदी आलोचकों के समक्ष उसी प्रकार के गूढ़ गंभीर और विविध ज्ञानानुशासन युक्त उक्त आलोचनात्मक दृष्टि का आदर्श प्रस्तुत करने का कार्य किया। आलोचना के स्वरूप को विशुद्ध

साहित्य के सीमित क्षेत्र से निकाल कर उसे सभ्यता समीक्षा की सांस्कृतिक प्रक्रिया से जोड़ने का काम किया। इसके लिए उनका आलोचनात्मक विवेक का महत्त्वपूर्ण अवदान है, जिसके कारण उनके संपादकीय विवेक को अत्यंत विस्तृत आधार मिला। इस प्रकार नामवर सिंह ने 'आलोचना' पत्रिका का संपादन करते हुए आलोचना के स्वरूप को ही बदल देने का काम किया। अब आलोचना में प्रवृत्त किसी आलोचक के लिए केवल साहित्य का ज्ञान अपेक्षित नहीं है, बल्कि सम्यक इतिहास-बोध, वैज्ञानिक दृष्टि, सांस्कृतिक चेतना संपन्न होने के साथ-साथ साहित्य की परंपराओं का ज्ञान और विविध ज्ञान के अनुशासनों की सम्यक जानकारी के साथ तीव्र अन्वीक्षण बुद्धि और रसग्रहिणी प्रज्ञा की अपेक्षा होगी। अतः नामवर सिंह के संपादन के माध्यम से 'आलोचना' पत्रिका की सामग्री ने इस प्रकार से हिंदी पाठकों और आलोचकों के आलोचनात्मक विवेक के निर्माण का कार्य किया है। इसके माध्यम से हिंदी आलोचना के लिए ऐसा बौद्धिक वातावरण निर्मित हुआ कि आगामी आलोचना का सर्वोत्तम उसी वातावरण की देन होगी।

'आलोचना' पत्रिका के माध्यम से हिंदी आलोचना में एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण योगदान हिंदी की 'आलोचना की भाषा' का विकास के रूप में देखा जा सकता है। नामवर सिंह ने 'आलोचना' का संपादन करते हुए हिंदी की प्रगतिशील आलोचना के विकास के लिए जो लड़ाई लड़ी है, उसमें हिंदी की अपनी 'आलोचना की भाषा' का क्या रूप हो यह मुद्दा भी शुरू से जुड़ा रहा है। हमारी दृष्टि में 'आलोचना' पत्रिका ने हिंदी 'आलोचना' की भाषा के निर्माण में अपनी महती भूमिका का निर्वाह किया है। हिंदी आलोचना के सम्मुख 'आलोचना' पत्रिका में प्रयुक्त भाषा ही हिंदी आलोचना की सही व जातीय भाषा हो सकती है।

इसके अतिरिक्त, 'आलोचना' पत्रिका में कई प्रतिभाओं को प्रकाशित कर प्रोत्साहित किया, वहीं कुछ आलोचकों और चिंतकों को बार-बार छाप कर उनकी प्रतिभा से हिंदी आलोचना जगत को परिचित कराया। आज हिंदी में जितने बड़े आलोचक-चिंतक दिखाई पड़ते हैं, उनका संबंध

किसी-न-किसी रूप में 'आलोचना' पत्रिका से अवश्य रहा है। नामवर सिंह के संपादकीय विवेक का ही अवदान है, जिससे हिंदी आलोचना का वृहत्तर आयाम निर्मित हो सका। उन्होंने 'आलोचना' का संपादन करते हुए हिंदी आलोचना को विशुद्ध साहित्यिक क्षेत्र की सीमा से निकालकर उसे व्यापक सांस्कृतिक क्षेत्र में जोड़कर व्यापक आधार प्रदान करते हुए उसे 'सभ्यता-समीक्षा' का रूप दिया। कहना न होगा कि उन्होंने 'आलोचना' पत्रिका को गूढ़-गंभीर चिंतन युक्त सामग्री से ऐसे बौद्धिक वातावरण का निर्माण किया जो समस्त साहित्यिक-सांस्कृतिक गतिविधियों को आलोचनात्मक होकर देख सके। इस प्रकार यह नामवर सिंह का आलोचनात्मक विवेक और संपादक-व्यक्तित्व की ही महत्वपूर्ण देन है जिसने कितने ही आलोचकों-पाठकों का आलोचनात्मक विवेक निर्मित किया और 'आलोचना' को हिंदी की आलोचनात्मक विवेक की पत्रिका के रूप में स्थापित किया। वह न केवल हिंदी की महती पत्रिका बनी बल्कि भारतीय साहित्य की परीक्षा करनेवाली एक अप्रतिम पत्रिका भी सिद्ध हुई। उसका स्थान इतिहास के हृदय में सुरक्षित है।



सहायक-ग्रंथ-सूची

मूल सामग्री

नामवर सिंह द्वारा संपादित 'आलोचना' त्रैमासिक के अंकों की सूची

- नवांक-01. (पूर्णांक-38), अप्रैल-जून 1967, संपादक—नामवर सिंह, प्रबंध संपादक—शीला संधू (संवाद : चुनाव के बाद का भारत).
- नवांक-02. (पूर्णांक-39), जुलाई-सितम्बर 1967. (संवाद : आलोचना की भाषा).
- नवांक-03. (पूर्णांक-40), अक्टूबर-दिसम्बर 1967. (संवाद : रोमांटिक बनाम आधुनिक)
- नवांक-04. (पूर्णांक-41), जनवरी-मार्च 1968. (संवाद : युवा लेखन पर बहस)
- नवांक-05. (पूर्णांक-42), अप्रैल-जून 1968.
- नवांक-06. (पूर्णांक-43), जुलाई-सितम्बर 1968 ('मुक्तिबोध-विशेषांक' एवं संवाद : कविता और राजनीति)
- नवांक-07. (पूर्णांक-44), अक्टूबर-दिसम्बर 1968.
- नवांक-08. (पूर्णांक-45), जनवरी-मार्च 1969 (ग़ालिब स्मृति-अंक).
- नवांक-09. (पूर्णांक-46), अप्रैल-जून 1969.
- नवांक-10. (पूर्णांक-47), जुलाई-सितम्बर 1969.
- नवांक-11. (पूर्णांक-48), अक्टूबर-दिसम्बर 1969. (संवाद : विश्वविद्यालय और साहित्य-शिक्षा)
- नवांक-12. (पूर्णांक-49), जनवरी-मार्च 1970.
- नवांक-13. (पूर्णांक-50), अप्रैल-जून 1970 (लेनिन की जन्मशती के उपलक्ष्य में विशेषांक)

- नवांक-14. (पूर्णांक-51), जुलाई-सितम्बर 1970— (मुक्तिबोध पर विशेष लेखों से युक्त अंक).
- नवांक-15. (पूर्णांक-52), अक्टूबर-दिसम्बर 1970.
- नवांक-16. (पूर्णांक-53), जनवरी-मार्च, 1971.
- नवांक-17. (पूर्णांक-54), अप्रैल-जून, 1971.
- नवांक-18. (पूर्णांक-55), जुलाई-सितम्बर 1971. (जार्जलूकाच स्मृति अंक).
- नवांक-19. (पूर्णांक-56), अक्टूबर-दिसम्बर 1971. (पाब्लो नेरुदा पर संपादकीय)
- नवांक-20. (पूर्णांक-57), जनवरी-मार्च 1972. (लूसिएँ गोल्डमान की स्मृति अंक)
- नवांक-21. (पूर्णांक-58), अप्रैल-जून 1972.
- नवांक-22. (पूर्णांक-59), जुलाई-सितम्बर 1972.
- नवांक-23. (पूर्णांक-60), अक्टूबर-दिसम्बर 1972.
- नवांक-24. (पूर्णांक-61), जनवरी-मार्च, 1973.
- नवांक-25. (पूर्णांक-62), अप्रैल-जून, 1973. (साहित्य के समाजशास्त्र पर विशेष सामग्री)
- नवांक-26. (पूर्णांक-63), जुलाई-सितम्बर, 1973.
- नवांक-27. (पूर्णांक-64), अक्टूबर-दिसम्बर, 1973.
- नवांक-28. (पूर्णांक-65), जनवरी-मार्च 1974.
- नवांक-29. (पूर्णांक-66), अप्रैल-जून 1974. (संवाद : आज की स्थिति में प्रगतिशीलता)
- नवांक-30. (पूर्णांक-67), जुलाई-सितम्बर, 1974. (तुलसीदास पर कुछ विशेष लेख)
- नवांक-31. (पूर्णांक-68), अक्टूबर-दिसम्बर, 1974.

- नवांक-32. (पूर्णांक-69), जनवरी-मार्च, 1975.
- नवांक-33. (पूर्णांक-70), अप्रैल-जून, 1975 (धूमिल स्मृति अंक).
- नवांक-34-35. (पूर्णांक-71-72), जुलाई-दिसम्बर, 1975.
- नवांक-36. (पूर्णांक-73), जनवरी-मार्च, 1976.
- नवांक-37. (पूर्णांक-74), अप्रैल-जून, 1976.
- नवांक-38. (पूर्णांक-75), जुलाई-सितम्बर, 1976.
- नवांक-39. (पूर्णांक-76), अक्टूबर-दिसम्बर, 1976.
- नवांक-40. (पूर्णांक-77), जनवरी-मार्च, 1977.
- नवांक-41. (पूर्णांक-78), अप्रैल-जून, 1977.
- नवांक-42. (पूर्णांक-79), जुलाई-सितम्बर, 1977.
- नवांक-43. (पूर्णांक-80), अक्टूबर-दिसम्बर, 1977 (पंत स्मृति अंक).
- नवांक-44. (पूर्णांक-81), जनवरी-मार्च 1978-संपा. नामवर सिंह प्रबंध संपा. शीला संधू (सूरदास पर दो विशेष लेख) (संवाद : लेखक और लोकतंत्र दो आलेख)
- नवांक-45. (पूर्णांक-82), वर्ष 27, अप्रैल-जून 1978, प्रबंध सम्पा.— शीला संधू.
- नवांक-46. (पूर्णांक-83), जुलाई-सितम्बर, 1978. प्रबंध, संपा.— शीला संधू.
- नवांक-47. (पूर्णांक-84), अक्टूबर-दिसम्बर, 1978. प्रबंध संपा.— शीला संधू.
- नवांक-48. (पूर्णांक-85), जनवरी-मार्च, 1979, प्रबंध संपा.— शीला संधू.
- नवांक-49-50. (पूर्णांक-86-87), अप्रैल-सितम्बर 1979 (आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी स्मृति अंक)— संपा.— नामवर सिंह. प्रबंध संपा.— शीला संधू.

- नवांक-51-52. (पूर्णांक-88-89), अक्टूबर-दिसम्बर, 1979 एवं जनवरी-मार्च 1980, सम्पादक—नामवर सिंह (प्रेमचंद जन्मशती अंक).
- नवांक-53. (पूर्णांक-90), अप्रैल-जून, 1980, सं. नामवर सिंह, प्रबंध संपादिका—शीला संधू, (प्रेमचंद पर पूरक सामग्री).
- नवांक-54-55. (पूर्णांक-91-92), जुलाई-दिसम्बर, 1980, संपा. नामवर सिंह; सह-संपा. —नंदकिशोर नवल.
- नवांक-56-57. (पूर्णांक-93-94), जनवरी-मार्च और अप्रैल-जून 1981. (नागार्जुन पर विशेषांक और समकालीन कविता पर विशेष सामग्री).
- नवांक-58. (पूर्णांक-95), जुलाई-सितम्बर, 1981.
- नवांक-59. (पूर्णांक-96), वर्ष 30, अक्टूबर-दिसम्बर 1981. (प्रेमचंद और राजनीतिक संदर्भ पर तीन विशेष लेख).
- नवांक-60-61. (पूर्णांक-97-98), जन-मार्च/अप्रैल-जून 1982. (डॉ० रामविलास शर्मा की सत्तरवीं वर्षगांठ पर विशेषांक).
- नवांक-62-63. (पूर्णांक-99-100), जुलाई-सित./ अक्टूबर-दिसम्बर 1982 (समीक्षा अंक).
- नवांक-64-65. जनवरी-मार्च/अप्रैल-जून 1983. (उपन्यास अंक).
- नवांक-66. जुलाई-सितम्बर. 1983.
- नवांक-67. अक्टूबर-दिसम्बर. 1983
- नवांक-68. जनवरी-मार्च. 1984.
- नवांक-69. अप्रैल-जून. 1984.
- नवांक-70. जुलाई-सितम्बर 1984 (माक्स अंक).

- नवांक-71. अक्टूबर-दिसम्बर. 1984.
- नवांक-72. जनवरी-मार्च. 1985.
- नवांक-73. अप्रैल-जून. 1985. (आचार्य रामचंद्र शुक्ल अंक-01)
- नवांक-74. जुलाई-सितम्बर. 1985. (आचार्य रामचंद्र शुक्ल अंक-02).
- नवांक-75. अक्टूबर-दिसम्बर, 1985.
- नवांक-76. जनवरी-मार्च 1986. (यथार्थवाद और हिंदी उपन्यास पर तीन लेख).
- नवांक-77. अप्रैल-जून 1986, संपा.—नामवर सिंह, सह-संपा.—परमानंद श्रीवास्तव,
प्रबंध संपादिका—शीला संधू.
—(प्रगतिशाल लेखक संघ और आंदोलन की 50वीं वर्षगांठ पर विशेष-अंक).
- नवांक-78. जुलाई-सितम्बर, 1986. (श्रीकांत वर्मा स्मृति अंक).
- नवांक-79. अक्टूबर-दिसम्बर 1986 (भारतेंदु और मैथिलीशरण गुप्त पर केंद्रित अंक
: हिंदी नवजागरण के आलोक में).
- नवांक-80. जनवरी-मार्च 1987.
- नवांक-81. अप्रैल-जून 1987.
- नवांक-82. जुलाई-सितम्बर 1987 (त्रिलोचन पर विशेषांक).
- नवांक-83. अक्टूबर-दिसम्बर 1987.
- नवांक-84. जनवरी-मार्च 1988. (विश्वनाथ काशीनाथ राजवाड़े के 'उपन्यास' शीर्षक
निबंध का हिंदी अनुवाद).
- नवांक-85. अप्रैल-जून 1988 (पंजाबी के युवा कवि पाश को समर्पित अंक).
- नवांक-86. जुलाई-सितम्बर 1988. (संवाद : समकालीन आलोचना—सामाजिक दायित्व
पर विशेष).

- नवांक-87. अक्टूबर-दिसम्बर 1988. (रिमंड विलियम्स को श्रद्धांजलि और उन पर विशेष सामग्री).
- नवांक-88. जनवरी-मार्च 1989.
- नवांक-89. अप्रैल-जून 1989 (गोरख पांडे स्मृति-अंक)
- नवांक-90. जुलाई-सितम्बर 1989 (निर्मल वर्मा पर केंद्रित अंक).
- नवांक-91. अक्टूबर-दिसम्बर 1989 (रघुवीर सहाय की षष्ठीपूर्ति एवं सोमदत्त की स्मृति पर सामग्री).
- नवांक-92. जनवरी-मार्च 1990 (रस सिद्धांत पर विशेष. दि. के. बेडेकर को समर्पित अंक).
- नवांक-93. अप्रैल-जून 1990. (भारतीय नवजागरण पर विशेष सामग्री).

नोट :

1. नवांक 54-55 से नवांक-76 तक नंदकिशोर नवल, 'आलोचना' पत्रिका के सह-संपादक रहे हैं।
2. नवांक-77 से 93 तक परमानंद श्रीवास्तव इसके सह-संपादक रहे हैं।
3. नवांक-45 से 48 तक का संपादन नामवर सिंह ने नहीं किया है। केवल प्रबंध संपादिका का नाम ही आवरण पृष्ठ पर छपता था। सामग्री आदि जुटाने का कार्य नामवर सिंह ने ही किया था।

सहायक ग्रंथ एवं पुस्तकें

अग्रवाल, कुसुम.

बीसवीं शताब्दी: दो दशक— पत्र पत्रिकाओं का अवदान. वाराणसी : नागरी प्रचारिणी सभा. वि. सं. 2033.

अग्रवाल, पुरुषोत्तम.

शिवदान सिंह चौहान. नई दिल्ली : साहित्य अकादमी, 2007. भारतीय साहित्य के निर्माता. मोनोग्राफ

- अज्ञेय, सच्चिदानंद हीरानंद वात्स्यायन.
अमृतराय.
अवस्थी, देवीशंकर.
— — —,
अवस्थी, रेखा.
आशुतोष कुमार.
इस्सर, देवेन्द्र.
उपाध्याय, मृत्युंजय.
उपाध्याय, विश्वंभरनाथ.
खरे, विष्णु.
गुप्त, प्रकाशचंद्र.
गुप्ता, वी. डी.
त्रिशंकु. बीकानेर : सूर्य प्रकाशन मंदिर, 1973.
आधुनिक भावबोध की संज्ञा, इलाहाबाद : हंस
प्रकाशन, 1987.
आलोचना और आलोचना. कानपुर : प्रकाशन,
1961.
संपा.—विवेक के रंग. वाराणसी : भारतीय
ज्ञानमंडल, 1965.
प्रगतिवाद और समानांतर साहित्य. नई दिल्ली :
मैकमिलन, 1978.
समकालीन कविता और मार्क्सवाद. दिल्ली :
शिल्पायन, 2010.
साहित्य और आधुनिक युगबोध. अजमेर : कृष्णा
ब्रदर्स, 1973.
समकालीन आलोचना और साहित्य. इलाहाबाद
: चित्रलेखा प्रकाशन, 1988.
बिंदु प्रति बिंदु. जयपुर : पंचशील प्रकाशन,
1983.
आलोचना की पहली किताब. द्वि. संस. नई
दिल्ली: वाणी प्रकाशन, 2004.
साहित्यधारा. बनारस : हिंदी प्रचारक पुस्तकालय,
1956.
साहित्य का समाजशास्त्र : अवधारणा सिद्धांत
एवं पद्धति. हाथरस : सीता प्रकाशन, 1982.

— — — .

साहित्य : समाजशास्त्रीय समीक्षा. हाथरस :
सीता प्रकाशन, वि. सं. 2046.

गुर्द, शचीरानी.

संपा. हिंदी के आलोचक. दिल्ली : आत्माराम
एंड संस, 1955.

गोपालराय.

हिंदी उपन्यास का विकास. नई दिल्ली :
राजकमल प्रकाशन, 2002.

चक्रधर, अशोक.

मुक्तिबोध की समीक्षाई. नई दिल्ली : राधाकृष्ण
प्रकाशन, 1982.

चतुर्वेदी, कुश.

भारतेन्दुयुगीन हिंदी पत्रकारिता. इलाहाबाद :
साहित्य संगम, 1995.

चतुर्वेदी, जगदीश्वर.

मार्क्सवाद और आधुनिक हिंदी कविता. नई
दिल्ली : राधा पब्लिकेशंस, 1994.

चतुर्वेदी, रामस्वरूप.

समकालीन हिंदी साहित्य : विविध परिदृश्य. द्वि.
परि. संस. नई दिल्ली : राधाकृष्ण प्रकाशन,
2000.

— — — .

हिंदी नवलेखन. काशी : भारतीय ज्ञानपीठ, 1960.

— — — .

हिंदी साहित्य और संवेदना का विकास. तेइसवाँ
संस. इलाहाबाद : लोकभारती प्रकाशन, 2010.

चौधरी, राजकमल.

बर्फ और सफेद कब्र पर एक फूल. संपा. देवशंकर
नवीन. नई दिल्ली : वाणी प्रकाशन, 2004.

चौहान, कर्णसिंह.

आलोचना के नए मान. नई दिल्ली : मैकमिलन,
1978.

- — — . साहित्य के बुनियादी सरोकार. दिल्ली : पीपुल्स लिटरेसी, 1982.
- चौहान, शिवदान सिंह. आलोचना के मान. दिल्ली : रणजीत प्रिंटर्स एंड पब्लिशर्स, 1958.
- — — . साहित्य की परख. इलाहाबाद : इंडिया पब्लिशर्स, 1948.
- — — . साहित्य की समस्याएँ. दिल्ली : आत्माराम एंड संस, 1959.
- — — . साहित्यानुशीलन. दिल्ली : आत्माराम एंड संस, 1955.
- — — . हिंदी साहित्य के अस्सी वर्ष. नई दिल्ली : राजकमल प्रकाशन, 1961.
- ज़हीर, सज्जाद. रोशनी का सफर. नई दिल्ली : सारांश प्रकाशन, 1994.
- जैन, निर्मला., कुसुम बाँठिया. पाश्चात्य साहित्य चिंतन, आवृत्ति. नई दिल्ली. राधाकृष्ण प्रकाशन, 2004.
- जैन, निर्मला. संपा. — साहित्य का समाजशास्त्रीय चिंतन. नई दिल्ली : हिंदी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय. दिल्ली विश्वविद्यालय, सितं. 2009.
- — — . हिंदी आलोचना की बीसवीं सदी. नई दिल्ली : राधाकृष्ण प्रकाशन, 1992.
- जैन, नेमिचंद्र. अधूरे साक्षात्कार. दिल्ली : अक्षर प्रकाशन, 1966.

— — — .

बदलते परिप्रेक्ष्य. नई दिल्ली : राजकमल प्रकाशन,
1968.

तलवार, वीरभारत.

रस्साकशी : 19 वीं सदी का नवजागरण और
पश्चिमोत्तर प्रांत. दिल्ली : सारांश प्रकाशन,
2002.

— — — .

तिवारी, नित्यानंद.

सामना. नई दिल्ली : वाणी प्रकाशन, 2005.
आधुनिक साहित्य और इतिहास बोध. नई दिल्ली
: वाणी प्रकाशन, 1982.

तिवारी, रामचंद्र.

हिंदी का गद्य साहित्य. तृ. संस. वाराणसी :
विश्वविद्यालय प्रकाशन, 1992.

तिवारी, विश्वनाथ प्रसाद.

रचना के सरोकार. नई दिल्ली : वाणी प्रकाशन,
1987.

— — — .

आलोचना के हाशिए पर. नई दिल्ली : नेशनल
पब्लिशिंग हाउस, 2008.

— — — .

हजारीप्रसाद द्विवेदी. पु. नई दिल्ली : साहित्य
अकादमी, 2009. भारतीय साहित्य के
निर्माता—मोनोग्राफ.

त्रिपाठी, विश्वनाथ.

हिंदी आलोचना. छात्र संस. आठवीं आवृत्ति. नई
दिल्ली : राजकमल प्रकाशन, 2004.

दवे, रमेश.

आलोचना—समय और साहित्य. नई दिल्ली :
भारतीय ज्ञानपीठ, 2005.

द्विवेदी, हजारीप्रसाद.

हिंदी साहित्य : उद्भव और विकास. पाँचवी
आवृत्ति. नई दिल्ली : राजकमल प्रकाशन, 2003.

- — — . हिंदी साहित्य की भूमिका. नई दिल्ली : राजकमल प्रकाशन, 2003.
- नंबूदिरिपाद., ई. एम. एस. कला, साहित्य और संस्कृति. दिल्ली : पीपुल्स लिटरेसी, 1982.
- नगेंद्र. संपा. हिंदी साहित्य का इतिहास. पुन. चवालिसवाँ संस. दिल्ली : मयूर पेपर बैक्स, 2013.
- नवल, नंदकिशोर. कविता की मुक्ति. नई दिल्ली : वाणी प्रकाशन, 1980.
- — — . निकष. दिल्ली : दानिश बुक्स, 2007.
- — — . हिंदी आलोचना का विकास. तीसरी आवृत्ति. नई दिल्ली : राजकमल प्रकाशन, 2007.
- पचौरी, सुधीश. संपा. नामवर के विमर्श. नई दिल्ली : प्रवीण प्रकाशन, 1995.
- पांडेय, मैनेजर. अनभै साँचा. नई दिल्ली : पूर्वोदय प्रकाशन, 2002.
- — — . आलोचना की सामाजिकता. नई दिल्ली : वाणी प्रकाशन, 2005.
- — — . साक्षात्कार. मैं भी मुँह में ज़बान रखता हूँ. दिल्ली : यश पब्लिकेशंस, 2008.
- — — . शब्द और कर्म. बीकानेर : धरती प्रकाशन, 1981.
- — — . साहित्य और इतिहास दृष्टि. द्वि. संस. नई दिल्ली : वाणी प्रकाशन, 2000.

— — — .

साहित्य के समाजशास्त्र की भूमिका. चंडीगढ़ :
हरियाणा साहित्य अकादमी, 1989. साहित्य
समालोचना ग्रंथमाला— 17.

पांडेय, रत्नाकर.

हिंदी पत्रकारिता : प्रेमचंद और हंस. नई दिल्ली
: प्रवीण प्रकाशन, 1988.

प्रसाद, कमला. , सुधीर रंजन सिंह, राजेंद्र शर्मा.

संपा. नामवर सिंह : आलोचना की दूसरी परंपरा.
नई दिल्ली : वाणी प्रकाशन, 2002.

फाक्स, रॉल्फ.

उपन्यास और लोकजीवन. अनु. नरोत्तम नागर.
चौथा संस. नई दिल्ली : पीपुल्स पब्लिशिंग
हाउस, फरवरी, 2008.

फिशर, अन्स्ट.

कला की ज़रूरत. अनु. रमेश उपध्याय. नई
दिल्ली : राजकमल प्रकाशन, 1990.

बल, मीरा रानी.

राष्ट्रीय नवजागरण और हिंदी पत्रकारिता. नई
दिल्ली : वाणी प्रकाशन, 1994.

मदान, इंद्रनाथ.

आधुनिकता और हिंदी साहित्य. नई दिल्ली :
राजकमल प्रकाशन, 1973.

— — — .

आलोचना और साहित्य. इलाहाबाद : नीलाभ
प्रकाशन, 1964.

— — — .

हिंदी आलोचना : पहचान और परख. दिल्ली :
लिपि प्रकाशन, 1974.

मधुरेश.

मार्क्सवादी आलोचना और शिवदान सिंह चौहान.
पंचकूला : आधार प्रकाशन, 2011.

- — — . हिंदी आलोचना का विकास. द्वि. संस. इलाहाबाद
: सुमित प्रकाशन, 2004.
- — — . हिंदी उपन्यास का विकास. तृ. संस. इलाहाबाद
: सुमित प्रकाशन, 2004.
- मिश्र, रामदरश. हिंदी समीक्षा : स्वरूप और संदर्भ. दिल्ली :
मैकमिलन, 1974.
- मिश्र, विद्यानिवास. रीतिविज्ञान : सर्जनात्मक समीक्षा का नया
आयाम. नई दिल्ली : राधाकृष्ण प्रकाशन, 1973.
- मिश्र, शिवकुमार. संपा. मार्क्सवाद और साहित्य. नई दिल्ली :
वाणी प्रकाशन, 2001.
- — — . दर्शन, साहित्य और समाज. दिल्ली : पीपुल्स
लिटरेसी, 1981.
- — — . साहित्य और सामाजिक संदर्भ. दिल्ली : कला
प्रकाशन, 1977.
- — — . हिंदी आलोचना की परंपरा और आचार्य रामचंद्र
शुक्ल. नई दिल्ली : वाणी प्रकाशन, 2002.
- मुक्तिबोध, गजानन माधव. आखिर रचना क्यों. नई दिल्ली : राधाकृष्ण
प्रकाशन, 1982.
- — — . एक साहित्यिक की डायरी. तृ. संस. वाराणसी :
भारतीय ज्ञानपीठ, 1969.
- — — . नए साहित्य का सौंदर्यशास्त्र. नई दिल्ली :
राधाकृष्ण प्रकाशन, 1971.

— — — .

समीक्षा की समस्याएँ. नई दिल्ली : राजकमल प्रकाशन, 1982.

मुद्राराक्षस.

आलोचना का समाजशास्त्र. नई दिल्ली : नेशनल पब्लिशिंग हाउस, 2004.

मेघ, रमेशकुंतल.

अथातो साहित्य जिज्ञासा. दिल्ली : मैकमिलन, 1977.

— — — .

आधुनिकता-बोध और आधुनिकीकरण. दिल्ली : अक्षर प्रकाशन, 1969.

— — — .

कामायनी पर एक नई किताब. इलाहाबाद : अभिव्यक्ति प्रकाशन, 1995.

यायावर, भारत.

नामवर होने का अर्थ. पेपर बैक्स. नई दिल्ली : किताबघर प्रकाशन, 2012.

रजनीश, गोविंद.

संपा. रांगेय राघव : प्रगतिशील होने का अर्थ. दिल्ली : ओमलेजर प्रिंटर्स, 2008.

रमेश कुमार.

नवजागरण और हिंदी आलोचना. दिल्ली : नेहा प्रकाशन, 2006.

राघव, रांगेय.

प्रगतिशील साहित्य के मानदंड. आगरा : विनोद पुस्तक मंदिर, 1954.

वाजपेयी, अशोक.

फिलहाल. नई दिल्ली : राजकमल प्रकाशन, 1970.

वाजपेयी, नंददुलारे.

हिंदी साहित्य : बीसवीं शताब्दी. संशो. परि. संस. इलाहाबाद : लोकभारती प्रकाशन, 1970.

- वेलोक, रेने., वारेन आस्टिन. साहित्य सिद्धांत. अनु. वी. एस. पालीवाल. इलाहाबाद : लोकभारती प्रकाशन. -- अ. ति. 1984.
- वर्मा, धनंजय. आधुनिकता के बारे में तीन अध्याय. नई दिल्ली : विद्या प्रकाशन मंदिर, 1984.
- वर्मा, लक्ष्मीकांत. नई कविता के प्रतिमान. इलाहाबाद : भारती प्रेस. प्रकाशन, वि. सं. 2014.
- -- -- . नए प्रतिमान : पुराने निष्कर्ष. कलकत्ता : भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, 1966.
- वर्मा, श्रीकांत. जिरह. द्वि. संस : हापुड़ : संभावना प्रकाशन, 1976.
- शंभुनाथ., अशोक जोशी. संपा. भारतेन्दु और भारतीय नवजागरण. कलकत्ता : आनेवाला कल प्रकाशन, 1986.
- शर्मा, भक्तराम. मार्क्सवाद और हिंदी कविता. नई कविता : वाणी प्रकाशन, 1980.
- शर्मा, रामविलास. आचार्य रामचंद्र शुक्ल और हिंदी आलोचना. नई दिल्ली : राजकमल प्रकाशन, 1973.
- -- -- . कथा विवेचना और गद्यशिल्प. नई दिल्ली : वाणी प्रकाशन, 1982.
- -- -- . घर की बात. नई दिल्ली : राजकमल प्रकाशन, 1983.
- -- -- . परंपरा का मूल्यांकन. नई दिल्ली : राजकमल प्रकाशन, 1981.

- -- -- . प्रगतिशील साहित्य की समस्याएँ. आगरा : विनोद पुस्तक मंदिर, 1954.
- -- -- . भारतेन्दु हरिश्चंद्र और हिंदी नवजागरण की समस्याएँ. नई दिल्ली : राजकमल प्रकाशन, 1999.
- -- -- . भाषा और समाज. नई दिल्ली : राजकमल प्रकाशन, 1977.
- -- -- . भाषा युगबोध और कविता. नई दिल्ली : वाणी प्रकाशन, 1981.
- -- -- . महावीरप्रसाद द्विवेदी और हिंदी नवजागरण. नई दिल्ली : राजकमल प्रकाशन, 1977.
- -- -- . मार्क्सवाद और प्रगतिशील साहित्य. द्वि. संस. नई दिल्ली : वाणी प्रकाशन, 2002.
- -- -- , संपा. लोकजागरण और हिंदी साहित्य. नई दिल्ली : वाणी प्रकाशन, 1985.
- शर्मा, हरिमोहन. संपा. विजयदेव नारायण साही : निबंधों की दुनिया. नई दिल्ली : वाणी प्रकाशन, 2007.
- शुक्ल, रामचंद्र. हिंदी साहित्य का इतिहास. इलाहाबाद : लोकभारती प्रकाशन, 2000.
- श्रीवास्तव, परमानंद. नई कविता का परिप्रेक्ष्य. इलाहाबाद : नीलाभ प्रकाशन, 1968.
- -- -- . समकालीन कविता का व्याकरण. दिल्ली : शुभदा प्रकाशन, 1980.

- सक्सेना, प्रदीप. अठारह सौ सत्तावन और भारतीय नवजागरण.
पंचकूला : आधार प्रकाशन, 1996.
- — — , संपा. 1857 महाक्रांति या महाविद्रोह. नई दिल्ली
: प्रवीण प्रकाशन, 2008.
- — — . तिलिस्मी साहित्य का साम्राज्यवाद-विरोधी चरित्र.
दिल्ली : शिल्पायन, 2004.
- सिंह, कुँवरपाल. संपा. साहित्य समीक्षा और मार्क्सवाद. शाहदरा
: अरुणोदय प्रकाशन, 1992.
- — — . संपा. साहित्य और राजनीति. दिल्ली : संभावना
प्रकाशन, 1981.
- सिंह, केदारनाथ. मेरे समय के शब्द. नई दिल्ली : राधाकृष्ण
प्रकाशन, 1993.
- सिंह, नामवर. आलोचना और विचारधारा. संपा. आशीष त्रिपाठी.
नई दिल्ली : राजकमल प्रकाशन, 2012.
- — — . कविता की ज़मीन और ज़मीन की कविता.
संपा. आशीष त्रिपाठी. नई दिल्ली : राजकमल
प्रकाशन, 2012.
- — — . कविता के नए प्रतिमान. पाँचवी आवृत्ति. नई
दिल्ली : राजकमल प्रकाशन, 2000.
- — — , संपा. कार्ल मार्क्स : कला और साहित्य-चिंतन.
अनु. गोरख पांडेय. नई दिल्ली : राजकमल
प्रकाशन, 1991.

- — — . ज़माने से दो दो हाथ. संपा. आशीष त्रिपाठी. नई दिल्ली : राजकमल प्रकाशन, 2012.
- — — . दूसरी परंपरा की खोज. चौथी आवृत्ति-पेपर बैक संस. नई दिल्ली : राजकमल प्रकाशन, 2003.
- — — . प्रेमचंद और भारतीय समाज. संपा.. आशीष त्रिपाठी. नई दिल्ली : राजकमल प्रकाशन, 2012.
- — — . वाद विवाद संवाद. नई दिल्ली : राजकमल प्रकाशन, 1989.
- — — . साहित्य की पहचान. संपा. आशीष त्रिपाठी. नई दिल्ली : राजकमल प्रकाशन, 2012.
- — — . हिंदी का गद्यपर्व. संपा. आशीष त्रिपाठी. नई दिल्ली : राजकमल प्रकाशन, 2012.
- सिंह, नामवर. कहना न होगा. संक-संपा. समीक्षा ठाकुर. नई दिल्ली : वाणी प्रकाशन, 1994. (साक्षात्कार)
- — — . बात बात में बात. संक. — संपा. समीक्षा ठाकुर. नई दिल्ली : वाणी प्रकाशन, 2006. (साक्षात्कार)
- — — . सम्मुख. संपा. आशीष त्रिपाठी. नई दिल्ली : राजकमल प्रकाशन, 2012. (साक्षात्कार)
- — — . साथ-साथ. संपा. आशीष त्रिपाठी. नई दिल्ली : राजकमल प्रकाशन, 2012. (साक्षात्कार)
- सिंह, बच्चन. आधुनिक हिंदी आलोचना के बीज शब्द. नई दिल्ली : राधाकृष्ण प्रकाशन, 1983.

- — — . आलोचना और आलोचना. वाराणसी :
विश्वविद्यालय प्रकाशन, 1970.
- — — . समकालीन साहित्य : आलोचना को चुनौती.
वाराणसी : हिंदी प्रचारक प्रकाशन, 1968.
- — — . साहित्य का समाजशास्त्र और रूपवाद.
वाराणसी : विश्वविद्यालय प्रकाशन, 1984.

पत्र-पत्रिकाएँ

- अभिनव भारती उपन्यास अंक (2006-07 व 2007-2008)
'उपन्यास और प्रतिरोध'. संपा. आशुतोष कुमार,
मेराज अहमद. हिंदी विभाग अ. मु. वि. अलीगढ़।
- उद्भावना रामविलास शर्मा महाविशेषांक— 'प्रतिरोध ही
सौंदर्य है' अतिथि. संपा. प्रदीप सक्सेना. नव.
—दिसं. 2012. नई दिल्ली.
- कल्पना नवलेखन विशेषांक- 210. अतिथि संपा.
शिवप्रसाद सिंह अगस्त-सितं. 1969. हैदराबाद.
- तदभव अंक- 02. सितंबर, 1999. संपा. अखिलेश.
लखनऊ—(अंक- 03) अप्रैल, 2000. संपा.
अखिलेश. लखनऊ.
- दस्तावेज नामवर सिंह पर केंद्रित (अंक- 52) जुलाई-सितं.
1991. संपा. विश्वनाथप्रसाद तिवारी. गोरखपुर.

| | |
|-----------------|--|
| पहल | अंक- 26 , फरवरी, 1984. संपा. ज्ञानरंजन. जबलपुर— नामवर सिंह पर केंद्रित अंक. —मार्क्स (अंक. 64-65) अप्रैल-जून, 2000 अतिथि संपा. प्रदीप सक्सेना. संपा. ज्ञानरंजन. जबलपुर. |
| पाखी | नामवर सिंह पर केंद्रित अंक. अक्टू. 2010. संपा. प्रेम भारद्वाज. नोयडा (उ.प्र.). |
| पूर्वग्रह | ‘समवाय’ अंक- जनवरी-अप्रैल, 1987. (?) संपा. अशोक वाजपेयी. भोपाल. ‘साहित्य क्या है?’ (अंक. 105) जून-अगस्त— 1997. संपा. मदन सोनी. भोपाल. |
| लहर | आलोचना अंक. जन-फरवरी. 1982. संपा. प्रकाश जैन. मनमोहिनी. अजमेर. |
| विकल्प | (प्रवेशांक) मई, 1967 ई. संपा. शैलेश मटियानी- इलाहाबाद. (अंक-02) नवंबर, 1967 संपा. शैलेश मटियानी- इलाहाबाद. |
| वर्तमान साहित्य | हिंदी आलोचना पर एकाग्र. 1, 2, 3 (मई. जून, जुलाई, 2002. संपा— संयो. अरविंद त्रिपाठी. दिल्ली. |

हिंदुस्तानी

जनवरी-मार्च, 1942. संपा. रामचंद्र टंडन.

इलाहाबाद.

शोधकार्य संबंधी पूर्वशोध

कुम्हार, छोटाराम.

आलोचना— संदर्भ कोश : 'आलोचना' पत्रिका
का सर्वेक्षण और मूल्यांकन. जोधपुर : राजस्थानी
ग्रंथागार, 1999.

हुमा परवीन.

“नवे दशक की आलोचना पत्रिका और समीक्षा”.
स्नातकोत्तर उपाधि हेतु प्रस्तुत लघु शोध-प्रबंध.
हिंदी विभाग, अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय,
अलीगढ़. 1990-91.

शोध संदर्भ हेतु—दिशा-निर्देशक ग्रंथ

मार्डन लैंग्वेज एसोशिएशन ऑफ अमेरिका. एम. एल. ए. हैंड बुक फॉर राइटर्स ऑफ रिसर्च
पेपर्स. सेवेंथ एडिशन. न्यू डेलही : इस्ट वेस्ट प्रेस, 2009. फॉर इंडियन स्टूडेंट.

कोश

साहित्यिक शब्दावली

संपादक-प्रेमनारायण टंडन. लखनऊ : हिंदी साहित्य संसार,
1962.

हिंदी शब्दकोश.

हरदेव बाहरी. सोलहवाँ संस. दिल्ली : राजपाल एंड संस, 2002.

वर्मा, धीरेंद्र.

ब्रजेश्वर, धर्मवीर भारती, रामस्वरूप चतुर्वेदी, रघुवंश, हिंदी
साहित्यकोश —भाग-एक और दो. तृतीय सं. वाराणसी : ज्ञानमंडल
लिमिटेड, 1985.